निरुक्त-मीमांसा

प्रणेता
पं. श्री शिवनारायण शास्त्री
वेदान्त-शास्त्री, साहित्याचार्य, एम्. ए. ।
अध्यक्ष—संस्कृत विभाग,
किरोड़ीमल-कालिज, दिल्ली-विश्वविद्यालय, दिल्ली ।

प्रकाशक
इंडोलॉजिकल बुक हाउस
वाराणसी–दिल्ली

प्रकाशक :—

श्री रामेश्वर सिंह,
इंडोलॉजिकल बुक हाउस
(१) सी के-३१/१० नेपालीखपड़ा,
पोस्ट बॉक्स ९८, वाराणसी।
(२) १६७५, कूचा दक्खिनोराय
दरिया-गंज, दिल्ली-६।

प्रथम-संस्करण : पौष, २०२६ वि०।

मूल्य : पच्चीस रुपये।

मुद्रक :
शक्तिपुत्र मुद्रणालय,
१०-बी, ईस्ट एवेन्यू मार्केट,
पंजाबी बाग, दिल्ली-२६।

शत-धारमुत्समक्षीयमाणं विपश्चितं पितरं वक्त्वानाम् ।
मेळि मदन्तं पित्रोरुपस्थे तं रोदसी पिपृतं सत्य-वाचम् ॥

(ऋ. सं. ३।२६।९)

परम-स्नेह-योगेनायोजयद् यः सुतं यथा ।
मन्दं मा सर्वतोमुदं नरेन्द्र-गुरवे नमः ॥

लब्धो ज्ञान-करास्त्वत्तो भासतेऽस्यां कृतौ गुरो ।
त्वदीयं वस्तु गौविन्दे तुभ्यमेव समर्पये ॥

मङ्गलम्

ब्रह्माद्वयं सदसतो कुरुते स्व-रूपे त्वन्निर्गुणं सगुणकं त्वदसत्तया सत् ।
वन्द्यं कथं भवतु यत्त्वसदस्ति रूपं, तस्मात् सते भवति मे महते प्रणामः ।।

प्रणमामि यास्क-भास्करं यो हृत्तमसः प्रकाशित-पदार्थः ।
यस्य भुवन-त्रयीमिव गावः प्रकटां त्रयीं वितन्वन्ति ।।
(देवराज-यज्वनः)

ददौ शरीरं प्रथमं, ततो धियं द्वि-जन्म-संस्कार-गुणेन शोभनाम् ।।
निरुक्त-सद्-व्याकृति-शास्त्र-पाठनादमीमृजद् यः प्रणमामि तं गुरुम् ।।

निरुक्ताध्यापने ह्याद्यं गुरुं वन्दे जनि-प्रदम् ।
गुरुभिः श्री-निवासेति योजितं नाम-सम्पदा ।।

गहने शास्त्र-मार्गेऽस्मिन्प्रभ्रष्टं बहुशस्तु माम् ।
समुददीधरत् स्नेहाद् व्याख्यानैर्बोधयन् गतिम् ।।

योगीत्याख्यानतो वित्तः सत्य-भूषण-नामकः ।
कृतोऽयमञ्जलिस्तस्मा आनृण्यं दुर्लभं यतः ।।

गम्भीरं यास्क-वाक्यं, गतिमपि नहि ते दुर्ग-मुख्या लभन्ते,
व्याख्या-मार्गा विभिन्नाः, कतर इह शुभो, नैव जाने प्रमुह्यन् ।
ध्यात्वा पादान्गुरूणां नख-मणि-किरणैं ध्वंस्त-चेतोऽन्धकारो
मीमांसां व्यातनोमि प्रमिति-सु-घटितां श्रैनिवासिः शिवोऽहम् ।।

गूढं यास्कस्य हार्दं मसृण-विवृतितो बोधयन्ती सुखेन,
अन्येषां वाक्य-लेशान् सुघटित-वचसा खण्डयन्ती प्रमाणैः ।
ऊहापोहैः पुराणं विषयमपि जनं लम्भयन्ती निरुक्ते
मीमांसेयं बुधानां भवतु सुखकरी, तोष-दात्री गुरूणाम् ।।

अथ......

निरुक्त-मीमांसा नामक प्रस्तुत कृति को विद्वान् पाठकों के सम्मुख प्रस्तुत करते हुए मैं बहुत सन्तोष एवं सङ्कोच अनुभव कर रहा हूँ। सन्तोष इस कारण है कि शास्त्र-चिन्तना के गर्भ से प्रसूत तथा पर्याप्त श्रम से परिपुष्ट यह कृति आज अपने सत्पात्र पाणि-ग्रहीता को पहुँच रही है; मैं अपने कर्त्तव्य-भार तथा श्रम से मुक्त हो रहा हूँ। सङ्कोच इस कारण है कि यह मेरी प्रकाशित होने वाली प्रथम कृति है। पाठकों की रुचि तथा अपनी सामर्थ्य का अभी ज्ञान नहीं है। न-जाने विद्वान् पाठक इसे स्नेह से सहजेंगे कि नहीं। उपर्युक्त ज्ञान के अभाव में मैं इसे सही संस्कार तथा परिष्कार दे पाया हूँ, कि नहीं, इस विषय में चित्त शङ्कित-आन्दोलित-सा है। अस्तु, अब तो इसे जो रूप तथा संस्कार मैं दे सकता था, दे दिया है। अपने श्रम तथा अभिनिवेश को देखते हुए मुझे विश्वास एवम् आशा है कि गुण-ग्राही विद्वज्जन विभिन्न त्रुटियों के बावजूद इसे अपनायेंगे ही।

इस कृति को प्रारम्भ करने में अपेक्षित ज्ञान मुझ में न था और न अब भी है। यह कार्य तो मेरे परम-गुरु, पूज्य पितृ-चरणों के उपदेश के प्रताप और श्री सत्य-भूषण योगी जी के विचारोत्तेजक अध्यापन का पल्लवन एवं पुष्पण है। उसे फलित किया है दिल्ली-विश्व-विद्यालय के संस्कृत-विभाग के भूत-पूर्व अध्यक्ष तथा आचार्य श्री डा. नरेन्द्र नाथ चौधुरी, एम्. ए., डी. लिट्. के आशीर्वाद ने। इस कृति में आदेय जो है, वह सब इन गुरुओं से प्राप्त है; हेय जो कुछ है, वह मेरी मन्द मति की उद्भावना है यह समझ कर विद्वान् पाठक आदेय को ग्रहण करें।

इस कृति का प्रारम्भिक रूप मेरी एम्. ए. की छात्रावस्था से लिखा सोया पड़ा था। उसे उद्बुद्ध करने का सम्पूर्ण श्रेय मेरे बाल-सखा, पञ्जाब विश्व-विद्यालय की प्राज्ञ श्रेणी के सह-पाठी श्रीयुत राधाकृष्ण, शास्त्री, साहित्याचार्य (सम्प्रति वि. वै. शो. सं. होशियारपुर में प्राध्यापक), को है। मैं अपने मित्र का अत्यन्त आभारी हूँ।

इस के लेखन में व्यापृत होने की प्रक्रिया में आत्मविश्वास के कुछ क्षणों में उत्साहित करने वाले अपने गुरु पं. मणि-शङ्कर वसन्त-राम उपाध्याय, डभोइया पोळ, वाड़ी, बड़ौदा, वि. वै. शो. सं., होशियारपुर, के पं. अमरनाथ शास्त्री एवं महा-महोपाध्याय पं. परमेश्वरानन्द जी को अपनी श्रद्धा और कृतज्ञता अर्पित करना बहुत अकिञ्चत्कर-सी बात है। उन्हों ने इस के हस्त-लेख के कुछ अंशों के अक्षर-अक्षर को बहुत ध्यान-पूर्वक सुन कर अपने गुरुत्व को चरितार्थ ही किया है। शास्त्र में निर्णय पाने के लिये शिष्य जाये भी तो कहाँ ?

श्रद्धेय डा. लक्ष्मणस्वरूप जी के साक्षात् शिष्य पं. शुचिव्रत लक्षणपाल, अग्रजकल्प

डा. भोलानाथ तिवारी, डा. सत्यदेव चौधरी, डा. तुलसीराम शर्मा और डा. रामगोपाल मिश्र ने भी समय-समय पर अपने विचार-विमर्श से मुझे अनुगृहीत किया है।

दुर्लभ पुस्तकें प्रदान कर के अविस्मरणीय उपकार करने के लिये मैं अपने घनिष्ठ मित्र, म. स. विश्व-विद्यालय, बड़ोदा, में संस्कृत विभाग के अध्यक्ष तथा आचार्य डा. श्री अरुणोदय नटवरलाल जानी, एम्. ए., पी. एच् डी., डी. लिट्, का अत्यन्त आभारी हूं। पुस्तकों की सुविधा प्रदान करने के लिये मैं अपने महाविद्यालय के पुस्तकालयाध्यक्ष श्री महेन्द्रसिंह राणा का और वि.वै.शो.सं., होशियारपुर, के श्लाघनीय पुस्तकालय के तथा म. स. वि. वि., बड़ोदा के श्रीमती हंसा मेहता पुस्तकालय के अधिकारियों एवं डा. दयानन्द भार्गव और पं सत्यदेव वाशिष्ठ का बहुत आभारी हूँ।

इस पुस्तक पर काम करने के सिलसिले में बड़ोदा-यात्रा से लौटते हुए आमेर (जयपुर) के बर्मा शेल् के पेट्रोल् पम्प् पर स्कूटर् में तेल लेते समय इस की पाण्डुलिपि खो गई थी। उसे ढूंढ कर मुझे प्राप्त कराने में छह मास तक जो अथक श्रम अहेतु-बन्धु श्री हीरासिंह चौहान, शाहपुरा (जयपुर), और बर्माशेल् के अधिकारी श्री सतीश चन्द्र ने किया है, उस के अभाव में तो इस ग्रन्थ के प्रकाशन की कोई सम्भावना ही नहीं थी। उन्हें धन्यवाद अर्पण करके मैं कहाँ उऋण हो सकता हूँ ?

ग्रन्थ के प्रणयन के समय समस्त गृहस्थ-भार से मुझे मुक्त रख कर अपने कन्धों पर ही उसे उठाने तथा ग्रन्थ-लेखन में भी पद-सूची के निर्माण और प्रूफ देखने के कठिन काम में अत्यन्त सह-धर्मिणी अपनी सहधर्मिणी तारादेवी कोकिला को मैं क्या आभार-प्रदर्शन करूं ? यह कार्य उसी का तो है।

इस ग्रन्थ के प्रकाशन के लिये मैं अपने सहपाठी तथा शक्तिपुत्र मुद्रणालय के अध्यक्ष श्री चिरञ्जीव शास्त्री एवं श्री सुरेन्द्र कुमार मेंदीरत्ता के आत्मीयता-भरे सहयोग के लिये उन्हें धन्यवाद प्रदान करता हूँ। पुस्तक के यथाशक्य शुद्ध तथा सुन्दर मुद्रण में इस मुद्रणालय के मुद्रणाधिकारी श्री पद्मप्रसाद जैन और उनके सहायक श्री सूबेसिंह दहिया, अक्षर-योजक श्री मुरलीधर, पालीराम शर्मा और श्री टीकम सिंह ने जिस सौहार्द, सहन-शीलता, श्रम तथा लगन से काम किया है, उस के लिये मैं इन सब का अत्यन्त आभारी हूँ ? इन के कठोर तप का ही सुखद फल यह पुस्तक आपके हाथों में है।

अपने विद्वान् और कृपालु पाठकों से निवेदन है कि बहु-विध त्रुटियों से परिपूर्ण इस पुस्तक में संशोधन आदि भेज कर ग्रन्थ-कार को अनुगृहीत करेंगे, ताकि अगले संस्करण में इस की उपयोगिता और भी बढ़े। इति निवेदयति—

विद्वद्विधेयः
शिवनारायणः शर्मा।

सी ११/१८ माडल् टाउन्,
दिल्ली–९।
पौष कृष्ण द्वादशी, सोम, २०२६ वि.।

विषयानुक्रमणी

अध्याय १

निरुक्त-शास्त्र के उद्भव की पृष्ठभूमि

भाषा, अग्नि और चक्र (चक्का, पहिया)—ये तीन वस्तुएँ मनुष्य की अनवरत प्रवृत्त जययात्रा के लिए सर्वाधिक उपयोगी उपकरण सिद्ध हुए हैं। इन तीनों में सर्वाधिक प्राचीन एवं महत्वपूर्ण उपकरण है भाषा। अग्नि दैवी वस्तु है, पर उसका उपयोग मनुष्य के हित में स्वेच्छया किया जा सकता है, यह रहस्य भेदन पूर्णतः मनुष्य की अपनी कृति है। चक्र के तो आविर्भाव का पूरा ही श्रेय मनुष्य को प्राप्त है। परन्तु भाषा इस प्रकार आधे रूप में या पूर्ण रूप में मनुष्य का अपने बलबूते से किया आविष्कार नहीं है। इसे तो हमें जगत् के रचयिता ने ही सीधे प्रदान किया है। बोलने की शक्ति मनुष्य को अपनी माँ प्रकृति से ही मिली है। भाषा मनुष्य के लिए तो धेनु अर्थात् उसकी इच्छा का दोहन करने वाली आनन्ददात्री देवी है :

देवीं वाचमजनयन्त देवास्तां विश्वरूपाः पशवो वदन्ति ।
सा नो मन्द्रेषमूर्जं दुहाना धेनुर्वागस्मानुप सुष्टुतैतु ॥ ऋ. सं. ८।१००।११।

मनुष्य का केवल दैनिक कार्यकलाप ही भाषा पर निर्भर नहीं है, अपितु उसका समस्त भौतिक एवम् आत्मिक अभ्युदय भाषा के बिना असम्भव ही है। भाषा के अभाव में मनुष्य के विकास की हम कल्पना ही नहीं कर सकते। आदिम काल से मनुष्य अपनी जययात्रा के सङ्घर्ष में जिन अनुभवरत्नों के कण प्राप्त कर सका, उन्हें उसने अपने और आने वाली पीढ़ियों के लिए बहुमूल्य समझकर वाक् की अमर मञ्जूषा में संजो कर रखा है[1]।

मणि-काञ्चन आदि मूल्यवान् वस्तु उपयोग के लिए मञ्जूषा से एक बार निकल कर फिर वहाँ लौट कर नहीं आ सकतीं, और न आती हैं। उनका जीवन भङ्गुर है। परन्तु वाङ्मञ्जूषा में सञ्चित अनुभवरत्नराशि उससे निकल कर वहाँ अकेले ही नहीं लौटती, अपितु अपने साथ और बहुत से अपने साथियों को लेकर ही

---

१. द्र. वाक्यपदीय १।१२३ : अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन भासते ॥

लौटती है। वाङ्मञ्जूषा में स्थापित वेद, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद्, वेदाङ्ग, दर्शन, स्मृतियां, पुराण, काव्य और इन सब पर टीका-प्रटीका आदि समस्त वाङ्मय इसका ज्वलन्त निदर्शन है।

वेदों के मनीषी वाक् के इस अतिशय महत्त्व से पूर्णतया परिचित थे। तभी तो **नेम भार्गव** ऋषि मुखर स्वर में घोषित करते हैं :

यद्वाग्वदन्त्यविचेतनानि राष्ट्री देवानां निषसाद मन्द्रा।
चतस्र ऊर्जं दुदुहे पयांसि क्व स्विदस्याः परमं जगाम॥ ऋ० सं ८।१००।१०॥

तभी तो कवि, मन्त्रकृत्, ऋषि, जरिता, स्तोमकृत् आदि शब्दों के लिए उनके हृदय में जो आदर था, मन्त्रकृत् ऋषि होने में उस समय जो गौरव था, वह हमारे समाज के अपने देश और संस्कृति से प्रेम करने वाले व्यक्ति के हृदय में आज भी अक्षुण्ण है और स्वदेशाभिमान तथा अपनी परम्पराओं पर गौरव से मस्तक ऊंचा रखने वाले लोगों के लिए तो भविष्य में भी रहेगा। हां, जिसे अपने देश और संस्कृति पर अभिमान नहीं, उनके लिए हृदय में सम्मान नहीं, उस-नर-देह-भार-धारी की बात हम नहीं कर रहे।

वाणी के महत्त्व को वाङ्मय जहां अत्यन्त ललित परोक्ष इङ्गित के माध्यम से समझाता है, वहां **निरुक्त और व्याकरणशास्त्र** उसे प्रखर मुखर रीति से स्पष्ट करके सामने रखते हैं।

वैदिक वाङ्मय की भाषा बहुत जटिल, गहन और विस्तृत है। लौकिक संस्कृत तो उसका दशमांश भी नहीं है। विद्वानों की तुलना के अनुसार तो वैदिक भाषा **अकूपार** है और लौकिक संस्कृत **गोष्पद**[1]। किन्तु वह भाषासमुद्र भी दैनन्दिन प्रयोग के कारण परिचित होने से उन्हें सहज, स्वाभाविक और सरल लगता था, और वे उसमें निर्भीक स्वेच्छा-विहार करते थे। परिणामतः उन्हें उस भाषा के विश्लेषण की पहले तो आवश्यकता ही नहीं प्रतीत हुई, यदि पड़ी भी, तो वह बहुत सामान्य थी। परन्तु काल के चरण जैसे-जैसे आगे बढ़ते गये, आगे आने वाली पीढ़ियां अपनी जययात्रा पर चलते-चलते भाषा, भाव, संस्कार और परिस्थितियों में अपने पुरखों से दूर होती चली गईं। एक समय आया कि इन पीढ़ियों को अपने पुरखों की भाषा

---

१. द्र. देवबोध, महाभारतटीका (प्रारम्भ) :

न दृष्ट इति वैयासे शब्दे मा संशयं कृथाः।
अज्ञैरज्ञातमित्येवं पदं नहि न विद्यते॥ ७॥
यान्युज्जहार माहेन्द्राद् व्यासो व्याकरणार्णवात्।
पदरत्नानि किं तानि सन्ति पाणिनिगोष्पदे॥ ८॥

समझने में कष्ट होने लगा। प्राचीन सुरक्षित शब्दमञ्जूषा के रत्नों पर काल ने अपरिचय का मलिन आवरण चढ़ा दिया।

किन्तु वे मनुष्य साहसी थे, शक्ति से परिपूर्ण थे, और अपने पूर्वजों के प्रति पूर्णतः कृतज्ञ थे। वे स्वयं को अपने अतीत की भव्य परम्पराओं से विच्छिन्न होते नहीं देख सकते थे। फलतः उन्होंने अपनी पुरानी मञ्जूषा पर से काल की धूल को झाड़ा, पोंछा और कुछ इस प्रकार की व्यवस्था की कि काल की तूफानी आंधी में भी वे अनुभव-रत्न कम-से-कम धूलि-धूसर हों, ताकि आने वाली अनन्त पीढ़ियाँ उस अमृतघट तक स्वयं निर्विघ्न पहुँचकर अपने आपको तृप्त कर सकें। उन बुद्धिमान् मनीषियों का यह प्रयास एकाध पीढ़ी की देन नहीं, अपितु बहुत सी पीढ़ियों के सतत प्रयास का मीठा फल है। इसी प्रयास को आज हम **निरुक्त-शास्त्र और व्याकरण-शास्त्र** के रूप में जानते-पहिचानते हैं।

मनुष्य अपने मन के अमूर्त भाव को जब बाहर सम्प्रेषण करता है, तो वह उसे शब्द के खोल में बैठाता है[1], और यह शब्द का खोल भी वह कुछ समझ कर, कुछ उपपत्ति होने पर, ही काम में लाता है। उसी समझ या उपपत्ति को ढूंढने का नाम है **निर्वचन** और उसका विकसित, वैज्ञानिक सिद्धान्तों का निश्चय करने पर जो रूप निखर-उभरकर सामने आता है, उसे कहते हैं **निरुक्त-शास्त्र**। अर्थात् आप जो कुछ बोल रहे है वह उन शब्दों में ही क्यों बोल रहे हैं? क्या उन शब्दों और उनके अर्थ का मूर्त जगत् में कोई सम्बन्ध है? या विशुद्ध सङ्केत (Convention) ही इसका आधार है? आपने डाली पर लगी हुई, मुस्कराती कली देखी, तो आप कह उठे कुड्मल, और जब वह खिलखिला कर हँस पड़ी, तो आप कह उठे पुष्प। आखिर ऐसा क्यों? यही आदिम जिज्ञासा निर्वचन की माँ है, जो वैदिक ऋषि को **अग्नि-रग्रियः**[2] कहने को बाध्य करती है। इसी के उत्तर में **निरुक्त प्रक्रिया** प्रारम्भ होकर एक शास्त्र के रूप में अद्भुत प्रतिष्ठा को प्राप्त हुई। इसी के उत्तर में एक शाखा और आगे बढ़ी तथा **व्याकरण-शास्त्र** बन कर अपना सौरभ फैलाने लगी।

पुरानी भाषा दुरूह हो गयी थी। सब चाहते थे कि उसकी दुरूहता के ताले को खोलने के लिए कोई चाभी बनाई जाए। गुत्थियों को सुलझाने में प्रेरणा पाने

---

१. न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते। वा. प. १।१२३॥

२. द्र. ऋ. सं. ६।१६।४८ : अग्निं देवासो अग्रियमिन्धते वृत्रहन्तमम्।
तु करें शतपथब्रा. २।२।४।२ : तद्वा एनमेतदग्रे देवानामजनयत तस्मादग्निः।
अग्नि हं वै नामैतद् यदग्निरिति। तथा वहीं ६।१।१।११।

या कोई आदर्श पद्धति खोजने को जब इधर-उधर दृष्टि डाली, तो वैदिक मञ्जूषा में ही उन्हें अपनी समस्या के समाधान की दिशा भी मिल गई।

उन्होंने पाया कि वैदिक ऋषि कुछ ध्वनि समूहों को आधार बनाकर उनसे अनेक शब्दों का प्रयोग करते थे। उन्होंने उन स्थलों का बारीकी से अध्ययन किया और निष्कर्ष निकाला कि ये आधारभूत ध्वनिसमूह किसी क्रियाविशेष को प्रकट करने वाले शब्दों में ही प्रयुक्त हैं। ये कुछ विकारों और रूपपरिवर्तनों के साथ कभी तो क्रिया को प्रधानता से कहते हैं, तथा कभी गौणरूप में, और कभी किसी द्रव्य की विशेषता को ही उससे बतलाते हैं, तो कभी द्रव्य को पुकारते ही उसके आधार पर हैं। इन सब बातों को देखकर उन्होंने थोड़ा और आगे बढ़ कर द्रव्यवाचक सब पदों का आधार क्रिया ही है तथा वे पद क्रियावाचक अंशों अर्थात् धातुओं से बने हैं, यह युगान्तरकारी सिद्धान्त कायम किया।

इसके लिए उन्हें सीधी प्रेरणा वैदिक संहिताओं से ही मिली। उन्होंने देखा कि **अर्किणः** का **अर्क** से (ऋ. सं १।७।१), **मघ** का **मंहते** क्रियापद से (१।११।३), **यज्ञ** का **अयजन्त** से (१।१६४।५०), **सहस्** का **सहन्ते** से (६।६६।९), **अश्विनौ** का **अश्नन्तो** से (८।५।३१), **ऋत्विज्** का **ऋतु+यजाति** से (१०।२।५), अग्नि के सञ्ज्ञापद **नचिकेता** का **चिकेत** से (१०।५१।४) कुछ आधेयाधार सम्बन्ध है।

इसी प्रकार जब अन्य संहिताओं की तरफ दृष्टि डाली, तो उन्हें मिला कि **धान्य** का **धिनुहि** से (सा. सं. १।२०), **पवित्र** का **येन पुनते** से (सा. सं. उत्त० ५।२।८।५), **नदी** का **अनदत** से(अथर्व. सं. ३।१३।१), **आपस्** का **आप्नोत्** से (वहीं मन्त्र सं. २), **वार्** का **अवीवरत्** से (वहीं मन्त्र सं० ३), **उदक** का **उदानिषुः=उद्+अन्** से (वहीं मन्त्र सं० ४), **तीर्थ** का **तरन्ति** से (अथर्व. १८।४।७), **सर्पिः** का **असर्पत्** से (तै. सं. २।३।१०।१, काठकसं. ११।७, मैत्रा. सं. २.३।४ : ३१।१, २।३।५ : ३२।१६), **नवनीत** का **नवं नीतम्** से (तै. सं. २।३।१०।१, २।३।११।२, मैत्रा. सं० २।३।४ : ३१।१) बहुत निकट का सम्बन्ध है

उन्होंने संहिताओं में जब यह प्रवृत्ति देखी तो अपने लिए पर्याप्त मार्ग दर्शन पा लिया तथा **ब्राह्मणग्रन्थों** में उस प्रवृत्ति का विस्तार किया। उसी का परिणाम है कि हमें आज उपलब्ध वैदिक साहित्य में कम से कम ८३३ निर्वचन उपलब्ध हैं।

जैसा कि स्वाभाविक था **ब्राह्मणों** के आचार्यों ने अपने विषयों के अनुरूप शब्दों का विषय के अनुकूल ही निर्वचन किया। ऋग्वेदसंहिता के ब्राह्मणों में ऋग्वेद से सम्बद्ध ऋषियों, देवताओं और होता नामक ऋत्विज् से सम्बद्ध शब्दों का निर्वचन किया गया है। यजुर्वेद से सम्बद्ध ब्राह्मणों में यज्ञों, यज्ञपात्रों तथा कर्मकाण्ड के लिए उपयोगी अन्य वस्तुओं के नामपदों का निर्वचन प्रमुख रूप से किया गया

है। सामवेद के ब्राह्मणों में छन्दों का ही विशेष रूप से अध्ययन किया गया है। अथर्ववेद के ब्राह्मण गोपथ में तथा यजुर्वेद के ब्राह्मण शतपथ में बहुत से सम्बद्ध विषयमात्र से भिन्न शब्दों का भी निर्वचन किया गया है।

इसी प्रकार आरण्यकों और उपनिषदों में भी उनसे सम्बद्ध पदों का उपासना और ज्ञानकाण्ड के परिवेश में दार्शनिक अर्थ में निर्वचन किया गया है। क्योंकि वे शब्द उस साहित्य में दार्शनिक अर्थ में ही प्रयुक्त हुए हैं। यही कारण है कि सामन्, ऋक् और गायत्री जैसे अन्यत्र अन्यथा व्याख्यात शब्दों का भी इस साहित्य में दार्शनिक अर्थ ही किया गया है[1]।

इसी परम्परा को आगे बढ़ा कर इस प्रवृत्ति को निरुक्त-शास्त्र का रूप दिया आग्रायण, औदुम्बरायण, औपमन्यव, और्णवाभ, कात्थक्य, कौत्स, क्रौष्टुकि, गार्ग्य, गालव, चर्मशिराः, तैटीकि, वार्ष्यायणि, शतवलाक्ष, शाकटायन और उनके पुत्र, शाकपूणि, शाकल्य, स्थौलाष्ठीवि आदि स्मृत तथा अनेक विस्मृत आचार्यों ने, जिनमें अन्तिम नाम आज हमें यास्क का मिलता है।

नैरुक्तों की इस विशाल परम्परा के लगभग साथ-साथ भाषा के अध्ययन का विशेष जिम्मा लिया बृहस्पति, इन्द्र आदि वैयाकरण आचार्यों ने और शाकल्य आदि पदपाठकारों ने। व्याकरण के प्रणेता आचार्यों की उस लम्बी परम्परा में पाणिनि अन्तिम हैं। यद्यपि उनके बाद और भी बहुत से— कम से कम १५[2]— आचार्यों ने अपने-अपने ढंग से व्याकरणग्रन्थों का प्रवचन-प्रणयन किया, पर वे ग्रन्थ पाणिनि के प्रभाव से अछूते न रह पाने के कारण उसके आगे टिक नहीं सके।

निरुक्त और व्याकरण के सम्बन्ध में एक बात कह देना समुचित होगा। नैरुक्त और वैयाकरण दोनों उन्हें लोक में शब्द जैसे मिलते हैं उस ही स्थिति में उन पर विचार करते हैं। अपनी तरफ से न वे उसमें कुछ घटाते हैं और न बढ़ाते हैं। वे शब्दकार नहीं हैं[3]। लोक में प्रचलित शब्दों का यथावस्थित रूप में अर्थ विकास की दृष्टि से अध्ययन करके शब्दों के मूल का निश्चय करना नैरुक्तों का कार्य है, तथा शब्द के अर्थ को दृष्टि में रखते हुए ही शब्द के साधुत्व का प्रतिपादन करना वैयाकरण का कार्य है[4]। व्याकरण को बहुधा कृत्रिम उपायों का भी सहारा लेना

१. द्र. डा० फतहसिंह, दी वैदिक एटिमॉलॉजी, भूमिका, पृष्ठ a, b.

२. द्र. युधिष्ठिर मीमांसक, संस्कृत व्या. शास्त्र का इति., भाग १, सत्रहवां अध्याय, पृष्ठ २६५ से।

३. द्र महाभाष्य, पस्पशा, पृष्ठ ३२।

४. साधुत्वज्ञानविषया सैषा व्याकरणस्मृतिः।
अविच्छेदेन शिष्टानामिदं स्मृतिनिबन्धनम्॥ वा. प. १।१४२॥

पड़ता है[1]। जैसे **दम्पति** को नैरुक्त तो **दम+पति** का लोक प्रचलित रूप कह देगा। पर वैयाकरण ने **जाया+पति→दम्पति** अथवा **जाया** के स्थान में **दम्** आदेश बतलाया है[2]। ऐसे ही आर्धधातुक प्रत्ययों में √**अस्** को **भू** आदेश, √**ब्रू** को **वच्** आदेश, √**चक्ष्** को **ख्या** तथा उसे **क्शा** आदेश[3] भी व्याकरण पद्धति की कृत्रिमता के उदाहरण हैं। इसी प्रकार **आपिशलि** आचार्य ने √स्(होना) मान कर पित् सार्वधातुक में लट्, लोट् में गुण (अ) लिट् तथा लङ् में वृद्धि (आ) का आगम मानकर **अस्ति, अस्तु, आस, आसीत्** आदि की सिद्धि की है[4], तो **पाणिनि** ने तथा उनसे पूर्व के ही **शाकटायन, गार्ग्य** और निरुक्तकार **यास्क** ने √**अस्** मान कर **निवृत्तिस्थानों** में अकारलोप करके **स्तः** आदि की सिद्धि की है। यह व्यवस्थाभेद कृत्रिमता को ही सिद्ध करता है। व्याकरण में जहां स्वर-संस्कार प्रमुख है, वहां निर्वचन में वह नितराम् उपेक्षणीय है।

निर्वचन और निरुक्त शब्दों का इतिहास

जैसा कि आपाततः स्पष्ट प्रतीत होता है **निर्वचन** और **निरुक्त** शब्द **निर्+√वच्** से व्युत्पन्न हैं। निर्वचन के अर्थ पर **श्रीमद्दुर्गसिंह** का कहना है कि **परोक्षवृत्ति या अतिपरोक्षवृत्ति शब्द में छुपे हुए अर्थ को निकाल करके, अर्थात् शब्द के सब अवयवों को अलग-अलग करके,** कहना **निर्वचन** कहलाता है[5]। यह तो है यौगिक अर्थ।

निर्वचन और **निरुक्त** शब्द योगरूढ हैं। अर्थात् इनसे केवल छुपे हुए **अर्थ को निकालकर कहने** का ही भाव नहीं प्रकट होता, अपितु **इस प्रकार कहने वाला शास्त्र** अर्थ प्रकट होता है। ये दोनों शब्द कब से इस विशिष्ट अर्थ में रूढ हुए? इस प्रश्न का उत्तर पाने को जब हम अतीत में झांकते हैं, तो हमें अपने प्रश्न का उत्तर वैदिक संहिताओं में नहीं मिलता। अथर्ववेद संहिता में अनेक बार **निर्+√वच्** के तिङन्त रूपों का प्रयोग हुआ है। किन्तु वहां इस योग का अर्थ कुछ और ही है:

---

१. **उपायाः शिक्षमाणानां बालानामुपलालनाः।**
असत्ये वर्त्मनि स्थित्वा ततः सत्यं समीहते॥ वा. प. २।२३८॥

२. द्र. काशिका, २।२।३१ में **जायाशब्दस्य जम्भावो दम्भावश्च निपात्यते।**

३. द्र. अष्टा॰ २।४।५२-५४। **अस्तेर्भूः, ब्रुवो वचिः, चक्षिङः ख्याञ्** तथा इस पर वार्तिक: **क्शादिरप्ययमादेश इष्यते।** तुलना करें: वा. प्रा.। **ख्यातेः खयौ कशौ गार्ग्यः सख्योख्यमुख्यवर्जम्।**

४. द्र. महाभाष्य १।३।२२; तथा इसी सूत्र पर न्यास तथा पदमञ्जरी।

५. द्र. २।१: **अपिहितस्य अर्थस्य परोक्षवृत्तौ अतिपरोक्षवृत्तौ वा शब्दे निष्कृष्य विगृह्य वचनं निर्वचनम्।**

यक्ष्मणां सर्वेषां विषं निरवोचमहं त्वत् ॥६।१३।१२॥

शौनकशाखा के इस मन्त्र के निरवोचम् की व्याख्या पैप्पलादशाखा के निम्न मन्त्र में √निर्मन्त्र धातु से की गई है :

यक्ष्मोधामन्तरात्मनो बहिर्निर्मन्त्रयामहे ॥१६।७५।२॥

इसी लिए सायण ने मन्त्र से विष को निकाल बाहर करता हूं कहा है[1]।

याजुष काठक और मैत्रायणी संहिताओं में निरुक्त शब्द का प्रयोग हुआ है, किन्तु उसका अर्थ यौगिक ही है। अर्थात् वहां निरुक्त पद स्पष्ट रूप से कहा हुआ अर्थ में देवता या साम आदि के विशेषण के रूप में प्रयुक्त हुआ है[2]।

शाङ्खायन आदि प्राचीन ब्राह्मणों में भी निरुक्त शब्द इसी अर्थ में आया है[3]। शतपथ ब्राह्मण तक में निरुक्त शब्द का पारिभाषिक (शब्द-व्याख्यापरक) अर्थ में प्रयोग नहीं हुआ है। इस अर्थ में अथवा अन्य किसी अर्थ में भी, निर्वचन शब्द तो अभी अज्ञात ही है।

सामवेद के देवताध्याय-ब्राह्मण में सबसे प्रथम निर्वचन शब्द पारिभाषिक अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। उसके तीसरे खण्ड में अथातो निर्वचनम् ॥१॥ कह कर

---

१. द्र. अथर्व. सं. (शौनकीया) भाष्य ४।६।४ : मन्त्रेण निर्वीर्यं करोमि।.... यद्वा तदीयं विषं निर्गतं ब्रवीमि इत्यर्थः।

२. द्र. काठक सं. ६।५ : तं गर्भिण्या वाचा मिथुनया प्रजनयति यन्निरुक्तं चानिरुक्तं च तन्मिथुनम्। ६।१६ : एतद्वै देवानां ब्रह्मानिरुक्तं यच्चतुर्होतारस्तदेनं निरुच्यमानं प्रकाशं गमयति। ३२।१ : तेनाग्नीषोमयोरयाट् प्रिया धामानीत्युपांश्वनिरुक्तं तेनावरुन्धेऽग्नीषोमयोरयाट् प्रिया धामानीत्युच्चैर्निरुक्तं तेनानिरुक्तं च वा इदं निरुक्तं च। तस्यैवोभयस्यावरुद्ध्या अथो....। मैत्रा० सं० १।११।६: अनिरुक्तः प्रातस्सवः, प्रजापतिमेव तेनाप्नोति, वियोनिर्वै वाजपेयः प्राजापत्यः, स निरुक्तसामा, यदनिरुक्तः प्रातस्सवस्तेन सयोनि रथन्तरं साम भवति....। ३।८।६ : यजुषा हविर्धानं मिनोति, निरुक्ता हि द्यौः, यजुषा सदो निरुक्ता हीयम्, अयजुषाग्नीध्रम्, अनिरुक्तमिव ह्यन्तरिक्षम्, अर्धमाग्नीध्रस्यान्तर्वेदि मिनोति, अर्धं बहिर्वेदि, अर्धं ह्यन्तरिक्षस्यास्मिंल्लोकेऽर्धममुष्मिन्। ३।८।१० : तदेषां मिथुनं प्रजात्यै निरुक्ता अन्येऽनिरुक्ता अन्ये, ये निरुक्तास्तेऽस्मै लोकाय, येऽनिरुक्तास्तेऽमुष्मै क्षयाय।

३. द्र. ८।३ : उच्चैर्निरुक्तमभिष्टुयात्प्राणा वै स्तुभो निरुक्तो ह्येषः। ११।१ : उच्चैर्निरुक्तमनुब्रूयात्। एतद् घ वा एकं वाचो नन्ववसितं पाप्मनो यन्निरुक्तम्, तस्मान्निरुक्तमनुब्रूयाद् यजमानस्यैव पाप्मनोऽपहत्यै।१६।५ : अथ यदुच्चैः सोम्यस्य यजति चन्द्रमा वै सोमोऽनिरुक्तो वै चन्द्रमास्तस्य न परस्तात्पर्यजेदित्याहुः।

गायत्री आदि छन्दों का निर्वचन किया गया है। इस ब्राह्मण के इस प्रकरण की शब्दावली तथा विषयवस्तु निरुक्त (७।१२,१३) के छन्दों के निर्वचन से बिल्कुल मिलती-जुलती है :

निरुक्त	देवताध्याय ब्राह्मण
गायत्री गायतेः स्तुतिकर्मणः। त्रिगमना वा विपरीता। गायतो मुखादुदपतदिति च ब्राह्मणम्। उष्णिगुत्स्नाता भवति। स्निह्यतेर्वा स्यात् कान्तिकर्मणः। उष्णीषिणी वेत्यौपमिकम्। उष्णीषं स्नायतेः। ककुप् ककुभिनी भवति। ककुप् च कुब्जश्च कुजतेर्वोब्जतेर्वा। अनुष्टुबनुष्टोभनात्। गायत्रीमेव त्रिपदां सतीं चतुर्थेन पादेनानुष्टोभतीति च ब्राह्मणम्। बृहती परिबर्हणात्। पङ्क्तिः पञ्चपदा। त्रिष्टुप् स्तोभत्युत्तरपदा। का तु त्रिता स्यात्। तीर्णतमं छन्दः। त्रिवृद् वज्रस्तस्य स्तोभनीति वा। यत्त्रिरस्तोभत्तत्त्रिष्टुभस् त्रिष्टुप्त्वमिति विज्ञायते। ७।१२। जगती गततमं छन्दः। जलचरगतिर्वा। जल्गल्यमानोऽसृजदिति च ब्राह्मणम्। विराड् विराजनाद्वा, विराधनाद्वा, विप्रापणाद्वा। विराजनात्सम्पूर्णाक्षरा, विराधनादूनाक्षरा, विप्रापणादधिकाक्षरा। पिपीलिका पेलतेर्गतिकर्मणः। ७।१३।	अथातो निर्वचनम् ३।१। गायत्री गायतेः स्तुतिकर्मणः।२। गायतो मुखादुदपतदिति ह ब्राह्मणम्।३। उष्णिगुत्स्नानात्, स्निह्यतेर्वा कान्तिकर्मणोऽपिवोष्णीषिणी वेत्यौपमिकम्।४। ककुप् ककुद्‌पिणीत्यौपमिकम्।५। ककुप्च कुब्जश्च कुजतेर्वोब्जतेर्वा।६। अनुष्टुबनुष्टोभनात्।७। अन्वस्तौदिति ह ब्राह्मणम्।८। पिपीलिका पेलतेर्गतिकर्मणः।९। पिपीलिकमध्येत्यौपमिकम्।१०। बृहती बृंहते वृंद्धिकर्मणः।११। विराड् विरमणाद् विराजनाद्वा।१२। पङ्क्तिः पञ्चिनी पञ्चपदा।१३। त्रिष्टुप्स्तोभ इत्युत्तरपदा।१४। का तु त्रिता स्यात् तीर्णतमं छन्दो भवति।१५। त्रिवृद् वज्रस्तस्य स्तोमभित्यौपमिकम्।१६। जगती गततमं छन्दो जज्जगतिर्भवति क्षिप्रगतिर्जज्मला (?) कुर्वन्नसृजतेति ह ब्राह्मणम्।१७।

हमारा विचार है कि यह ब्राह्मण वास्तविक ब्राह्मण श्रेणी का नहीं है तथा इसका समय भी निरुक्त के बाद का है। इसमें हेतु ये हैं :

१. हम देख चुके हैं कि प्राचीन ब्राह्मण ग्रन्थों में कहीं भी निर्वचन शब्द उपलब्ध तक नहीं होता, जब कि इसमें यह पारिभाषिक अर्थ में ही व्यवस्थित ढंग से प्रयुक्त हुआ है।

२. निरुक्त में न जाने किस ब्राह्मण से इति च ब्राह्मणम् कह कर उद्धृत निर्वचनों को इसमें उसी प्रकार इति ब्राह्मणम् के नाम से उद्धृत किया है, जब कि एक ब्राह्मण में दूसरे ब्राह्मण को इस प्रकार उद्धृत करने की परिपाटी नहीं है।

३. त्रिष्टुप् की व्याख्या में निरुक्त में (इति विज्ञायते कह कर) उद्धृत ब्राह्मण वाक्य देवताध्याय में नहीं है।

४. इसमें पङ्क्ति की पञ्चिनी व्याख्या (१३) का मिलना तथा निरुक्त में न मिलना निरुक्त की उपजीव्यता सूचित करता है।

मुण्डकोपनिषद् (१।५) में अपरा विद्या के प्रसङ्ग में छह वेदाङ्गों को गिनाते हुए निरुक्त का भी चौथे वेदाङ्ग के रूप में परिगणन किया गया है। छान्दोग्योपनिषत् (७।१।२) में देवविद्या शब्द आया है, जिसका स्वामी शङ्कराचार्य जी ने निरुक्तम् अर्थ किया है।

हमारे लिए यह उल्लेख बहुत महत्त्व का है। ब्राह्मणों में निरुक्त शब्द के अर्थ के प्रसङ्ग में हम देख चुके हैं कि उनमें निरुक्त शब्द का प्रयोग शब्दशास्त्र की निर्वचनशाखा या निरुक्तशास्त्र के अर्थ में नहीं हुआ है, अपितु देवताओं का स्वरूप निर्वचन अर्थ में हुआ है। जिस देवता या उससे सम्बद्ध वस्तु आदि का स्वरूप स्पष्ट व्याख्यात है, उसको ब्राह्मणों में निरुक्त कहा गया है। अतः ब्राह्मणों में देवविद्या के सन्दर्भ में निरुक्त शब्द का प्रयोग सर्वत्र हुआ है यह निस्सङ्कोच कहा जा सकता है।

यास्क के निरुक्त से भी यही निष्कर्ष निकलता है। उनके निरुक्त के दो कार्य हैं : (१) शब्दों का भाषाशास्त्रीय निर्वचन (२) वैदिक देवताओं का स्पष्टीकरण। निरुक्त के चौदह अध्यायों में से केवल छह अध्यायों अर्थात् आधे से भी कम भाग में शब्दों का भाषाशास्त्रीय निर्वचन और शेष भाग में देवताओं का स्पष्टीकरण किया गया है। अर्थात् यास्क के निरुक्त में भी शब्दशास्त्रीय निर्वचनविद्या की अपेक्षा देवविद्या को अधिक महत्त्व दिया गया है।

ब्राह्मणों में निर्वचन बहुतायत से मिलते हैं। इससे स्पष्ट है कि ब्राह्मणग्रन्थ निरुक्तशास्त्र के इस रूप से भली भाँति परिचित हैं। अन्तर यही है कि वहाँ इस अर्थ में निरुक्त शब्द का प्रयोग नहीं मिलता। पर इसके आधार पर यह नहीं कहा जा सकता कि उस समय निरुक्त शब्द का प्रयोग शब्दशास्त्रपरक अर्थ में नहीं होता था।

निष्कर्ष : इस विवरण के आधार पर हमारा विचार है कि निरुक्त-शास्त्र का प्रारम्भ भाषाशास्त्रीय अध्ययन के द्वारा वैदिक देवताओं का स्वरूप स्पष्ट करने वाली देवविद्या के रूप में हुआ होगा। अर्थात् भाषाशास्त्र और देवविद्या (Etymology और Theology), ये दोनों ही, निरुक्त-शास्त्र का विषय रहे होंगे।

अध्याय २

निघण्टु : दो पाठ

आचार्य यास्क का निरुक्त प्रतिपाद्य की दृष्टि से कोई स्वतन्त्र ग्रन्थ नहीं है, अपितु निघण्टु नामक एक अन्य ग्रन्थ का भाष्य है[1]। आचार्य यास्क ने अपने व्याख्येय ग्रन्थ का नाम समाम्नाय दिया है—समाम्नायः समाम्नातः, स व्याख्यातव्यः (१।१)। समाम्नाय शब्द का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ परम्परा प्राप्त लेख है। लाक्षणिक रूप से इसका अर्थ है परम्परा प्राप्त सूची[2], और उसके बाद वेदों से लिए गए शब्दों की सूची अर्थ में इसका प्रयोग हुआ है।

आचार्य यास्क ने इस समाम्नाय का नामान्तर निघण्टवः (१।१) दिया है। यों, एकवचनान्त निघण्टुः शब्द भी शब्दकोष अर्थ में प्रयुक्त होता है। इसी ग्रन्थ की पुष्पिकाओं में एकवचनान्त निघण्टु शब्द का ही प्रयोग हुआ है—इति निघण्टौ प्रथमोऽध्यायः, द्वितीयोऽध्यायः। आदि। यास्क ने समाम्नाय के लिए निघण्टवः का जो प्रयोग किया है, वह इसमें पठित शब्दों के लिए किया है। अर्थात् यास्क (१।१) के अनुसार वेदों से समाहरण (निकाल) करके एकत्र (ग्रन्थरूप में[3]) निबद्ध किये शब्द ही 'निघण्टवः' है।

यों तो निघण्टु एक छोटा सा ग्रन्थ ही है। इसमें कुल १७७० या १७७१ शब्द तीन काण्डों और पांच अध्यायों में निबद्ध हैं, किन्तु कालक्रम से इस छोटे से ग्रन्थ का भी संस्कार-परिष्कार थोड़ा बहुत हुआ ही है। देश भर में निघण्टु की जितनी पाण्डुलिपियां मिली हैं उनमें से कुछ में लघुपाठ मिला है और कुछ में

---

१. द्र. ऋज्वर्थवृत्ति, उपोद्घात : अयञ्च तस्या द्वादशाध्यायीभाष्यविस्तरः। और एक उक्ति : पञ्चाध्यायी-निघण्टोश्च निरुक्तमुपरि स्थितम्॥

२. द्र. त्रिभाष्यरत्न, अनुवाकानुक्रमणी १।६।

३. द्र. निरुक्त १।१। पर ऋज्वर्थवृत्ति : यस्मादेते गवादय : ....समाहृत्य ग्रन्थीकृता इत्यर्थः।

बृहत्पाठ[1]। इन दोनों पाठों में न केवल शब्दसङ्ख्या की दृष्टि से ही अन्तर है, अपितु शैली की दृष्टि से भी कुछ महत्त्वपूर्ण अन्तर है। बृहत्पाठ में कुल मिला कर १७७० शब्द सङ्कलित हैं। बृहत्पाठ में उपलब्ध निम्नलिखित शब्द लघुपाठ में नहीं हैं[2] :

१. अनेमा	(३।८)	पृ १७,	टि. १५।	११. यवाः	(२।३)	पृ	८,	टि. २।
२. आचके	(२।६)	"	६, "	२।	१२. नभसी	(३।३०)	"	२२, "	३।
३. आह्निकम्	(३।१२)	"	१८, "	६।	१३. नीळम्	(३।४)	"	१६, "	७।
४. इरज्यति	(३।५)	"	१६, "	२२।	१४. नूच	(४।१।३१)	"	२३, "	२।
५. ऋजुनीती	(४।३।६३)	"	२५, "	१८।	१५. यशः	(२।७)	"	६, "	१०।
६. क्षुल्लक	(३।२)	"	१५, "	१४।	१६. यहः	(१।१२)	"	४, "	२०।
७. जूर्वति	(२।१६)	"	१४, "	१५।	१७. विपः	(३।१५)	"	१६, "	७।
८. तुञ्जति	(३।२०)	"	२०, "	११।	१८. शिरिम्बिठः	(४।३।१२१)	,,	२५ ,,	२।
९. तूयम्	(१।१२)	"	५, "	६।	१९. सुम्नम्	(३।६)	पृ.	१७ ,,	६।
१०. दूतः	(४।२।३)	"	२३, "	१०।					

निम्नलिखित शब्द लघुपाठ में हैं, बृहत्पाठ में नहीं :

१. अक्षरा	(१।१२)	पृ ४२,	टि. १७।	९. बृहती	(३।३०)	पृ.	२२,	टि. ५।
२. अनिन्द्यः	(३।८)	"	१७, "	१६।	१०. माकीम्	(३।१२)	"	१८, "	७।
३. अपुः	(३।७)	"	१७, "	६।	११. रिह्वा	(३।२४)	"	२१, "	२।
४. अवटः	(३।२३)	"	२०, "	१७।	१२. रोदसी	(३।३०)	"	२२, "	२।
५. इरध्यति	(३।५)	"	१६, "	२२।	१३. वृश्चति	(३।२०)	"	२०, "	१०।
६. तृक्वा	(३।२४)	"	२१, "	२।	१४. सग्मन्	(२।१७)	"	१४, "	१।
७ नप्त्र्यो	(३।३०)	"	२२, "	४।	१५. समीथे	(३।१७)	"	१४, "	१।
८. पाजः	(२।७)	"	६, "	६।					

इसके अलावा निघण्टु (२।१४) के दोनों पाठों में शब्दों की सङ्ख्या तो समान ही है, पर कुछ शब्द एक पाठ में हैं, तो दूसरे में नहीं। निम्नलिखित शब्द लघुपाठ में हैं, बृहत्पाठ में नहीं :

---

१. द्र. डा. लक्ष्मणसरूप, निरुक्त का अनुवाद, भूमिका, पृष्ठ ६-१२।

२. उपर्युक्त सारा विवरण डा. लक्ष्मणसरूप के निघण्टुपाठ में दिये पाठान्तर आदि की सूचनाओं के आधार पर हमने तैयार किया है। अतः सन्दर्भ के लिए प्रकोष्ठ में उनके सम्पादित निघण्टु की अध्याय / खण्ड सङ्ख्या तथा बाहर पहली सङ्ख्या पृष्ठाङ्क की तथा दूसरी सङ्ख्या पाद-टिप्पणी के अङ्क की दी है।

१. अचति ।
२. अयर्यति ।
३. अयुधुः[1] ।
४. अरर्षति ।
५. अलर्यति ।
६. ईहते ।
७. ऋणति ।
८. कणति ।
९. क्षिणोति ।
१०. जगति[2] ।
११. जगाति[3] ।
१२. जायति ।
१३. दघ्नोति ।
१४. द्रुम्मति ।
१५. धवति ।
१६. धावति ।
१७. ध्रुवति ।
१८. नर्यति ।
१९. नेदति
२०. पतर्यति ।
२१. मिनति ।
२२. मियक्षति ।
२३. राति ।
२४. रूळ्हति ।
२५. वदति ।
२६. वल्गूयति ।
२७. व्रजति ।
२८. षःकति ।
२९. सस्रति ।
३०. हम्मति ।
३१. हयति ।

इसी खण्ड (२।१४) के बृहत्पाठ में निम्नलिखित शब्द हैं, जो लघुपाठ में नहीं हैं :

१. अनिति ।
२. अयुथुः[1] ।
३. अरुपति ।
४. अर्दति ।
५. आयंति ।
६. इर्यति ।
७. इषति ।
८. ईङ्खते ।
९. ऋणोति ।
१०. एति ।
११. जमति ।
१२. जङ्घन्ति ।
१३. जवति ।
१४. जसति ।
१५. जिन्वति ।
१६. दम्नोति ।
१७. द्रमति ।
१८. द्राति ।
१९. द्रूळति ।
२०. धमति ।
२१. नक्षति ।
२२. नवते ।
२३. नसते ।
२४. फणति ।
२५. मर्दति ।
२६. मिनाति ।
२७. म्यक्षति ।
२८. यतते ।
२९. रथर्यति ।
३०. रेजति ।
३१. वहते ।
३२. ससृते ।
३३. स्वरति ।
३४. हनति ।
३५. हर्यति ।

निघण्टु (३।१४) के लघुपाठ में बृहत्पाठ की अपेक्षा दस शब्द कम हैं। जितने हैं उनमें से भी निम्नलिखित शब्द बृहत्पाठ में नहीं मिलते :

१. कल्पते ।
२. पिपृक्षाः ।
३. भणति ।
४. भणायते ।
५. मन्त्रयते ।
६. वन्दते ।
७. स्वदति ।
८. स्वपिति ।

शैली की दृष्टि से इन दोनों पाठों में निम्नलिखित अन्तर है :

(१) बृहत्पाठ में चौथे अध्याय में तीन खण्ड हैं। जब कि लघुपाठ में चार खण्ड हैं[4]। लघुपाठ में तीसरे खण्ड का अन्तिम शब्द है शाशदानः[5]। बृहत्पाठ

---

१. ये दोनों शब्द क्रिया शब्दों में क्यों रखे हैं यह स्पष्ट नहीं है।

२. लघुपाठ में जगन्ति भी सङ्कलित है। जगति का ही बहुवचन रूप होने से इसे अलग से देना अनावश्यक है।

३. दोनों पाठों में जगायात् भी पृथक् से मिलता है। अतः वस्तुतः जगाति यहां व्यर्थ ही सङ्गृहीत है। यह निघण्टु के सङ्कलन की शैली का दोष है।

४. द्र. डा. लक्ष्मणस्वरूप, निघण्टुपाठ, पृष्ठ २५, टि. ६।

५. द्र. वही, पृ. २४, टि. १२।

(तीसरे खण्ड) के शाशदान: के बाद के शेष शब्दों का एक अलग से चौथा खण्ड लघुपाठ में है।

(२) बृहत्पाठ में पांचवें अध्याय में छह खण्ड हैं। लघुपाठ में पहले तथा दूसरे खण्ड को मिलाकर एक खण्ड किया गया है[1]। इससे लगता है कि लघुपाठ में पांचवें अध्याय में पांच ही खण्ड रहे होंगे।

(३) लघुपाठ में अध्यायान्तर्गत खण्डों में उन खण्डों का विवरण बृहत्पाठ की तुलना में संक्षिप्त है। लघुपाठ में १।१ का पाठ है : गौः। ग्मा। .... गोत्रेति पृथिव्याः। अर्थात् गौः, ग्मा........गोत्रा ये पृथ्वी के (पर्याय शब्द हैं)। इसके विपरीत बृहत्पाठ में यही पाठ यों परिवर्धित है : गौः। ग्मा। ...... गोत्रेत्येकविंशतिः पृथिवीनामधेयानि। अर्थात् गौः, ग्मा........गोत्रा ये इक्कीस पृथिवी के नाम (हैं)।

बृहत्पाठ में प्रत्येक खण्ड के अन्त में उस खण्ड में सङ्कलित शब्दों की सङ्ख्या भी दे दी गई है। कुछ हस्तलेखों में तो इससे बीच (विकास) की स्थिति भी दिखलाई पड़ती है। अर्थात् उन में गौः। ग्मा। .... गोत्रेति पृथिव्याः ॥२१॥ इस प्रकार अङ्कों में खण्डान्तर्गत शब्दों की सङ्ख्या दी गई है, और सङ्ख्या शब्द तथा नामधेयानि जैसे परिचायक पद का प्रयोग नहीं किया गया है।

(४) बृहत्पाठ में प्रत्येक अध्याय के अन्त में उस अध्याय में आए खण्डों का पहला शब्द खण्डसूत्र के रूप में देकर उस अध्याय के खण्डों की सङ्ख्या भी दे दी गई है। जैसे प्रथम अध्याय के अन्त में बृहत्पाठ में गौर्हेमाम्बरं स्वः खेदय आताः श्यावी विभावरी वस्तोरब्रिः श्लोकोऽर्णोवनयोत्यो हरी इन्द्रस्य भ्राजते जमदिति सप्तदश। यह खण्डसूत्र मिलता है। इसी प्रकार अन्य अध्यायों के अन्त में भी ऐसे ही खण्डसूत्र बृहत्पाठ में मिलते हैं, लघुपाठ में नहीं।

निघण्टु के दो पाठ और यास्क

डा० लक्ष्मणस्वरूप का मत है कि सम्भवतः ये दोनों पाठ यास्क के समय में प्रचलित हो चुके थे। यास्क ने नैघण्टुक काण्ड की व्याख्या में कई स्थानों पर निघण्टुगत शब्दों की व्याख्या न करके, बाद में अमुक शब्द के इतने पर्याय हैं, इतना ही कहा है। जैसे निघण्टु (२।११) की व्याख्या में उन्होंने गोनामान्युत्तराणि नव। (अर्थात् इसके बाद नौ गो के नाम हैं) ही कहा है, इनकी व्याख्या नहीं की है। यह कथन केवल तभी सार्थक माना जा सकता है, जब उनके सामने उक्त खण्ड का लघु पाठ अर्थात् अघ्न्या, उस्रिया........, शक्वरीति गवाम्, पाठ ही होता। अघ्न्या.......

१. द्र. वही, २५, पृष्ठ टि. ७ और ६।

शक्वरीति नव गोनामानि । यह बृहत्पाठ यदि रहा होता तो निरुक्त में 'गोनामान्युत्तराणि नव । कहना पिष्टपेषण मात्र ही होता'[1] ।

हम डा० लक्ष्मणसरूप के इस तर्क से सहमत नहीं हैं। नैघण्टुककाण्ड के सब शब्दों या पूरे के पूरे कई खण्डों की व्याख्या यास्क ने नहीं की है, यह तो सुविदित ही है। अब, जिस खण्ड की उन्होंने व्याख्या की है तथा जिसकी आगे व्याख्या करेंगे, इन दोनों खण्डों के बीच के खण्डों को यास्क या तो बिल्कुल छोड़ देते, अर्थात् उनके बारे में कुछ नहीं कहते। ऐसी स्थिति में आगे चलकर यह भ्रम होता कि ये खण्ड मूल में यास्क ने लिखे भी थे कि नहीं। व्याख्येय ग्रन्थ के पाठ की सुरक्षा की दृष्टि से यह आवश्यक हो जाता है कि उसके अव्याख्यात अंश की चर्चा भी व्याख्या में रहे। इसके लिये यास्क ने जिस तरीके का सहारा लिया अर्थात् व्याख्यात खण्ड के बाद अव्याख्यात खण्ड या खण्डों के शब्दों की सङ्ख्या तथा वे किस शब्द के पर्याय हैं यह बतलाकर आगे बढ़ें, ऐसा करने में उन्हें चाहे पिष्टपेषण ही करना पड़े। इससे सरल तरीका और क्या हो सकता था ? आज के युग में इसकी अपेक्षा नहीं हो यह सम्भव है; क्योंकि आज छापे की सुविधा तथा पुस्तक सम्पादन कला के विकास के कारण मूलपाठ या तो पूरा-का-पूरा सुरक्षित व्याख्या के साथ ही छप जाता है, या पृथक् से छाप दिया जाता है, जिससे उसकी सुरक्षा सन्दिग्ध नहीं होती। किन्तु प्राचीन काल में प्रत्येक प्रति को बड़े परिश्रम से लिखना होता था। जिस के कारण व्याख्येय और व्याख्या ग्रन्थों की प्रतिलिपि प्रायः पृथक्-पृथक् की जाती थी। व्याख्याग्रन्थ में व्याख्येय ग्रन्थ को सुरक्षित रखने का उदाहरण हमें दुर्ग की और स्कन्दस्वामी की व्याख्याओं में मिलता है, जिनमें मूल के प्रत्येक शब्द को दुहराकर ही व्याख्या की गई है। अतः इस आधार पर यह निश्चय से कहना कि यास्क ने लघुपाठ का आश्रय लिया है, बृहत्पाठ का नहीं, जल्दबाजी और ग्रन्थ के साथ अन्याय होगा।

निघण्टु के चौथे और पांचवें अध्यायों की व्याख्याओं में यास्क ने प्रायः बृहत्पाठ का ही प्रयोग किया है। जैसे :—

१. निघण्टु के बृहत्पाठ में चौथे अध्याय में तीन खण्ड हैं, यह हम अभी कह आए हैं। यास्क ने इसके तीन खण्ड मान कर ही चौथे से छठे तक तीन अध्यायों में इनकी व्याख्या की है।

२. इसी प्रकार निघण्टु के पांचवें अध्याय में बृहत्पाठ में छह खण्ड हैं। यास्क ने छह ही (७-१२) अध्यायों में इसकी व्याख्या की है।

३. निघण्टु ३।१४ के बृहत्पाठ में ४४ शब्द हैं और लघुपाठ में ३४, यह हम पहले कह चुके हैं। यास्क ने (३।१६ में) बृहत्पाठ वाली सङ्ख्या दी है।

---

१. द्र. निघण्टु तथा निरुक्त, भूमिका, पृष्ठ ९–१०।

४. निघण्टु (४।१।७) के लघुपाठ में है इषिरः और बृहत्पाठ में इषिरेण[1]। यास्क ने अपनी तरफ से इषिरः या इषिरेण के बारे में कुछ नहीं कहा है[2]। मन्त्र इषिरेण वाला दिया है। ऋग्वेद संहिता में इषिरेण केवल एक बार (८।४८।७ में) तथा अन्य विभक्तियों (इषिरः आदि के रूप) में अनेकों बार आया है। यास्क का इषिरेण वाला मन्त्र उद्धृत करना सूचित करता है कि उनके निघण्टु में भी इषिरेण पद ही समाम्नात है।

५. इसी तरह नूच (४।१।३१) और वूतः (४।२।३) ये दोनों शब्द बृहत्पाठ में हैं, लघुपाठ में नहीं[3]। किन्तु यास्क ने (४।१७ तथा ५।२ में) दोनों की ही व्याख्या की है।

६. शिरिम्बिठः (४।३।१२१) बृहत्पाठ में ही है, लघुपाठ में नहीं[4]। यास्क ने (६।३० में) इसकी भी व्याख्या की है।

७. शिप्रे (४।३।७२) लघुपाठ में है। बृहत्पाठ के कुछ कोशों में यह शब्द नहीं है[5]। यह शब्द ४।१।११ में भी आ चुका है। वहां (निरुक्त ४।१० में) यास्क ने इसकी व्याख्या बाद में करेंगे कह कर इसको छोड दिया है। निघण्टु (४।३) में शिप्रे से पहले शब्द है सुशिप्रः (७२)। उसकी व्याख्या में इस (शिप्रे) की व्याख्या प्रसङ्गप्राप्त होने से करनी है, इस लिए पहले (४।१० में) इसकी व्याख्या नहीं की। सुशिप्रः की व्याख्या के बाद (निरुक्त ६।१७ में) यास्क ने शिप्रे की जिस ढंग से व्याख्या की है उससे लगता है कि इसकी व्याख्या सुशिप्रः का उत्तरपद होने से ही की है। दुर्गाचार्य भी शिप्रे की व्याख्या को प्रसङ्ग प्राप्त अर्थात् सुशिप्रः की व्याख्या में उपयोगी होने से

---

१. द्र. निघण्टु पाठ, पृ. २२ टि. १३। यहां सर्वत्र डा. लक्ष्मणसरूप के ग्रन्थ का ही सङ्केत है।

२. वास्तव में उन्होंने जिस प्रकार अन्य शब्दों की व्याख्या निघण्टुगत पद को उद्धृत करके उसका निर्वचन तथा फिर मन्त्र दे कर की है, वैसे इषिरेण की नहीं की है। सीधे-सीधे मन्त्र उद्धृत करके व्याख्या में पर्याय देकर निर्वचन किया है। इससे हमारा अनुमान है कि यहां निरुक्त के पाठ में शायद कुछ गड़बड़ है।

३. द्र. निघण्टु पाठ, पृ. २३, टि २ तथा १०।

४. द्र. वही, पृ. २५, टि. २।

५. द्र. वही, पृ. २४।१४।

ही की हुई मानते हैं[1]। अतः हमारे विचार में निघण्टु के इस स्थल (४।३) में यास्क ने शिप्रे का पाठ वस्तुतः नहीं किया होगा।

नैघण्टुक काण्ड में एक बार दिये शब्दों का उनके अनवगत होने से या अनेकार्थक होने से ऐकपदिक काण्ड में पुनः समाम्नान उचित है। पर एक ही अर्थ वाले शब्द का ऐकपदिक प्रकरण में दो बार पाठ प्रमाद ही है। और वह तब तो और भी अधिक हो जाता है, जब कि प्रथम स्थल में उसकी व्याख्या इस लिए छोड दी जाए कि आगे किसी अन्य शब्द के प्रसङ्ग में करेंगे। इस हेतु से भी शिप्रे का निघण्टु (४।३।७३) में पाठ अप्रामाणिक है।

बृहत्पाठ की कुछ तथा लघुपाठ की सब पाण्डुलिपियों में यह शब्द इस स्थान में आया क्यों कर ? इस प्रश्न पर हमारा विचार यह है कि निरुक्त (६।१७) में इसकी व्याख्या मिलने तथा निरुक्त (४।१०) में आगे व्याख्या करेंगे कह कर छोड़ दिया जाने से परवर्ती काल में यह शब्द गल्ती से यहां भी मान लिया गया है। पर कुछ पाण्डुलिपियों में वास्तविक स्थिति सुरक्षित रही है।

८. पीछे बृहत्पाठ में उपलब्ध किन्तु लघुपाठ मे अनुपलब्ध शब्दों की सूची में से १ ऋजुनीती (निरुक्त ६।२१ में), २ तुञ्जति (६।१७ में), ३ धव (३।१५ में) शब्द निरुक्त में उन्हीं अर्थों में हैं, जिनमें वे निघण्टु में समाम्नात हैं।

९. लघुपाठ में उपलब्ध किन्तु बृहत्पाठ में अनुपलब्ध शब्दों की सूची में एक रोधसी शब्द ही रोदसी शब्द की व्याख्या (रोदसी रोधसी द्यावापृथिव्यौ। ६।१) में मिला है। बृहत्पाठ में मिलने वाला अक्षरम् शब्द (११।४१ में) मिलता है, किन्तु उसके स्थान पर लघुपाठ में उपलब्ध अक्षरा शब्द कहीं भी नहीं मिलता।

उपलक्षण मात्र के लिए दिये इस विवरण से विद्वानों को यह निष्कर्ष निकालने में कठिनाई नहीं होगी कि यास्क ने अपने भाष्य का आधार निघण्टु के बृहत्पाठ को ही बनाया है। वस्तुतः तो यास्क लघुपाठ जैसी किसी वस्तु से परिचित ही नहीं हैं। लघुपाठ तो अध्ययन अर्थात् शब्दों को कण्ठ करने में आसानी के लिए बनाया गया पाठ है। बृहत्पाठ के ग्रन्थपरिचायक शब्दों को हटाकर केवल मूल शब्द तथा वे

---

१. द्र. ६।१७ पर : तत्पुनरेतदेतेन एव सुप्रशब्देन व्याख्यातम्। शिप्रे हनू नासिके वा, ते तस्य प्रशस्ते, स सुशिप्रः। वाजे सुशिप्र गोमति (ऋ. सं. ८।२१।८ चतुर्थ पाद) इति निगमः विष्मा सखित्वम् (वहीं पहला पाद) इति व्याख्यातः। नास्मिन्मन्त्रे नासिकयो र्हन्वोर्वा शिप्रशब्दवाच्यत्वे विशेषलिङ्गमस्तीत्यतः शिप्रे हनू नासिके वा इत्युक्त्वा विशिष्टतरलिङ्गमुदाहरणं ब्रवीति : विष्यस्व शिप्रे (ऋ. सं. १।१०१।१०) इति। यदुक्तं शिप्रे इत्युपरिष्टाद् व्याख्यास्यामः (४।१०) इति, एतद् व्याख्यातम् शिप्रे हनू नासिके वा इति।

जिसके वाचक हैं, उस शब्द को षष्ठी में रखकर सङ्क्षिप्त पाठ तैयार कर दिया गया। इससे विद्यार्थियों को व्यर्थ सङ्ख्या तथा सञ्ज्ञेय—नामानि या धातवः जैसे—शब्द नहीं रटने पड़े। निघण्टु ४।३ के लम्बे पाठों को रटने से घबरा कर ही इसके चार खण्ड किये गये। पांचवें अध्याय के पहले दो खण्डों में शब्दों की सङ्ख्या के असन्तुलन को देखकर तथा एकस्थानीय प्रमुख देवताओं को दूसरे खण्डों की तरह एकत्र करने के लिए, दोनों खण्डों को मिलाकर एक कर दिया गया। पाण्डुलिपियों में, एक को छोड़ कर सब में, तब भी छह खण्ड ही लिखे जाते रहे।

हमारे विचार से लघुपाठ की कुछ पुस्तकों में अङ्कों में निर्दिष्ट सङ्ख्या भी लघुपाठ से बृहत्पाठ के विकास को सूचित नहीं करती, अपितु बृहत्पाठ से लघुपाठ तैयार करने के स्तरों को ही सूचित करती है। विस्तृत परिचयात्मक लेख को कम करने के लिए षष्ठ्यन्त नाम के बाद अङ्कों में सङ्ख्या को निर्दिष्ट करना उपयोगी तो रहा, पर याद तो उस सङ्ख्या को शब्द से ही करना पड़ता था। अतः अङ्कों में सङ्ख्या के निर्देश को अकिञ्चित्कर ही नहीं, अपितु बाधक पा कर कालान्तर में छोड़ ही दिया गया, और रह गया विशुद्ध लघुपाठ तथा उसे याद करने वाले विद्यार्थी। अध्ययन—अध्यापन में निरुक्त में बृहत्पाठ के सुरक्षित रहने से पृथक् से भी बृहत्पाठ पाण्डुलिपियों में सुरक्षित रहा।

इषिरेण (४।१७) के प्रसङ्ग में दुर्ग ने **इषिर इत्यनवगतम्** कह कर लघुपाठ को लिया है। इस के आधार पर हमारा विचार है कि यह लघुपाठ दुर्ग से पर्याप्त पहले ही हो चुका था तथा इषिरेण का ही प्रातिपदिक-रूप होने के कारण दुर्ग ने इस पर विशेष ध्यान नहीं दिया।

समय बीतने के साथ एक पाठ के भी अनेकपाठान्तर और प्रक्षेप आदि हो जाया करते हैं। तब दो पाठों में स्थित और मौखिक परम्परा में जीवित-पालित ग्रन्थ के भी पाठभेद आदि हों तो क्या आश्चर्य है? यही कारण है कि दोनों ही पाठों में हमें पाठभेद मिलते हैं।

अध्याय ३

निघण्टु : विषय-विवेचन

निघण्टु उपलब्ध वाङ्मय में **विश्व का सबसे पहला कोश ग्रन्थ है।** इसका सङ्कलन एक बहुत सुनियोजित परिकल्पना पर हुआ है। इसके पहले **तीन अध्यायों** में एकार्थक सरल शब्द निबद्ध हैं। पहले शब्द दिये गए हैं, फिर उनका एक प्रसिद्ध पर्याय-शब्द दे कर उनकी सङ्ख्या बतला दी गई है। **यास्क** ने **निरुक्त** (१।२०) में इन अध्यायों को **नैघण्टुक काण्ड** के अन्तर्गत माना है। **चौथे अध्याय** में अनेकार्थवाची क्लिष्ट शब्द **तीन खण्डों** में निबद्ध हैं। इसे उन्होंने (४।१ में) **नैगम** या **ऐकपदिक काण्ड** कहा हैं। **पांचवें अध्याय** में देवताओं से सम्बद्ध शब्द हैं। इस अध्याय को उन्होंने (१।२० में) **दैवत काण्ड** नाम दिया है।

प्रथम **तीन अध्यायों** में शब्दों का सङ्कलन भी एक व्यवस्था के अनुसार सुगठित एवं सुनियोजित रूप में किया गया है।

प्रथम अध्याय में सत्रह खण्डों में **पृथ्वी, अन्तरिक्ष, दिशा, मेघ, रश्मि, जल, नदी** आदि भौतिक तथा प्राकृतिक वस्तुओं एवन् उनसे सम्बद्ध क्रियाओं के वाचक ४१५ पर्याय शब्द सङ्कलित हैं।

द्वितीय अध्याय में बाईस खण्डों में **मनुष्य**, उसके **अङ्गों**, उसके उपयोग की **वस्तुओं**, उसके **कर्म** और विविध **क्रियाओं** से सम्बद्ध ५१६ पर्यायवाची शब्द दिये गए हैं।

तीसरे अध्याय में ३० खण्डों में **बहुत, छोटा, बड़ा** आदि विशेषण, **सुख** आदि भावाभिव्यञ्जक, **प्रज्ञा** तथा उससे सम्बद्ध विभिन्न, क्रियाओं के अभिधायक ४१० पर्याय शब्दों का सङ्ग्रह है। इन **तीनों अध्यायों** अर्थात् **नैघण्टुक काण्ड** में कुल १३४१ शब्द सङ्कलित है।

चौथे अध्याय में व्युत्पत्ति की दृष्टि से कठिन (अनवगत संस्कार) २७९ शब्दों को **तीन खण्डों** में सङ्कलित किया गया है। यह सङ्कलन किस आधार पर है, यह स्पष्ट नहीं है।

पाँचवें अध्याय में कुल छह खण्डों में १५१ नाम सङ्कलित हैं। प्रथम तीन खण्डों में पृथ्वीस्थानीय देवताओं के ५२ नाम हैं। चौथे खण्ड में अन्तरिक्ष के देवताओं के ३२ तथा पाँचवें खण्ड में अन्तरिक्ष के ही छोटे-मोटे देवताओं और विभिन्न स्त्री देवताओं के ३६ नाम हैं। छठे खण्ड में द्युलोक के देवताओं के ३१ नाम सङ्कलित हैं।

निघण्टु के दैवतकाण्ड का पाठशोधन

वैदिक साहित्य में समस्त देवताओं का उनके **आश्रय स्थान** की विशेषताओं के कारण विभिन्न गुणों से वर्णन हुआ है। हमारे लिए पृथ्वी सबसे निकट, प्रमुख तथा प्रथम स्थान है—इसी कारण से सम्भवतः निघण्टु के **दैवतकाण्ड** के प्रथम तीन खण्डों में **पृथिवी स्थानीय देवताओं** का समाम्नान किया गया है। **बृहद्देवता** (१।१०६-११४) में इन देवताओं का क्रम ठीक **निघण्टु** के क्रम से मिलता है। किन्तु **बृहद्देवता** में **निघण्टु** के तीसरे खण्ड में पठित **श्रद्धा** के बाद, **पृथिवी** से पहले **इळा** नाम अधिक दिया गया है। **निरुक्त** (७।८) और उस पर **दुर्गाचार्य** की टीका से भी विदित होता है कि यहाँ **इळा** नाम होना चाहिए। किन्तु **निरुक्त** में **श्रद्धा** और **पृथिवी** के व्याख्यान के प्रसङ्ग (९।३१) में **इळा** नहीं है। लगता है **निघण्टु** (५।२) की **तिस्रो देवीः** के व्याख्यान में **भारती** और **सरस्वती** के साथ तीसरी **इळा** आ जाने के कारण इसके असली स्थल में **इळा** का समाम्नान और **निरुक्त** में उचित स्थल में उसका व्याख्यान—दोनों भ्रष्ट हो गए हैं। **इळा** मध्यस्थान देवताओं (५।५) में भी पठित है। उस स्थल के इस पद के व्याख्यान में **यास्क** ने **इळा व्याख्याता** (११।४८) कहा है। **निघण्टु** (५।२) के **तिस्रो देवीः** की व्याख्या के प्रसङ्ग (८।१३) में इसकी कोई व्याख्या नहीं की गई है। इससे भी यही सिद्ध होता है। अतः **निघण्टु के पृथ्वी स्थान देवताओं के तीसरे खण्ड में भी इळा पद का पाठ होना चाहिये।**

मध्यस्थान (४-५ खण्डों) में स्थित देवताओं के क्रम से **बृहद्देवता** (१।१२२-१२९) के मध्यस्थान देवताओं का क्रम बिल्कुल नहीं मिलता। इसके अतिरिक्त उसमें **सीता** और **लाक्षा** पद **निघण्टु** के पदों से अधिक हैं। निरुक्त में भी इनकी चर्चा नहीं है।

उत्तमस्थान देवताओं में **बृहद्देवता** (२।८–१२) और **निघण्टु** (५।६) के देवताओं के क्रमों में तो अन्तर है ही, **निघण्टु** में **सरण्यू** के बाद पठित **त्वष्टा** देवता **बृहद्देवता** के **उत्तमस्थान** देवताओं में नहीं हैं। **निरुक्त** के उस स्थल (१२।१०–११) के मध्य में **सरण्यू** की व्याख्या में प्रकृत इतिहास से सम्बद्ध ऋचा में **त्वष्टा** का नाम भर आया है। अन्य देवताओं की तरह वहाँ उसकी न उत्थानिका की गई है, और न कोई व्याख्या ही। अतः हमारा विचार है कि वस्तुतः वहाँ **त्वष्टा** अपेक्षित नहीं है। किसी डेढ़ बुद्धिमान् लेखक ने **सरण्यू** के इतिहास की पुष्टि में उद्धृत ऋचा

में प्रथम शब्द त्वष्टा देख कर निघण्टु में भी सरण्यू के अनन्तर त्वष्टा का प्रक्षेप कर दिया। निरुक्त के (८।१३-१४) खण्डों में पृथिवीस्थानीय और मध्यस्थानीय देवताओं में त्वष्टा के पाठ का स्पष्ट कथन है। पृथिवीस्थानीयों में तो त्वष्टा की व्याख्या चल ही रही है, माध्यमिकस्त्वष्टेत्याहुर्मध्यमे च स्थाने समाम्नातः। कह कर यास्क ने निघण्टु में उसकी स्थिति बिल्कुल स्पष्ट कर दी है। अतः हमारे विचार में निघण्टु के उत्तमस्थानीय देवताओं में त्वष्टा को स्थान नहीं ही मिलना चाहिए।

निघण्टु में शब्दों के सङ्कलन की यह व्यवस्था यद्यपि बहुत वज्ञानिक तथा अधिकांशतः प्रणालीबद्ध भी नहीं है, तथापि बुद्धिसङ्गत रूप से शब्दों के वर्गीकरण का प्रयास अवश्य है। कोशविज्ञान के अध्ययन की दृष्टि से इस प्रयास का अमूल्य ऐतिहासिक महत्त्व है।

निघण्टु में मुख्य रूप से नामपदों और आख्यातपदों का ही समाम्नान किया गया है। नैघण्टुक काण्ड में पठित १३४१ शब्दों में से आख्यातपर्याय केवल ३१३ हैं। निपात शब्द भी कुछ ही हैं : १ अर्वाके, २ अह्नाय, ३ आ, ४ आकीम्, ५ आके, ६ आरे, ७ आशु, ८ आसात्, ९ आहिकम्, १० इत्था, ११ इदा, १२ इदानीम्, १३ इव, १४ उपाके, १५ चित्, १६ तथा, १७ तिरः, १८ न, १९ नकिः, २० नकीम्, २१ नु, २२ नुकम्, २३ पराके, २४ पराचैः, २५ बट्, २६ मकिः, २७ मक्षु, २८ यथा, २९ शु, ३० श्रत्, ३१ सत्रा, ३२ सुकम्, ३३ हिरुक् इत्यादि। उपसर्ग तो नैघण्टुक काण्ड में केवल एक अभि (३।१३) ही है। शेष ९९४ शब्द नाम-पद हैं। चौथे अध्याय में १ इत्था, २ ईम्, ३ नूच, ४ नूचित्, ५ सचा, ६ सीम् इत्यादि कुछ निपात और १ अच्छ तथा २ परि उपसर्ग हैं। जहा आदि कुछ आख्यात पद भी हैं, पर अधिक तो नामपद ही हैं। पाँचवें अध्याय में तो सारे ही नामपद हैं।

नाम और आख्यात पदों का परिगणन मन्त्र में जो पद जिस रूप में प्रयुक्त है, उसी रूप में कर दिया गया है। अतः नामपद कुल मिलाकर सभी विभक्तियों और वचनों में मिल जाते हैं। आख्यात भी कई लकारों (लँट्, लोँट् लुँट्) में और व्यस्त रूप से सभी पुरुषों एवं विभक्तियों में मिलते हैं। न केवल इतना ही, अपितु प्रक्रियाओं के विशेष रूप भी उपलब्ध हैं[1]। कहिं-कहीं आवश्यकता के अनुसार पूरे वाक्यांश भी सङ्कलित हैं[2]। कहिं-कहीं नामपद आख्यातों के मध्य में भी दे दिये गये हैं[3]। विभक्ति और वचन का भेद न होने पर भी कई शब्द अर्थ भेद के कारण

---

१. द्र. आगनीगन्ति, जङ्गन्ति (२।१४) ; हृणीयते (२।१२) ; वल्गूयति (३।१४)।		२. द्र. ३।१३। और देवो देवाच्या कृपा (४।३।३६)।

३. द्र. आक्षाणः (२।१८) ; तळित्, आखण्डलः (२।१९); विचर्षणिः, विश्वचर्षणिः (३।११); शशमानः (३।१४)।

दुहरा दिये गये हैं[1]। एक ही धातु के भिन्न-भिन्न रूप भी पृथक् शब्द के रूप में सङ्कलित हैं[2]। कम से कम २६५ शब्द तो इस में अवश्य दुहराये गये हैं। कोश-निर्माणकला यदि उन दिनों अच्छी विकसित स्थिति में हुई होती, तो न केवल इस कोश की पद्धति ही कुछ और होती, अपितु शब्दों की सङ्ख्या भी जितनी सामग्री इसमें सङ्कलित है, उसे दृष्टि में रखकर कम अर्थात् १५०६ के लगभग ही रही होती।

निघण्टु और निरुक्त का सम्बन्ध

यास्काचार्य ने निघण्टु के प्रत्येक शब्द की व्याख्या नहीं की है। नैघण्टुक काण्ड अर्थात् निघण्टु के प्रथम तीन अध्यायों में सङ्कलित १३४१ शब्दों में से केवल २३० की व्याख्या की है। यह व्याख्या भी व्यास से नहीं, अपितु समास से की गई है : निरुक्त के दूसरे अध्याय के पाँचवें खण्ड से लेकर तीसरे अध्याय के अन्त तक केवल पौने दो अध्यायों में समाप्त कर दी गई है। इससे पूर्व का पूरा पहला अध्याय और दूसरे अध्याय के प्रथम चार खण्ड निरुक्त की भूमिका के रूप में लिखे गये हैं।

व्याख्या करने की इस उतावली में पर्यायवाची शब्दों के एक समूह में से केवल एकाध शब्द की ही व्याख्या सम्भव हो पायी। इससे एक बड़ी कमी यह रह गई है कि अल्पान्तर-समानार्थक पर्याय शब्दों में प्रत्येक के अर्थ में जो कुछ विशिष्टता होती है, उसकी पूरी तरह से उपेक्षा हो गई[3]। फलतः अर्थविज्ञान का

---

१. द्र. निघण्टु : २।१२ और ४।२।८ में वनुष्यति; १।१, १।४, १।११, ३।१६, ४।१, ५।५ में गोः; १।१२ और ३।७।४ में वपुः, ३।८, ३।६, ४।२ में वयुनम्, ५।४, ५।६ में वरुणः; २।६, २।१४, ३।१४ में वेनति; इसी प्रकार ग्नाः, वेनः आदि बहुत से शब्द दुहराये गये हैं।

२. द्र. निघण्टु : २।१८ में √अश् के आनट्, आष्ट, अशत्, आनशे और अश्नुते रूप भिन्न धातुओं के रूप में सङ्कलित हैं। इसी प्रकार २।६ में √वश् के वष्टि, वश्मि, उश्मसि और उशिक् तथा √कन् के चाकनत्, कानिषत् और कनति एवम् (२।८ में) √भस् के भसथः, बब्धाम्, बभस्ति तथा बप्सति भी पृथक्-पृथक् सङ्कलित हैं।

३. द्र. निरुक्त ४।१ पर ऋज्वर्था वृत्ति : अत्र पुनर्यद्यपि गतिकर्मणां द्वाविंशति-शतसङ्ख्यानाम् अविशिष्टं गमनमेकोऽर्थं उक्तः, तथाऽपि प्रसिद्ध्यनुरोधाय कसति, लोठते, श्चोतते इत्येवमादयः प्रतिनियत-सत्त्व-गमनविषया एव द्रष्टव्याः। तद् यथा : य एवोत्कटिक उरसा वा गच्छति स एव कसतीत्युच्यते, नेतरो य ऊर्ध्वो गच्छति। तथा च य एव निम्नेन प्रदेशेन कश्चिदचेतनो लोष्ठादिरन्यो वा पुरुषादिः प्रकाम-कारेण गच्छति स एव लोठत इत्युच्यते, नान्यः। तथा च यदेव द्रवद्रव्यं किञ्चित् स्रवति तदेव श्चोतत इत्युच्यते नान्यत्।

एवं गच्छतिकर्मणाम् एकार्थत्वेऽपि सति प्रसिद्धिसामर्थ्याद् गमनविशेषेषु यथाऽर्थं विनिवेशो द्रष्टव्यः। सामान्य-शब्दाश्च क्वचिद् विशेषवाचिनो भवन्ति, विशेष शब्दाश्च क्वचित् सामान्य-वाचिनः। तदप्युपेक्षितव्यम्।

एक बहुत बड़ा पहलू अव्याख्यात ही रह गया। जैसे **निघण्टु २।१४** में **१२२** शब्द **गत्यर्थक धातु** के रूप में बताए हैं। **यास्क** ने **निरुक्त** (३।१) में प्रत्येक **धातु** से किस प्रकार की **गति** प्रकट होती है, यह स्पष्ट न कर के केवल इतना ही कहा है कि **१२२** धातु गत्यर्थक हैं। इसी प्रकार **निघण्टु** (२।१०) में **धन** के अट्ठाईस नामों में प्रत्येक **नाम** के अपने विशिष्ट अर्थ पर यदि **यास्क** ने प्रकाश डाला होता, तो उस से आज न जाने कितनी तरह से उपकार हुआ होता। प्रत्येक पर्यायवाची शब्द सामान्यतः एक ही अर्थ को कहते हुए भी अपने साथ अपना **ऐतिहासिक, सामाजिक, सांस्कृतिक** परिवेश अलग से लिए हुए रहता है। जैसे **निघण्टु** में दिये **गाय** के नौ पर्यायों में **अघ्न्या** उसका समाज में जो आदर और महत्त्व था, उसे प्रकट करता है कि **चाहे जो कुछ हो, गाय को मारना नहीं है। उस्रा और उस्रिया** दूध की धार चुवाती दुधार गाय को प्रकट करता है। **मही** उसकी महत्ता या **पृथिवी** के समान क्षमाशीलता तथा सज्जन-दुर्जन—सबको माँ की तरह दूध से पुष्ट करने की उसकी प्रकृति की ओर प्रकाश डालता है। इसी प्रकार सामान्यतः मनुष्यवाचक **मनुष्य** और **पञ्चजनाः** शब्द पर **यास्क** ने जो कुछ कहा है, उससे हमें उन शब्दों की विशिष्ट **अर्थवत्ता** का ज्ञान होता है। अन्यथा तो ये शब्द हमारे लिए पत्थर की सुपारी ही सिद्ध होते।

साधारण शब्दों के बारे में उपर्युक्त उपेक्षा के बावजूद **यास्काचार्य** ने क्लिष्ट शब्दों तथा देवतावाचक शब्दों के बारे में बहुत उदारता से काम लिया है। **निघण्टु** के **चौथे** तथा **पांचवें अध्यायों** में आए ४३० शब्दों में से उन्होंने प्रत्येक शब्दकी सोदाहरण व्याख्या की है। **दैवतकाण्ड** के एक ही स्थान में स्थित देवगणों में प्रत्येक देवता का प्राकृतिक तथा निर्वचनलब्ध स्वरूप उन्होंने भली भाँति स्पष्ट किया है। जैसे **अग्नि, जातवेदाः, वैश्वानर** और **द्रविणोदा** अग्नि के पर्याय ही हैं। पर **यास्क** ने प्रत्येक के स्वरूप को तर्कपूर्ण रीति से स्पष्ट करके बतलाया है। इस से हमें वैदिक **देवविद्या** को समझने में आधारभूत सुविधा हुई है।

निघण्टु के १७७१ शब्दों में से **यास्काचार्य** ने कुल मिला कर ६६० शब्दों की व्याख्या की है।

अध्याय ४

निघण्टु के रचयिता कौन हैं ?

निघण्टु तथा निरुक्त का अविनाभाव-सम्बन्ध है। निरुक्त के बिना अकेले निघण्टु की तथा निघण्टु के बिना अकेले निरुक्त की उपयोगिता में बहुत कमी आ जाती है। इसमें भी अधिक हानि निघण्टु की ही होगी। क्योंकि निरुक्त की महत्ता तो उसमें किए निर्वचनों, मन्त्रों के अर्थ और अन्य अपेक्षित चर्चाओं के कारण अक्षुण्ण ही रहेगी, पर अकेले निघण्टु की एक प्राचीन कोष से अधिक कोई विशेष महत्ता रह पायेगी, इसमें हमें सन्देह है। सम्भवतः यही कारण है कि प्राचीन काल से ही विद्वानों ने निघण्टु को निरुक्तान्तर्भूत ही माना है[1]। आचार्य सायण तो ऋग्वेद-भाष्य-भूमिका में निघण्टु को पुकारते भी निरुक्त नाम से ही हैं। अन्य विद्वान् भी निरुक्त की अध्याय सङ्ख्या को निघण्टु के अध्यायों की सङ्ख्या से मिलाकर ही बतलाते हैं[2]। यही कारण है कि निघण्टु पर स्वतन्त्र रूप से चिन्तन प्रायः नहीं हुआ है। निघण्टु से सम्बन्धित समस्याओं को भी निरुक्त के टीकाकारों ने ही अपनी निरुक्तटीकाओं में थोड़ा बहुत उठाया है। अतः निघण्टु के रचयिता कौन हैं ? यह प्रश्न भी सबसे पहले निरुक्त के वचनों के सन्दर्भ में ही देखा गया है। इस प्रश्न पर प्राचीन काल से ही दो उत्तर रहे हैं : एक तो यह है कि निघण्टु यास्क की कृति नहीं है, अपितु यास्क से प्राचीन बहुत से लोगों की कृति है। तथा दूसरा यह है कि निघण्टु यास्क की ही रचना है। हां, इसका सङ्कलन करते समय उन्होंने और बहुत

---

१. द्र. श्री मधुसूदन सरस्वती, महिम्नस्तोत्र, श्लोक ७, की टीका : एवं निघण्ट्वादयोऽपि वैदिक-द्रव्य-देवतात्म-पदार्थपर्यायशब्दात्मका निरुक्तान्तर्भूता एव।

२. द्र. दुर्गाचार्य की अध्यायों के अन्त में दी पुष्पिकाएं : इति निरुक्तवृत्तौ षष्ठाध्यायस्य षष्ठः पादः। यह पहले अध्याय की पुष्पिका है। याज्ञवल्क्यस्मृति (३।८३) की टीका में विज्ञानेश्वर : निरुक्तस्याष्टादशोऽभिधानात्। माधव ने सामविवरण (पृ. ३७४–३७६) में १४वें अध्याय का पाठ अष्टादशे कह कर उद्धृत किया है।

से निघण्टुओं से सहायता ली है; यहाँ तक कि अपने ग्रन्थ की रूपरेखा पुराने **निघण्टुओं** के अनुसार ही बनाई है। अब हम इस प्रश्न पर विस्तरेण विचार करेंगे।

निघण्टु यास्क से प्राचीन लोगों की कृति है।

(क) **निरुक्त** के उपलब्ध टीकाकारों में सर्वाधिक, सुलभ, लोकप्रिय और सम्भवतः प्राचीन टीकाकार हैं श्रीदुर्गसिंह। उन्होंने अपनी **निरुक्त-वृत्ति** में कुछ स्थलों में **निघण्टु** के रचयिता के प्रश्न पर विचार किया है। उनका निष्कर्ष यह है कि **इस निघण्टु की रचना यास्क से पूर्व ही ऋषियों ने की थी**[1]। उन्होंने यह निष्कर्ष **निरुक्त** के निम्नलिखित दो वचनों के आधार पर निकाला है :

(**अ**) **उपदेशाय ग्लायन्तोऽवरे बिल्मग्रहणायेमं ग्रन्थं समाम्नासिषु र्वेदं च वेदाङ्गानि च** (१।२०)।

इस पर दुर्ग कहते हैं : **इमं ग्रन्थं गवादिदेवपत्न्यन्तं समाम्नातवन्तः**। यहाँ उनका आशय यह लगता है कि **निघण्टु** के व्याख्यान के प्रकरण में यास्क के **इस ग्रन्थ को** का अर्थ **निघण्टु को** ही हो सकता है। अतः **अवरों ने निघण्टु** की रचना की।

(आ) **निरुक्त** (४।१८) में **निघण्टु** (४।१।३२-३३) के दो शब्दों **दावने**, **अकूपारस्य** की व्याख्या में **यास्क** ने जो मन्त्र उद्धृत किया है, उसमें इन पदों का क्रम **अकूपारस्य, दावने** है। उनका कथन है :

एतस्मिन्मन्त्रे अकूपारस्य दावने इत्ययमनयोः पदयोरनुक्रमः समाम्नाये पुनर्दावने अकूपारस्येति मन्त्रपाठव्यतिक्रमेणानुक्रमः। तेन ज्ञायतेऽन्यैरेवायमृषिभिः समाम्नायः समाम्नातः, अन्य एव चायं भाष्यकार इति। एको हि समाम्नानं भाष्यं च कुर्वन् प्रयोजनस्याभावादेकमन्त्रगतयोः पाठानुक्रमं नाभङ्क्ष्यत्।

मन्त्रगत पदक्रम से भिन्न क्रम में समाम्नान अन्यत्र (**निघण्टु** ४।२।४९-५०में) भी मिलता है। वहाँ (**निरुक्त** ५।१५) पर **दुर्ग** ने इस क्रमव्यत्यास को तो उट्टङ्कित कर दिया है, पर इसके आधार पर कोई निष्कर्ष नहीं निकाला है :

वाजगन्ध्यमित्येतदपि पदमेकस्मिन्नेव निगमे निरुक्तम्, केवलं समाम्नायानुक्रमव्यत्यासः। वाजपस्त्यं वाजगन्ध्यमित्येष समाम्नायानुक्रमो, निगमे पुनरस्याम वाजगन्ध्यं सनेम वाजपस्त्यम् (ऋ. सं. ९।९८।१२) इति।

क्रमव्यत्यास के आधार पर निघण्टु को **यास्क** से भिन्न व्यक्ति की रचना सिद्ध करने में हमें कुछ सार नहीं लगता। जिस किसी ने भी **निघण्टु** में इन दोनों

---

१. द्र. **निरुक्त** १।१ की टीका : **स च** (समाम्नायः) **ऋषिभिर्मन्त्रार्थपरिज्ञानायोदाहरणभूतः पञ्चाध्यायी-शास्त्र-सङ्ग्रहभावेनैकस्मिन्नाम्नाये ग्रन्थीकृत इत्यर्थः।**

शब्दों का सङ्कलन किया हो, उसने यास्क द्वारा उद्धृत ऋ. सं. ५।३६।२ से ही इन दोनों शब्दों को लिया होगा। क्यों कि सारी संहिता में अकूपारस्य शब्द अन्यत्र प्रयुक्त ही नहीं हुआ है। दावने शब्द ऋ. सं. में कोई ३० बार, अकूपारः १ बार (१०।१०९।१ में) ही आया है। ऐसी स्थिति में उस रचयिता ने भी मन्त्रगत क्रम से भिन्न क्रम में निघण्टु में उन शब्दों को क्यों दिया? यास्क से भिन्न व्यक्ति द्वारा ऐसा करने पर यदि दोष नहीं हुआ, तो यास्क ने ही यदि क्रम बदल दिया तब क्या अन्तर आया? अतः इस युक्ति से निघण्टु को अयास्कीय नहीं कहा जा सकता। यह भी तो हो सकता है कि निघण्टु में इन शब्दों का क्रम केवल दुर्ग से पहले ही बदला हो। निरुक्त में तो क्रम के बारे में कुछ कहा नहीं है। अतः यह युक्ति निस्सार है।

(ख) पं. श्री सत्यव्रत सामश्रमी जी भी समाम्नाय शब्द को पवित्र अनादि वाङ्मय वाचक मान कर यास्क के ग्रन्थ निघण्टु के लिए इस शब्द का प्रयोग अनुचित मानते हैं[1]। वे निरुक्त (१।२०) के इमं ग्रन्थं समाम्नासिषुः। वाक्य के इमं ग्रन्थं से (दुर्ग का अनुकरण करते हुए) निघण्टु का ग्रहण ही इष्ट मानते हैं[2]। वे इस निघण्टु को ब्राह्मण ग्रन्थों से भी प्राचीन तथा महाभारत (मोक्षधर्मपर्व, अ. ३४२, श्लोक ८६, ८७) के प्रमाण पर कश्यप-प्रजापति-कृत मानते हैं[3]।

इस पर हमारा यह कहना है कि समाम्नाय शब्द का अनादि वाङ्मय अर्थ करना उचित नहीं है। निरुक्त में नाम और आख्यात के रूप में सम+आ+√म्ना का प्रयोग ११ बार हुआ है। इनमें से चार बार तो निश्चित रूप में यास्क के स्वयं के लिए या उनसे थोड़ा पूर्व के लोगों के लिए हुआ है[4]। ऐसी स्थिति में केवल समाम्नाय शब्द के आधार पर निघण्टु को अयास्कीय नहीं कहा जा सकता। दुर्गाचार्य की तथा इनकी शेष युक्तियों की समीक्षा हम आगे करेंगे।

(ग) प्राध्यापक श्रीयुत आर० डी० कर्मकर भी निरुक्त को कई व्यक्तियों की

---

१. द्र. निरुक्तालोचन, पृ. २२ : अद्ययुगीयेन कृतस्य ग्रन्थस्य कथं भवेत्समाम्नायत्वम्? .... सायणमते हि निघण्टोः समाम्नायत्वेनानादित्वम्। .... पृ. २५ : समाम्नायत्वं तु सिद्धमेवास्य निघण्टोः, समाम्नासिषुरिति क्रियादर्शनात्। वेदतुल्यत्व-समाम्नायत्वयोश्च नास्ति कार्यकृतो विशेषः।

२. द्र. वही पृ १९ : अत्रेमं ग्रन्थमित्युक्त्या निघण्टोरेव ग्रहणमिष्टम्।...... अनुपदमेव एतावन्तः समानकर्माणो धातवः। इत्याद्युक्त्या निघण्टुपरिचयस्यैवोपलब्धेः।

३. द्र. वही, पृ. २६ : एवं चैतस्माच्छ्रुतेर्निघण्टोः खलु ब्राह्मणग्रन्थेभ्योऽपि प्रागाम्नातत्वं गम्यते; तादृश-समाम्नायत्व-मूलकमतिपुराकालिकत्वं च सुव्यक्तमेव।

४. द्र. निरुक्त, ७।१३ का आगे उद्धृत पाठ।

रचना मानते हैं[1] :

(अ) निघण्टु के **प्रथम तीन अध्यायों** के रचयिता से **चौथे अध्याय के द्वितीय पाद** का रचयिता भिन्न है। क्योंकि इसमें कुछ ऐसे शब्द भी दिये गये हैं, जो पिछले तीन अध्यायों में आ चुके हैं। जैसे—१. **अन्धः** (४।२।६) २।७।१ में, २. **वराहः** (४।२।२१) १।१०।१३ में, ३. **स्वसराणि** (४।२।२२) १।६।५ में, ४. **शर्यः** (४।२।२३) २।५।५ में, ५. **सिनम्** (४।२।२८) २।७।८ में, **वयुनम्** (४।२।४८) ३।१।१० में आ चुके हैं। इससे यह स्पष्ट होता है कि इस खण्ड (४।२) का रचयिता पिछले तीन अध्यायों से अभिज्ञ नहीं है, अन्यथा वह इन्हें दोहराता नहीं।

निघण्टु के इस पौनरुक्त्य पर आचार्य **दुर्ग** का भी ध्यान गया है तथा उन्होंने इसे उचित माना है[2]। उनका आशय है कि **नैघण्टुक काण्ड** में पर्याय शब्दों का सङ्कलन किया गया है। **ऐकपदिक काण्ड में** ऐसे शब्द रखे गये हैं[1] जिनके कई **अर्थ** होते हैं और एक अर्थ निश्चित करना होता है, तथा[2] जिनमें व्याकरण प्रक्रिया स्पष्ट नहीं होती, अर्थात् जो **अनवगतसंस्कार** होते हैं। ऐसी स्थिति में कोई शब्द एकार्थक पर्याय शब्दों में भले ही आ जाए, सन्देहास्पद अर्थ वाला या अनवगत-संस्कार होने से उन्हें **ऐकपदिक** काण्ड में भी रखना आवश्यक है। इसलिए पहले **तीन अध्यायों** के ही नहीं, अपितु **पांचवें अध्याय** अर्थात् **दैवत काण्ड** के भी कई अनेकार्थक तथा अनवगत संस्कार शब्द इस काण्ड (**नैगम**) में दिये हैं। अतः हमें तो **कर्मकर साहब** की युक्ति समुचित नहीं लगती।

(आ) निघण्टु के **चौथे अध्याय** में भी **प्रथम** और **तृतीय खण्ड** के रचयिता अलग-अलग हैं। इस **अध्याय** में प्रत्येक खण्ड में कुछ शब्दों के ऐसे जोड़े हैं, जो किसी-न-किसी मन्त्र में इकट्ठे आये हैं। इनमें से दो जोड़े प्रथम खण्ड में हैं और उनका पाठ यथाश्रुत ही है। वे जोड़े हैं : **विद्रधे, द्रुपदे** (१८,१९) **दावने, अकूपारस्य** (३२,३३)। द्वितीय खण्ड में भी दो जोड़े हैं : **बाहिष्ठः, दूतः** (२,३), **कुटस्य, चर्षणिः** (७०,७१)। इनमें से प्रथम जोड़े की मन्त्रगत सन्धि तोड़ दी गई है। दूसरा युगल यथाश्रुत है। तीसरे खण्ड में चार युगल हैं, जिनमें से दो—**अनर्वाणं, किमीदिने** (४३,४४) और **चनः, पचता** (६४-६५)—यथाश्रुत-विभक्त्यन्त हैं, किन्तु दो—**श्रुष्टी, पुरन्धिः**

---

१. द्र. श्री विष्णुपद भट्टाचार्य, यास्कज् निरुक्त, पृ० २७–२८ पर उद्धृत।

२. द्र. ५।१ में **अन्धः** पर दुर्ग : **पठितमपि चान्ननामसु। अनेकार्थत्वात् सन्दिह्यत इत्येष निगम उपात्तः।** ५।५ में **सिनम्** पर भी : **व्यभिचारित्वादभिधानानां अन्ध सिनम् इत्यादीनि स्वे स्वेऽभिधानवर्गे पठितान्यपि सन्ति नैघण्टुके प्रकरणे, समाम्नातान्येतस्मिन्नैकपदिके प्रकरणेऽनवगतसंस्काराभिप्रायेण, कानिचिदनेकार्थाभिप्रायेण।**

(५०,५१) तथा सदान्वे, शिरिम्बिठः—की मन्त्रगत विभक्तियों—द्वितीया (पुरन्धिम्) और षष्ठी (शिरिम्बिठस्य)—को प्रथमा कर दिया गया है। यदि दावने, अकूपारस्य को यथाश्रुत विभक्ति में रखा जा सकता है, तो पुरन्धिम्, शिरिम्बिठस्य को क्यों नहीं ? इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि तृतीय खण्ड उसी व्यक्ति की कृति नहीं है, जिसने प्रथम खण्ड लिखा है।

श्रीयुत कर्मकर साहब की यह युक्ति भी हमें ठीक नहीं लगती। प्रथम खण्ड में भी यथाश्रुत पाठ कहाँ है ? वहाँ भी क्रमव्यत्यास है कि नहीं ? यदि यथाश्रुत पाठ को ही लें तो सन्धिच्छेद तो दूसरे खण्ड के बाहिष्ठः, वृतः में भी किया गया है। तथा तीसरे खण्ड का लेखक ही यदि दो युगलों को यथाश्रुत दे सकता है, तो बाकी दो में भी विभक्ति क्यों बदली ? उल्टे, इस युक्ति से तो कर्मकर जी को अपनी युक्ति के प्रवाह में इतना और कहना चाहिए था कि तीसरा खण्ड भी अलग-अलग लेखकों की रचना है, क्यों कि उसमें दो युगलों का पाठ यथाश्रुत दिया है, तथा दो का बदल कर। वास्तव में तो सारे ही निघण्टु में यथाश्रुत पाठ ही दिया जाये, या वह नहीं ही दिया जाये, यह आग्रह कहीं काम करता नहीं नजर आता, अपितु स्वच्छन्द रीति से ही पाठ दिया गया है। अतः इस स्वच्छन्दता के आधार पर निघण्टु को बहुत से पिताओं की सन्तान कह कर घपले में नहीं डाला जा सकता।

डा० लक्ष्मण सरूप ने भी निघण्टु को अकेले व्यक्ति की कृति न मानकर पूरी पीढ़ी या सम्भवतः अनेक पीढ़ियों के संयुक्त परिणामों का प्रयास माना है[1]। उन्होंने इसके लिए कोई युक्ति नहीं दी है।

श्री वं० का० राजवाडे ने कर्मकर जी की तरह के ही आधार पर निघण्टु को यास्क से प्राचीन तथा बहुत से लोगों की कृति माना है[2]।

निघण्टु यास्ककृत है

शाङ्कर वेदान्तदर्शन के सुप्रसिद्ध आचार्य श्री मधुसूदन सरस्वती ने अपने प्रस्थानभेद नामक ग्रन्थ में पाँच अध्यायों में निबद्ध निघण्टु नामक ग्रन्थ को यास्क द्वारा विरचित बतलाया है[3]। उन्होंने इसके लिए कोई युक्ति नहीं दी।

ऋग्वेदसंहिता के सायण से प्राचीन प्रसिद्ध भाष्यकार दाक्षिणात्य विद्वान् वेङ्कटमाधव ने भी निघण्टु को यास्ककृत माना है[4]। इन्होंने भी कोई युक्ति नहीं दी

---

१. द्र. निघण्टु और नि०, भूमिका, पृ० १४। २. द्र. यास्कज् नि०, पृ० २१५।

३. द्र. प्रस्थानभेद : तत्रापि निघण्टुसञ्ज्ञकः पञ्चाध्यायात्मको ग्रन्थो भगवता यास्केन कृतः।

४. द्र. ऋ. सं. ७।८७।४ पर भाष्य : तत्रैकविंशति नामानि कश्चिद् गौर्बिभर्तीति पृथिवीमाह। तस्य हि यास्कपठितानि एकविंशतिर्नामानि।

है । इनके लेखों से विदित होता है कि जैसे इस बारे में उस समय कोई मतभेद था ही नहीं ।

विभाजन से पूर्व के समस्त पंजाब तथा आजके पृथक् हरियाणा राज्य के मूर्धन्य संस्कृत-विद्वान् स्व० पं० **सीताराम** शास्त्री जी ने अपने हिन्दी **निरुक्त भूमिका** में इस प्रश्न पर वैदुष्यपूर्ण विचार किया है। उन्होंने परोक्ष तथा प्रत्यक्ष रूप में **यास्क** के अपने वचनों से **निघण्टु** को **यास्ककृत** सिद्ध किया है। उनकी युक्तियों का सार यों हैं :

(क) **निरुक्त** के प्रारम्भ में पठित **समाम्नायः समाम्नातः, स व्याख्यातव्यः ।** वाक्य के स्वारस्य से सिद्ध होना है कि **समाम्नाय** का समाम्नान तथा उसका व्याख्यान करने वाले व्यक्ति एक ही हैं। जिस प्रकार **क्त्वा** प्रत्ययान्त पद का और उसके साथ प्रयुक्त अन्य किसी क्रिया का कर्ता एक (समान) ही होता है, वैसे ही इन **भूतकृदन्त** तथा **तव्यान्त** क्रियाओं का कर्ता एक ही होना चाहिए।

यदि **निघण्टु** तथा उसका व्याख्यान **निरुक्त** भिन्नकर्तृक हों, तो केवल **समाम्नायो व्याख्यातव्यः** कहना उचित तथा पर्याप्त है। जब वह **समाम्नाय** है, तो उस का समाम्नान किसी ने अवश्य किया होगा। **समाम्नान किया गया है** यह कहना व्यर्थ है। व्याख्यान की योग्यता तो **समाम्नाय** के होने में ही है। तब **समाम्नातः** शब्द अजागलस्तनवत् व्यर्थ एवं विद्वानों को अरुचिकारक है।

पूर्ववाक्य में **समाम्नातः** शब्द उत्तरवाक्यगत **व्याख्यातव्यः** के हेतु के रूप में है। इस का अर्थ होता है **चूंकि हमने समाम्नाय का समाम्नान कर दिया है, अब उसकी व्याख्या करनी चाहिए।** पूर्ववाक्य (**समाम्नायः समाम्नातः**) निघण्टु की समाप्ति को, तथा उत्तरवाक्य (**स व्याख्यातव्यः**) उसपर भाष्य के आरम्भ को बोधित करता है।

(ख) निरुक्त (७।१३) में निम्नलिखित पाठ में **यास्क ने ही निघण्टु लिखा है** यह स्पष्ट कहा है :

अथोताभिधानैः संयुज्य हविश्चोदयति इन्द्राय वृत्रघ्ने (मै. सं. २।२।११) **इन्द्राय वृत्रतुरे इन्द्रायांहोमुचे** (मै. सं. २।२।१०) **इति** । तान्यप्येके समामनन्ति। भूयांसि तु समाम्नानात् । **यत्तु संविज्ञानभूतं स्यात् प्राधान्यस्तुति तत्समामने** ।

अथोत कर्मभिर्ऋषिर्देवताः स्तौति वृत्रहा पुरन्दर इति । तान्यप्येके समामनन्ति । भूयांसि तु समाम्नात् । **व्यञ्जनमात्रं तु तत्तस्याभिधानस्य भवति । यथा— ब्राह्मणाय बुभुक्षितायौदनं देहि, स्नातायानुलेपनं, पिपासते पानीयमिति** ।

इस में **यास्क** ने स्पष्ट ही कहा है कि देवताओं के पर्याय नामों का सङ्कलन **कुछ नैरुक्तों ने अपने निघण्टुओं में किया है। पर ऐसा करने से सङ्ख्या बहुत बढ़**

जाती है। अतः मैं अपने निघण्टु में इनका समाम्नान नहीं करता। मैं तो उन नामों को ही देता हूँ जो उन देवताओं के लिए रूढ हो गये हैं, तथा जिन नामों से मन्त्रों में प्रधानता से स्तुति की गई है।

इसी प्रकार बहुत से लोग अपने निघण्टुओं में देवताओं के विशेषणों को देते हैं। पर ऐसा करने से ग्रन्थ बहुत बढ़ जायेगा (अतः मैं उन्हें नहीं देता)। जिस प्रकार बुभुक्षित (भूखा), स्नात (नहाया हुआ) और पिपासत् (प्यासा) शब्द ब्राह्मण के विशेषण ही हैं, उसकी संज्ञा नहीं, उसी प्रकार ये वृत्रहन् (वृत्र को मारने वाला), पुरन्दर (पुर तोड़ने वाला) आदि शब्द भी प्रधान नाम के विशेषण ही हैं। निघण्टु में उनका समाम्नान व्यर्थ है। अतः मैंने अपने निघण्टु में उनका समाम्नान नहीं किया है।

(ग) निरुक्त (१।२०) से उद्धृत इमं ग्रन्थं समाम्नासिषुः। वाक्य में इमं ग्रन्थं से यह निघण्टु नामक ग्रन्थ विशेष ही अभिप्रेत नहीं है, अपितु इससे निघण्टु सामान्य का ग्रहण होता है। निघण्टु, निरुक्त आदि शब्द मूलतः तो तत्तत् शास्त्र को ही सामान्य रूप से प्रकट करते हैं। कालान्तर में जब शास्त्र के अन्य ग्रन्थों का लोप हो गया, तब ये एक ग्रन्थ के ही वाचक हो गये। वेदाङ्गों में परिगणित निरुक्त का प्राचीनतम अभिप्राय तो निरुक्त-शास्त्र का उस समय का कोई मान्य ग्रन्थ ही रहा होगा। जब उसका स्थान यास्कीय निरुक्त ने ले लिया, तब वेदाङ्ग में इसका ही समावेश होने लगा।

निष्कर्ष : इस विश्लेषण के आधार पर यह कहना उचित होगा कि हमें जो विचार तथा सूचनाएँ उपलब्ध हैं, उनके आधार पर निरुक्त के उपजीव्य निघण्टु को यास्क से भिन्न किसी और व्यक्ति अथवा पीढ़ियों की कृति बतलाना दुराग्रह ही होगा।

यहां एक प्रश्न अवश्य उठाया जा सकता है कि यास्क जैसे प्रौढ, तथा तीक्ष्ण वैज्ञानिक बुद्धि वाले आचार्य से हमें इतने हीन कोटि के कोश के सङ्कलन की आशा नहीं थी। अतः निघण्टु के यास्ककृत होने में सन्देह होता है।

इस पर हमारा उत्तर यही है कि यह यास्क के समय में विद्यमान कोशकला के विकसित न होने का ही दोष है, यास्क का नहीं। आदमी अपने ही परिवेश में जीता है। हम उसके उस परिवेश से बहुत भिन्न परिवेश की आशा उससे नहीं कर सकते। यदि यह निघण्टु अन्यकृत होता, तब भी हम यही कहते कि इस लचर कोश पर व्याख्या लिखने की बजाय यास्क ने अपना कोश क्यों नहीं बनाया? अतः हमारा तो यही विचार है कि यास्क ने ही इस कोश का सङ्कलन किया है। उनके पूर्व के कोशों में और भी गड़बड़ियाँ रही होंगी। यास्क ने दो गड़बड़ियों का का तो निर्देश भी किया है कि कुछ कोशकारों ने अपने कोशों में देवताओं के

पर्यायों तथा **विशेषणों** का भी समाम्नान किया हुआ था, जिससे उनका आकार तो माशा अल्ला खासा बन गया था, पर वे जमाने के आगे टिक नहीं पाये। यास्क ने उन दोनों दोषों से अपने निघण्टु को बचाया।

यास्क ने न केवल पुराने **निघण्टुओं** में उपलब्ध दोषों को छोड़ा, अपितु उनके कई गुणों को अपने **निघण्टु** में अपनाया भी। उदाहरण है: **शाकपूणि** के **निघण्टु** में किसी प्रयोजन से शब्दों अथवा शब्दसमूहों का क्रम रखना गुण था। यास्क ने भी यथाशक्य इसकी ओर ध्यान दिया था, यह हम **निर्वचन : प्राचीन नैरुक्त** प्रकरण में बतलायेंगे। इसके अतिरिक्त उन्होंने अपने **निघण्टु** में कई नई बातें भी कीं। उदाहरणस्वरूप उनका **दैवतकाण्ड** पूर्णतः वैज्ञानिक तथा सुगठित है। यही कारण है कि **शौनक** ने **बृहद्देवता** में तथा **कात्यायन** ने **सर्वानुक्रमणी** में अन्य प्रसिद्ध आचार्यों को छोड़ कर **यास्क** को ही सब से अधिक सम्मान दिया है। अतः हम यही कह सकते हैं कि आज बीसवीं सदी में हमें **निघण्टु** जैसा भी लगे, अपने समय में तो वह धुरन्धर ग्रन्थ था। परम्परा ने उसे पूरा सम्मान दिया। हम से भी उसे यही आशा एवम् अपेक्षा है।

अध्याय ५

निरुक्त : दो पाठ ।

निरुक्त के समस्त हस्तलेखों के आलोचन से यह निष्कर्ष निकला है कि निघण्टु की तरह ही निरुक्त के भी दो पाठ प्राचीन काल से चले आ रहे हैं। इनके आपेक्षिक आकार को देख कर इनमें से एक को विद्वानों ने लघुपाठ नाम दिया है, तथा दूसरे को बृहत्पाठ[1]।

१. लघुपाठ तथा बृहत्पाठ में प्रमुख अन्तर यह है कि बृहत्पाठ में लघुपाठ की अपेक्षा कुछ अधिक पाठ है। उदाहरण के रूप में हम निरुक्त (५।२७) के दोनों पाठों को लें :

लघुपाठ : सुदेवस्त्वं कल्याणदानो यस्य तव देव सप्त सिन्धवः प्राणायानुक्षरन्ति काकुदं सूर्म्यं सुषिरामिवेत्यपि निगमो भवति। २७।

बृहत्पाठ : सुदेवस्त्वं कल्याणदेवः कमनीयदेवो वा भवसि वरुण यस्य ते सप्त सिन्धवः, सिन्धुः स्रवणात्, यस्य ते सप्त स्रोतांसि. तानि ते काकुदमनुक्षरन्ति। सूर्मि : कल्याणोर्मि, स्रोतः सुषिरमनु यथा। बोरिटं तैटीकिरन्तरिक्षमेवमाह पूर्वं वयतेरुत्तरमिरतेः, वयांसीरन्त्यस्मिन् भांसि वा। तदेतस्यामृच्युदाहरन्ति। अपि निगमो भवति। २७।

इस एक स्थल को देख कर ही विज्ञ जनों को इस निष्कर्ष पर पहुंचने में देर नहीं लगेगी कि बृहत्पाठ में बहुत से ऐसे निर्वचन अधिक हैं जो लघुपाठ में नहीं हैं।

२. लघुपाठ और बृहत्पाठ में अन्तर को और अधिक स्पष्ट करने को हम एक और उदाहरण दे रहे हैं निरुक्त (६।५) से। निघण्टु (४।३।२३) की व्याख्या के प्रसङ्ग में लघुपाठ है :

उपलप्रक्षिणी। उपलेषु प्रक्षिणाति, उपलप्रक्षेपिणी वा। कारुरहं ततो भि.... परिस्रव (ऋ. सं. ९।११२।३) कारुरहमस्मि कर्ता स्तोमानाम्। ...

१. द्र. निघण्टु तथा निरुक्त, भूमिका ।

इसी का बृहत्पाठ है : **उपलप्रक्षिणी । उपलेषु प्रक्षिणाति, उपलप्रक्षेपिणी वा । इन्द्र ऋषीन्पप्रच्छ—दुर्भिक्षे केन जीवतीति । तेषामेकः प्रत्युवाच—**

शकटं शाकिनी गावो जालमस्यन्दनं वनम् ।

उदधिः पर्वतो राजा दुर्भिक्षे नव वृत्तयः ॥

इति सा निगदव्याख्याता । कारुरहं ततो...परिस्रव (ऋ. सं. ९।११२।३) । कारुरहमस्मि कर्ता स्तोमानाम् ।....

इस स्थल के दोनों पाठों को देखने से यह तुरंत साफ दीख जाता है कि **लघुपाठ** बिल्कुल युक्तिसङ्गत है, किन्तु **बृहत्पाठ** में **उपलप्रक्षिणी** के निर्वचनों के बाद दिया **इन्द्र ऋषीन् ... निगदव्याख्याता ।** सन्दर्भ औचित्य की किसी भी कसौटी पर ठीक नहीं उतरता । यह अप्रासङ्गिक है तथा इसमें **इति सा निगदव्याख्याता ।** पङ्क्ति का तो कोई भी सिर-पैर नहीं है ।

इस विवरण के आधार पर हम कह सकते हैं कि **लघुपाठ और बृहत्पाठ में दूसरा अन्तर यह है कि बृहत्पाठ में कई अप्रासङ्गिक बातें भी प्रक्षिप्त हो गई हैं ।**

अब प्रश्न आता है यह प्रक्षेप आया कहाँ से ? और क्यों ? इसका उत्तर **मैकडानल** ने यह दिया है कि यह **बृहद्देवता** (५।१३७) से आया है[1] । ऋ. सं. ९।११२ का वर्णन करते समय **शौनक** ने इस सूक्त की परिस्थिति बताते हुए एक संवाद प्रस्तुत किया है । यह उसी का भाग है । शैली से भी लगता है कि **बृहद्देवता** के श्लोकों का ही यहाँ **इन्द्र...उवाच** । से भावानुवाद किया गया है । **उपलप्रक्षिणी** के व्याख्यान के लिए **यास्क** ने ९।११२ का ही तीसरा मन्त्र उद्धत किया है । कोई पण्डित इस प्रसङ्ग में **बृहद्देवता** के उस संवाद को यहाँ उद्धृत करने के लोभ का संवरण नहीं कर सका होगा । फलतः यह अंश **निरुक्त** में भी विराजमान हो गया ।

३. इन दोनों पाठों में तीसरा अन्तर यह है कि न जाने क्यों **लघुपाठ** की पाण्डुलिपियाँ **वर्तनी, व्याकरण** आदि की दृष्टि से बहुत अशुद्ध हैं । उदाहरण :

	निरुक्त	लघुपाठ	बृहत्पाठ
१.	१।१४	गर्हः	गर्ह्यः
२.	१।१५	विद्यात्स्थानं ।	विद्यास्थानं ।
३.	२।१	विषयवत्यो ।	विशयवत्यो
४.	,,	वाट्यः ।	वाट्यः ।
५.	२।११	अम्यानर्ष ।	अम्यानर्षत् ।
६.	२।२४	समुच्छ्रतं ।	समुच्छ्रितं ।
७.	,,	सुप्रवृक्ताभि ।	सुप्रवृत्ताभिः ।
८.	,,	वृत्तं ।	वित्तं ।
९.	३।५	शृतं ।	श्रितं ।
१०.	३।१३	बहुः कस्मात् ?	बहु कस्मात्[2] ?

---

१. द्र. बृह० का अनुवाद, पृ २४५–२४६, श्लोक १३७–१३८, b टि. ।

२. यह निघण्टु ३।१ के बहुनामानि के प्रसङ्ग में आया है । इस खण्डसूत्र में क्रियाविशेषण ही सङ्गृहीत हैं । अतः बहु ही उचित है ।

निरुक्त लघुपाठ	बृहत्पाठ	निरुक्त लघुपाठ	बृहत्पाठ
११. ३।१९ दूरयं	दुरयं	१४. ४।२५ पीयुतिर्हिंसाकर्मा	पीयतिर्हि०
१२. ४।१३ श्रोणिः श्रयतेः	श्रेणिः श्रयते.[1]	१५. ५।२२ कितवान्	कृतवान्
१३. ४।१५ वृद्धयोः	विद्धयोः	१६. ६।२८ विजानामि	विजानीमः[2]।

४. चौथा अन्तर यह है कि लघुपाठ की सब पाण्डुलिपियों में निरुक्त के परिशिष्ट के दोनों अध्याय एक अध्याय के रूप में समवेत मिलते हैं। अर्थात् सारा परिशिष्ट निघण्टु-निरुक्त की समवेत अध्यायसङ्ख्या के साथ जुड़ कर १८वें अध्याय के रूप में, और केवल निरुक्त सङ्ख्या से जुड़ कर १३वें अध्याय के रूप में परिगणित है। परिशिष्ट में कुल ५० खण्ड ४ पादों में बँटे हुए हैं। १३वें खण्ड का अन्तिम शब्द दुहराया गया है। इस से विदित होता है कि अध्ययनक्रम में १३वें के पहले पाद को स्वतन्त्र अध्याय का महत्त्व भी प्राप्त था। बृहत्पाठ में परिशिष्ट दो पृथक् अध्यायों में मिलता है।

५. पांचवां अन्तर यह है कि लघुपाठ के अध्याय पादों और खण्डों में विभाजित हैं, जब कि बृहत्पाठ के केवल खण्डों में। बृहत्पाठ के कुछ हस्तलेखों में निरुक्त पूर्वषट्क और उत्तरषट्क के रूप में विभक्त मिलता है[3]।

दोनों पाठों के सावधान आलोचन के बाद डा० लक्ष्मणसरूप का यह निष्कर्ष है कि इन दोनों पाठों में से कोई सा भी एक पाठ पूर्णतया विश्वसनीय नहीं है। दोनों में ही या तो महत्त्व की कई बातें छूट गई हैं, या प्रक्षेप के कारण नई सामग्री मूल में घुस आई है[4]।

ऐसी स्थिति में हमारे सामने यह प्रश्न सहज ही आ खड़ा होता है कि निरुक्त का वास्तविक पाठ क्या हो? इसके समाधान के लिए हमें एक तो दुर्गाचार्य और स्कन्दस्वामी की टीकाओं में उद्धृत पाठ की शरण लेनी पड़ेगी—इस से हम ईसा की प्रथम शताब्दी के आस-पास के समय में निरुक्त का पाठ क्या था, यह विश्वस्त

---

१. यह निर्वचन ऋ. सं. १।१६३।१० के श्रेणिशः के व्याख्यान के प्रसङ्ग में आया है। अतः लघुपाठ अपपाठ है। डा० लक्ष्मणसरूप ने इस पाठ को नहीं दिया है। श्री स्कोल्ड् ने सम्भवतः रोथ की पाण्डुलिपियों से यह (श्रोणिः श्रयतेः) पाठ लिया है।

२. यह शब्द यास्क ने ऋ. सं. १०।१०।१३ के अविदाम पद के व्याख्यान में दिया है। अतः उत्तमपुरुष बहुवचन विजानीमः वाला पाठ ही ठीक है। विस्तार के लिए देखिये श्री हैनेस् स्कोल्ड्, दी निरुक्त, पृष्ठ १६७-१६९।

३. विवरण निघ० निरुक्त, भूमिका, पाण्डुलिपियों के ब्योरे में देखें।

४. द्र. निघण्टु तथा निरुक्त, भूमिका, पृ० ३[illegible]।

रूप से जान सकेंगे—दूसरे, हमें दुर्गाचार्य से प्राचीन आचार्यों के ग्रन्थों में निरुक्त के उद्धरणों तथा निरुक्त की सैद्धान्तिक चर्चा-आलोचनाओं की शरण लेनी पड़ेगी। इस के लिए हम आचार्य **पतञ्जलि** के **महाभाष्य** और आचार्य **शौनक** की **बृहद्देवता** को टटोलेंगे।

डा० लक्ष्मणसरूप और **स्कोल्ड्** ने पाण्डुलिपियों में उपलब्ध दोनों पाठों की तुलना दुर्गाचार्य और स्कन्दस्वामी की टीकाओं में उद्धृत पाठ से करके यह निष्कर्ष निकाला है कि इन दोनों टीकाओं में उद्धृत पाठ **लघुपाठ** से ही मिलता-जुलता है[1]। यों, सही स्थिति तो यह है कि दुर्ग द्वारा उद्धृत पाठ **लघुपाठ** की अपेक्षा भी लघुतर है। निरुक्त (१।४) के निम्न उदाहरण से यह बात स्पष्ट हो जायगी[2] :

दुर्ग द्वारा उद्धृत पाठ : **आचार्यश्चिदिदं ब्रूयादिति पूजायाम्। दधिचिदित्युपमार्थे। कुल्माषांश्चिदाहरेत्यवकुत्सिते। नु इत्येषो.....**

लघुपाठ : **आचार्यश्चिदिदं ब्रूयादिति पूजायाम्।** आचार्य आचारं ग्राहयत्या-चिनोत्यर्थानाचिनोति बुद्धिमिति वा। **दधिचिदित्युपमार्थे। कुल्माषांश्चिदाहरेत्यवकुत्सिते।** कुल्माषाः कुलेषु सीदन्ति। **नु इत्येषो....**

बृहत्पाठ : **आचार्यश्चिदिदं ब्रूयादिति पूजायाम्।** आचार्यः कस्मात्? (शेष लघुपाठ की तरह है।)

इसे देखने से यह तुरंत ही स्पष्ट हो जाता है कि दुर्ग के पाठ तथा लघुपाठ में ठीक वही अन्तर है, जो **लघुपाठ** और **बृहत्पाठ** में हम ऊपर (१ में) बता चुके हैं।

इस सन्दर्भ में श्रीयुत **स्कोल्ड्** का यह वक्तव्य भी बहुत ध्यान देने योग्य है कि **वर्तनी** तथा **व्याकरण** की **अशुद्धियों** का जहाँ तक प्रश्न है, दुर्ग का पाठ **बृहत्पाठ** से मिलता है। अर्थात् उसमें वे अशुद्धियाँ नहीं हैं, जो **लघुपाठ** की सब पाण्डुलिपियों में मिलती हैं।

इस स्थिति में हमारा यह विचार है कि दुर्ग का पाठ उपलब्ध **लघुपाठ** से भी सङ्क्षिप्त था। दुर्ग के बाद उनके पाठ में कुछ नवीन सामग्री जुड़ कर वर्तमान **लघुपाठ** बना। लेखकों के प्रमाद से लघुपाठ की मूल प्रति में **वर्तनी** और **व्याकरण** की अशुद्धियां घर कर गईं। आगे की गई प्रतियों में भी वे ज्यों-की-त्यों बनी रहीं, बढ़ी भले ही हों। दुर्ग के पर्याप्त समय बाद, अथवा **स्कन्दमहेश्वर** के भी पर्याप्त समय बाद, उसमें और सामग्री जुड़ कर **बृहत्पाठ** धीरे-धीरे तैयार हुआ। भाग्य से

---

१. द्र. स्कन्दभाष्य, भूमिका, पृ० ४३। स्कोल्ड्, वही, पृ. १६७, १७०।

२. विशेष के लिए देखिये डा० लक्ष्मणसरूप के ग्रन्थ का वही स्थल, पृ० ४५–४७। स्कोल्ड् के ग्रन्थ के पृ० १६६–१७० भी देखें।

इस पाठ को समझदार लेखक और संशोधक मिले, जिससे इसका पाठ वर्तनी और व्याकरण की दृष्टि से शुद्ध हो गया। अतः हमारे विचार से दुर्ग का पाठ निरुक्त के मूल पाठ का निकटतम प्रतिनिधि है, पूर्ण प्रतिनिधि नहीं। दुर्ग के समय में ही निरुक्त का पाठ बहुत संशयग्रस्त हो गया था, इसका पता हमें उनकी व्याख्या में स्थान-स्थान पर पाठभेदों की चर्चा से मिलता है।

महाभाष्य और निरुक्त का पाठ

श्रीयुत स्कोल्ड् ने महाभाष्य और निरुक्त के छह स्थलों[1] की तुलना करके निम्नलिखित निष्कर्ष निकाले हैं :

१. पतञ्जलि ने निरुक्त के जिस पाठ को उद्धृत किया है, वह उपलब्ध पाठ से भिन्न था।

२. जहां निरुक्त के दोनों पाठों में विरोध है, वहां महाभाष्य में लघुपाठ को आश्रय मिला है।

३. उपलब्ध लघुपाठ में ऐसे बहुत से पाठ हैं, जो महाभाष्य में नहीं मिलते। अर्थात् लघुपाठ में उनके बाद प्रक्षेप हुए हैं।

४. महाभाष्य में भी कुछ ऐसे पाठ मिलते हैं, जो लघुपाठ में नहीं मिलते। परन्तु विवेचन करने पर प्रतीत होता है कि इनमें से अधिकांश अधिकपाठ पतञ्जलि के कथन की पुष्टि के लिए महाभाष्य के उन स्थलों में जोड़े गये हैं। अर्थात् वे निरुक्त का अभिन्न अङ्ग नहीं थे।

५. एक स्थल में निरुक्त के हस्तलेखों तथा महाभाष्य में पाठभेद है। दुर्गाचार्य ने महाभाष्य में उपलब्ध पाठ अपनाया है।

६. महाभाष्य में उपलब्ध सब उद्धरण निरुक्त के पूर्वषट्क से ही हैं। अतः महाभाष्य के समय में निरुक्त का दैवत काण्ड रहा हो या नहीं रहा हो, परन्तु

---

१. द्र. (क) महाभाष्य, पस्पशा, पृ० १८, चत्वारि ॥ ८ ॥ तथा निरुक्त १३।६। (ख) वही, पृ. १८-१९, उत त्वः ॥ ९ ॥ और नि. १।१९। (ग) वही, पृ. १९-२०, सक्तुमिव ॥ १० ॥ निरुक्त ४।९-१०। (घ) वही, पृष्ठ ३८, वार्तिक ७, एतस्मिन्नतिमहति....वाग्भुवोर्व्येषु। और निरुक्त २।२ अथापि प्रकृतय....वाग्मुदीच्येषु। (ङ) वही, १।३।१, वा. ११ के बाद, पृ. १९४ पर षड् भावविकारा.... विनश्यतीति। और नि. १।२। (च) वही, ३।३।१ पर श्लोकवार्तिक १-२, पृ. ३०९-३११। और नि. १।१२।

महाभाष्य से दैवतकाण्ड प्रमाणित नहीं होता[1]।

श्रीयुत स्कोल्ड् के इस प्रयास पर हमारा यही मन्तव्य है कि किसी अन्य ग्रन्थ में यदि विचार्य ग्रन्थ को स्पष्ट रूप में उद्धृत किया गया हो, तब तो उसके साक्ष्य पर विचार्य ग्रन्थ का पाठ निश्चित करना ठीक होता है। किन्तु यदि यही निश्चित न हो कि अन्य ग्रन्थ में विचार्य ग्रन्थ से केवल प्रेरणा ली गई है, या भावानुवाद किया गया है, अथवा केवल अंशतः ही अपनी आवश्यकता के अनुसार उद्धृत करके या सङ्क्षेप में रखा गया है, तब तक उस ग्रन्थ को पाठनिर्धारण में निर्णायक मानना तो दूर, सहायक मानना भी उचित नहीं है। हमारे विचार से श्री स्कोल्ड् द्वारा विवेचित महाभाष्य के समस्त स्थलों में अविकल निरुक्तपाठ को उद्धृत किया गया है, इसमें कोई प्रमाण भी नहीं है, तथा कोई औचित्य भी नहीं। पतञ्जलि जब यास्क द्वारा व्याख्यात मन्त्रों की उनके उद्देश्य से भिन्न उद्देश्य से स्वयं व्याख्या करने चले हैं, तब उनसे यह आशा करना उचित नहीं होगा कि वे निरुक्त की समूची व्याख्या ही अविकल उद्धृत करेंगे। हाँ, अपने सिद्धान्त की समर्थक कुछ बातों को वे यत्र-तत्र दे सकते हैं। पर उसके आधार पर निरुक्त के पाठ की ईदृक्ता या इयत्ता का निर्धारण करना हमारे विचार में तो साहस ही है। जैसे —

उत त्वः पश्यन्न ददर्श वाचम् (ऋ.सं० १०।७१।४) की पतञ्जलि ने अत्यन्त सङ्क्षिप्त व्याख्या मन्त्र के कठिन शब्दों का पर्याय मात्र देकर की है। प्रथम तो यही निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि इसमें निरुक्त को उद्धृत किया ही गया है। जो शब्द मूल में हैं, वे तो इस प्रकार की व्याख्या में आयेंगे ही। मूल के शब्दों के अलावा यदि कोई समान वाक्य है भी, तो वह महाभाष्य में **अविद्वांसमाहार्धम्** है तथा निरुक्त में **इत्यविद्वांसमाहार्धम्** है। इससे अधिक कोई समानता इन दोनों ग्रन्थों में नहीं है। अतः हमारे विचार में इसके आधार पर निरुक्त का पाठनिर्धारण करना उचित नहीं है।

श्री स्कोल्ड् के छठे निष्कर्ष के बारे में हमें यह कहना है कि जब महाभाष्य से सदियों पहले के ग्रन्थ बृहद्देवता में यास्क के नामोल्लेख के साथ तथा उस के बिना कोड़ियों वार दैवतकाण्ड की चर्चा हुई है, तब महाभाष्य में दैवतकाण्ड से चूंकि उद्धरण नहीं हैं—इस लिए पतञ्जलि के समय दैवतकाण्ड की सत्ता को सन्दिग्ध बताना कहाँ तक न्यायसङ्गत है, यह निर्णय विज्ञ जन स्वयं करें।

---

१. द्र. पृ० ८२ : The दैवतकाण्ड may, or may not, have existed in this epoch; it has certainly not been hitherto attested by the महाभाष्य।

बृहद्देवता और निरुक्त का पाठ

हमारे साहित्य में निरुक्त से परिचित प्राचीनतम ग्रन्थ शौनक का ग्रन्थ बृहद्देवता है। निरुक्त तथा बृहद्देवता के प्रतिपाद्य विषय बहुत भिन्न हैं। बृहद्देवता का विषय (अंशत.) ऋग्वेदीय देवताओं का वर्णन है। निर्वचन से उसका केवल उतना ही सम्बन्ध है, जितना उनके इस आंशिक विषय को स्पष्ट करने में अपेक्षित है। जब कि निरुक्त का प्रधान विषय निर्वचन है, एवं देवविद्या एक आंशिक विषय है। ऐसी स्थिति में साधारणतया हमें बृहद्देवता से यह आशा नहीं करनी चाहिए कि उस के आधार पर हम निरुक्त के पाठ पर कोई निष्कर्ष निकाल सकेंगे। पर यास्क ने निरुक्त में अपने विषयों को इतना पूर्णता से प्रतिपादित किया है कि शौनक को बृहद्देवता में उसका आश्रय लेना पड़ा।

बृहद्देवता में निरुक्त की चर्चा अधिकांशतः देवविद्या के प्रसङ्ग में ही अपेक्षित है। अतः दैवतकाण्ड ही सर्वत्र छाया दीखेगा, यह तो निगदव्याख्यात ही है। इसके अतिरिक्त हमें बृहद्देवता में निरुक्त की चर्चा की कुछ सीमाएँ और समझ लेनी चाहिएँ। वे सीमाएँ ये हैं :

१. निरुक्त बड़ी विशद शैली का गद्यग्रन्थ है, तथा बृहद्देवता छन्दोबद्ध ग्रन्थ है। अतः हमें निरुक्त का अविकल उद्धरण बृहद्देवता में नहीं मिल सकता। अधिक-से अधिक हम यही आशा कर सकते हैं कि निरुक्त का आशय कुछ सङ्क्षेप या विस्तार से बृहद्देवता में वर्णित हो। यही कारण है कि निरुक्त (१।१) का एकमात्र अविकल उद्धृत पाठ भावप्रधानमाख्यातम् है, जो छोटा होने से शौनक के श्लोक (२।१२१) में फिट बैठने से आ गया है।

२. निर्वचनप्रधान होने से निरुक्त में मन्त्रों की व्याख्या में तथा किसी सिद्धान्त पर वाद-विवाद आदि में भी प्रासङ्गिक शब्दों के निर्वचन दिये गये हैं। उस मन्त्र के अर्थ तथा विवादास्पद सिद्धान्त की चर्चा के उद्धरण के समय उन निर्वचनों को तो कोई भी—स्वयं महामनीषी श्री हैनेस् स्कोल्ड् भी—नहीं उद्धृत करना चाहेगा। अतः बृहद्देवता में भी इस कारण से, तथा निर्वचन उसका विषय न होने से भी, हमें उनके अपेक्षित प्रकरण में आने वाले समस्त निर्वचनों की चर्चा की आशा नहीं करनी चाहिए। हाँ, प्रकरण में अपेक्षित निर्वचन जहाँ-तहाँ मिल सकते हैं।

बृहद्देवता में निरुक्त के प्रसङ्ग चार तरह से आए हैं :

(क) अविकल उद्धृत वाक्य, जिसकी चर्चा हम ऊपर कर चुके हैं।

(ख) यास्क के आशय को उनका या निरुक्त का उल्लेख किए बिना सङ्क्षिप्त या विस्तृत करके। बृहद्देवता में ७२ बार इस प्रकार से निरुक्त का आशय दिया गया है :

सङ्ख्या	निरुक्त	बृहद्देवता	सङ्ख्या	निरुक्त	बृहद्देवता
१.	१।१	१।४४	३३.	७।११	२।१३–१६
२.	१।२	२।१२१–१२२	३४.	,,	१।११६,१३१
३.	१।४	२।८६	३५.*	७।१३	१।१७
४.	१।४	२।६१	३६.	७।१४	२।२४
५.	१।५	४।४८–५०	३७.	७।१८	१।७८
६.	१।६	४।५०–५१	३८.	७।१६	१।६२
७.	१।६	२।६०–६१	३६.	,,	२।३०–३१
८.	१।२०	१।१८	४०.*	७।२३	१।१०२–१०३
६.	२।२	२।१०६	४१.	,,	२।१६–१७
१०.	२।१०	७।१५५–१५७	४२.	७।२४	२।८–६
११.	,,	८।१	४३.	८।१	२।२५
१२.	,,	८।२–६	४४.	८।२	३।६१
१३.	२।१२	,,	४५.	८।२	३।६२,६४
१४.	२।१७	५।१६६	४६.	,,	३।६३–६४
१५.	२।१८	३।६	४७.	८।३	३।२६
१६.	२।२३	२।१३५–१३६	४८.	८।५	२।२७
१७*	२।२४	४।१०६–१०७	४६.	८।६	२।२८
१८.*	५।१३	५।१४६	५०.	८।६	३।२–३
१६.	५।१४	५।१५५	५१.	८।१०	३।६
२०.	६।५	६।१३८	५२.	८।१३	३।१६
२१.*	६।३१	४।१३६	५३.	८।१४	३।२५
२२.	७।१	१।६	५४.	८।२२	२।१५४–१५७
२३.	७।३	१।३	५५.	६।२३	८।१२
२४.*	७।४	१।७३–७४	५६.	१०।५	२।३४
२५.	,,	४।१४३	५७.	१०।८	२।३६
२६.*	७।५	१।६६	५८.	१०।१०	२।३७–३८
२७.	७।८	१।११५–११६	५६.	१०।१२	२।४०
२८.	,,	१।११६–१२०	६०.*	१०।२७	२।५८
२६.*	,,	१।११७–११८	६१.	१०।४२	१।१७
३०.	७।१०	१।१३०–१३१	६२.	१०।४४	५।१६६
३१.	७।१०	२।६	६३.*	११।५	७।१२६
३२.*	,,	२।२–५	६४.*	११।६	२।६०

सङ्ख्या	निरुक्त	बृहद्देवता	सङ्ख्या	निरुक्त	बृहद्देवता
६५.	११।१६	३।८३	७०.	१२।२५	२।६५
६६.	१२।१	७।१२६	७१.	१२।२७	२।६७
६७.*	१२।१४	७।१२८	७२.	१२।४०	२।१२७-८,१३३
६८.	१२।१६	२।६३	७३.	१३।१२	८।१२६
६९.*	१२।१८	२।६६			

इनमें से तारकाङ्कित १४ प्रसङ्गों पर विचार करके श्री स्कोल्ड् ने (पृष्ठ ९५ पर) यह निष्कर्ष निकाला है कि निरुक्त के बृहद्देवता में लिए इन स्थलों में से अधिकांश वही हैं, जो हमें आज उपलब्ध लघुपाठ में मिलते हैं। अतः शौनक के सामने निरुक्त का वही पाठ रहा होगा जो हमें अब पाण्डुलिपियों में तथा दुर्ग की टीका में मिलता है। किन्तु कुछ स्थलों में इन दोनों में मिलने वाले शब्द या सन्दर्भ बृहद्देवता में छोड़ दिये गये हैं। अतः उनकी प्रामाणिकता सन्दिग्ध है।

श्री स्कोल्ड् के अनुसार इस प्रकार छूटने वाले अंश निर्वचनों से सम्बद्ध हैं। पतञ्जलि के उद्धरणों में भी निर्वचन से सम्बद्ध सन्दर्भ ही नहीं हैं। अतः ये अंश पतञ्जलि के बाद ही निरुक्त में प्रक्षिप्त हुए हैं।

श्री स्कोल्ड् द्वारा बृहद्देवता में छूट गये बतलाए उपर्युक्त सन्दर्भों को तीन श्रेणियों में बाँटा जा सकता है :

१. सङ्क्षेपण में छूटने वाले सन्दर्भ। २४ सङ्ख्यक सन्दर्भ में बृहद्देवता में आयुध तथा वाहन की सामान्य चर्चा है, निरुक्त में विशेष (रथ, अश्व, इषु) की। ४०वां सन्दर्भ भी इसी प्रकार का है।

२. मतभेद के कारण छूटने वाले अंश। २१, २९, ३५ सङ्ख्यक सन्दर्भ इसके उदाहरण हैं। जैसे करूळती (कटे हुए दाँतों वाला) के प्रसङ्ग में उद्धृत मन्त्र में अर्यमा, पूषा और भग देवता का प्रसङ्ग है। यास्क ने करूळती कौन है ? प्रश्न करके दो मत दिए हैं : १. भग करूळती है, क्यों कि मन्त्र में इस शब्द के ठीक पहले भग का ही नाम है। २. पूषा करूळती हैं, क्योंकि (कौषीतकि) ब्राह्मण में उन्हें ही दन्तरहित बतलाया गया है। शौनक ने केवल पूषा वाला मत दिया है। स्कोल्ड् का कथन है कि निरुक्त में उस समय भग की चर्चा नहीं रही होगी। बृहद्देवता के बाद ही जुड़ी होगी। हमारा यह कथन है कि यह आवश्यक तो नहीं कि शौनक यास्क के दिये सभी मतभेदों को देंगे ही। अतः इसके आधार पर भग को इस प्रकरण से अर्धचन्द्र नहीं दिया जा सकता।

३. अनुपयोगी होने के कारण उल्लेख नहीं किए गये अंश। इस श्रेणी में निर्वचन आते हैं।

बृहत्पाठ के इन सब स्थलों के विमर्श से हमारा तो यह निश्चत मत है कि इनमें एक भी सन्दर्भ ऐसा नहीं है, जिसकी या तो दुर्गाचार्य ने व्याख्या न की हो या जो लघुपाठ के हस्तलेखों में नहीं मिलता हो। अतः दुर्ग द्वारा स्वीकृत तथा लघुपाठ के नाम से डा० लक्ष्मणसरूप द्वारा सम्पादित पाठ ही प्रायेण वास्तविक पाठ है। दुर्ग के पाठ से लघुतर पाठ की चर्चा हम पीछे कर आये हैं, परन्तु वह कोई लघुपाठ की तरह सुव्यवस्थित पाठ नहीं है। थोड़ा बहुत पाठान्तर जो इस प्रकार के ग्रन्थ में हो सकता है, वह दुर्ग के पूर्व भी था; किन्तु दुर्ग ने पर्याप्त श्रम से पाठ निश्चय का अध्यवसाय किया तथा भविष्य लिए एक पाठ सुरक्षित छोड़कर उन्होंने अपने कर्तव्य का निर्वाह किया।

(ग) यास्क का नामोल्लेख करते हुए उनका मत उद्धृत करना। इस प्रकार के निम्न लिखित १९ स्थल बृहद्देवता में हैं :

१. चतुर्भ्य इति तत्राहु र्यास्क-गार्ग्य-रथीतराः।
आशिषोऽथार्थवैरूप्याद् वाचः कर्मण एव च॥
सर्वाण्येतानि नामानि कर्मतस्त्वाह शौनकः। बृ. १।२६–२७॥

इस श्लोक में यास्क को अभिमत बताए नामकरण के चार आधार निरुक्त में भी हैं। जैसे—

१. आशीः, २. वाक् (शब्दानुकृति)। कितवः किं तवास्तीति शब्दानुकृतिः। कृतवान्वा, आशीर्नामिकः (५।२२)। काक इति शब्दानुकृतिः। तदिदं शकुनिषु बहुलम् (३।१८)। कृकवाकोः पूर्वं शब्दानुकरणम्, वचेरुत्तरम् (१२।१३)।

३. कर्म। यास्क नामान्याख्यातजानि के सिद्धान्त को मानते हैं यह इस विवाद के उत्तरपक्ष से विदित होता है। यास्क के अधिकांश निर्वचन कर्म को ही नामकरण का आधार मान कर किए गये हैं, यह इतना स्पष्ट है कि और कुछ कहने की अपेक्षा ही नहीं है। यास्क का (१।१३) में कार्मनामिक शब्द का प्रयोग इसी बात को पुष्ट करता है।

४. अर्थवैरूप्य। कच्छ शब्द के दो अर्थ हैं; १. कछुए का मुँह। इस अर्थ में यास्क ने निर्वचन दिया है—कच्छं पाति, कच्छेन पातीति वा, कच्छेन पिबतीति वा। कच्छः=खच्छः=खच्छदः। २. नदी का (जलाप्लुत) किनारा। इस अर्थ में निर्वचन किया है : अयमपीतरो नदीकच्छ एतस्मादेव—कम् उदकम्, तेन छाद्यते (४।१८)। यास्क के निर्वचनों में इस श्रेणी के बहुत उदाहरण हैं[1]।

---

१. इस विषय में यास्क के निम्न शब्द बहुत ध्यान देने योग्य है : एवम् अन्येषामपि सत्त्वानां सन्देहा विद्यन्ते। तानि चेत्समानकर्माणि, समाननिर्वचनानि; नानाकर्माणि चेत्, नानानिर्वचनानि। यथार्थं निर्वक्तव्यानि।

२. अतो वैश्वदेवकः ॥ तन्नामा विश्वलिङ्गो वा गायत्रोऽन्त्यस्तु यस्तृचः ।
बहुदैवतमन्यत्तु वैश्वदेवेषु शस्यते ॥ २।१२७–१२८ ॥
बह्वीनां सन्निपातस्तु यस्मिन्मन्त्रे प्रदृश्यते ।
आचार्यो यास्क-शाण्डिल्यौ वैश्वदेवं तदाहतुः ॥ २।१३२ ॥

इस सन्दर्भ की तुलना निरुक्त (१२।४०) के निम्न लिखित सन्दर्भ से करें : तदेतदेकमेव गायत्रं तृचं दशतयीषु विद्यते । यत्तु किंचिद् बहुदैवतं तद् वैश्वदेवानां स्थाने युज्यते । यदेव विश्वलिङ्गमिति शाकपूणिः । अनत्यन्तगतस्त्वेष उद्देशो भवति ।

इन दोनों ग्रन्थों में एक तृच ही वैश्वदेव बतलाया है । उसके अलावा कई देवताओं वाला सूक्त भी वैश्वदेव सूक्तों में ही समझा जाता है । यहाँ स्कोल्ड् (पृ. ६६) ने युज्यते का अर्थ प्रयुक्त हो सकता है तथा शस्यते का अर्थ प्रयुक्त होता है करके शौनक और यास्क के मतों में थोड़ा अन्तर खोजा है । यह उनकी अपनी सनक है । हम और क्या कहें । युज्यते के अर्थ में सकना (can) भाव कहाँ से आ गया ? अतः प्रकृत में दोनों ग्रन्थों में पूर्ण सामञ्जस्य है ।

३. सरस्वतीति द्विविधमृक्षु सर्वासु सा स्तुता ॥
नदीवद्देवतावच्च तत्राचार्यस्तु शौनकः ।
नदीवन्निगमाः षट् ते सप्तमो नेत्युवाच ह ॥
इयं शुष्मेभिरित्येतं मेने यास्कस्तु सप्तमम् ॥
पशोः सारस्वतस्यैतां याज्यां मैत्रायणीयके ।
प्राधान्याद्धविषः पश्यन्वाच एवैतरोऽब्रवीत् ॥ २।१३५–१३८ ॥

इस सन्दर्भ में शौनक ने बताया है कि शौनक की आचार्य परम्परा में सरस्वती की नदी के रूप में स्तुति छह ऋचाओं में ही मानी जाती थी । यास्क इयं शुष्मेभिः (ऋ. सं. ६।६१।२) में भी सरस्वती नदी की ही स्तुति मानते हैं । तब नदी के रूप में सरस्वती की स्तुति वाले सात मन्त्र हो जाते हैं । आचार्य ऐतर इस मन्त्र में सरस्वती की स्तुति वाक् के रूप में ही मानते हैं ।

इन शब्दों से यह कहीं नहीं प्रकट होता कि शौनक यहां यह कहते हैं कि यास्क ने सातों मन्त्रों की गणना की है[1] । उपलब्ध निरुक्त (२।२४) में इस मन्त्र को नदीपरक व्याख्या मिलती ही है । अतः इन दोनों ग्रन्थों में इस स्थल में भी पूर्ण सामञ्जस्य है ।

---

१. श्री विष्णुपद भट्टाचार्य जी ने (पृ. ४७-४८) उपलब्ध निरुक्त में इन सात मन्त्रों का परिगणन न पाकर कल्पना की है कि बृहद्देवता के सामने निरुक्त का कोई और ही पाठ रहा होगा ।

४. **मरुतां साहचर्यात्तु सूक्तेऽस्मिन्नाग्निमारुते ।**
मन्यते मध्यमं चैव यास्कोऽग्निं न तु पार्थिवम् ॥ ३।७५–७६ ॥

यह मत निरुक्त (१०।३६) में है : **प्रति त्यं चारु........**(ऋ. सं. १।१९।२) **कमन्यं मध्यमादेवमवक्ष्यत्** ? अतः इस स्थल में भी दोनों ग्रन्थों में सामञ्जस्य है।

५. **पराश्चतस्रो यत्रेति इन्द्रोलूखलयो स्तुतिः ।**
मन्येते यास्क-कात्थक्यावीन्द्रस्येति तु भागुरिः ॥ ३।१०० ॥

शौनक का कथन है कि ऋ. सं. १।२८।१–४ में यास्क इन्द्र और उलूखल की स्तुति मानते हैं। किन्तु उपलब्ध निरुक्त में इन मन्त्रों को उद्धृत ही नहीं किया गया है। वहाँ अकेले **उलूखल** की व्याख्या के प्रसङ्ग (९।२१) में ऋ. सं. १।२८।५ तथा **उलूखल-मुसल** के युगल की व्याख्या के प्रसङ्ग (९।३६) में ऋ. सं. १।२८।७ उद्धृत है। हो सकता है कि वैदिक सम्प्रदाय में यास्क का यह मत शौनक के समय प्रसिद्ध रहा हो तथा वृहद्देवता में उसी को दिया हो।

६. **एषो इत्याश्विने परे ।**
आदित्यं मन्यते यास्को हविर्षेति सह स्तुतम् ॥ ३।११२ ॥

ऋ. सं. १।४६ के देवता **अश्विनौ** हैं। इस सूक्त के चौथे मन्त्र में नरा (अश्विनौ) के साथ **आदित्य** की स्तुति निरुक्त में भी उपलब्ध है, तथा वृहद्देवता में भी यही बतलाई है। अतः इन दोनों ग्रन्थों में सामञ्जस्य है।

७. **युवं तमिन्द्रापर्वतौ सह स्तुतौ त्विन्द्र मेन इह यास्कः प्रधानम् ॥ ४।४ ॥**

निरुक्त में न तो इस मन्त्र (ऋ. सं. १।१३२।६) को उद्धृत ही किया गया है, और न ही इन्द्र-पर्वतके इकठ्ठे वर्णन का कोई प्रसङ्ग आया है। निरुक्त (७।१०) में **पर्वत** को इन्द्र का सांस्तविक देवता बताया है। इस का अर्थ यह हुआ कि यास्क के मत में इन्द्र के साथ वर्णित पर्वत सांस्तविक देवता ही हैं, प्रधान नहीं। प्रधान तो इन्द्र ही हैं। सम्भवतः शौनक ने इसी के आधार पर **इन्द्र-पर्वत** के **संस्तव** (सहस्तुति) **में यास्क इन्द्र को प्रधान मानते हैं** लिखा है। निरुक्त के किसी अन्य स्थल की ओर उनका सङ्केत नहीं है। हमारे कथन की पुष्टि शौनक के अगले श्लोकार्ध से भी होती है :

ऋक्षु स्तुतः पर्वतवद्धि वज्रो द्विवत्स्तुतौ चेन्द्रमाहुः प्रधानम् ॥ ४।५ ॥

इस में इन्द्र-पर्वत के संस्तव में इन्द्र प्रधान होता है यह आम राय दी है, जो यास्क के निरुक्त के उल्लेख को पुष्ट करती है।

८. **अग्निं मेनेऽदितिं यास्कः[1] कुत्से चेह च शौनकः ॥ ४।१८ ॥**

---

१. **वृहद्देवता के लघुपाठ (A) में त्वेव है।**

ऋ. सं. १।६४।१५ की देवता अविति को शौनक ने यास्क के मत में अग्नि बताया है। निरुक्त (११।२३) में अग्निरप्यदितिरुच्यते। तस्यैषा भवति—कह कर यही मन्त्र उद्धृत किया है। इससे दोनों ग्रन्थों की एकवाक्यता सिद्ध होती है।

९. वायुः शुनः सूर्य एवात्र सीरः शुनासीरौ वायु-सूर्यौ वदन्ति
शुनासीरं यास्क इन्द्रं तु मेने सूर्येन्द्रौ तौ मन्यते शाकपूणिः ॥ ५।८ ॥

निरुक्त ९।४० में शुनासीरौ— शुनो वायुः, शु एत्यन्तरिक्षे, सीर आदित्यः, सरणात्। कहकर शौनकोक्त मन्त्र (ऋ. सं. ४।५७।५) को उद्धृत किया है। यहाँ निरुक्त का पाठ बृहद्देवता के प्रथम मन्तव्य से तो मिलता है, किन्तु शौनक का दूसरा मन्तव्य निरुक्त से ही नहीं, परम्परा से भी मेल नहीं खाता। ऋग्वेद संहिता में एकवचनान्त शुनासीर कहीं आता ही नहीं, तब यास्क निघण्टुपठित और ऋग्वेदसंहिता में (केवल दो वार ४।५७।५,८ में) श्रुत द्विवचनान्त शुनासीरौ को छोड़कर कैसे एकवचनान्त को निरुक्त में लिखने बैठते? एकवचनान्त माने विना इन्द्र अर्थ की उपपत्ति क्या होगी? मैत्रायणी सं. और काठक सं. में उपलब्ध एकवचनान्त शुनासीर के अर्थ के बारे में यास्क का यह मत प्रसिद्ध रहा हो, तो बात दूसरी है। यह ऋग्वेदीय शुनासीर शब्द तो द्वन्द्व होने के कारण द्विवचनान्त ही है। यास्क इस बात से भली भाँति परिचित हैं। अतः हमारे विचार में शौनक का यह कथन अप्रामाणिक है।

१०. प्र सुष्टतिरिति त्वृचि।
शौनकादिभिराचार्यैर्देवता बहुधेरिता ॥
इळस्पतिं शाकपूणिः पर्जन्याग्नी तु गालवः।
यास्कस्तु पूषणं मेने स्तुतमिन्द्रं तु शौनकः ॥ ५।३८-४० ॥

उपर्युक्त ऋचा (ऋ सं. ५।४२।१४) ही क्या, इस सूक्त की कोई और ऋचा भी निरुक्त में उद्धृत नहीं है।

११. निपातमाह देवानां दाता म इति भागुरिः।
ऋचं यास्कस्त्वृचं त्वेतं मन्यते वैश्वदेवतम् ॥ ६।८६-८७ ॥

निरुक्त में इस तृच (८।६५।१०-१२) को उद्धृत नहीं किया गया है। किन्तु १२।४० में वर्णित (तथा ऊपर २ में उद्धृत) यास्क के सिद्धान्त के अनुसार इन तीनों मन्त्रों के देवता विश्वदेव हैं; क्योंकि इन में देवाः से बहुत से देवताओं को सम्बोधित किया गया है। हमारे विचार में शौनक ने इसी आधार पर यह उल्लेख किया है।

१२. इतिहासमिदं सूक्तमाहतु र्यास्क-भागुरी।
कन्येति शौनकस्त्वैन्द्रं पान्तमित्युत्तरे च ये ॥ ६।१०७ ॥

निरुक्त में इस (ऋ. सं. ८।९१) सूक्त की कोई चर्चा नहीं है। यों, यह इतिहाससूक्त है, यह इसकी विषय वस्तु से ही स्पष्ट है। निरुक्त (४।६) में ब्रह्म (वेद) को इतिहासयुक्त कहा भी गया है। अतः हमारे विचार में शौनक ने इसी सन्दर्भ के आधार पर प्रस्तुत उल्लेख किया है। यहाँ शौनक ने यह नहीं कहा कि यास्क और भागुरि ने इस इतिहास का वर्णन किया है, अपितु यही कहा है कि यास्क और भागुरि इस सूक्त को इतिहाससूक्त कहते हैं। इससे बृहद्देवता और निरुक्त की एकवाक्यता में कोई अन्तर नहीं आता।

१३. इतिहासमिमं यास्कः सरण्यू-देवते ह्यचे।
विवस्वतश्च त्वष्टुश्च त्वष्टेति सह मन्यते ॥ ७।७ ॥

ऋ. सं. १०।१७।१-२ के सन्दर्भ में निरुक्त में यह इतिहास ज्यों-का-ज्यों मिलता है। अतः दोनों ग्रन्थों में सामञ्जस्य है।

१४. सावित्रमेके मन्यन्ते महो अग्ने स्तवं परम्।
आचार्याः शौनको यास्को गालवश्चोत्तमामृचम् ॥ ७।३८ ॥

निरुक्त में शौनकचर्चित ऋ. सं. ८०।३६ की कोई चर्चा नहीं है। किन्तु निरुक्त में प्रतिपादित सिद्धान्त के अनुसार इस सूक्त के तीन मन्त्रों में से केवल अन्तिम के देवता सविता ठहरते हैं। प्रथम अर्थात् सूक्त के १२वें मन्त्र में अग्नि, मित्र, वरुण, सविता, तथा देवों का प्रसङ्ग है[1]। अतः यास्क के सिद्धान्त के अनुसार इस मन्त्र के देवता विश्वदेव हैं। दूसरे अर्थात सूक्त के १३वें मन्त्र में भी सविता, मित्र, वरुण और विश्वदेवों का प्रसङ्ग है[2]। अतः यह भी वैश्वदेव मन्त्र है, सविता का नहीं। तीसरे, अर्थात् सूक्त के अन्तिम मन्त्र में केवल सविता का ही प्रसङ्ग है[3]। अतः निरुक्त (७।१) के देवतोपपरीक्षा सिद्धान्त के आधार पर इस मन्त्र के देवता सविता हैं, यह असन्दिग्ध निर्णय है। शौनक ने अपने ग्रन्थ में इसी आधार पर यास्क का उपर्युक्त उल्लेख किया है। अतः हमारे विचार में दोनों ग्रन्थों में यहाँ पूर्ण सामञ्जस्य है।

१५. गन्धर्वाः पितरो देवा असुरा यक्ष-राक्षसाः।
यास्कोपमन्यवावेतानाहतुः पञ्च यं जनान् ॥

---

१. महो अग्नेः समिधानस्य शर्मण्यनागा मित्रे वरुणे स्वस्तये।
श्रेष्ठे स्याम सवितुः सवीमनि तद् देवानामवो अद्या वृणीमहे ॥

२. ये सवितुः सत्यसवस्य विश्वे मित्रस्य व्रते वरुणस्य देवाः।
ते सौभगं वीरवद् गोमदप्नो दधातन द्रविणं चित्रमस्मे ॥

३ सविता पश्चातात् सविता पुरस्तात् सवितोत्तरात्तात् सविताधरात्तात्।
सविता नः सुवतु सर्वतातिं सविता नो रासतां दीर्घमायुः ॥

निषाद-पञ्चमान्वर्णान्मन्यते शाकटायनः ॥
ऋत्विजो यजमानं च शाकपूणिस्तु मन्यते । ७।६८–७०॥

शौनक द्वारा सङ्केतित ऋ. सं. १०।५३।४ की व्याख्या में निरुक्त (३।८) में कहा गया है : पञ्च जना मम होत्रं जुषध्वम् । गन्धर्वाः, पितरो, देवा, असुरा, रक्षांसीत्येके । चत्वारो वर्णा, निषादः पञ्चम इत्यौपमन्यवः ।

इन दोनों सन्दर्भों में पञ्च जनाः के अर्थ तो समान से ही हैं ; परन्तु कौन अर्थ किस आचार्य का है इस में बहुत भेद है । निरुक्त का पाठ तो टीकाकारों की सेवाओं से सुरक्षित रह भी गया है ; बृहद्देवता के पाठ की प्रामाणिकता के बारे में तो निश्चितता से कुछ भी नहीं कहा जा सकता । इसी प्रकरण में बृहद्देवता में पर्याप्त पाठभेद हैं[1] । हमारे विचार में यास्क का नाम बृहद्देवता में भ्रमवशात् आ गया है ।

१६. अक्सोम्या नैर्ऋती चैवा असुनीते स्तुतिः परे ॥
तृचे त्वानुमतं पादमन्त्यं यास्कस्तु मन्यते । ७।९२–९३ ॥

शौनक द्वारा सङ्केतित तृच (ऋ. सं. १०।५९।५–६) में से पहला मन्त्र ही निरुक्त (१०।४०) में असुनीति की व्याख्या के प्रसङ्ग में उद्धृत है । अनुमति की व्याख्या (११।३०) में वा सं. ३४।८ को उद्धृत किया गया है । यास्क के देवतोपपरीक्षा (७।१) के सिद्धान्त के अनुसार उपर्युक्त (ऋ. सं. १०।५९।६) के अन्तिम पाद की देवता अनुमति ही ठहरती हैं ; क्योंकि इस पाद में स्वतन्त्र रूप से अनुमति से कोई प्रार्थना की गई है :

असुनीते पुनरस्मासु चक्षुः पुनः प्राणमिह नो धेहि भोगम् ।
ज्योक् पश्येम सूर्यमुच्चरन्तमनुमते मृळया नः स्वस्ति ।।

अतः इस सन्दर्भ में हमें तो यही उचित जान पड़ता है कि निरुक्त के सिद्धान्त के आधार से इस मन्त्र पर विचार करके ही शौनक ने यास्क अन्तिम पाद की देवता अनुमति मानते हैं कहा है, निरुक्त को उद्धृत नहीं किया है ।

१७. आह्वानं प्रति चाख्यानमितरेतरयोरिदम् ।
संवादं मन्यते यास्क इतिहासं तु शौनकः ॥ ७।१५३ ॥

शौनक के इस उल्लेख का सम्बन्ध उर्वशी-पुरूरवा से सम्बद्ध (ऋ. सं. १०।९५) सूक्त से है । इस सूक्त के ५, ७, १० तथा १४ मन्त्र आंशिक या पूर्ण रूप से निरुक्त (क्रमशः ३।२१, १०।४७, ११।४६ तथा ७।३) में आए हैं । उर्वशी के सम्बन्ध में एक इतिहास निरुक्त (५।१३) में दिया गया है । परन्तु वह वसिष्ठ के जन्म से सम्बन्धित है । शौनक द्वारा कथित उल्लेख की साक्षात् पुष्टि निरुक्त से सम्भव नहीं है ।

---

१. द्र. मैकडानल्, बृहद्देवता, अनुवाद-ग्रन्थ, पृ. २६६ ।

हाँ, ऋ. सं. ३।३३ की निरुक्त (२।२४–२७) में उसकी विषय वस्तु के कारण जिस प्रकार संवाद सूक्त मान कर व्याख्या की है, उसी प्रकार इस सूक्त की विषयवस्तु को देखकर यह सूक्त भी सवादसूक्त है—यह मानना यास्क की भावना के अनुकूल ही होगा।

> १८. प्रेतीतिहास–सूक्तं तु मन्यते शाकटायनः।
> यास्को द्रौघणमैन्द्रं वा वैश्वदेवं तु शौनकः ॥ ८।११ ॥

ऋ. सं. १०।१०२ के दो मन्त्र (५,९) निरुक्त (९।२३,२४) में आए हैं। इनमें से दूसरे मन्त्र में द्रुघण को ही प्राधान्येन स्तुत बताया है। इस प्रसङ्ग में इन्द्र की चर्चा नहीं है। यहाँ यास्क ने इतिहास की भी चर्चा की है।

> १९. ऐन्द्राग्नं मन्यते यास्क एके लिङ्गोक्तदैवतम् ॥ ८।६५ ॥

इस श्लोक में उल्लिखित ऋ. सं १०।१६१ की चर्चा निरुक्त में नहीं हुई है। इस सूक्त के प्रथम मन्त्र के देवता निश्चित रूप से इन्द्र-अग्नि हैं। दूसरे मन्त्र में किसी देवता की स्तुति नहीं है। अतः पिछले देवता के अधिकार से इस के देवता इन्द्र-अग्नि ही हैं। तीसरे मन्त्र के देवता इन्द्र हैं। चौथे मन्त्र के देवता हैं इन्द्राग्नी, सविता और बृहस्पति। पाँचवें मन्त्र में पुनः कोई देवता स्तुत नहीं है। अतः इस मन्त्र के देवता ये सब होने चाहिएँ। प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्ति उक्ति के अनुसार यास्क का मत इन्द्र-अग्नि वाला ही प्रतीत होता है।

उपर्युक्त स्थलों में से यास्क के नाम से कथित बातें निरुक्त में जहाँ नहीं मिलतीं, उन स्थलों के बारे में श्री हैनेस् स्कोल्ड् का मत है कि बृहद्देवता के इन उल्लेखों के यास्क से यदि यास्क का निरुक्त ही अभिप्रेत है, तो शौनक को उपलब्ध निरुक्त आज प्राप्त निरुक्त से बड़ा होना चाहिये, जिस में ये सब सन्दर्भ रहे हों।

(घ) निरुक्त की त्रुटियां दिखलाने के प्रसङ्ग में नामोल्लेख कर के या बिना नामोल्लेख किए ही यास्क का मन्तव्य उपस्थित करना। निम्नलिखित पाँच स्थल इसके उदाहरण हैं :

सङ्ख्या	बृहद्देवता		निरुक्त	सङ्ख्या	बृहद्देवता		निरुक्त
१.	२।१०९	ईषते	४।२	४.	२।११२	मासकृत्	५।२१
२.	२।११०	हिमेन	६।३६	५.	२।११३	गर्भनिधानीम्	३।६
३.	२।१११	पूरुषादः	२।६				

ये सब बातें उपलब्ध निरुक्त में यथावत् मिलती हैं। इससे भी दोनों ग्रन्थों में सामञ्जस्य सिद्ध होता है।

हम इन स्थलों पर अपने विचार रख चुके हैं। प्रकृत में उन सब विचारों

के निष्कर्ष के रूप में हम केवल यही कहना चाहते हैं कि बृहद्देवता के सब स्थल साक्षात् या परोक्ष रूप में आज उपलब्ध निरुक्त में प्रतिपादित सिद्धान्तों पर ही आधारित हैं। अतः निरुक्त का कोई बृहत्तर पाठ मानने की आवश्यकता नहीं है। हां, थोड़ी-बहुत गड़बड़ की गुंजाइश इतने पुराने तथा बड़े ग्रन्थ में हो सकती है। कुल मिला-जुला कर डा० लक्ष्मणसरूप द्वारा सम्पादित लघुपाठ और दुर्ग में उद्धृत निरुक्त का पाठ इनकी तुलना से जो पाठ निश्चित हो, हम उसे प्रामाणिक मानने के पक्ष में हैं। इस तुलना में स्कन्द–महेश्वर की टीका से भी सहायता ली जा सकती है। पर वह बहुत अधिक सहायक सिद्ध हो सकेगी, इस विषय में हम आश्वस्त नहीं हैं। स्कन्द की टीका की महेश्वर के प्रतिसंस्कार से अप्रभावित पाण्डुलिपियां अभी नहीं मिल पाई हैं। अतः यह निश्चय से नहीं कहा जा सकता कि कौन सा पाठ स्कन्द का है तथा कौन सा महेश्वर द्वारा संशोधित या प्रतिसंस्कृत। स्कन्द और महेश्वर में समय का इतना अधिक अन्तर है कि उन दोनों के बीच में बहुत परिवर्तन सम्भव हैं।

अध्याय ६

परिशिष्ट की प्रामाणिकता

इस समय निरुक्त का जो पाठ प्रचलित है, उसमें १४ अध्याय हैं। इनमें से प्रथम १२ अध्यायों में तो निघण्टु पञ्चाध्यायी की व्याख्या की गई है, शेष २ अध्याय परिशिष्ट हैं। अर्थात् उनका ग्रन्थ की विषय वस्तु से साक्षात् सम्बन्ध नहीं है। कुछ और बातें कहने के लिए आचार्य ने उन्हें जोड़ा है।

परिशिष्ट के २ अध्यायों में से पहला अध्याय निरुक्त का तेरहवां अध्याय है। इसमें दैवतकाण्ड में वर्णित देवताओं की अतिस्तुतियों का वर्णन है। दैवतकाण्ड में देवताओं का वर्णन अपने स्थान, नाम के निर्वचन, उनके कर्म आदि के आधार पर किया गया है। पर बहुधा देवताओं का अत्युक्तिपूर्ण वर्णन भी मिलता है। अर्थात् देवताओं का उनके स्वाभाविक स्थान, कर्म आदि से भिन्न स्थान कर्म आदि के साथ सम्बन्ध जोड़कर बढ़ा-चढ़ा कर उनकी स्तुति की होती है। इन वर्णनों से

देवताओं के पूर्वप्रतिपादित विशिष्ट स्वरूप के विषय में शङ्का होनी स्वाभाविक है। उसके समाधान के लिए यास्क से पूर्व के आचार्य अपने निरुक्तों में **अतिस्तुतियों** का वर्णन भी किया करते थे[1]। अतः यास्क ने भी अपने पूर्वाचार्यों का अनुकरण करते हुए **अतिस्तुतियों** का विवेचन **परिशिष्ट के प्रथम अध्याय** में किया है।

दूसरे अध्याय में मनुष्य के मरने पर जीव की क्या गति होती है? जीव पुनः शरीर कैसे धारण करता है? इत्यादि आध्यात्मिक प्रश्नों पर विचार किया गया है।

परिशिष्ट के इन दो अध्यायों की प्रामाणिकता के बारे में विद्वानों में मतभेद है। एकमत तो यह है कि **परिशिष्ट के दोनों अध्याय यास्ककृत नहीं हैं**। दूसरा मत है कि **त्रयोदश अध्याय तो यास्ककृत है, पर चतुर्दश अध्याय किसी अन्य व्यक्ति की कृति है**। तीसरा मत है कि **ये दोनों अध्याय यास्ककृत ही हैं**। अत्र हम सङ्क्षेप में इन तीनों मतों का विवेचन करेंगे।

प्रथम मत :—दुर्गाचार्य ने अपनी **निरुक्तवृत्ति** के प्रारम्भ में निरुक्त का परिमाण बतलाते हुए लिखा है कि **पञ्चाध्यायी** का यह भाष्य **बारह अध्यायों** में है। समाम्नायः समाम्नातः **यह उसका पहला वाक्य है**[2]।

दुर्गवृत्ति की उपलब्ध प्राचीनतम पाण्डुलिपि १३८७ ई० की लिखी हुई है। इस में तथा १८३९ ई० की लिखी एक अन्य पाण्डुलिपि में त्रयोदश अध्याय पर वृत्ति नहीं है। दूसरी पाण्डुलिपि के १२वें अध्याय के अन्त में **समाप्तो ग्रन्थः**॥ भी लिखा हुआ है।

अपने इस कथन की पुष्टि में दुर्ग के आधार पर डा० लक्ष्मणसरूप का निष्कर्ष है कि **१३वें अध्याय पर भाष्य (दुर्गवृति) परवर्ती काल में लिखा गया, तथा दुर्ग के किसी शिष्य अथवा अनुयायी द्वारा उसके (दुर्ग के) नाम से प्रचलित कर दिया गया**[3]।

चत्वारि वाक्परिमिता पदानि (ऋ. सं० १।१६४।४५) आदि की व्याख्या निरुक्त के १३।९ में तथा **महाभाष्य** के पस्पशाह्निक में की गई है। इन दोनों व्याख्याओं में कुछ शब्दसाम्य है :

निरुक्त : **कतमानि तानि चत्वारि पदानि? ओङ्कारो व्याहृतयश्चेत्यार्षम्। नामाख्याते चोपसर्गनिपाताश्चेति वैयाकरणाः**।..........

१. द्र. निरुक्त १३।१ और इस पर दुर्ग तथा स्कन्दस्वामी की टीकाएं।

२. द्र. अयञ्च तस्या द्वादशाध्यायीभाष्यविस्तरः। तस्यैवमादिवाक्यम्—समाम्नायः समाम्नात इति।

३. द्र. निघण्टु तथा निरुक्त, भूमिका, पृष्ठ ५२।

महाभाष्य : चत्वारि पदजातानि नामाख्यातोपसर्गनिपाताश्च।..........

डा० लक्ष्मणसरूप के निष्कर्ष (परिशिष्ट दुर्ग से परवर्ती है) को आधार बना कर श्री हैनेस् स्कोल्ड् ने यह मत व्यक्त किया है कि निरुक्त का यह सन्दर्भ पतञ्जलि के महाभाष्य के बाद ही निरुक्त में जोड़ा गया है। पतञ्जलि से बाद के दुर्गाचार्य जब परिशिष्ट से परिचित नहीं हैं, तब पतञ्जलि उससे परिचित कैसे हो सकते हैं ?

इसके अलावा निरुक्त के इस सन्दर्भ में इस पदविभाग को वैयाकरणों का बताया गया है। यह पदविभाग निरुक्त के प्रथम अध्याय में भी वर्णित है। वहां इस को मानने वाले कौन हैं, इस बारे में कुछ भी नहीं कहा गया है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि परिशिष्ट में उपर्युक्त वाक्य नैरुक्तों का नहीं है, अपितु वैयाकरणों का है, तथा यहां उन से लेकर इसे रख लिया गया है।

महाभाष्य में इस मन्त्र की एक व्याकरणपरक व्याख्या ही की गई है, जबकि निरुक्त में कितनी ही व्याख्यायें विभिन्न दृष्टियों से की गई है। इससे सूचित होता है कि महाभाष्य के समय इस मन्त्र के अर्थ पर कोई विवाद नहीं था, जब कि परिशिष्ट के समय यह मन्त्र बहुत कम समझा जाता था। इससे सिद्ध होता है कि परिशिष्ट बहुत बाद की रचना है। फलतः वह निरुक्त का अन्तरङ्ग भाग नहीं हो सकता[1]।

द्वितीय मत :—श्री गोविन्दपुत्र रामकृष्ण मडकमकर जी ने सायणाचार्य के ऋग्वेद-भाष्य के उपोद्घात में १३।१३ के अन्तिम वाक्य के अन्त तक यास्क ने निरुक्त बनाया है इस लेख के तथा अपनी पाण्डुलिपियों में उपलब्ध दुर्गवृत्ति के आधार पर यह माना है कि त्रयोदश अध्याय निरुक्त का अन्तरङ्ग भाग माना जाता था[2]। उन्होंने चौदहवें अध्याय के अन्त में नमः पारस्कराय उल्लेख देखकर अपनी शङ्का प्रकट की है कि कदाचित् इस अध्याय के लेखक पारस्कर ही तो नहीं हैं[3] ?

तृतीय मत :—स्व० पं० भगवद्दत्त जी आदि अन्य विद्वानों ने बहुत से

---

१. द्र. दी निरुक्त, पृ० ७६-७९।

२. द्र. भाण्डारकर प्राच्यविद्यासंशोधनमन्दिर, पूना, से (१९४२ ई० में) प्रकाशित दी निरुक्त आफ यास्क, भाग २, पृष्ठ ११६७, पा. टि. २।

३. द्र. वही, पृष्ठ १२०९, पा. टि. १। मडकमकर जी की यह सूझ बड़ी विचित्र है। यदि चौदहवें अध्याय के कर्ता पारस्कर होते तो क्या वे स्वयं को नमः पारस्कराय कहते ? वास्तव में यह सारी पुष्पिका किसी श्रद्धालु की श्रद्धा का परिणाम है, जिसने पारस्कर को तथा यास्क को नमस्कार किया है।

प्रमाण देकर समूचे परिशिष्ट को यास्ककृत सिद्ध किया है[1]।

हमारा विचार : दुर्ग-टीका के नाम से निरुक्त के १३वें अध्याय पर उपलब्ध टीका वस्तुतः दुर्गरचित ही है। डा० लक्ष्मणसरूप को मिली दुर्गटीका की १३८७ ई० की पाण्डुलिपि निश्चित रूप से अधूरी है।

दुर्ग की टीका के पौर्वापर्य के आलोचन से सिद्ध होता है कि दुर्ग ने अपनी टीका निरुक्त के **समाम्नायः समाम्नातः** । वाक्य से लेकर त्रयोदश अध्याय के **अथागमो यां यां देवतां निराह तस्यास्तस्यास्ताद्भाव्यमनुभवत्यनुभवति** । वाक्य तक लिखी थी। अपनी टीका के उपोद्घात में उन्होंने निरुक्त की विषयसूची दी है, जिस में उन्होंने निरुक्त के कुल ३७ विषय गिनाये हैं। इनमें अन्तिम २ विषय अर्थात् **विद्या का पार पाने के उपाय का उपदेश** तथा **मन्त्र के अर्थ का निर्वचन कर के देवता के नाम का निर्वचन करने का फल देवता के स्वरूप में मिल जाना है**[2] निरुक्त के तेरहवें अध्याय के अन्त में ही प्रतिपादित हैं, अन्यत्र कहीं भी नहीं। **विषयसूची** में इनके स्थान के आधार पर भी इन दोनों विषयों को दुर्ग की व्याख्या के अन्त में ही रखना अनिवार्य है। यह **विषयसूची** दुर्ग की व्याख्या की सब पाण्डुलिपियों में उपलब्ध है।

विषयसूची के प्रारम्भ में दुर्ग ने निरुक्त को **अस्याखिल-पुरुषार्थोपकार वृत्तिसमर्थस्य** कहा है।१३।१३ में भी निरुक्तविद्या को **अस्या अखिल-पुरुषार्थोपकार-प्रवृत्तायाः** कहा है। इस प्रकार का भावसाम्य तथा शब्दसाम्य उपोद्घात तथा **अन्तभाग** दोनों की एककर्तृकता सिद्ध करता है :

अतः दुर्ग के अपने साक्ष्य के आधार पर भी **त्रयोदश अध्याय निरुक्त का अभिन्न अङ्ग है एवम् इस अध्याय की टीका भी उनकी अपनी कृति है।**

प्राचीन काल में समूचे **परिशिष्ट** को एक समझ कर निरुक्त में अठारह अध्याय समझे जाते थे। यही कारण है कि **वररुचि** ने (**निरुक्तसमुच्चय**, पृष्ठ २ पर) **शास्त्रान्ते च** – भूमिका के साथ १३।१३ को उद्धृत किया है। दुर्ग की पाण्डुलिपियों का साक्ष्य भी इसी तथ्य को सिद्ध करता है। १३ वें अध्याय की **ऋज्वर्थव्याख्या** की पुष्पिकाएँ तीन प्रकार की मिलती हैं : कुछ में **त्रयोदश** अध्याय की समाप्ति को **अष्टादश** अध्याय का प्रथम पाद समाप्त कहा गया है ; कुछ में सवा

---

१. द्र. **निरुक्तशास्त्रम्**, **भूमिका** पृ० २९-३१ तथा **वैदिक वाङ्मय का इतिहास, वेदों के भाष्यकार भाग**।

२. **अथास्यैवमखिल-पुरुषार्थोपकार-वृत्ति-समर्थस्य सङ्ग्रहः । तद् यथा**...... ३६. **विद्यापार-प्राप्त्युपायोपदेशः । ३७. मन्त्रार्थ-निर्वचन-द्वारेण देवताभिधाननिर्वचन-फलं देवता-ताद्भाव्यम् । इत्येव समासतो निरुक्त-चिन्ता-विषयः ।**

सत्रह अध्यायों वाली ऋज्वर्थ वृत्ति समाप्त हुई कहा है, तो कुछ में अठारहवां अध्याय समाप्त हुआ कहा गया है[1]।

इस पर हमारा विचार है कि विभिन्न आचार्यों के वचनों के और निरुक्त के दोनों पाठों तथा दुर्ग की व्याख्या की पाण्डुलिपियों के साक्ष्य के आधार पर समूचे परिशिष्ट को अठारहवां अध्याय कहना अधिक प्रामाणिक है। दुर्ग ने अठारहवें अध्याय अर्थात् परिशिष्ट के प्रथम पाद पर अपनी व्याख्या लिख कर अठारहवें अध्याय का पहला पाद समाप्त हुआ लिखा होगा, अथवा सवा सत्रह अध्यायों वाली ऋज्वर्था नामक निरुक्तवृत्ति समाप्त हुई लिखा होगा।

उपर्युक्त विवरण से विदित होता है कि दुर्ग अपनी वृत्ति को समूचे निरुक्त पर नहीं लिख पाये। इस विषय में वृत्ति का अन्तरङ्ग साक्ष्य भी है। दुर्ग की शैली को देखने से विदित होता है कि अपनी व्याख्या में काण्ड अथवा पहले की विषय-वस्तु से सर्वथा भिन्न विषय-वस्तु आ जाने पर वे समाप्त हुए अध्याय की व्याख्या के अन्त में पूर्वापर सम्बन्ध जोड़ने को अगले अध्याय का प्रथम वाक्य उद्धृत करते हैं।

नैघण्टुक काण्ड के अन्त में उन्होंने **एवमेतन्नैघण्टुकं प्रकरणं परिसमाप्तम्। अतः परमैकपदिकं भवति। तस्यायमादिः 'एकार्थ-मनेक शब्दमिति' इत्येवमादि**। कह कर फिर चौथे अध्याय के प्रारम्भ में मङ्गलाचरण किया है।

२. चौथे अध्याय के अन्त में भी : **प्रकृतमिदानीं वर्णयिष्यामः। किं पुनः प्रकृतम्? ऐकपदिकसमाम्नाय-व्याख्यानम्। तत्र यदुक्तं, तदुक्तमेव। यदनुक्तं, तद्वक्तव्यम्। इतीदमारभ्यते** सस्निमविन्दच्चरणे नदीनामिति कहा है।

३. सातवें अध्याय के प्रारम्भ में भी : **समाप्तं चैकपदिकं प्रकरणम्। अस्यानु दैवतं तद् भवति यस्यायमादिरथातो दैवतमिति**। कहकर पूर्वापर सम्बन्ध जोड़ा है। वैसे इस सन्दर्भ को हमारे विचार में छठे अध्याय के अन्त में ही रखना चाहिये। हेतु ये हैं :

(क) पिछले अध्यायों में यही शैली है।

(ख) इस सन्दर्भ में समाप्त हुए ऐकपदिक प्रकरण के लिए इदम् (अस्य) शब्द का तथा दैवत प्रकरण के लिए तत् शब्द का प्रयोग किया गया है। इस से सिद्ध

---

१. द्र. निरुक्त (भाण्डारकर-संस्करण, १९४२ ई०, पृ० १९४२ पर टि.) : **इति ऋज्वर्थायां निरुक्तवृत्तौ अष्टादशाध्यायस्य प्रथमः पादः॥१३।१॥; इति सपाद-सप्तदशाध्यायी ऋज्वर्था नाम निरुक्तवृत्तिः समाप्ता। व्याख्यातं दैवतं यज्ञाङ्गं चेत्यादि। जम्बूमार्गाश्रमवसिनो भगवद्दुर्गाचार्यस्य कृतौ ऋज्वर्थायाम् निरुक्तवृत्तौ अष्टादशाध्यायः समाप्तः॥१३॥**

होता है कि समाप्त हुआ प्रकरण निकट है, तथा दैवत प्रकरण दूर है ; अर्थात् अभी उसकी व्याख्या प्रारम्भ नहीं हुई है ।

४. अध्याय दस, बारह के प्रारम्भ में भी पूर्वापर सम्बन्ध जोड़ा गया है ।

तेरहवें अध्याय के अन्त में भी इसी प्रकार चौदहवें अध्याय का प्रारम्भिक वाक्य : **व्याख्यातं दैवतं यज्ञाङ्गं चेत्यादि** लिखा हुआ मिलता है । इससे सिद्ध होता है कि चौदहवां अध्याय उन के सामने था, किन्तु वे उस पर टीका चालू नहीं रख सके । कालान्तर में लेखकों द्वारा भ्रमवशात् १३वें अध्याय की टीका के अन्त में **अष्टादशोऽध्यायः समाप्त :** लिख दिया गया ।

दुर्गाचार्य की टीका के अन्तरङ्ग साक्ष्यों से डा० लक्ष्मणसरूप की स्थापना के खण्डित होने पर **छिन्ने मूले नैव पत्रं न शाखा** न्याय से श्री हैनेस् स्कोल्ड् का मत भी स्वतः ही छिन्न-भिन्न हो गया है । अतः पृथक् से उसकी चर्चा करने की आवश्यकता यद्यपि नहीं है, तथापि हम उसका सङ्क्षिप्त सा उत्तर देना आवश्यक समझते हैं ।

निरुक्त (१।१) में **नाम आदि पदविभाग** को यास्क ने जिस ढंग से दिया है, उससे प्रतीत होता है कि वह उनके समय में प्रसिद्ध था । **नाम और आख्यात** के लक्षण भी उन्होंने परकृत के रूप में ही उद्धृत किये हैं : **तत्रैतन्नामाख्यातयोर्लक्षणं प्रदिशन्ति** । अब, जब हम **परिशिष्ट में पदविभाग को वैयाकरणों** का किया हुआ बतलाया पाते हैं, तो ग्रन्थ का पूर्वापर बिल्कुल सङ्गत हो जाता है । अतः **ग्रन्थ की एकवाक्यता की दृष्टि से परिशिष्ट** निरुक्त **का उसी प्रकार अभिन्न अङ्ग सिद्ध होता है जिस प्रकार प्रथम अध्याय** ।

ऋक्प्रातिशाख्य (१२।१७) में **शौनक** ने प्रकृत पदविभाग को शाब्दों (वैयाकरणों) का बतलाया हुआ कहा है । इससे यह सिद्ध होता है कि या तो उस समय भी इस पदविभाग को वैयाकरणकृत माना जाता था, या शौनक ने इस सूचना को **परिशिष्ट** के उपर्युक्त वचन से लिया है । दोनों बातें हमारे पक्ष में साधक हैं ।

जहाँ तक एक ओर अनेक व्याख्याओं के आधार पर दो ग्रन्थों का पौर्वापर्य निश्चित करने का प्रश्न है, हमें यह तर्क बड़ा विचित्र लगता है । निरुक्त का विषय वेदार्थज्ञान कराना है । प्रकृत मन्त्र की व्याख्या में अपने समय में प्रचलित कई दृष्टियों को उपस्थित करके यास्क ने अपने कर्तव्य का ठीक निर्वाह किया है । यास्क के समय में या उनसे पूर्व भी मतभेद नहीं रहते हों, यह बात नहीं है । **परिशिष्ट** में जो मत दिये गये हैं, वे सब **ब्राह्मणों, कल्पसूत्रों** तथा उस समय की दार्शनिक परम्परा आदि के आधार पर हैं, यह उनको देखते ही झटिति प्रतीत हो जाता है । हाँ, यदि इन मतोल्लेखों में कोई मत ऐतिहासिक दृष्टि से **महाभाष्यकार** के बाद का होता, तब हम श्री स्कोल्ड् की बात मान लेते । एक दूसरी बात भी यहाँ ध्यान देने की है ।

महाभाष्य का विषय व्याकरण है। प्रकृत मन्त्र को भी उन्होंने व्याकरणाध्ययन का महत्त्व बतलाने को ही यहां लिया है। ऐसी स्थिति में वे यदि केवल व्याकरणपरक व्याख्या न करके अन्य दृष्टियां प्रस्तुत करते, तो क्या उनका प्रतिपाद्य उपेक्षित नहीं होता ? अतः परिशिष्ट में बहुत से मतोल्लेखों तथा महाभाष्य में केवल एक मत का परिबृंहण किये जाने के आधार पर हम नैरुक्तों और वैयाकरणों को परस्पर विरोधी नहीं मान सकते, और न ही परिशिष्ट को भाष्यकार के बाद निरुक्त में जोड़ा गया मानना ठीक समझते हैं।

महाभाष्य में दो स्थलों पर[1] चत्वारि पदजातानि। नामाख्यातोपसर्गनिपाताश्च पाठ है। यदि परिशिष्ट में महाभाष्य से यह पाठ गया होता, तो यथावत् ही होता, नामाख्याते चोपसर्गनिपाताश्च नहीं। परिशिष्ट का पाठ निरुक्त (१।१) के पाठ से ही मिलता है, महाभाष्य के पाठ से नहीं। हमारा तो यह विचार है कि महाभाष्य ही इस विषय में निरुक्त का ऋणी है, तथा वह निरुक्त के पाठ को सुरक्षित नहीं रख सका। नामाख्यातोपसर्गनिपाताः के बाद च अनावश्यक है। वह यहां निरुक्त के पाठ का अवशेष है तथा मूल में हुई कुछ गड़बड़ी की ओर सङ्केत करता है।

अन्य प्रमाण : १. डा० लक्ष्मणसरूप की स्थापना के अनुसार स्कन्दस्वामी का समय ईसा की पांचवीं सदी का अन्त या छठी सदी का प्रारम्भ है[2]। स्कन्दस्वामी ने निरुक्त के १३वें अध्याय तक भाष्य लिखा है, जिसे डा. लक्ष्मणसरूप ने प्रमाणित मान कर सम्पादित और प्रकाशित किया है। उन्होंने स्कन्दस्वामी द्वारा अपनाए पाठ की अपने सम्पादित पाठ से तुलना आदि के प्रसङ्ग में बहुशः १३वें अध्याय पर स्कन्द-भाष्य की चर्चा (पृ.४३ और ५४ पर) की । इससे सिद्ध होता है कि स्कन्दस्वामी ने निरुक्त के परिशिष्ट के प्रथम अध्याय पर भाष्य लिखा है—इस से वे सुतराम् अभिज्ञ हैं। स्कन्दस्वामी ने अपने भाष्य में मूल के वचन का भाष्यकार के वचन के नाम से वर्णन किया है[3]। निरुक्त के प्रकरण में भाष्यकार के नाम से यास्क ही जाने जाते हैं, यह सुविदित है। इस से सिद्ध होता है कि स्कन्दस्वामी १३वें अध्याय को निरुक्त का अन्तरङ्ग भाग तथा यास्ककृत मानते हैं।

२. स्कन्दस्वामी ने १।२० की टीका में भी १३।१३ को उद्धृत किया है।

---

१. द्र. पस्पशा, पृ. १७–१८, चत्वारि शृङ्गा और चत्वारि वाक् मन्त्रों की व्याख्या।

२. द्र. स्कन्द-भाष्य, भाग ३–४, भूमिका, पृष्ठ ६५।

३. द्र. वही १३।४ पर भाष्य, पृ. १५१ : तदेतद् भाष्यकारानुरोधेन व्याख्यायते। यतो भाष्यकार आह—ये नः सखायस्तैः सहेति वा।

३. स्कन्दस्वामी ने ५।१३ के अपने भाष्य में **उर्वशी** शब्द की व्याख्या में **केचित्** के नाम से वररुचि के **निरुक्तसमुच्चय** (पृ. ८५, श्लोक ८५) को उद्धृत किया है[1]। इस से सिद्ध होता है कि वे वररुचि से अर्वाचीन हैं। वररुचि ने १३।१३ के पाठ को **शास्त्रान्ते च**—'यां यां देवतां निराह तस्यास्तस्यास्ताद्भाव्यमनुभवति' इति च कह कर उद्धृत किया है[2]। इस से सिद्ध होता है कि १३वां अध्याय उनके मत में निरुक्तशास्त्र का अन्तरङ्ग भाग है।

४. वररुचि ने निरुक्तसमुच्चय के ही पृष्ठ ३० पर **तथा च प्रकरणश एव निर्वक्तव्या इति भाष्यकारवचनम्**। कह कर निरुक्त १३।१२ से **न तु पृथक्त्वेन मन्त्रा निर्वक्तव्याः, प्रकरणश एव तु निर्वक्तव्याः** पाठ उद्धृत किया है।

५. कुमारिल भट्ट के **तन्त्रवार्तिक** (१।३।७) में **यदेव किं चानूचानोऽभ्यूहत्यार्षं तद् भवति** (१३।१२)। पाठ यास्क या निरुक्त के नामोल्लेख के बिना उद्धृत है[3]।

६. ऋग्वेदभाष्यकार उद्गीथ ने ऋ. सं. १०।७१।५ के भाष्य में निरुक्त १३।१३ को उद्धृत किया है।

७. शाङ्खायन-श्रौतसूत्र (५।१।१) पर आनर्तीय भाष्य में भी **को न ऋषिर्भविष्यति ?** (१३।१२) आदि प्रकरण उद्धृत है।

८. परमेश्वर के **जैमिनीयसूत्रार्थसङ्ग्रह** में निरुक्त १३।७ यास्क के नाम से उद्धृत है[4]।

९. बृहद्देवता (८।१२९) में शौनक ने **न प्रत्यक्षमनृषेरस्ति मन्त्रम्** कह कर वास्तव में निरुक्त १३।१२ के **न ह्येषु प्रत्यक्षमस्त्यनृषेरतपसो वा**। वाक्य से अपना परिचय प्रकट किया है।

१०. ऋग्वेद-भाष्य के उपोद्घात में **सायणाचार्य** ने : **तद्व्याख्यानं च समाम्नायः समाम्नात इत्यारभ्य** तस्यास्तस्यास्ताद्भाव्यमनुभवत्यनुभवतीत्यन्तं **द्वादशभिरध्यायैर्यास्को निर्ममे** कहा है। लगता है सायण की अध्ययनपरम्परा में १३वें अध्याय को १२ वें में ही सम्मिलित माना जाता था। अन्यथा वे **द्वादशभिरध्यायैः** नहीं कहते।

११. निरुक्त १३।१२ में १।१६ के एक पाठ का स्मरण करते हुए कहा गया

---

१. स्कन्द अन्यथा भी वररुचि के सिद्धान्त मानते हैं इसके लिए देखें निरुक्त-समुच्चयः की भूमिका में पं. युधिष्ठिर मीमांसक जी का लेख।

२. द्र. निरुक्त समुच्चयः, पृ. २। हम यहाँ शास्त्रान्ते पर मीमांसक जी की टि० से सहमत नहीं हैं। हमारे विचार में वररुचि ने १३-१४ अध्यायों को एक मान कर शास्त्र के अन्त में कहा है।

३. द्र. बनारस सं. पृ. १३२। ४. द्र. भाग १, पृ. ८९ ९०।

है : पारोवर्यवित्सु तु खलु वेदितृषु भूयोविद्यः प्रशस्यो भवतीत्युक्तं पुरस्तात्। यह वाक्य निरुक्त का अङ्ग है इस में वा. सं. १८।७७ पर उव्वट का भाष्य प्रमाण है : न ह्येषु प्रत्यक्षकृतमस्त्यनृषेरतपसो वेत्युपक्रम्य भूयोविद्यः प्रशस्यो भवतीति चाभिधायाह तस्माद् यदेव किं चानूचानोऽभ्यूहत्यार्षं तद्भवतीति।

इन प्रमाणों को देखते हुए यह निस्सन्दिग्ध रूप में कहा जा सकता है कि परिशिष्ट का प्रथम अध्याय बहुत प्राचीन काल से ही भिन्न-भिन्न देशों तथा कालों में चोटी के विद्वानों के द्वारा निरुक्त के अभिन्न अङ्ग के रूप में यास्क द्वारा निर्मित माना जाता रहा है।

अब हम चौदहवें अध्याय के बारे में आचार्यों की सम्मतियाँ देखते हैं :

१. सायणाचार्य ने ताण्ड्य ब्राह्मण (४।८।३) के भाष्य में : तथा च यास्क :—शुक्रातिरेके पुमान् भवति। शोणितातिरेके स्त्री भवति, द्वाभ्यां समेन नपुंसको भवति (१४।६) को उद्धृत किया है।

२. सायण ने ऋ. सं. १।१६४।२० के भाष्य में निरुक्त १४।३० में इस मन्त्र की व्याख्या को... निरुक्ते गतमस्य मन्त्रस्य व्याख्यानमनुसन्धेयम्। कह कर स्मरण किया है। कात्यायन की सर्वानुक्रमणी में भी इस स्थल का परामर्श है।

३. याज्ञवल्क्यस्मृति (३।८३) पर टीका में विज्ञानेश्वर ने १४।६ में आये तीन श्लोकों को इति निरुक्तस्याष्टादशेऽभिधानात् कह कर उद्धृत किया है।

४. सामविवरणकार माधव ने भी निरुक्त के अष्टादश अध्याय का पाठ उद्धृत किया है।

५. निरुक्त १।२० पर दुर्ग ने वेदाङ्गान्यपि। तद्यथा व्याकरणमष्टधा, निरुक्तं चतुर्दशधा इत्येवमादि कहा है। इससे प्रतीत होता है कि दुर्ग निरुक्त के चौदहों अध्यायों से परिचित थे। भगवद्दत्त जी का यह भी कहना है कि दुर्ग ने उदाहरिष्यति च कह कर निरुक्त १४।२६ का पाठ भी उद्धृत किया है। इसके सन्दर्भ के लिए उनके वैदिक वाङ्मय के इतिहास का वेदों के भाष्यकार वाला भाग देखना उचित है।

६. शङ्करानन्द ने गीता-भाष्य (८।२७) में १४।९ से उत्तरायण और दक्षिणायन का प्रकरण उद्धृत किया है[1]।

पाण्डुलिपियों का साक्ष्य : डा० लक्ष्मणसरूप ने कहा है : मेरा विचार है

१. उपर्युक्त प्रमाणों में से ३, ४, प्रमाण हमने श्री पं. भगवद्दत्त जी के निरुक्त-शास्त्रम्, भूमिका, पृ. ३०–३१ से लिए हैं।

कि निरुक्त का दुर्ग से गृहीत पाठ्य मूलपाठ का इतना निकट प्रतिनिधित्व करता है जितना कि आज उपलब्ध सामग्री से तैयार किया जा सकता है[१]। डा० लक्ष्मणसरूप ऐतिहासिक तथा मूल का अधिक विश्वसनीय प्रतिनिधित्व करने की दृष्टि से निरुक्त के दोनों पाठों में से **लघुपाठ** को **बृहत्पाठ** की अपेक्षा अधिक महत्व देते हैं[२]। उनके मत में स्कन्दस्वामी के निरुक्त का भी आधार लघुपाठ ही है[३]। लघुपाठ की पाण्डुलिपि ही उनके कथन के अनुसार सब से प्राचीन (१४७९ ई० की) अर्थात् उनके द्वारा निर्दिष्ट दुर्ग की प्राचीनतम (१३८७ ई० की) पाण्डुलिपि से केवल ९२ वर्ष बाद की है[४]। इस पाण्डुलिपि में परिशिष्ट के दोनों अध्याय चार पादों वाले १ अध्याय में हैं। इससे यह सिद्ध हुआ कि **५वीं सदी के स्कन्द के पाठ में भी परिशिष्ट है**, जिसके एक भाग पर उनकी टीका का डा० लक्ष्मणसरूप ने सम्पादन किया है, तथा **१५वीं सदी की प्राचीनतम पाण्डुलिपि में भी परिशिष्ट** है। लघुपाठ की अन्य पाण्डुलिपियों में भी **परिशिष्ट** है ही[५]। इनमें **परिशिष्ट** के दोनों अध्याय एक अध्याय के रूप में सङ्गृहीत हैं, पर उनमें सब में ही निरपवाद रूप में १३वें खण्ड के अन्तिम शब्द **अनुभवति** को दुहराया गया है, जो अध्याय समाप्ति को ही सूचित करता है[६]। शेष सारे ग्रन्थ में कहीं भी अध्यायान्त से भिन्न खण्डों के अन्तिम शब्द को कभी भी नहीं दुहराया गया है। इससे सिद्ध होता है कि **प्राचीन काल से ही परिशिष्ट के रूप में जहां दोनों अध्यायों को एक माना जाता था, वहीं विषयवस्तु के भेद के कारण उनमें पार्थक्य भी माना जाता था।**

पाण्डुलिपियों के द्वारा समूचे **परिशिष्ट** को इन दो रूपों में उपस्थित करने के पीछे परम्परा का प्रमाण भी है। पीछे हम कह आये हैं कि कई आचार्यों ने १४वें को निरुक्त के अष्टादश अध्याय के नाम से स्मरण किया है, तथा कइयों ने १३वें को अष्टादश के नाम से। यह सङ्ख्या निघण्टु और निरुक्त के अध्यायों की सङ्ख्या को मिला कर बनती है। अतः युक्ति, आचार्य परम्परा तथा पाण्डुलिपियों का साक्ष्य इन सब के आधार पर हमारा यह असन्दिग्ध निर्णय है कि **परिशिष्ट के दोनों अध्याय यास्क की ही कृति हैं।**

१. द्र. निघ० निरुक्त. भूमिका, पृ. ४८, ५०।

२. द्र. वही, पृ. ४०।

३. द्र. स्कन्द-महेश्वर की निरुक्त टीका, भाग ३-४, भूमिका, पृ. ४३।

४. द्र. पाण्डुलि. सी ५ का ब्यौरा, पृ. ३४।

५. द्र. वहीं बी. (लघुपाठ) वर्ग की पाण्डुलिपियों का ब्यौरा।

६. द्र. निघण्टु तथा निरुक्त की भूमिका में एम् ३, सी ४, सी ५, तथा मि. सञ्ज्ञक पाण्डुलिपियों का ब्यौरा। सी ७ अधूरी पाण्डुलिपि है। अतः प्रकृत में उसकी कोई उपयोगिता नहीं है।

अध्याय ७

निरुक्त : विषय-विवेचन

निरुक्त-शास्त्र का अभ्युदय वैदिक देवविद्या के सहायक के रूप में हुआ था यह हम पीछे (पृ. ६ पर) कह चुके हैं। प्रारम्भिक काल में वैदिक देवताओं के स्वरूप को स्पष्ट करने के लिए उनके नाम-पदों का निर्वचन किया जाता था। ब्राह्मणों में इन्द्र का इन्ध से, अग्नि का अग्रि से सम्बन्ध बतलाना इसके निदर्शन हैं। यास्क के निरुक्त में तथा संस्कृत-साहित्य में अन्यत्र भी शाकपूणि के निरुक्त को बहुत महत्त्व दिया गया है। यास्क ने अपने ग्रन्थ की रूपरेखा का आधार शाकपूणि के ग्रन्थ को ही बनाया था। शाकपूणि के ग्रन्थ में देवविद्या को प्रधानता दी गई थी तथा निर्वचन उसके अङ्ग के रूप में ही प्रयुक्त था, इसका पता हमें यास्क के निरुक्त से चलता है। इसमें कुल मिलाकर २३ बार विभिन्न प्रसङ्गों में शाकपूणि के मत का उल्लेख किया गया है[1]। इनमें से ९ प्रसङ्ग पूर्वषट्क में हैं तथा १४ प्रसङ्ग उत्तरषट्क तथा अतिस्तुति प्रकरण अर्थात् निरुक्त के देवविद्या-प्रधान भाग में हैं। पूर्वषट्क के ९ प्रसङ्गों में भी १ बार (२।८ में) देवविद्या के प्रसङ्ग में ही इनका उल्लेख हुआ है। अतः २३ बार में से केवल ८ बार ही अकेले निर्वचनशास्त्र के सन्दर्भ में इनका नामोल्लेख हुआ है, जब कि देवविद्या के प्रसङ्ग में इससे लगभग दूनी (१५) बार।

निरुक्त-शास्त्र में देवविद्या की प्रधानता की पुष्टि यास्क के एक वचन (७।१३) से भी होती है : उनसे पहले के बहुत से नैरुक्तों ने अपने निघण्टुओं में देवताओं के पर्याय-शब्दों और विशेषण (गुणाभिधान)-शब्दों का भी सङ्कलन किया हुआ था फलतः उनकी सङ्ख्या अधिक होने से उन निघण्टुओं का आकार बहुत बड़ा होता था।

---

१. द्र. निरुक्त : (१) २।८; (२) ३।११, (३) ११, (४) १९; (५) ४।३, (६) १५; (७) ५।३, (८) १३, (९) २८; (१०) ७।१४ (११) २३, (१२) २८; (१३) ८।२, (१४) ५, (१५) ६, (१६) ७, (१७) १०, (१८) १४, (१९) १७, (२०) १८; (२१) १२।१९, (२२) ४०; (२३) १३।१० ।

कालान्तर में निरुक्त–शास्त्र की वेदार्थज्ञान में उपयोगिता जैसे-जैसे विदित होती गई, यह देवविद्या की अधीनता से मुक्त होता गया। तब इसके भाषाशास्त्रीय स्वरूप को महत्त्व मिलता चला गया। देवविद्या भी चूंकि वैदिक ही है, अतः उसका ज्ञान भी वेदार्थज्ञान ही है। फलतः देवविद्या के सन्दर्भ में भी निर्वचन का महत्त्व अक्षुण्ण ही बना रहा। यही कारण है कि इस शास्त्र के चरम विकास की स्थिति के ग्रन्थ (यास्क के निरुक्त) में भी ग्रन्थ का आधा भाग देवविद्या को ही समर्पित है, जब कि शेष आधे भाग में निर्वचन से सम्बन्धित प्रधान–गौण प्रश्न तथा अन्य चर्चाएं एवं निर्वचन प्रतिपादित हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रारम्भिक काल में **निर्वचन या निरुक्त-शास्त्र का विषय केवल वैदिक देवविद्या की सेवा करना था, तो आगे चलकर इस का प्रधान विषय वेदार्थज्ञान में सहायक भाषाशास्त्रीय योगदान हो गया।**

हमारे प्रकृत निरुक्त के भी ये ही दो विषय हैं। यास्क के निरुक्त की प्रधान उपयोगिता निर्वचन के द्वारा वेदार्थज्ञान कराना है[1]। वैदिक शब्दों का अर्थनिर्धारण किए बिना यह कार्य नहीं हो सकता। अतः वैदिक शब्दों का अर्थनिर्धारण करना निर्वचन का प्रधान लक्ष्य है। इस लक्ष्य की सिद्धि के लिए यास्क ने सबसे पहले तीन काण्डों तथा पांच अध्यायों वाले निघण्टु ग्रन्थ का प्रणयन किया[2]। यह ग्रन्थ उनके शास्त्र का बीज है तथा निरुक्त ग्रन्थ के रूप में उसका भाष्य उस बीज का पल्लवन-पुष्पण है।

इस विवरण से यह निष्कर्ष निकलता है कि प्रकृत निरुक्त ग्रन्थ के दो उपेय विषय हैं तथा एक उपाय विषय: **१. मन्त्रार्थज्ञान**, **२. देवविद्या**, ३. **निर्वचन** इन दोनों का साधन है, अतः वह निरुक्त का प्रधान विषय है।

१. मन्त्रार्थज्ञान। अपने निघण्टु में सङ्कलित शब्दों के निर्वचन के प्रसङ्ग में यास्क ने वे मन्त्र या मन्त्रांश उद्धृत किए हैं, जिनमें उन शब्दों का प्रयोग उनके द्वारा निर्वचन से निर्धारित अर्थ में हुआ है। बहुधा वे अपनी बात की पुष्टि या विषय की और अधिक स्पष्टता के लिए कई-कई मन्त्र या मन्त्रांश भी उद्धृत कर देते हैं। सारे निरुक्त में इस प्रकार लगभग ८०० मन्त्र तथा मन्त्रांश विभिन्न संहिताओं से उद्धृत

---

१. द्र. निरुक्त १।१५ तथा १३।१२ में निरुक्त के प्रकरण का उपसंहार करते हुए यास्क कहते हैं: अयं मन्त्रार्थचिन्ताभ्यूहोऽभ्यूळ्होऽपि श्रुतितोऽपि तर्कतः। .... तेभ्य एतं तर्कमृषिं प्रायच्छन् मन्त्रार्थचिन्ताभ्यूहमभ्यूळ्हम्।

२. पूर्व नैरुक्तों ने भी अपने निघण्टुओं का प्रणयन वेदार्थ के भासन (प्रकाशन) के लिए ही किया था: उपदेशाय ग्लायन्तोऽवरे बिल्मग्रहणायेमं ग्रन्थं समाम्नासिषुः। बिल्मं भिल्मं भासनमिति वा।

किये गए हैं। निघण्टु के व्याख्यान में उपयोगी न होते हुए भी उन्होंने उन मन्त्रों या मन्त्रांशों का अर्थ सङ्क्षेप में विशद किया है। मन्त्रार्थ करने में वे प्रायः या तो १. कठिन शब्दों के लौकिक पर्याय देते हैं[1], या २. उन शब्दों का निर्वचन करके उनका अर्थ निर्धारित करते हैं[2]। अपेक्षित होने पर मन्त्रार्थज्ञान के लिए सहायक इतिहास[3] या अन्य किसी प्राचीन मान्यता अथवा प्रथा को भी वे देते हैं[4]। मन्त्रार्थ में, या मन्त्रगत शब्द के स्वरूप के बारे में, या उसके निर्वचन पर मतभेद होने की स्थिति में, वे या तो उस मतभेद को प्रस्तुत भर करते हैं[5], या उसकी भली भाँति समीक्षा करके तत्त्व निर्णय करते हैं[6]।

मन्त्रों के व्याख्यान में यदि दृष्टिभेद से अर्थभेद होता हो, तो वे उन दृष्टियों से भी मन्त्रार्थ करते हैं[7]। इन दृष्टियों में अधिदैवत दृष्टि सबसे प्रमुख है[8]। ऐतिहासिक, अधियज्ञ तथा आध्यात्मिक दृष्टियों से वेदार्थ करने की भी उन्होंने उपेक्षा नहीं की है[9]।

निरुक्त में कुल लगभग ४४० मन्त्रों या मन्त्रांशों की इस प्रकार सङ्क्षिप्त

---

१. द्र. १।१६–२० में ऋ. सं. १०।७१।४–५ की व्याख्या।

२. द्र. १।२० में ऋ. सं. ५।४।२ के एक पाद की व्याख्या।

३. द्र. २।१०, २४; ६।२३; १०।२६; १२।१०।

४. द्र. ३।५ में ऋ. सं. १।१२४।७ के गर्तारुक् और ३।८ में ऋ. सं. १०।५३।४ के पञ्च जनाः शब्द की व्याख्या।

५. ३।८ में ऋ. सं. १०।५३।४ की और १३।६ में ऋ. सं. १।१६४।४५ की व्याख्या में केवल मतभेद दिए गये हैं।

६. द्र. ७।२३ में ऋ. सं. १।५९।६ की व्याख्या में पूर्वयाज्ञिकों, शाकपूणि आदि के मतों की चर्चा तथा उस पर यास्क का निर्णय।

७. २।८ में १।१६४।३२ की दो व्याख्याएं परिव्राजकों और नैरुक्तों की दो दृष्टियों से की गई हैं।

८. अस्य-वामीय सूक्त (ऋ. सं. १।१६४) के भाष्यकार श्रीयुत आत्मानन्द जी ने निरुक्त में किए मन्त्रों के व्याख्यान को अधिदैवत-विषय बताया है : अधियज्ञ-विषयं स्कन्दादि-भाष्यम्, निरुक्तमधिदैवत-विषयम्।

९. ११।४ में ऋ. सं. ९।१।१ की अधियज्ञ तथा अधिदैवत दृष्टि से, १०।२६ में ऋ. सं. १०।८२।२ की अधिदैवत और अध्यात्म दृष्टि से व्याख्याएं की गई हैं। ६।२२ में ऋ. सं. १।१६२।७ को अश्वमेधयज्ञ में प्रयुक्त (आश्वमेधिक) मन्त्र कहा गया है।

व्याख्या की गई है। आवश्यकता न होने पर वे मन्त्र को **निगदव्याख्यात** या **इत्यपि निगमो भवति** मात्र कह कर छोड़ भी देते हैं[1]।

२. देवविद्या। देवविद्या के प्रकरण को यास्क ने दो भागों में बाँटा है। **प्रथम भाग** में उन्होंने देवविद्या के आधारभूत सिद्धान्तों की चर्चा सातवें अध्याय के पहले १३ खण्डों में की है। इन सिद्धान्तों में प्रमुख हैं: १. मन्त्रों में देवता की पहिचान (७।१,४), २. प्रतिपादन-शैली के आधार पर मन्त्रों के भेद (७।२), ३. मन्त्रों के विषय (७।३), ४. देवताओं की सङ्ख्या तथा उसका आधार (७।५), ५. देवताओं का आकार क्या है? (७।७), ६. प्रधान देवताओं के साथ स्तुत अन्य गौण देवता आदि (७।८–११)।

दूसरे भाग में दैवतकाण्ड में सङ्कलित देवताओं का स्वरूप-निरूपण ७वें अध्याय के शेष अंश से लेकर १२वें अध्याय के अन्त तक किया गया है।

यह स्वरूप-निरूपण यास्क ने तीन तरह से किया है: १. देवता के **नाम का निर्वचन** करके, २. उसके आधिदैविक स्वरूप पर **मतभेद आदि के** परीक्षण से, ३. अपने सिद्धान्त के पोषक **मन्त्रों को उद्धृत करके उनकी सङ्क्षिप्त व्याख्या से**।

देवता के नाम के निर्वचन में यास्क ने देवता के समग्र—आधियज्ञिय, आधिदैविक तथा आधिभौतिक रूप को अपने सामने रखा है। जैसे **अग्नि** शब्द के (निरुक्त ७।१४ में) ५ निर्वचन किए गए हैं: १. **अग्रणीर्भवति**, २. **अग्रं यज्ञेषु प्रणीयते**। ये दो निर्वचन यज्ञ में अग्नि के महत्त्व तथा उसके आधिदैवत स्वरूप को प्रकट करते हैं। ३. **अङ्गं नयति सन्नममानः**, ४. **अक्नोपनो भवतीति स्थौलाष्ठीविः**—ये दो निर्वचन अग्नि के भौतिक स्वरूप को प्रकट करते हैं। ५. शाकपूणि के निर्वचन में **अग्नि** का आधिदैवत स्वरूप प्रकाशित किया गया है। **देव** शब्द के चार निर्वचन भी इसी प्रकार की विशिष्टता को दृष्टि में रख कर किए गए हैं।

यास्क के मत में **देवता** कोई अलौकिक वस्तु नहीं, अपितु प्रत्यक्ष दिखलाई देने वाले अग्नि, वायु, सूर्य आदि पदार्थ ही हैं। ये सब देवता उनके मत में एक **आत्मा** की ही विभिन्न विभूतियाँ हैं। उनके ये **अग्नि, इन्द्र** आदि विभिन्न नाम उनके अलग-अलग कर्म के कारण पड़े हैं (७।४)।

---

१. द्र. **निगदव्याख्यात मन्त्र** : ७।२३; ६।५, ७, १७, २१, ३४, ४१; १०।१८, २४; ११।३, ८, ४५; १२।२, ३१। **इत्यपि निगमो भवति** तो बहुत बार आया है। **उपलक्षणार्थ देखिए** : ३।२१ में **ऋ. सं.** ८।४५।२०, **काठकसं.** ६।७, **ऋ. सं.** ५।३१।१२, **मैत्रायणी सं.** १।६।४ : १३४।८, **ऋ. सं.** १०।८५।३७, १०।६५।५, २।१२।१, ६।६६।६।

मतभेद प्रायः इसलिए उठे हैं कि मन्त्रों में तत्तद् देवताओं के वर्णन में बहुधा देवताओं के लिङ्ग में अर्थात् उनके स्थान, कर्म, रूप, सहचारी देवता आदि में व्यभिचार आने से सन्देह हो आता है कि इस नाम से कौन से देवता का वर्णन चल रहा है ? यास्क ने अनेक युक्ति-प्रतियुक्तियों के आधार पर इन स्थलों की परीक्षा करके यह सिद्धान्त निश्चित किया है कि सूक्त में जिसकी स्तुति की गई है, या जिसके निमित्त यज्ञ के किसी कर्म में हवि देने का विधान है, वह तो अपने स्थान तथा कर्म वाला प्रधान देवता ही होता है। एकाध मन्त्र में यदि स्थान-विशेष के देवता की अपने स्थान से भिन्न स्थान में या अपने स्वाभाविक कर्म से भिन्न कर्म के द्वारा स्तुति होती है, तो वहां उस देवता को गौण ही समझना चाहिए (७।२०,२१)।

बहुधा देवताओं का उनके स्वाभाविक स्थान और कर्म से भिन्न स्थान और कर्म के प्रतिपादन से बढ़ा-चढ़ा कर किया वर्णन भी मिलता है। इन वर्णनों को प्राचीन आचार्य अतिस्तुति कहा करते थे[1]। परिशिष्ट के प्रथम अध्याय में यास्क ने विभिन्न देवताओं की अतिस्तुतियों के मन्त्र उद्धृत करके उन देवताओं का स्वरूप स्पष्ट करने का प्रयास किया है।

चौदहवें अध्याय अर्थात् परिशिष्ट के दूसरे अध्याय में आत्मविद्या का सुन्दर विवेचन किया गया है। इसमें दो आत्माओं—महान् आत्मा अर्थात् परमात्मा एवम् आत्मा अर्थात् जीवात्मा—का प्राचीन साङ्ख्य की दृष्टि से वर्णन किया गया है। जीव के गर्भ में आने की प्रक्रिया का आयुर्वेद की दृष्टि से पुनर्जन्मवाद की पृष्ठभूमि में विशद व्याख्यान किया गया है। जीव शुभ कर्मों से ब्रह्मभूत होकर पुनर्जन्म से मुक्त हो जाते हैं, इसका वेदान्त की दृष्टि से वर्णन उससे आगे किया गया है। इसके बाद विभिन्न नामों से महान् आत्मा का वर्णन किया है[2]।

इस अध्याय में प्रत्येक मन्त्र की प्रायः अधिदैवत तथा अध्यात्म—दो प्रकार

---

१. नि. १३।१ पर दुर्गटीका : अथेमा अतिस्तुतय इत्याचक्षते—इत्येवमादि वक्तुं प्रकृतशेषमनुवर्तते। किं पुनः प्रकृतम् ? स्तुतिलक्ष्या देवतेति—यत्काम ऋषिर्यस्यां देवतायामार्थपत्यमिच्छन् स्तुतिं प्रयुङ्क्ते (७।१) इत्यत्र ता स्तुतयः कर्माधिकार-निरताः। स्व-कर्माधिकारातिक्रमेण, स्व-गुणातिशयेन च यास्ता उपप्रदर्श्याः। तदर्थं विशेषतः पुनरधिकार-वचनमथेति। इमा या वक्ष्यमाणास्ताः अतिस्तुतय इत्याचक्षते अन्येऽप्याचार्या एवमेवैता आचक्षते कथयन्ति शिष्येभ्योऽतिस्तुतय एता इति। प्रसिद्धा ह्ययमेतासु सञ्ज्ञेत्यभिप्रायः। तथा स्कन्दभाष्य, पृ० १४७।

२. इस विषय के विशद विवेचन के लिए परिवेशखण्ड में यास्क का दर्शन अध्याय देखिये।

की व्याख्याएँ की गई हैं। अन्त में महान् भूत ब्रह्म को तथा पारस्कर यास्क को नमस्कार करके शुक्ल ब्रह्म को प्राप्त करने की अभिलाषा प्रकट की गई है।

३. निर्वचन : इस विषय को भी यास्क ने दो भागों में लिया है :

(क) निर्वचन के लिए अपेक्षित सिद्धान्तों को स्पष्ट करने के लिए उन्होंने अपने भाष्य के प्रारम्भ में पूरे प्रथम अध्याय में उपोद्घात तथा दूसरे अध्याय के कुल २८ खण्डों में से ४ खण्डों में निर्वचन के सिद्धान्त एवं निर्वचन-शास्त्र के अधिकारी आदि की चर्चा की है। प्रथम (उपोद्घात) अध्याय में उन्होंने निर्वचनीय पदों का वर्गीकरण, उनके लक्षण तथा उन से सम्बद्ध अन्य बातें दी हैं। इन अन्य बातों में दो बहुत महत्त्वपूर्ण विवाद भी उन्होंने पूर्वपक्ष और उत्तरपक्ष के रूप में दिये है। ये विवाद हैं : १. नामपद आख्यातज हैं कि नहीं ? २. मन्त्र अनर्थक हैं या सार्थक ? व्यस्तक्रम में निरुक्ताध्ययन के प्रयोजन भी इसी अध्याय में दिये गए हैं। निघण्टु के तीन काण्डों के लक्षण भी यहीं दिये गये हैं।

निर्वचन के सिद्धान्तों में यास्क ने केवल भाषाशास्त्रीय सिद्धान्त ही दूसरे अध्याय के आदि में दिये हैं। उन्होंने इस विषय के मानसिक पहलू पर ध्यान नहीं दिया। इसके बाद दूसरे अध्याय के पाँचवें खण्ड से उन्होंने निघण्टु के शब्दों की यथाक्रम व्याख्या करनी प्रारम्भ की है।

सबसे पहले उन्होंने निरुक्त २।५ से लेकर समूचे तीसरे अध्याय तक निघण्टु के नैघण्टुक काण्ड के खण्ड-सूत्रों में सङ्कलित पर्याय शब्दों के प्रधान शब्दों की व्याख्या उनका निर्वचन तथा उसकी पुष्टि में मन्त्र उद्धृत करके की है। इस प्रकरण में यास्क ने प्रायः सरल शब्दों की व्याख्या की है। उसमें भी उन्होंने नैघण्टुक काण्ड के सब शब्दों की व्याख्या नहीं की है—यह हम पीछे (पृष्ठ २१ पर) कह आए हैं।

निरुक्त के ४-६ अध्यायों में यास्क ने निघण्टु के नैगम (अथवा ऐकपदिक[1]) काण्ड के प्रत्येक शब्द की व्याख्या की है। इस प्रकरण में दो प्रकार के शब्द आए हैं (४।१) :

१. अनेकार्थक शब्द तथा २. अनवगतसंस्कार शब्द। इन शब्दों के इस

---

१. यास्क से प्राचीन निघण्टुओं में भी शब्दों का सङ्कलन इसी प्रकार होता था। इस प्रकरण का पुराना नाम ऐकपदिक ही था। द्र. ४।१ पर दुर्ग : ऐकपदिकमित्यनेन नाम्नाऽन्येप्याचार्या आचक्षते। निरूढा ह्येयमस्मिन्प्रकरणे सञ्ज्ञेत्यभिप्रायः। इस प्रकरण में परोक्षवृत्ति या अतिपरोक्षवृत्ति शब्द हैं। निघण्टु शब्द का आदिम सम्बन्धी निगम शब्द भी इन्हीं को बोधित करता है। इस आधार पर इस काण्ड का नाम नैगम भी पड़ गया था।

चरित्र के कारण ये शब्द कठिन हो गये हैं, अतः इन में से प्रत्येक की व्याख्या करना समुचित ही है। यास्क ने इस काण्ड के शब्दों का विभाजन उपर्युक्त दो वर्गों में तो किया, किन्तु इनका सङ्कलन तथा व्याख्यान दोनों प्रकार के शब्दों को अपने-अपने वर्ग में न रखकर इकट्ठे मिला-जुला रख कर ही किया है। अच्छा होता यदि इन्हें **अनेकार्थक** शब्दों तथा **अनवगतसंस्कार** शब्दों के रूप में पृथक्-पृथक् दो वर्गों में विभक्त करके रखा जाता। यास्क ने इस प्रकार दो वर्गों में इन शब्दों को जो नहीं रखा, इसके पक्ष में केवल एक ही बात कही जा सकती है कि जो शब्द **अनेकार्थक** हैं, वे प्रायः **अनवगतसंस्कार** भी हैं। अतः इन्हें साफ-साफ दो वर्गों में रखना कुछ कठिन है।

एकार्थक पर्याय-शब्दों के निर्वचन के प्रसङ्ग में यास्क सब से पहले निघण्टु के खण्डसूत्र के अर्थाभिधायक का, फिर खण्डसूत्रगत पर्यायों में विशेष-व्याख्यापेक्षी शब्द का निर्वचन देते हैं। जैसे निघण्टु (१।६) में आठ दिशावाचक शब्द सङ्कलित हैं। यास्क सबसे पहले दिशा का निर्वचन (२।१५) में करते हैं, फिर आठ शब्दों में से अन्यतम काष्ठा का।

निर्वचन करते समय यास्क स्वयं को निघण्टु के शब्दों तक ही सीमित नहीं रखते। प्रसङ्ग प्राप्त होने पर वे अन्य शब्दों का भी निर्वचन करके मन्त्र के उद्धरण से उसकी पुष्टि करते चलते हैं। निघण्टुपठित शब्द के निर्वचन में आए पर्याय आदि प्रासङ्गिक शब्दों[1], तथा निघण्टुगत शब्द पर उद्धृत मन्त्र में श्रुत और निघण्टु में असङ्कलित कठिन शब्दों[2] और उन शब्दों की व्याख्या में आए शब्दों[3] एवम् अन्यथा मिलते-जुलते शब्दों[4] का भी निर्वचन कर देते हैं। शब्दों के निर्वचनों में पहले वे उनका वेद में प्रचलित अर्थ देते हैं, फिर यदि उन शब्दों का प्रयोग लोक में भी होता

---

१. निरुक्त (२।५) में पशुवाचक गो (निघण्टु १।१ पृथिवीनाम) शब्द ताद्धित (गाय का दूध=पयस्) अर्थ में भी है, यह बतला कर पयस्, तथा उसके भी पर्याय क्षीर शब्दों का निर्वचन किया गया है। निघण्टु ३।२६ में पठित त्व, नेम शब्दों के पर्याय अर्ध का निर्वचन निरुक्त ३।२० में किया गया है।

२. इस प्रकार के निर्वचन निरुक्त में बहुत किए गए हैं। निदर्शनार्थ निरुक्त (२।८) में ऋ. सं. १।१६४।३२ की व्याख्या में मातुः तथा योनिः के निर्वचन देखें।

३. द्र. निरुक्त १।२० में ऋ. सं. १।१५४।२ में श्रुत गिरिः की व्याख्या में आगत पर्वतः का तथा उसके अङ्ग पर्व शब्द का निर्वचन।

४. द्र. ऊपर टि. ३ में उद्धृत मन्त्र के भीम शब्द के प्रसङ्ग में भीष्म शब्द की व्याख्या।

है, तो उसके लौकिक अर्थ की परीक्षा भी निर्वचन करके या उसकी कोई उपपत्ति दे कर करते हैं[1]।

यास्क किसी भी शब्द का निर्वचन करते समय उसके अर्थ के विभिन्न पहलुओं को दृष्टि में रख लेते हैं। संस्कृत में एक शब्द के अनेक अर्थ बहुतायत से होते हैं। यास्क उन अनेक अर्थों वाले शब्दों का प्रत्येक अर्थ को स्पष्ट करने वाला निर्वचन अलग-अलग करते हैं। एक अर्थ में प्रसिद्ध शब्द के पीछे भी उनके बारे में लोगों की धारणाएँ भिन्न-भिन्न हो सकती हैं। वे उन धारणाओं को अलग-अलग निर्वचन से प्रकट करते हैं। जैसे कीकट बिहार के एक भाग मगध का प्राचीन नाम है। उसके अर्थ के बारे में एक धारणा आर्यों की है—इन नास्तिक लोगों को ईश्वर ने क्यों बनाया ? यास्क ने इस भावना को प्रकट करने वाला निर्वचन दिया : किं कृताः ? कीकट देशवासी अनार्यों की श्रद्धा आर्यों की धार्मिक क्रियाओं में नहीं थी। इस भावना को दृष्टि में रख कर यास्क ने इस शब्द का दूसरा निर्वचन दिया : **किं क्रियाभिरिति प्रेप्सा वा** (६।३२)। **अपत्य** (३।१) तथा **कच्छ** (४।१८) शब्दों के दो-दो निर्वचन भी इसी प्रवृत्ति के निदर्शन हैं।

दुर्ग का कथन है कि शब्द के **तत्त्व** (वास्तविक अर्थ) को **पर्यायवाची** शब्द देकर, **मूल-शब्द** तथा **पर्याय-शब्द** दोनों की **व्युत्पत्ति** देकर, फिर **मन्त्र** उद्धृत करके उसके आधार पर **निर्णय** करके यास्क ने **ऐकपदिक काण्ड** के शब्दों का **निर्वचन** किया है :

तत्त्वं पर्याय-शब्देन व्युत्पत्तिश्च द्वयोरपि।
निगमो निर्णयश्चेति व्याख्येयं नैगमे पदे ॥

हमारा विचार है कि यह बात निरुक्त के सभी काण्डों में पठित तथा प्रासङ्गिक रूप से आए **परोक्षवृत्ति** और **अतिपरोक्षवृत्ति** शब्दों पर समान रूप से लागू होती है। **प्रत्यक्षवृत्ति** शब्दों का अर्थ तो स्वतः निश्चित होता है, अतः उनकी व्याख्या इतने ऊहापोह से करने की आवश्यकता ही नहीं है।

यास्क ने निर्वचन दो प्रकार के किए हैं :

(क) **शब्द-निर्वचन** : इस श्रेणी के अन्तर्गत वे निर्वचन आते हैं, जिनमें उन्होंने उन शब्दों की **प्रकृति** तथा उनमें होने वाले **विकार** (आदेशिक गुण) को **वर्ण-साम्य** की दृष्टि से ध्यान में रखा है। जैसे **कीकटा** म्लेच्छभाषी लोगों का शब्द है। यास्क ने इस शब्द के वर्णों का साम्य आर्य भाषा के **कि=की, कटा=कृताः** से जोड़ा है। इस प्रकार के निर्वचन के अन्य उदाहरण हैं : **सहस्र<सहस्** (३।१०), **विंशतिः<द्विदंश** (३।१०), **अश्व< √अश्** (१।१२), **पुत्र<पुत्+त्र** (२।११),

१. द्र. निरुक्त २।१३ में **व्रत** शब्द के दो निर्वचनों में पहला वैदिक अर्थ में है दूसरा लौकिक में।

असुर<असु+र (३।८), अवस<√अव्+अस (१।१७), देवर<√दिव् (३।१५), व्याघ्र<वि+आ+√घ्रा (३।१८), कच्छ<खच्छ<खच्छद (४।१८), कच्छ<क+छाद (वहीं), यूथ<√यु इत्यादि। निरुक्त में इस प्रकार के निर्वचन पर्याप्त हैं। भाषाविज्ञान की दृष्टि से इस प्रकार के निर्वचनों का महत्व ही सर्वाधिक होता है।

(ख) **अर्थ-निर्वचन** : इस श्रेणी में वे निर्वचन आते हैं, जो शब्दों के **वर्णसाम्य** को दृष्टि में न रखकर, केवल **अर्थसाम्य** के आधार पर किये गए हैं। इनमें प्रकृति तथा उसमें होने वाला (आदेशिक) विकार नहीं बतलाया जाता। पुत्र<पुरु+त्र (२।११), कीकट<किं क्रियाभिः (६।३२), अलातृण<अलमातर्दन (६।२), निघण्टु<आहनन (१।१), व्याघ्र<व्यादाय हन्तीति वा (३।१८), समुद्र<समभिद्रवन्त्येनमापः (२।१०), पराशर (इन्द्रः) परा शातयिता यातूनाम् (६।३०), ऋक्षा<उदीर्णानीव ख्यायन्ते (३।२०) इत्यादि। इस प्रकार के निर्वचन भी निरुक्त में बहुत किए गए हैं[1]।

शब्द का एक अपना प्रातिस्विक **वाच्यार्थ** तो होता ही है (अतः निर्वचन में भी उसी अर्थ को स्फोरित किया जाता है), किन्तु बहुधा शब्द अपने वाच्य से भिन्न अर्थ में भी प्रयुक्त होता है। आचार्य यास्क शब्दों के इस प्रकार के प्रयोग से पूर्णतया परिचित हैं। शब्द के निर्वचन के प्रसङ्ग में प्रधान अर्थ को बतला कर वे उसके ताद्धित (गौण) अर्थ को दृष्टि में रखना भी उचित समझते हैं। गो शब्द निघण्टु (१।१) में पृथिवी के पर्यायों में आया है। लोक तथा वेद में ही इसका पशुविशेष, (गाय तथा बैल) अर्थ भी होता है। यास्क ने (२।५ में) वह भी बताया है। इसके अतिरिक्त गो शब्द गो के दूध, चर्म, स्नाव, श्लेष्म, तथा गाय की आंत से बनी तांत यानी धनुष् की डोरी, (ज्या) आदि अनेक अर्थों में है। यास्क ने इन सब को ठीक ढंग से समझाया है। गो शब्द का प्रयोग गाय से न बनने वाली धनुष् की डोरी के लिए भी होता है। स्पष्ट ही यह इस शब्द का लाक्षणिक प्रयोग है। किन्तु यास्क इस अर्थ में गो शब्द का अलग से एक निर्वचन देते हैं : गमयतीषूनिति, अर्थात् वह डोरी गो इस लिए कहलाती है, क्योंकि वह बाणों को आगे फेंकती है।

निर्वचनों के प्रसङ्ग में यास्क ने शब्द के सामाजिक, सांस्कृतिक, दार्शनिक तथा लोक-मनो-विज्ञान के विशेष परिवेश को भी दृष्टि में रखा है। निरुक्त (३।५) में गर्तारुक् की व्याख्या उन्होंने दक्षिण भारत की एक प्रथा के विशेष परिवेश में की

१. इस की पुष्टि दुर्ग (४।१) के निम्न कथन से भी होती है : **अत्रार्थस्याप्रतीयमानस्य पर्यायाभिधानेन, विभज्य प्रतिपादनं व्याख्या; शब्दस्यापि व्युत्पादनं व्याख्या। एवमेते द्वे व्याख्ये। तयोरर्थपरिज्ञानमेकस्याः कार्यम्, शब्दपरिज्ञानमेकस्याः। तदेतदुभयमप्येकस्मिन्नंगमे पदे यथा-सम्भवं व्याख्यास्यते।**

है। पुरुष अर्थात् पुरुष शब्द के दो निर्वचन उस शब्द के दो दार्शनिक अर्थों को प्रकट करते हैं यह बात यास्क ने (२।३) में स्पष्ट कही है। सिंह, व्याघ्र, श्वा, काक आदि शब्दों को लोग इनके वाच्यार्थ से भिन्न अर्थों में अच्छी या बुरी दृष्टि से प्रयोग में लाते हैं। यास्क ने (३।१८ में) इन शब्दों के इस आलङ्कारिक प्रयोग को भली भाँति समझाया है। इससे यास्क वस्तुतः कहना यह चाहते हैं कि निर्वचन में केवल भाषाशास्त्र ही नहीं अपितु अन्य बहुत सी बातें भी सिमट आती हैं। नैरुक्त को इन सब से अभिज्ञ होना चाहिए।

इस प्रकार हम देखते हैं कि यास्क ने अपने निर्वचनों में बहुत व्यापक दृष्टि रखी है। इसमें हमें एक ही साथ ध्वनि-विज्ञान, अर्थ-विज्ञान, मनो-विज्ञान को समुचित महत्त्व देकर शब्दों के निर्वचन किए मिलते हैं।

अध्याय ८

निरुक्त-कार यास्क

पहले हम कह आए हैं कि पञ्चाध्यायी निघण्टु पर यास्क ने निरुक्त नामक भाष्य लिखा है। चाहे दुर्ग द्वारा उद्धृत या स्कन्द-महेश्वर की टीका में उद्धृत पाठ लें, या चाहे पाण्डुलिपियों में उपलब्ध लघुपाठ अथवा बृहत्पाठ को ही लें, निरुक्त के मूलपाठ में या मूलपाठ के अध्यायों के अन्त में दी गई पुष्पिकाओं में भी निरुक्त के यास्ककृत होने की चर्चा अथवा और किसी तरह ही यास्क का नामनिर्देश कहीं भी नहीं मिलता। निरुक्त–परिशिष्ट के दूसरे अध्याय के अन्त में नमः पारस्कराय। नमो यास्काय'। कह कर पारस्कर और यास्क को नमस्कार किया गया है। ये दोनों वाक्य यास्ककृत नहीं हैं, यह सिद्ध करने को विज्ञजनों के सामने बहुत से तर्कों तथा प्रमाणों को इकट्ठा करने की आवश्यकता बिल्कुल नहीं है—कोई स्वयं को नमस्कार

१. पूरा वाक्य यों है : नमो ब्रह्मणे। नमो महते भूताय। नमः पारस्कराय। नमो यास्काय। ब्रह्मशुक्लमसीय। ब्रह्मशुक्लमसीय।

नहीं करता। अतः यह निश्चित ही है कि यह दो वाक्य तो अवश्य ही यास्क के किसी प्राचीन श्रद्धालु ने ही इसमें जोड़े हैं। इसकी प्राचीनता इसलिए कही है, क्योंकि ये वाक्य मूल की सब पाण्डुलिपियों में निरुक्त के अन्तरङ्ग भाग के रूप में ही लिखित हैं[1]।

आचार्य पाणिनि ने पारस्कर को एक विशिष्ट सञ्ज्ञा शब्द बतलाया है[2]। आचार्य पतञ्जलि ने कहा है कि पारस्कर भारत के एक प्रदेश का नाम है[3]। न्यासकार आचार्य जिनेन्द्रबुद्धि ने इसकी व्युत्पत्ति पारं करोतीति पारस्करः की है[4]। इससे विदित होता है कि यह कोई ऐसा प्रदेश है जिसे पार करना इतना कठिन है कि इस के आधार पर ही उस प्रदेश का यह नाम पड़ गया। इस प्रकार की विशिष्टता तथा नामसादृश्य से युक्त भारत का प्रदेश है थर पारकर (२५° उत्तर तथा ७०° पूर्व)। यह प्रदेश भारतीय महामरुस्थल (Thar or Great Indian Desert) के दक्षिणी छोर पर है, जिसे पार करने से सारा मरुस्थल ही पार हो जाता है। इसके और भी दक्षिण पूर्व की ओर नगर पारकर नामक बस्ती है। इन सब बातों से हमारा अनुमान है कि परिशिष्ट में निर्दिष्ट पारस्कर इस पारस्कर प्रदेश के निवासी थे, तथा इसीलिए पारस्कर कहलाते थे।

हमारे विचार में परिशिष्ट में उल्लिखित ये पारस्कर यास्क ही हैं। यास्क का उल्लेख भी यहाँ निरुक्त का प्रणेता होने से ही हुआ है। प्रथम शताब्दी ई. के आस-पास में पारकर से अनतिदूर गुजरात के क्षेत्र में यास्क के विशेष अध्ययन की परम्परा चालू थी, इसका परिचय हमें जम्बूसर (प्राचीन नाम जम्बूमार्ग तथा जम्बूमार्गाश्रम, आबू पर्वत, २५° उत्तर और ७३° पूर्व, के समीप) में आचार्य दुर्ग द्वारा निरुक्त की सुन्दर टीका लिखे जाने से मिलता है[5]। आचार्य स्कन्दस्वामी का भाष्य भी उससे अनतिदूर वलभी में लिखा गया था। इससे सिद्ध होता है कि वह सारा क्षेत्र निरुक्त के साथ घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित रहा है।

निरुक्त के प्रणेता यास्क हैं, इसका प्राचीनतम प्रमाण मिलता है शौनक के बृहद्देवता नामक ग्रन्थ में। शौनक को यास्क के ग्रन्थ से गहरा परिचय है। इन्होंने यास्क का नाम लेकर निरुक्त के बहुत से स्थलों को उद्धृत किया है और बहुत सी यास्कप्रतिपादित बातों की आलोचना, समर्थन तथा खण्डन किया है, यह हम पीछे

१. द्र. लक्ष्मणसरूप के निरुक्त पाठ का पृष्ठ २४४, टि. १८।

२. द्र. अ. ६।१।१५७ : पारस्करप्रभृतीनि च सञ्ज्ञायाम्।

३. द्र. अ. ६।१।१५७ पर महाभाष्य भाग ४, पृ. [illegible]८३; पारस्करो देशः।

४. द्र. काशिका ६।१।१५७ पर न्यास।

५. द्र. स्कन्दभाष्य, भाग ३–४, भूमिका, पृ. ६[illegible]-६८।

पाँचवें अध्याय में देख चुके हैं। आचार्य शौनक यास्क और पाणिनि के मध्य में हुए[1]। अतः उनके साक्ष्य का ऐतिहासिक महत्त्व बहुत अधिक है।

शौनक के अनन्तर महाभारत (मोक्षधर्मपर्व) तथा महाभाष्य आदि अनेक ग्रन्थों में निरुक्त को यास्ककृत बतलाया गया है।

यास्क का समय

निरुक्तकार आचार्य यास्क किस समय में हुए ? इस प्रश्न के समाधान के लिए कई विद्वानों ने अनथक श्रम किया है। किन्तु सही अर्थों में तो आज तक समाधान हो ही नहीं पाया है। इस प्रकरण में हम इस समस्या पर कुछ प्रकाश डालने का प्रयास करेंगे।

प्राचीन साहित्य में यास्क नाम सबसे पहले शतपथब्राह्मण के वंशब्राह्मण में दो बार आया है[2]। उसके बाद के प्राचीन ग्रन्थों में पाणिनि की अष्टाध्यायी और गणपाठ में एक-एक बार[3] एवं बृहद्देवता में २० बार[4] आया है।

इन २३ बार के उल्लेखों में बृहद्देवता के २० बार के उल्लेखों का हमारे प्रकृत यास्क से सम्बन्ध असन्दिग्ध है। शतपथ और पाणिनि के ग्रन्थ में उल्लेख यस्क गोत्र के किसी व्यक्ति के बारे में है, केवल इतना ही निश्चित है। वे यस्कगोत्रज पुरुष निरुक्तकार हैं कि नहीं, इसके साधक या बाधक कोई भी लिङ्ग हमें उपलब्ध नहीं हैं।

इतिहासान्वेषण में निष्णात मनीषियों ने यास्क और पाणिनि के सिद्धान्तों के विवेचन के आधार पर इस समस्या का समाधान निकालने का प्रयत्न किया है; पर जैसा कि प्रसिद्ध है :

नैको मुनि र्यस्य वचः प्रमाणम्।
मुण्डे-मुण्डे मतिर्भिन्ना, पादे-पादे गतिर्भिन्ना।

एक ही दृष्टि से एक ही सामग्री का अध्ययन करने वाले भिन्न-भिन्न लोगों ने भिन्न-भिन्न निष्कर्ष इस विषय में निकाले हैं। पण्डित मोक्षमूलर भट्ट, मूतलिङ्ग तथा उनके अनुयायी श्री सत्यव्रत सामश्रमी, हैनेस् स्कोल्ड् प्रभृति विद्वान् यास्क को

---

१. द्र. मैकडानल्, बृहद्देवता, भूमिका, पृ. २२।

२. द्र. १४।६।५।२१; १४।७।३।२७।

३. द्र. अ. २।४।६३ : यस्कादिभ्यो गोत्रे, तथा ४।१।११२ (शिवादिगण) में ७०वाँ शब्द यस्क। इन दोनों स्थलों में यस्क से अपत्यार्थ में अण् प्रत्यय करके यास्क शब्द सिद्ध किया गया है।

४. द्र. १।२६; २।१११, १३२, १३७; ३।७६, १००, ११२; ४।४, १८; ५।८, ४०; ६।८७, १०७; ७।७, ३८, ६६, ६३, १५३; ८।११, ६५।

पाणिनि से बाद में हुआ मानते हैं, तथा श्रीयुत थियोडोर गोल्डस्टुकर, मैकडानल्, डा० बेल्वल्कर् आदि विद्वान् इन्हें पाणिनि से प्राचीन मानते हैं।

श्री मोक्षमूलर भट्ट का कथन है वाजसनेय प्रातिशाख्य में पदों के चार विभाग बताने के साथ-साथ नामपदों का कृदन्त, तद्धितान्त तथा चार प्रकार के समास के रूप में विभाग किया गया है (१।२७)। निरुक्त में इस वर्गीकरण को अपर्याप्त समझ कर सब नामपद आख्यातज होते हैं यह एक नया सिद्धान्त खड़ा किया गया है। यास्क प्रातिशाख्यकार कात्यायन से अर्वाचीन हैं, तथा प्रातिशाख्यकार कात्यायन और पाणिनि के आलोचक वार्तिककार कात्यायन एक ही व्यक्ति हैं[1]। अतः भाषाशास्त्र के विकास के सुदृढ धरातल पर खड़े किए पण्डित मोक्षमूलर भट्ट के मत में यास्क पाणिनि से अर्वाचीन कात्यायन से भी परवर्ती हैं।

हम श्रीयुत मोक्षमूलर साहब के कथन के उत्तर में यही कह देना पर्याप्त समझते हैं कि सब नामपद आख्यातज होते हैं का सिद्धान्त मूलतः शाकटायन का है, यह तो वे भी मानते हैं[2], तथा निरुक्त की पङ्क्तियां भी इस विषय में प्रमाण हैं। तो क्या शाकटायन भी कात्यायन के बाद के हैं ? शाकटायन का अनेक बार नामोल्लेख करने वाले आचार्य पाणिनि भी तब तो उनके अपने सूत्रों पर वार्तिक लिखने वाले कात्यायन के बहुत बाद में ही हुए होंगे ?

श्री पण्डित सत्यव्रत सामश्रमी जी यास्क को कात्यायन से तो प्राचीन[3] पर पाणिनि से परवर्ती मानते हैं। उनके तर्कों का प्रमुख आधार यही है कि पाणिनि ही आदिम व्याकरण के प्रणेता हैं, अतः निरुक्त में जहां कहीं व्याकरण शब्द या व्याकरण की परिभाषिक शब्दावली आई है तो वह उस आदि-व्याकरण से ही ली गई है[4]। उनका यह आधार ही आज के विद्वन्मण्डल को अमान्य होगा[5]। अतः इस तर्क के आधार पर दिये उनके तर्कों को यहीं छोड़कर हम उनके एक और तर्क को अपने तर्क से तर्क करेंगे :

यास्क ने सूर्या सूर्यस्य पत्नी (१२।७) कहा है। पाणिनि के तन्त्र में सूर्या

---

१. द्र. थि. गोल्डस्टुकर, पाणिनि (चौखम्बा सं.), पृष्ठ २३९–२४० पर उद्धृत : ऐंस्यण्ट् सं. लिट्रेचर, पृ. १६३ (चौ० सं. पृ. १४४)। तथा वहीं पृ. २११ पर उद्धृत वही, पृ. १३८, पं.१० (चौ. सं पृ. १२२, पं. १९)।

२. ऐ. संस्कृत लि. (चौखम्बा सं. पृ. १२२)।

३. द्र. निरुक्तालोचन, पृ. १०३। ४. द्र. वही, पृ. १०५।

५. इस विषय में विशेष के लिए चौखम्बा, काशी, से प्रकाशित महाभाष्य (नवाह्निक) की स्व. श्री पं. गिरिधर-शर्मा चतुर्वेद जी द्वारा लिखित भूमिका देखें।

इस अर्थ में नहीं बनता, सूरी बनता है। यदि पाणिनि यास्क से परवर्ती होते तो अवश्य सूर्या के लिए कुछ उपाय करते; जैसे कि यास्क के बाद होने वाले कात्यायन ने नया वार्तिक (सूर्याद्देवतायां चाब्वाच्यः।) बना कर कर दिया।[1]

ऋग्वेद का जो मन्त्र यास्क ने उद्धृत किया है उसमें अमृत के लोक के रूप में सूर्य के लोक का ही वर्णन है। आदित्य से सम्बद्ध अन्य देवताओं में अश्विनौ सूर्या जब पतिगृह जाती है तब उसके रथ के पीछे रहते हैं। सविता की वह पुत्री है। पूषा अश्विनौ का पुत्र है। ऐसी स्थिति में मन्त्र में सूर्य ही उसके पति रह जाते हैं। सोम केवल वधूयु (वधू की कामना करने वाला, अर्थात् सूर्या का प्रार्थी) है। उसे सविता ने अपनी कन्या नहीं दी है, अपितु सूर्य को ही दी है। इस में मन्त्र का लिङ्ग भी है: सूर्या के रथ के तीन चक्र हैं—एक चन्द्र, दूसरा आदित्य, तीसरा गुप्त है। ऋषि ने पहले चन्द्र का वर्णन किया है, फिर आदित्य-मण्डल का। यह मण्डल ही सूर्या के पति का लोक है, जो सूर्य से भिन्न और कुछ नहीं है[2]:

द्वे ते चक्रे ब्रह्माण ऋतुथा विदुः। अथैकं चक्रं यद्गुहा तदद्धातय इद्विदुः॥
पूर्वापरं चरतो माययैतौ शिशू क्रीळन्तौ परियातो अध्वरम्॥
विश्वान्यन्यो भुवनाभिचष्टे ऋतूँरन्यो विदधज्जायते पुनः॥
नवो नवो भवति जायमानोऽह्नां केतुरुषसामेत्यग्रम्।
भागं देवेभ्यो विदधात्यायन् प्र चन्द्रमास्तिरते दीर्घमायुः॥
सुकिंशुकं शल्मलिं विश्वरूपं हिरण्यवर्णं[3] सुवृतं सुचक्रम्।
आरोह सूर्ये अमृतस्य लोकं स्योनं पत्ये वहतुं कृणुष्व॥ ऋ. सं. १०।८५।१६, १८-२०॥

इस विवेचन से सिद्ध होता है कि सूर्या सूर्य की पत्नी (विभूति, उषःकाल के बाद की प्रभा) है। यह अर्थ यास्क के द्वारा ही कल्पित नहीं है, अपितु वेद में ही सिद्ध है। सूर्या शब्द में सूर्य शब्द भी सूर्य के साथ इसके सम्बन्ध की ओर ही इङ्गित कर रहा है, जिसे यास्क ने वैदिक देवविद्या का मर्मज्ञ होने से विस्पष्ट करके रख दिया है, पाणिनि वैसा नहीं कर सके। वैदिक देवशास्त्रियों में यह एक सामान्य बात थी इसका पता हमें बृहद्देवता से भी चलता है:

वृषाकपायी सूर्योषाः सूर्यस्यैव तु पत्नयः॥ २।८॥

---

१. द्र. निरुक्तालोचन, पृ. १०४।

२. सूर्या के पूरे चरित्र के लिए पूरा ऋ सं. १०।८५ सूक्त देखें।

३. अमृत के लोक को हिरण्यवर्ण (सुनहरे-पीले-रंग वाला) बताया है। इस से सिद्ध होता है कि सूर्या के पति का लोक चन्द्रलोक नहीं है, क्योंकि वह शुक्ल है, हिरण्यवर्ण नहीं। अतः ब्राह्मणों के सोम का अर्थ सूर्य है, चन्द्रमा नहीं।

श्री विष्णुपद भट्टाचार्य का कथन है कि पाणिनि ने बहुत सी उपधा, लोप, गुण, वृद्धि, अभ्यास आदि सञ्ज्ञाओं का पारिभाषिक अर्थ निश्चित करके उनका अपने व्याकरण में प्रयोग किया है। इससे सिद्ध होता है कि ये सञ्ज्ञाएँ पाणिनि से पूर्व इन अर्थों में प्रसिद्ध नहीं थीं। यास्क ने अपने निरुक्त में इनमें से बहुत सी सञ्ज्ञाओं का इन्हीं अर्थों में उपयोग किया है, तथा उनका अर्थ कहीं भी स्पष्ट नहीं किया। इससे सिद्ध होता है कि यास्क के समय तक ये सञ्ज्ञाएँ पारिभाषिक अर्थ में रूढ हो चुकीं थीं तथा यास्क ने पाणिनि के द्वारा रूढ की गई सञ्ज्ञाओं का अपने ग्रन्थ में प्रयोग किया है। अतः यास्क से पाणिनि प्राचीन हैं[1]।

हम श्री भट्टाचार्य जी के इस तर्क से सहमत नहीं हैं। यास्क के द्वारा निरुक्त में प्रयुक्त व्याकरण की पारिभाषिक शब्दावली रचना तथा भाव की दृष्टि से पाणिनि की शब्दावली से बहुत भिन्न प्रकार की है तथा पारिभाषिक सञ्ज्ञाओं के पाणिनि से प्राचीन स्वरूप को प्रकट करती है। जैसे :

१. पाणिनि ने शब्दों के दो विभाग माने हैं : सुबन्त और तिङन्त ; यास्क ने चार : नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात[2]। पाणिनि ने सुबन्तों का एक भेद अव्यय किया है, पर यास्क ने नहीं। यास्क अगर पाणिनि के बाद के होते तो उनके प्रभाव से अछूते न रह पाते तथा पदविभाग पाणिनि के अनुसार करते।

२. यास्क ने उपसर्गों की द्योतकता-वाचकता के प्रश्न पर गार्ग्य का नाम निर्देश करके उनका पक्ष लिया है तथा उपसर्गों को अविशेषेण नाम और आख्यातों से युक्त होने वाला बतलाया है[3]। उन्होंने उपसर्गों के गति, कर्मप्रवचनीय आदि अवान्तर भेद नहीं किये हैं। पाणिनि उपसर्गों को केवल क्रियायोगी मानते हैं। उन्होंने उपसर्ग शब्दों के निपात, गति, कर्मप्रवचनीय आदि विभिन्न भेद भी बनाए हैं। इससे सिद्ध होता है कि यास्क का विवेचन पाणिनि के विवेचन से प्राचीन है। यदि पाणिनि यास्क से प्राचीन होते तो यास्क उनका भी नामनिर्देश उसी प्रकार करते, जिस प्रकार उन्होंने गार्ग्य का नामनिर्देश किया है[4]।

३. पाणिनि के यहाँ एक प्रकरणविशेष में विहित द्वित्व के पहले अंश को ही अभ्यास कहा गया है तथा दोनों को अभ्यस्त[5]। किन्तु निरुक्त में अभ्यास और अभ्यस्त शब्द इससे पूर्व की अवस्था में हैं। निरुक्त में अभ्यास का अर्थ आवृत्ति है : चाहे वह पारिभाषिक द्वित्त्व हो या पुनरुक्ति। विशेष स्थितियों में विहित द्वित्त्व का पहला अंश

---

१. द्र. यास्क'ज् निरुक्त, पृ. ५-६। २. द्र. अ. १।४।१४ तथा निरुक्त १।१।

३. आगे प्रवेशखण्ड के उपसर्ग प्रकरण में सम्बद्ध अध्याय देखें।

४. तुलना करें : गोल्डस्टुकर : पाणिनि, पृ. २४३–२४५।

५. द्र. अ. ६।१।४–५ : पूर्वोऽभ्यासः, उभे अभ्यस्तम्।

अभ्यास यह अर्थ निरुक्त में नहीं है। **अभ्यस्त** शब्द भी इसी प्रकार **गुणित** अर्थ में है, पाणिनि के पारिभाषिक अर्थ में नहीं[1]।

४. गुण-वृद्धि के निषेध के स्थल को पाणिनि ने (अ.१।१।५ में) **कित्, ङित्, गित्** (**क्ङित्**) से परिभाषित किया है। यास्क ने इसके लिए एक महासञ्ज्ञा **निवृत्तिस्थान** (२।१) का प्रयोग किया है।

५. **प्रत्यय** शब्द पाणिनीय तन्त्र में प्रकृति के साथ लगने वाले **तद्धित, कृत्** आदि अंशों के लिए रूढ शब्द की तरह प्रयुक्त हुआ है। पाणिनि ने इसका लक्षण भी नहीं दिया है। इसका अर्थ यह हुआ कि उनके समय में यह शब्द इस अर्थ में रूढ था। किन्तु निरुक्त (१।१५) में **प्रत्यय** शब्द **प्रतीति (ज्ञान)** अर्थ में प्रयुक्त हुआ है तथा पारिभाषिक अर्थ में इसके स्थान पर कई अन्वर्थक **नामकरण, उपबन्ध, अन्तकरण** शब्दों का प्रयोग किया गया है[2]। इससे सिद्ध होता है कि **यास्क उस समय हुए जब भाषाशास्त्रियों में प्रत्यय शब्द इस पारिभाषिक अर्थ में चालू ही नहीं हुआ था।**

६. यास्क ने √कृ से विभिन्न अर्थों में निष्पन्न शब्दों को पारिभाषिक अर्थों में प्रयुक्त किया है। जैसे **कारित** (१।१३ में हेतुमण्ण्यन्त के अर्थ में), **चिकीर्षित** (६।१ में इच्छासनन्त), **चर्करीत** (६।२२ में **यङन्त** के लिए और २।२८ में **यङन्त** और **यङ्लुगन्त**—दोनों के लिए, **पाणिनि** के तन्त्र में केवल यङ्लुगन्त के लिए) तथा **कृत्**। पाणिनि के **कृत्, कृत्य, चर्करीत** शब्द इन शब्दों के ही अवशेष हैं। **कृत्, कृत्य** को छोड़कर शेष शब्द उनके तन्त्र में प्राचीन आचार्यों के समय में प्रचलित सञ्ज्ञाएँ हो कर रह गये थे[3]।

७. यास्क ने **आस्यदघ्नाः** (१।९) के **दघ्न** को √**दघ्** से निष्पन्न माना है, पाणिनि ने **दघ्नच्** (५।२।३७) प्रत्यय माना है। संस्कृत-भाषा का इतिहास देखने से विदित होता है कि बहुत प्राचीन काल में प्रत्यय स्वतन्त्र प्रकृति के रूप में थे। कालान्तर में घिस-पिट कर प्रत्यय के रूप में शेष रह गये थे[4]। यास्क ने भाषा के

१. पारिभाषिक अर्थ के लिए अभ्यास : निरुक्त २।२, ३; ५।१२। आवृत्तिसामान्य अर्थ के लिए : १०।४२। अभ्यस्त शब्द पारिभाषिक द्वित्व अर्थ में : २।१२; ४।२३, २५; ६।३। गुणित अर्थ के लिए : २।१०।

२. द्र. नामकरण : १।१७; २।२,५; ६।२२; ७।२९; १०।१७। उपबन्ध : १।७।८; ६।१६। अन्तकरण : १।१३।

३. द्र. धातुपाठ, अदादिगण, धातुसङ्ख्या १०८१ के बाद चर्करीतं च। एवं महाभाष्य ६।१।६, भाग ४, पृ. ३०८ में चर्करीतम् पर प्रदीप : चर्करीतम् इति यङ्लुगन्तस्य पूर्वाचार्यसञ्ज्ञा। महाभाष्य ७।४।९२ भी देखें।

४. द्र. बटकृष्णघोष, लिङ्ग्विस्टिक् इण्ट्रोडक्शन् टु संस्कृत।

इसी प्राचीन ऐतिहासिक रूप की ओर सङ्केत किया है, जब कि पाणिनि ने इस की ओर तनिक भी ध्यान नहीं दिया।

इस विवरण से यह निष्कर्ष निकलता है कि यास्क पाणिनि से अर्वाचीन होते तो वे पाणिनि जैसे मूर्धन्य वैयाकरण से प्रभावित हुए बिना नहीं रहते, तथा शब्दों की व्युत्पत्ति पाणिनि से भिन्न प्रकार से नहीं करते। अतः यास्क पाणिनि से बहुत **प्राचीन** हैं।

८. यास्क ने (६।३१ में) **इदंयु** शब्द के दो अर्थ बताए हैं: १. यह चाहता हुआ, २. इस वाला। अर्थात् इदंयु में यु प्रत्यय के **कामयमान** तथा **वाला** ये दो अर्थ हैं। दूसरे अर्थ के बारे में कहा है कि यु **वाला** अर्थ में बोला जाता है। किन्तु पाणिनि के समय में इस प्रत्यय का क्षेत्र बिल्कुल सीमित होकर केवल १. **ऊर्णायु** (५।२।१२३), २. कंयु, ३. शंयु (वहीं सूत्र १३८), ४. **अहंयु** और ५. **शुभंयु** (वहीं सूत्र १४०) में केवल **वाला** अर्थ में रह गया था। इससे दो बातें प्रकट होती हैं:

१. यु प्रत्यय **कामयमान** अर्थ (जो यास्क के समय में ही पुराना पड़ चुका था) में पाणिनि के समय तक बिल्कुल प्रचलन से बाहर हो चुका था।

२. यास्क के समय यु **वाला** अर्थ का एक साधारण बोलचाल में आने वाला प्रत्यय था, जिसे किसी भी शब्द से लगाया जाता था। किन्तु पाणिनि के समय में यह कुल जमा पांच शब्दों में रह गया था। इनमें भी लोक में **ऊर्णायु** शब्द का प्रयोग सन्दिग्ध था, अर्थात् इस शब्द को केवल पुराने समय में ही प्रयुक्त (छान्दस) भी माना जाता था[1]। इससे साफ जाहिर है कि पाणिनि यास्क से बहुत पीछे हुए। इतना पीछे कि यह प्रत्यय ही उन दोनों के बीच के समय में भाषा से गायब हो गया था। खोजने पर इस प्रकार के और उदाहरण भी मिल सकते हैं।

९. एक और प्रमाण भी इस विषय में है। पाणिनि **भिक्षु-सूत्र** (वेदान्तसूत्र, ब्रह्मसूत्र) के प्रणेता पाराशर्य (अ. ४।३।११०) से तो परिचित हैं ही, **पाण्डवों** तथा उनके प्रपौत्र जनमेजय (अ.३।२।२८) के नाम से भी परिचित हैं। जब कि यास्क **अन्धक-वृष्णियों** के प्रसिद्ध पुरुष **अक्रूर** से इधर के किसी भी ऐतिहासिक व्यक्ति से परिचित नहीं हैं। **अक्रूर जनमेजय** के परदादाओं के समय में भी वृद्ध माने जाते थे, यह महाभारतादि के अनुशीलन से भली-भाँति विदित होता है।

१०. इसके अलावा यह भी एक प्रमाण इस विषय में है: प्रसिद्ध महापुरुषों पाराशर्य और **वासुदेव** का **कृष्ण** नाम उनका काले रंग के कारण पड़ा था[2]। काला रंग आर्यों में निकृष्ट माना जाता था। आज भी काला-कलूटा शब्द किसी को चिढ़ाने को काफी है। यास्क ने (२।२० में) **कृष्ण** का अर्थ **निकृष्ट वर्ण** किया है। इससे सिद्ध होता है कि यास्क के समय तक **कृष्ण** राजनीतिक महत्त्व नहीं पा पाये थे। अन्यथा वे

---

१. द्र. अ. ५।२।१२३ पर काशिका: **केचिच्छन्दोग्रहणमनुवर्तयन्ति।**

२. द्र. महाभारत, आदिपर्व, (गीताप्रेस संस्करण) १०४।१५।

कृष्णो निकृष्टो वर्णः कहने की हिम्मत नहीं कर पाते।

यास्क का समय निश्चित करने को अब तक हम यास्क के ग्रन्थ से बाहर ही टटोलते रहे हैं। इस दृष्टि से निरुक्त को देखने पर भी हमें कुछ सामग्री प्राप्त हो सकती है। यास्क ने निरुक्त में इस बारे में दो सङ्केत छोड़े हैं :

१. निरुक्त २।१० में कौरव वंश के दो भाइयों देवापि और शन्तनु की एक ऐतिहासिक घटना की चर्चा परोक्षभूत काल की घटना के रूप में की गई है। इस घटना का वर्णन महाभारत में भी मिलता है[१]। अन्तर यही है कि निरुक्त में शन्तनु को अपने भाई को धकेल कर राजगद्दी पर कब्जा करने वाला बतलाया है ; महाभारत में देवापि चर्मरोग होने के कारण गद्दी के अधिकारी नहीं थे, अतः सब लोगों की राय से शन्तनु गद्दी पर आसीन हुए— यह रंग उपर्युक्त घटना को दिया गया है। बृहद्देवता (७।१५५ से ८।६ तक) में भी इस घटना का विवरण महाभारत के विवरण से मेल खाता है। इन दोनों वर्णनों (versions) से एक बात स्पष्ट होती है कि यास्क का वर्णन तटस्थ तथा इस घटना से अनतिदूर काल के व्यक्ति का वर्णन है, जबकि महाभारत का वर्णन विजेता की अनुकूलता अर्थात् पक्षयुक्तता एवं मूल घटना से बहुत बाद का वर्णन है। जो भी हो, हमारा इष्ट पदार्थ तो इतना ही है कि यास्क इस ऐतिहासिक घटना के बाद हुए।

२. निरुक्त (२।२) में यास्क ने अपने समय में प्रचलित एक उक्ति को लोग-बाग ऐसा कहा करते हैं[२] कह कर एक ऐतिहासिक घटना की ओर सङ्केत किया है : अक्रूरो ददते मणिम्। यह एक श्लोक का समपाद है। इसमें कृतवर्मा के षड्यन्त्र से श्रीकृष्ण के यहाँ से चुराई गई (स्यमन्तक) मणि को अपने पास छुपा कर रखने की घटना का सङ्केत है[३]। भेद खुलने पर जब सब लोग मणि अक्रूर के पास है कहने लगे तब अक्रूर देश छोड़कर भाग गये थे[४]। यह श्लोकांश उसी लोक-प्रसिद्धि की ओर सङ्केत करता है।

---

१. द्र. आदिपर्व ९४।६१–६२, ९५।४५,४६; उद्योगपर्व १४९।१५–२८, और शल्यपर्व ३९।३७।

२. निरुक्त में क्रियाओं के वर्तमान आदि के प्रयोग बिल्कुल सार्थक हैं। अपने समय में बोलचाल में प्रवृत्त बातों को √भाष् के वर्तमान काल से ही कम-से-कम आधी दर्जन बार कहा गया है : १. अभिभाषन्ते २।२; २. भाष्यते २।२,३; ६।३०,३१; ३. भाष्यन्ते २।२। इन सब का अर्थ यदि (यास्क के समय में ऐसा) बोलते हैं यह नहीं किया जाये तो वाक्यों की सङ्गति ही नहीं हो पाएगी। प्रकृत स्थल में भाषन्ते से पूर्व लगा अभि लोगों में फैली बात को प्रकट करता है, अर्थात् लोग ऐसा सब तरफ कहते हैं यही अभिभाषन्ते का अर्थ है।

३. द्र. वही, सभापर्व १४।६० दाक्षिणात्य पाठ, मौसल पर्व ३।२३।

४. द्र. श्रीमद्भागवत, दशम-स्कन्ध।

इस विवरण से यह स्पष्ट होता है कि यास्क के समय में यह घटना ताजा-ताजा थी। जैसा कि हम कह चुके हैं यास्क पारस्कर प्रदेश के थे, अतः वे इस घटना के स्थल द्वारकापुरी से बहुत दूर नहीं थे। ऐसी स्थिति में उनका एक ऐसी घटना से परिचित होना बहुत ही स्वाभाविक है, जिसका न केवल राजनीतिक महत्त्व था, अपितु जिससे कुछ बड़ी हत्याएँ तथा अक्रूर जैसे सम्भ्रान्त व्यक्ति का देश छोड़कर भूमिगत हो जाना भी सम्बद्ध था। ऐसी घटना का लोगों में फैल जाना भी अस्वाभाविक नहीं है। अतः हमारे विचार में यास्क महाभारत युद्ध के पूर्व या आसपास में विद्यमान होने चाहिएँ।

इस विषय में हम एक प्रमाण की चर्चा और करना चाहेंगे। निरुक्त के कुछ स्थलों को देखने से लगता है कि मूलतः सारा निरुक्त उसी प्रकार सस्वर था जिस प्रकार ऐतरेय-शतपथ आदि ब्राह्मण सस्वर हैं। जैसे :—

१. निरुक्त (३।४) में ऋक्श्लोकों के नाम से दो श्लोक सस्वर उद्धृत हैं। इनमें से एक—अङ्गादङ्गात्सम्भवसि आदि (पूर्वार्धमात्र) तो शतपथब्राह्मण (१४।९।४।८) में उपलब्ध है, अतः उसका सस्वर पाठ अपेक्षित ही है। अविशेषेण पुत्राणाम्—आदि श्लोक किसी प्राचीन धर्मशास्त्र से उद्धृत हो सकता है। उसके स्वरपाठ से सिद्ध होता है कि उस समय स्वर बोलचाल का अभिन्न अङ्ग थे।

२. निरुक्त (१३।१९) में वदिति सिद्धोपमा—ब्राह्मणवद्वृषलवत्[1] ब्राह्मणा

---

१. इस उदाहरण का हस्तलेखों में मिला स्वरपाठ ठीक नहीं है। डा० लक्ष्मणसरूप ने (पृ.२८५, पं. २३ में) ब्राह्मणवद्वृषलवत् संशोधन सुझाया है। हम इस के पूर्वार्ध से सहमत नहीं हैं। यास्क के व्याख्यान से विदित होता है कि ब्राह्मण शब्द वर्णविशेषपरक है। इस अर्थ में यह शब्द ब्राह्मण (अन्तोदात्त) होता है। अतः सही स्वर ब्राह्मणवत् होना चाहिए। सम्भवतः लिपिकरों के प्रमाद से ब्रा का अनुदात्तचिह्न हट गया है।

वृषल शब्द आद्युदात्त भी है और अन्तोदात्त भी। श्री युधिष्ठिर मीमांसक ने (वैदिकस्वरमीमांसा, पृ. १०९ में) वृषल को श्रेष्ठार्थक तथा वृषल को नीच (शूद्र ?) अर्थ में बताया है। आचार्य शङ्कर ने नैनां स्नातामस्नातां च वृषलो वा नोपहन्यात् नोपस्पृशेत् (बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्य, ६।४।१३) में सम्भवतः लौकिक (शूद्र) अर्थ में ही वृषलः वृषली का प्रयोग किया है। ऋतुमती स्त्री को अस्पृश्य माना जाता है, अतः सामान्यतः उसकी सेवा शूद्र दास-दासियाँ ही किया करती थीं। किन्तु श्रोत्रिय के श्रेष्ठ सन्तति प्राप्त करने के प्रसङ्ग में उनके द्वारा ऋतुमती श्रोत्रियभार्या की सेवा किए जाने का विरोध शतपथ (बृहदारण्यकोपनिषत्) में विहित है। अतः हमारे विचार से वृषल हो, चाहे वृषल, इसका अर्थ शूद्र ही होता है। अस्तु, प्रकृत में वृषलवत् (डा. साहब द्वारा संशोधित स्वरपाठ) ठीक है।

इव वृषला इवेति। में स्वरपाठ लघुपाठ और दुर्ग की व्याख्या की पाण्डुलिपियों में उपलब्ध है, वृहत्पाठ की पाण्डुलिपियों में नहीं[1]।

डा० लक्ष्मणसरूप ने इस सस्वर वाक्यांश को सम्भवतः सस्वर होने से ही उद्धरण समझा है[2]। हमारे मत में यह यास्क का अपना उदाहरण है। यदि यह उद्धरण होता तो वे इसके पदों का निर्वचन करते। परन्तु लघुपाठ तथा दुर्ग के पाठ के साक्ष्य पर यह असन्दिग्ध है कि वृहत्पाठ में प्राप्त **वृषल** शब्द के दो निर्वचन प्रक्षेप हैं। इससे सिद्ध होता है कि प्राचीन काल में **निरुक्त** का पाठ सस्वर था।

३. (१४।६) में लौकिक संस्कृत में निबद्ध **मृतश्चाहं पुनर्जातो**—आदि तीन श्लोक उद्धृत हैं, जो सस्वर हैं। इनमें से प्रथम श्लोक के पूर्वार्ध का भावानुवाद तथा दूसरे श्लोक का पूर्वार्ध अविकल रूप में **गर्भोपनिषत्** (खण्ड ४) में उद्धृत हैं। किन्तु वहाँ स्वरपाठ नहीं है।

इसके आधार पर हमारा विचार है कि निरुक्त कभी समूचा ही सस्वर रहा होगा। कालक्रम से कुछ स्थलों को छोड़ कर शेष ग्रन्थ का स्वरपाठ लौकिक संस्कृत के काल में स्वरों की उपेक्षा के कारण नष्ट हो गया। पाणिनि के समय तक संस्कृत भाषा में स्वर बोलचाल की भाषा का अभिन्न अङ्ग थे ही[3]। ऐसी स्थिति में **पाणिनि** से पर्याप्त पहले की बोलचाल की भाषा में लिखे गए ग्रन्थ का सस्वर न होना ही आश्चर्यजनक होता, सस्वर होना नहीं। इस तर्क के आधार पर हम यह कहना चाहते हैं कि **यास्क का ग्रन्थ इस दृष्टि से भी बहुत पुराने समय का प्रतिनिधित्व करता है।**

इस पर एक प्रश्न उठाया जा सकता है कि तब **ऐतरेय, शतपथ** आदि की तरह **निरुक्त** का पाठ भी निस्सन्दिग्ध रूप में सस्वर क्यों नहीं मिलता?

इस पर हमारा उत्तर यह है कि **शतपथ** आदि के चरित्र से निरुक्त का चरित्र बहुत भिन्न प्रकार का है। उसका अध्ययन-अध्यापन सामान्य विद्यार्थियों के लिए वेदार्थ के लिए ही होता था। अतः अर्थप्रधान होने के कारण कालान्तर में स्वर निर्देश की उपेक्षा होने पर इसके पाठ से भी स्वरचिह्न उसी प्रकार हटा दिये गए,

१. द्र. पृ. ६९. टि. २।

२. द्र. पृष्ठ ६९, टि. १।

३. **यही कारण है कि पाणिनि ने समग्र भाषा के स्वर के सूक्ष्म विवेचन की दृष्टि से न केवल प्रत्ययों तथा आगमों में चित्, ञित्, नित्, तित् आदि अनुबन्धों की जटिल प्रक्रिया अपनायी है, अपितु स्वरों के परिज्ञान के लिए ही लगभग ... सूत्र पृथक् से लिखे हैं। द्र. पु. मी., सं. व्या. इति, भा १, पृ. १४२।**

जिस प्रकार इसके बाद की अष्टाध्यायी पर से स्वर हटा दिये गए हैं[1]।

शतपथ ब्राह्मण में यास्क नाम के कतिपय बार के उल्लेख भी हमारे विचार में इन्हीं निरुक्तकार यास्क से सम्बद्ध हैं :

१. यास्क देवविद्या के बहुत प्रौढ एवं प्रतिष्ठित आचार्य हैं यह हमें निरुक्त तथा शौनक और कात्यायन के ग्रन्थों के अनुशीलन से बिल्कुल स्पष्ट विदित होता है। देवविद्या उस समय के निरुक्तशास्त्र का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अङ्ग थी, इसका पता हमें निरुक्त के आधे से भी अधिक भाग में देवविद्या के विस्तृत वर्णन किए जाने से मिलता है। शङ्कराचार्य जी ने तो देवविद्या का अर्थ ही निरुक्त किया है, यह हम पहले कह आये हैं। ब्राह्मणों का भी विषय देवविद्या अर्थात् देवताविज्ञान ही है। ऐसी स्थिति में हमारे इन यास्क को देवविद्या के आचार्यों में महत्त्वपूर्ण स्थान मिलना बिल्कुल उचित है। अतः शतपथ में महाभारतकाल से पूर्व के आचार्यों में यास्क का नामकीर्तन हमारे निष्कर्ष की पूरी तरह पुष्टि करता है।

शतपथ ब्राह्मण में यास्क का एक उल्लेख मधुविद्या के उपदेश के बाद वंश-ब्राह्मण में मिलता है। उसकी चर्चा हम यहाँ न करके यास्क का दर्शन अध्याय में मधुविद्या के आत्मतत्त्व की यास्क को सम्मत आत्मतत्त्व से तुलना करते हुए करेंगे। अतः प्रकृत के लिए उपयोगी मीमांसा भी वहीं देखें।

शतपथ (माध्यन्दिन) के उल्लेखों के अध्ययन से हमें निम्नलिखित जानकारी मिलती है :

दो स्थलों पर इन्हें पाराशर्य के गुरु जातूकर्ण्य आचार्य के गुरु भारद्वाज का गुरु बतलाया गया है[2]। अर्थात् ये पाराशर्य के परदादा गुरु हैं। इनके समकालीन आचार्य हैं आसुरायण, जो एक परम्परा के अनुसार आसुरि आचार्य के सीधे शिष्य हैं[3]

---

१. इस पर विवेचन के लिए देखें यु. मी. के ऊपर उद्धृत ग्रन्थ में पृ. १५६। वहाँ पा. टि. २, ४ में सन्दर्भ ठीक कर लें : महाभाष्य १।१।१. पृ. १७२ (पञ्चम संस्क.)। पा. टि. २ प्रदीप से तथा पा. टि. ४ उद्योत से सम्बद्ध है। गुरुकुल झज्झर के संस्करण में भाग १, पृ. १३८।

२. द्र. १४।५।५।२१ तथा १४।७।३।२७ : पाराशर्यो जातूकर्ण्यात्, जातूकर्ण्यो भारद्वाजात्, भारद्वाजो भारद्वाजाच्च, आसुरायणाच्च यास्काच्च। बृहदारण्यकोपनिषद् (काण्व, वाज०) २।६।३ तथा ४।६।३।

३. द्र. १४।९।४।३३ : प्राश्नीपुत्रादासुरिवासिनः, प्राश्नीपुत्र आसुरायणात्, आसुरायण आसुरेः। द्र. बृहदारण्यकोपनिषत् ६।५।२।

तथा दूसरी परम्परा के अनुसार आसुरि के प्रशिष्य के शिष्य हैं[1]। यास्क की गुरुपरम्परा का निर्देश शतपथ में नहीं है। अतः शतपथब्राह्मण के अनुसार यास्क पाराशर्य के परदादागुरु हैं और आसुरि-शिष्य (या सम्भवतः पुत्र) आसुरायण आचार्य के समसामयिक हैं।

शतपथ और बृहदारण्यक दोनों के ही आधार पर कहा जा सकता है कि यास्क आसुरि के बाद तथा पाराशर्य से पहले—अर्थात् आसुरि और पाराशर्य के बीच में हुए। आसुरि के समय यास्क ब्रह्मचारी थे, अर्थात् उस समय उनकी अवस्था २५ से नीची ही रही होगी।

जातूकर्ण्य ने पहले भारद्वाज से पढ़ा, फिर उनके गुरु आसुरायण और यास्क से। अतः जातूकर्ण्य को पढ़ाते समय तक यास्क पुरानी पीढ़ी के लोगों में गिने जाते रहे होंगे। उनके शिष्य भारद्वाज आदि ही उस समय तक आचार्य के रूप में प्रतिष्ठित हो चुके थे। अतः जातूकर्ण्य को अध्यापन के समय यास्क अवश्य ही वृद्ध हो चुके होंगे।

जब जातूकर्ण्य आचार्य के रूप में प्रतिष्ठित हो कर पाराशर्य को पढ़ा रहे होंगे, तब यास्क या तो बहुत वृद्ध हो चुके होंगे, या पाराशर्य के समय यास्क नहीं रहे होंगे।

संस्कृतसाहित्य में पाराशर्य के नाम से कृष्ण द्वैपायन व्यास तथा एक अन्य मुनि परिचित हैं जिन्हें महाभारत (सभापर्व ४।१३) में युधिष्ठिर का समकालीन बतलाया गया है। हमारे विचार में ये दूसरे मुनि ही ऊपर के उल्लेखों में आए पाराशर्य हैं, कृष्ण द्वैपायन व्यास नहीं। कृष्ण द्वैपायन व्यास तो शन्तनु के समय में जन्मे व्यक्ति हैं। वे यास्क के परशिष्य नहीं हो सकते। जब कि इन मुनि से सम्बन्ध की सङ्गति बिल्कुल ठीक बैठ जाती है। अतः यास्क की चौथी पीढ़ी की शिष्यपरम्परा के ये पाराशर्य जब युधिष्ठिर के समय मुनि के रूप में प्रतिष्ठा पा चुके थे, तब यास्क या

---

१. द्र. शतपथब्रा० १४।५।५।२१ : आसुरायणस्त्रैवणेः, त्रैवणिरौपजन्धनेः, औपजन्धनिरासुरेः। देखें ऊपर टि० १ में उद्धृत बृहदारण्यकोपनिषद् भी।

इन दो परम्पराओं को परस्पर विरोधी नहीं समझना चाहिए। प्राचीन काल की शिक्षाव्यवस्था में एक ही आचार्य से विद्या लेने की प्रथा नहीं थी। लोग एक आचार्य से जब पढ़ चुकते थे तब उन आचार्य के गुरु यदि जीवित होते तो उनके पास पढ़ने चले जाते थे। इस प्रकार कई बार तो प्र-प्रशिष्य अपने गुरु के समान-गुरु (एक ही गुरु से पढ़ने वाले) भी हो जाते थे। पर इससे वे सतीर्थ्य नहीं हो जाते थे। अतः आसुरायण आसुरि के भी शिष्य हैं तथा आसुरि के प्रशिष्य के भी शिष्य हैं।

तो अतिशय वृद्ध हो चुके होंगे, या नहीं ही रहे होंगे। ऐसी स्थिति में यास्क का समय युधिष्ठिर से भी प्राचीन सिद्ध होता है। अर्थात् युधिष्ठिर की पीढ़ी के समय यास्क वृद्ध हो चुके थे। यह यास्क की अवर सीमा है।

संस्कृत-साहित्य में आसुरि के नाम से साङ्ख्यदर्शन के एक बहुत प्रसिद्ध आचार्य परिचित हैं[1]। यास्क इनके शिष्य आसुरायण के समकालिक हैं, यह हम पहले कह चुके हैं। यास्क ने निरुक्त में साङ्ख्यदर्शन के प्राचीन रूप को उपस्थित किया है, इस पर चर्चा हम परिवेश-खण्ड के यास्क का दर्शन अध्याय में करेंगे। अतः आसुरि आचार्य यास्क की पर सीमा है।

इन सब बातों को देखते हुए हमारा निष्कर्ष यही है कि यास्क पाणिनि से बहुत प्राचीन और शतपथ से भी कुछ शताब्दी पहले महाभारतयुद्ध से पूर्व के व्यक्ति हैं। आज के मनीषी भाषाविज्ञान की लचीली बैसाखी के सहारे उचक कर उस प्राचीन काल में झाँक कर उन्हें ७०० या ८०० ई. पू. का जो मानते हैं उसमें हमारे इतिहास को एक बहुत सीमित दायरे में देखने की प्रवृत्ति ही प्रधान रूप से उत्तरदायी लगती है। वास्तव में तो हमें अपने देश के इतिहास का अपने वाङ्मय के प्रकाश में सावधानी से पुनः समीक्षण करके समयनिर्धारण फिर से करना चाहिए। देश के गौरव के लिए भी यह अत्यन्त आवश्यक है। कलुषिताशय स्वामिचरों के रटाये पाठ को ये तोते कब तक रटते रहेंगे ?

---

१. महाभारत, शान्तिपर्व, २१८।१०-१४।

अध्याय ६

निरुक्त की उपयोगिता

यास्काचार्य विरचित निरुक्त की भाषाशास्त्र के अध्ययन में जो महत्त्वपूर्ण उपयोगिता है, वह सर्वविदित है। वेद के स्वाध्याय में भी इससे जो अद्भुत दृष्टि मिलती है, वह भी वेदाध्यायी लोगों को अविदित नहीं है। बुद्धि को तीक्ष्ण करने के लिए दर्शनशास्त्रों में जो स्थान न्यायदर्शन का है, वही स्थान भाषाशास्त्र में निरुक्त का है। वस्तुतः निरुक्त की उपयोगिता इतनी स्पष्ट तथा सर्वजनसवेद्य है कि उसका वर्णन सूर्य को दीपक से दिखलाने जैसा कार्य है। तब भी यास्काचार्य को यह ग्रन्थ लिखते समय यह भान तो था नहीं कि इस ग्रन्थ के लिखे जाने के सहस्रों वर्ष बाद उनके इस ग्रन्थ का इतना अधिक महत्त्व होगा! पुनर्मूल्याङ्कन किये जाते समय उनके इस ग्रन्थ को अन्य निरुक्त ग्रन्थों के रहते इतना अधिक सम्मान मिलेगा! जिस तरह आज निरुक्त एक अलग शास्त्र एवं प्रस्थान बन चुका है, उसी प्रकार यह यास्क से पूर्व भी एक शास्त्र और प्रस्थान बन चुका था—इसका परिचय हमें स्थान-स्थान पर समूचे निरुक्त में २२ बार प्रयुक्त इति नैरुक्ताः इत्यादि वाक्यों से भली-भाँति मिलता है। वेदाध्ययन के प्रारम्भिक काल से ही निरुक्त-शास्त्र या निरुक्त-प्रस्थान वेद के ६ अङ्गों में से एक अङ्ग, और १४ विद्याओं में से एक विद्या के एक प्रस्थान के रूप में प्रसिद्धि प्राप्त कर चुका था[1]। औदुम्बरायण, औपमन्यव, और्णवाभ, कात्थक्य, कौत्स, क्रौष्टुकि, वार्ष्यायणि, शाकटायन, शाकपूणि, शाकल्य, स्थौलाष्ठीवि आदि आचार्यों को निरुक्ताचार्यों के रूप में यास्क से पूर्व ही इतनी अधिक प्रसिद्धि हो चुकी थी कि उन्हें उन आचार्यों के नाम का उल्लेख अपने निरुक्त ग्रन्थ में कहीं पूर्वपक्षी के रूप में, तो कहीं उत्तरपक्षी के रूप में अपने सिद्धान्त की पुष्टि के लिए करना पड़ा। इन यशस्वी आचार्यों के परिश्रम के आगे मेरे परिश्रम को कितना महत्त्व मिल पायेगा?—सम्भवतः इस मानसिक द्वन्द्व के कारण ही उन्होंने छह स्थानों पर अपने

---

१. पुराण-न्याय-मीमांसा-धर्मशास्त्राङ्गमिश्रिताः।
वेदाः स्थानानि विद्यानां धर्मस्य च चतुर्दश॥ याज्ञवल्क्यस्मृति॥

ग्रन्थ की उपयोगिता बतायी है। उनके इस निरुक्तोपयोगिता-कथन में उनके निरुक्त ग्रन्थ की ही नहीं, अपितु निरुक्तशास्त्र की उपयोगिता भी समाहित है। यास्काचार्य के प्रकृत निरुक्त से पूर्व के निरुक्त-ग्रन्थों की रूपरेखा तथा विषयवस्तु क्या थी, यह यह आज हमें बिल्कुल नहीं जैसा ही मालूम है। स्थान-स्थान पर यास्क द्वारा निर्दिष्ट नैरुक्त आचार्यों की चिन्तन शैली का आंशिक रूप तो हमें उन आचार्यों के मतों के उल्लेख से मिल जाता है, किन्तु क्या उनमें से प्रत्येक या किसी एक आचार्य के भी चिन्तन के विषय वही थे जो प्रकृत निरुक्त के हैं—इस विषय पर काल ने जो काली चादर डाल दी है, उसे हटा पाना सम्भवतः वर्तमान और भविष्य के मनुष्य के बस का कार्य नहीं है। अब तो एक मात्र यास्क ही हमारे लिए सर्वाङ्गीण विचार करने वाले नैरुक्त आचार्य हैं, और उनका निरुक्त-ग्रन्थ ही एक-मात्र सर्वाङ्गीण निरुक्त शास्त्र है। यों, बृहस्पति और इन्द्र से चल कर जैसे व्याकरणाम्बुधि पाणिनि तक आते-आते व्याकरण-गोष्पदमात्र रह गया है, उसी प्रकार कोई निरुक्ताम्बुधि भी निरुक्त-गोष्पदमात्र के रूप में ही प्रकृत निरुक्तग्रन्थ में समाहित हो, यह पूरी सम्भावना है।

अस्तु, यास्क ने अपने निरुक्त की जो उपयोगिता उस समय सोची थी, वही उपयोगिता आज के इस वैज्ञानिक युग में भी निरुक्त पर लागू है, अथवा उसमें कुछ परिवर्द्धन या ह्रास भी हुआ है—यही हमारे इस अध्याय का विवेच्य विषय है।

(१) यास्क के अनुसार अत्यन्त आदिमकाल में ऋषियों को धर्म के तत्त्व हस्तामलकवत् साक्षात् थे। उन्हें धर्म के विषय में किसी प्रकार का भ्रम या व्यामोह नहीं था। उनसे बाद के लोगों को वे तत्त्व साक्षात् तो नहीं थे, किन्तु वे लोग अपने पूर्वजों के उपदेशों के सहारे काम चला लेते थे। उनके बाद के लोगों को उपदेश से धर्म को ग्रहण करना बोझिल लगने लगा तो उन्होंने उन मौखिक उपदेशों को लिखना प्रारम्भ किया—पहले वेद लिखे, फिर वेदाङ्ग लिखे। इसी क्रम से उन्होंने वेदों के कुछ कठिन शब्दों को प्रकरणवार अथवा यों ही शब्दकोषों के रूप में लिखा, जिन्हें उन्होंने समाम्नाय या निघण्टु नाम दिया तथा उनकी व्याख्या निरुक्त के नाम से की। इस प्रकार निरुक्त-शास्त्र प्रतिष्ठित हुआ। यास्क ने भी पिछले निघण्टुओं में बहुत से दोष देख कर अपना एक निघण्टु पूर्वाचार्यों की परम्परा में ही लिखा। उसकी व्याख्या करना प्रकृत निरुक्त की प्रथम उपयोगिता है (निरुक्त १।२० तथा १।१)।

यास्क ने निघण्टुओं के समाम्नान में हेतु दिया है कि उनका समाम्नान बिल्मग्रहण के लिए अर्थात् कठिन स्थलों को तोड़ने, उनका खुलासा करने के लिए उन पर प्रकाश डालने के लिए किया है[1]। यही दृष्टि यास्क ने निघण्टु की व्याख्या

---

१. द्र. १।२० पर दुर्ग : भिल्मं वेदानां भेदनं। भेदो व्यास इत्यर्थः। .... अथवा भासनमेव बिल्म-शब्देनोच्यते। वेदाङ्ग-विज्ञानेन भासते प्रकाशते वेदार्थं इति। अत इदमुक्तं बिल्ममिति।

करने में भी रखी है। जहाँ उन्हें शब्दविशेष पर अपने सिद्धान्त की दृष्टि से कोई विशेष बात कहनी है, तो प्रसङ्गान्तर करके भी उसे कहा है। निघण्टु में अपठित ६३९ शब्दों का तथा निघण्टु में पठित लगभग १७७० शब्दों में से केवल ६५९ का निर्वचन यास्क ने यहाँ किया है। हाँ, निघण्टु के जो अंश अधिक महत्त्व-पूर्ण तथा कठिन हैं, उनकी व्याख्या उन्होंने प्रत्येक शब्द को लेकर की है। इस प्रकार के प्रकरणों में निघण्टु के चौथे तथा पाँचवें अध्याय हैं। निघण्टु के प्रथम तीन अध्यायों में पठित १३४१ शब्दों में से उन्होंने केवल २३० शब्दों की ही व्याख्या की है। इनमें प्रत्येक शब्द की व्याख्या करना अपेक्षित भी नहीं है। यों बहुत से शब्द ऐसे अवश्य मिल जायेंगे, जिन पर यास्क यदि कुछ कह देते तो और अच्छा होता। परन्तु इससे यास्क के निघण्टु की व्याख्या करने अर्थात् निरुक्त का प्रणयन करने के प्रयोजन में कोई कमी नहीं आयी है।

(२) शब्दों का प्रयोग मनुष्य थोड़े से ही श्रम से अर्थज्ञान कराने के लिए करता है। वेदों में भी शब्दों का प्रयोग कोई बात कहने के लिए ही किया गया है (निरुक्त १।२)। पदविशेष का क्या अर्थ है यह आम तौर पर तो हमें निघण्टु में पठित शब्दों के प्रकरणविशेष आदि के आधार पर भी मालूम हो सकता है, किन्तु दुरूह तथा अव्याख्यात शब्दों का अर्थ स्पष्ट करने के लिए निरुक्त आवश्यक है ही। इसके अतिरिक्त कई बार मन्त्रों का वाक्यार्थ इस प्रकार के पदार्थज्ञान से स्पष्ट नहीं हो पाता। अतः वैदिक मन्त्रों में पदार्थ और वाक्यार्थ ज्ञान प्राप्त करने के लिए निरुक्त ग्रन्थ बहुत उपयोगी है[1]।

निरुक्त में लगभग ४४० मन्त्रों की खण्डशः या समग्र रूप में व्याख्या की गई है। इससे न केवल उन मन्त्रों का अर्थ ही स्पष्ट हुआ है, अपितु वेद के अन्य मन्त्रों को समझने में भी अद्भुत सहायता मिलती है। वेदों के सभी भाष्यकार—स्कन्द-स्वामी से लेकर नई व्याख्यापद्धति के आविष्कारक जर्मन विद्वान् रोथ तथा उनके अनुयायी तक—न केवल निरुक्त से प्रभावित हैं, अपितु अपनी व्याख्याओं में निरुक्त के सिद्धान्तों को लेकर ही चलते हैं। इन निरुक्ताश्रयी वेदभाष्यकारों में स्वामी दयानन्द ने तो सीमातीत रूप से निरुक्त-शास्त्र का आश्रय लिया है। रोथ भी निरुक्त के ही रूपविशेष तुलनात्मक भाषाविज्ञान का आश्रय लेकर ही वेदार्थ करना समुचित मानते हैं। रोथ के इस प्रयत्न को निरुक्त के प्रयास को ही नये युग के नये परिवेश तथा साधनों की सज्जा से युक्त के रूप में देखा जा सकता है। अतः यास्क अपने इस दूसरे उद्देश्य में भी पूर्णतया सफल हुए हैं। यह निस्सङ्कोच कहा जा सकता है।

---

१. द्र. १।१५, अथापीदमन्तरेण मन्त्रेष्वर्थप्रत्ययो न विद्यते।

(३) अर्थ ज्ञान के लिए हमारे पास दो शास्त्र साधन स्वरूप हैं : एक तो व्याकरण, दूसरा निरुक्त। व्याकरण में शब्द की रचना पर अर्थात् प्रकृति, प्रत्यय तथा इन दोनों के मिश्रण से होने वाले संस्कार यानी शब्द-सिद्धि पर, अधिक ध्यान दिया जाता है। अर्थ का जहां तक सम्बन्ध है, वह (व्याकरण) भी निरुक्त पर ही निर्भर करता है। वस्तुत: निरुक्त का क्षेत्र ही अर्थनिर्वचन है[1]। शब्द का अर्थज्ञान होने पर ही वह शब्द अमुक अर्थ मे किस प्रकार बना, यह व्याकरण का कार्य प्रारम्भ होता है। जैसे निस्त्रिंश शब्द का रूढ अर्थ तलवार है। निर्गतं त्रिंशतोऽङ्गुलिभ्यः यह इसका निर्वचन है, एवं निस्+त्रिंशत् से अमुक-अमुक संस्कार होकर निस्त्रिंश शब्द बना, यह बतलाना व्याकरण का कार्य है। इसी प्रकार कौपीन शब्द का रूढ़ अर्थ है लँगोटी। अब, जब तक इसका निर्वचन से अर्थ ज्ञात नहीं हो जाये, तब तक कोई भी व्यक्ति श्रद्धा नहीं कर सकेगा कि यह शब्द कूप शब्द से निष्पन्न[2] है तो क्यों? इसी प्रकार वैयाकरण तो तिलतैल, सर्षपतैल और गोगोष्ठ (गायों का बाड़ा) आदि में तैल और गोष्ठ शब्द प्रत्यय हैं—कह कर छुट्टी पा लेते हैं[3]। पर क्या वस्तुत: तैल और गोष्ठ प्रत्यय हैं? इस प्रश्न का निर्णय करने का कार्य निरुक्तशास्त्र का है। कात्यायन ने (अ. ४।२।२९ पर वार्तिकों में) विस्तार अर्थ में पट, जोड़ा अर्थ में गोयुग, छक्का अर्थ में षड्गव, खूब उपजाने वाला खेत अर्थ में उपज से लगने वाले शाकट और शाकिन आदि प्रत्यय बताए हैं। पाणिनि ने भी विशाल और विशङ्कट शब्दों में शाल, शङ्कट, सङ्कट, प्रकट, उत्कट में कट, अवटीट, अवनाट, अवभ्रट में नाक अर्थ में क्रमश: टीट, नाट तथा भ्रट प्रत्यय (अ. ४।२।२८-३१ में) बतलाए हैं। वस्तुत: ये सब स्वतन्त्र शब्दों के लाक्षणिक प्रयोग हैं। पर यह ज्ञान केवल निरुक्त से ही हो सकता है। अत: निस्सङ्कोच कहा जा सकता है कि अर्थ को जाने बिना, अर्थात् निरुक्त को जाने बिना, शब्द की रचना, उसके अक्षरों में संस्कार आदि का कार्य बिल्कुल नहीं जाना जा सकता[4]।

---

१. द्र. दुर्गवृत्ति का उपोद्घात : न च निरुक्तादृतेऽन्यवङ्गम्, अन्यद्वा वाङ्मयं शास्त्रमस्ति तात्पर्येण यदशेषान् शब्दाग्निर्ब्रूयात्। यदपि च क्वचित्-क्वचिदन्यशास्त्रे शब्दनिर्वचनम्, अतः (निरुक्तशास्त्राद्) एव तद् इत्युपलक्ष्यम्। यथा शब्द-लक्षण-परिज्ञानं सर्वशास्त्रेषु व्याकरणाद्, एवं शब्दार्थ-निर्वचन-परिज्ञानं निरुक्तात्,। वस्तुमात्रमेव हि इतरेषु शास्त्रेषु स्वाभिमत-बुद्धि-विषयमेव किञ्चिच्चिन्त्यते।

२. द्र. अष्टाध्यायी ५।२।२० शालीनकौपीने अधृष्टाकार्ययोः पर काशिका।

३. द्र. सिद्धान्तकौमुदी, सम्प्रोदश्च कटच् ४।२।२९ सूत्र पर वार्तिक : गोष्ठ-जादयः स्थानादिषु पशु-नामभ्यः और स्नेहे तैलच् तथा अन्य वार्तिक।

४. द्र. निरुक्त १।१५ अर्थमप्रतियतो नात्यन्तं स्वरसंस्कारोद्देशः।

इस सारे विवेचन का निष्कर्ष यह है कि निरुक्तशास्त्र के बिना तो व्याकरण ही अधूरा है। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि यह व्याकरण का पूरक अङ्ग मात्र है। व्याकरण ही इसके बिना अधूरा है, इसे व्याकरणशास्त्र की अपेक्षा नहीं है[1]। व्याकरण तो अर्थ निर्वचन के बिना अपना कार्य नहीं कर सकता किन्तु निरुक्त को निर्वचन के लिए व्याकरण के नियमों से बँधने की आवश्यकता नहीं है। वह निस्सङ्कोच स्वर-संस्कार की उपेक्षा कर सकता है—यह यास्क के निम्नलिखित वचनों से भली-भाँति स्पष्ट हो जाता है :

तद् येषु पदेषु स्वरसंस्कारौ समर्थौ प्रादेशिकेन गुणेनान्वितौ स्याताम्, तथा तानि निर्ब्रूयात्। अथानन्वितेऽर्थेऽप्रादेशिके विकारेऽर्थनित्यः परीक्षेत केनचिद् वृत्तिसामान्येन अविद्यमाने सामान्येऽप्यक्षरवर्णसामान्यान्निर्ब्रूयात्। न त्वेव न निर्ब्रूयात् न संस्कारमाद्रियेत। विशयवत्यो हि वृत्तयो भवन्ति। यथाऽर्थं विभक्तीः सन्नमयेत् (२।१)।

रचना की दृष्टि से व्याकरण केवल व्युत्पन्न शब्दों की ही रचना जैसे-तैसे निपातन, व्यत्यय, आदेश आदि बैसाखियों का सहारा लेकर कर पाता है। बहुत से शब्दों को यथोपदिष्ट ही ठीक हैं कह कर चुप कर जाता है—**पृषोदरादीनि यथोपदिष्टम्**। अव्युत्पन्न शब्द तो उसके अधिकार क्षेत्र से ही बाहर हैं। इनके अनुशासन में असमर्थ होने से पाणिनि ने **उणादयो बहुलम्** कह कर छुट्टी पा ली है। व्युत्पन्न शब्दों में भी वैदिक भाषा की कितनी ही विशेषताएँ व्याकरण द्वारा अव्याख्यात ही हैं। जब कि निरुक्तशास्त्र व्युत्पन्न एवम् अव्युत्पन्न दोनों प्रकार के शब्दों का ही निर्वचन करता है। बहुत से शब्दों के एकाधिक निर्वचन जो किए जाते हैं, वे तो लोकमानस की विभिन्नताओं के कारण शब्द विभिन्न प्रकार के अर्थों में विकसित होते हैं, अतः लोकमानस की विभिन्नताओं के अध्ययन का प्रयास हैं। इसके अलावा, शब्द के निर्वचन का कार्य तो सत्य को ढूंढने जैसा है। सत्यान्वेषण के जैसे अनेक मार्ग हैं, वैसे ह अर्थनिर्वचन के भी यदि अनेक मार्गों का आश्रय लिया जाता है, तो शास्त्र के लिए दूषण नहीं, भूषण ही है।

(४) यों सामान्यतः कहा जाता है कि सुप् तथा तिङ् प्रत्ययों से जो शब्द युक्त अर्थात् सुबन्त हो, वही पद कहलाता है—**सुप्तिङन्तं पदम्** (अ.१।४।१४)। **सुप्** और **तिङ्**—यह प्रत्ययविभाग व्याकरण का विषय है, अतः पदविभाग का ज्ञान व्याकरण से होता है। किन्तु वस्तुतः पद-विभाग का ज्ञान निरुक्त के बिना नहीं हो सकता (१।१७)। सुबन्त शब्द पद है, तिङन्त शब्द पद है, यह पद-विभाग पारिभाषिक है; केवल व्याकरण तक ही सीमित है। वस्तुतः पद का निर्णय तो अर्थ के

---

१. द्र. नि. १।१५ : **तदिदं विद्यास्थानं व्याकरणस्य कार्त्स्न्यं स्वार्थसाधकं च।**

आधार पर होता है। अर्थज्ञान तथा पद-विभागज्ञान में चूंकि बहुत गहरा सम्बन्ध है, अतः अर्थज्ञान जब निरुक्त के बिना नहीं हो सकता तो पदविभाग ज्ञान भी निरुक्त के बिना नहीं हो सकता। जैसे—

मयोभूर्वातो अभिवातूस्रा ऊर्जस्वतीरोषधीरा रिशन्ताम्।
पीवस्वतीर्जीवधन्याः पिबन्त्ववसाय पद्वते रुद्र मृळ॥ (ऋ. सं. १०।१६९।१)
योनिष्ट इन्द्र निषदे अकारितमा निषीद स्वानो नार्वा।
विमुच्या वयोऽवसायाश्वान्दोषा वस्तोर्वहीयसः प्रपित्वे॥ (ऋ. सं. १।१०४।१)

इन दोनों मन्त्रों में अवसाय पद का प्रयोग है। व्याकरण से आप केवल इतना भर जान सकते हैं कि यदि यह तिङन्त पद है, तो अव+√सो+कर्तरि लोट् (मध्यम पुरुष, ए. व.) का रूप है। यदि सुबन्त है, तो अवस का चतुर्थी एक वचनान्त रूप है। यहाँ कौन से मन्त्र में नामपद अभिप्रेत है, तथा कौन से मन्त्र में आख्यातपद —यह निश्चय करना निरुक्त का कार्य है, क्यों कि मन्त्र का अर्थ निरुक्त के द्वारा ही जाना जाता है। अवसाय जिस मन्त्र में नामपद के रूप में इष्ट है, उस मन्त्र के पद-पाठ में इस पद में अवग्रह नहीं दिया जाता; जहाँ आख्यातपद इष्ट है, वहाँ पदपाठ में अव को साय से अवगृहीत किया जाता है।

इसी प्रकार दूतो निर्ऋत्या इदमाजगाम (ऋ. सं. १०।१६५।१) तथा परो निर्ऋत्या आचक्ष्व (ऋ. सं. १०।१६४।१) में व्याकरण तो यह बतला कर चुप हो जायेगा कि यहाँ संहितागत निर्ऋत्या पद चतुर्थी, पञ्चमी या षष्ठी विभक्ति में से किसी एक का एकवचनान्त रूप हो सकता है। किन्तु हमें पहले मन्त्र में पञ्चमी या षष्ठी के एक वचन का और दूसरे मन्त्र में चतुर्थी के एक वचन का अर्थ अभिप्रेत है, यह ज्ञान तो अर्थज्ञान कराने वाले निरुक्त की सहायता से ही सम्भव है।

ऋग्वेदादिसंहिताओं की प्रकृति पद ही तो हैं, अर्थात् पद ही छन्दोविशेष के परिधान में गुम्फित होकर संहिता बन गए हैं। अतः पदविभाग का ज्ञान हुए बिना संहिता का ज्ञान कैसे होगा? इससे निष्कर्ष यह निकलता है कि वेदार्थज्ञान के लिए पदविभागज्ञान अत्यन्त आवश्यक है, और पदविभागज्ञान निरुक्त के बिना भली भाँति हो नहीं सकता। अतः पदविभाग ज्ञान इसकी चौथी उपयोगिता है।

(५) वैदिक मन्त्रों की उपयोगिता या तो उनका अर्थ जान कर उन्हें समझने में है, या फिर विभिन्न यज्ञों में उन मन्त्रों में वर्णित देवताओं के निमित्त आहुति आदि कर्म में है। अर्थज्ञान के लिए निरुक्त अत्यन्त आवश्यक है—यह हम देख चुके

---

१. द्र. अर्थः पदमन्त्राणाम्। तथा : प्रधानमर्थः शब्दो हि तद्गुणायत्त इष्यते (बृहद्देवता २।९९)। अर्थात्पदं स्वाभिधेयम् (वही २।११७)।

हैं। यज्ञ में भी निरुक्त सहायक सिद्ध हो सकता है, यह निम्नलिखित उद्धरणों से सिद्ध हो जाएगा :—

त्वां हि मन्द्रतममर्कशोकैर्ववृमहे महि नः श्रोष्यग्ने।
इन्द्रं न त्वा शवसा देवता वायुं पृणन्ति राधसा नृतमाः॥ (ऋ. सं. ६।४।७)

इस मन्त्र में प्रथम अर्द्धर्च में अग्नि प्रतिपाद्य है, और द्वितीय अर्द्धर्च में वायु का वर्णन है। यों शवस् (बल) से पूरण करना इन्द्र का लिङ्ग[1] भी इसी अर्द्धर्च में है। अतः यज्ञिय लोग जो लिङ्ग से देवतानिर्णय किया करते हैं, वह यहां नहीं चल सकता। यहां तो निरुक्त ही सहायक होगा कि यहां प्रधान देवता तो अग्नि ही है, इन्द्र तथा वायु उपमेय के रूप में वर्णित होने से गौण हैं।

अग्निरिव मन्यो त्विषितः सहस्व सेनानीर्नः सहुरे हूत एधि।
हत्वाय शत्रून् वि भजस्व वेद ओजो मिमानो विमृधो नुदस्व॥ (ऋ. सं. १०।८४।२)

इस मन्त्र में अग्नि के लिङ्ग हैं, किन्तु प्रधान देवता मन्यु है। अतः यज्ञकर्म में आहुति ठीक देवता को ही मिले, यह यदि अभीष्ट है तो देवता के भली भांति ज्ञान के लिए निरुक्त का अध्ययन अपेक्षित है।

इस प्रकरण में यद्यपि यास्क की दृष्टि यज्ञ में देवताज्ञान पर ही है। तथापि न केवल बृहद्देवता में ही दैवतवर्णन में यास्क के वर्गीकरण को आधार माना गया है, अपितु हम वर्तमान युग की दृष्टि से भी यदि विचार करें तो तुलनात्मक देवशास्त्र (Comparative Mythology) में निरुक्त की बहुत उपयोगिता दिखलाई देती है। आज भी देवताओं के वर्गीकरण में यास्क द्वारा आदृत लोकों के अनुसार देवताओं का वर्गीकरण ही देवशास्त्र में अपनाया जाता है[2]। वृत्र, अश्विनौ, विष्णु आदि तत्त्वों का यथार्थ रूप हमें वेदों के अनन्तर यदि कहीं मिलता है, तो केवल निरुक्त में। अन्यत्र (ब्राह्मणग्रन्थों तथा पुराणों में) तो इनको वह रूप दे दिया गया है, जो इनके मूल से सर्वथा विलक्षण एवं दुरवबोध ही है। यदि निरुक्त का मेघ ही वृत्र है यह कथन हमारे सामने न होता, तो पुराणों के आधार पर तो वृत्र का सही परिचय पाना असम्भव ही होता। इसी प्रकार वैदिक विष्णु और पुराणों के क्षीरसागर में शेष पर शयन करने वाले विष्णु में रात-दिन का अन्तर है। निरुक्त की मध्यस्थता के बिना हम विष्णु के वास्तविक रूप तथा उसके ऐतिहासिक विकास को समझ ही नहीं सकते।

(६) निरुक्त का लक्ष्य है वैदिकवाङ्मय का ज्ञान। ज्ञान की प्रशंसा और

---

१. द्र. निरुक्त ७।१० या च का च बलकृतिरिन्द्रकर्मैव तत्।

२. द्र. डा० सूर्यकान्त, वैदिक देवशास्त्र, पृष्ठ ४०।

अज्ञान की निन्दा भली भांति तभी समझी या की जा सकती हैं, जब तत्त्व का ज्ञान भली भांति हो जाता है। यों, अर्थ को बिल्कुल न समझते हुए भी शब्दों को बोलते जाने से, अर्थात् कण्ठतः पाठ मात्र से, भी वेद के स्वाध्याय का फल मिल जाता है —यह कहने तथा करने वालों की हमारे यहां कमी नहीं है। प्रातःकाल स्नान कर एक अध्याय गीता का या श्रीमद्भागवत का बांच कर अथवा रुद्राष्टाध्यायी (रुद्री) का सस्वर (कण्ठ से स्वर का उच्चारण करके नहीं, अपितु शिक्षाग्रन्थों में प्रतिपादित रीति से हाथ हिला कर) पाठ करके अपने आपको कृतकृत्य मानने वाले निरर्थक (निरक्षर तो वे हैं नहीं, अलबत्ता उस अक्षर का अर्थ क्या है यह वे नहीं जानते) भट्टाचार्यों की हमारे यहां कमी नहीं है। उन्हें अर्थ जानने का महत्त्व तो तब मालूम हो, जब वे अर्थ जानें। अर्थ जान कर ही यह जाना जा सकता है कि अब तक अर्थ न जानने से वे कितने घाटे में रहे। अतः ज्ञान की प्रशंसा तथा अज्ञान की निन्दा भली-भांति लोगों को ज्ञात हो, इसके लिए यास्काचार्य ने प्रकृत निरुक्त ग्रन्थ लिखा है। इसकी सहायता से अर्थ को भली भांति समझने से लोगों को ज्ञान की प्रशंसा की तथा अज्ञान की निन्दा की प्रतीति प्रातिस्विक रीति से—अपने अनुभव से—होगी।

(७) ये छह उपयोगितायें यास्क की दृष्टि में उनके निरुक्त की हैं। इनके अतिरिक्त निर्वचन क सिद्धान्त प्रतिपादित करते समय प्रतिपादित तथा निर्वचन करते समय काम में लिए वर्णागम (Prothesis, Anaptyxis, Epenthesis आदि), वर्णविपर्यय (Metathesis), वर्णविकार Assimilation, Dissimilation), वर्णनाश (Elision), आदिस्वरलोप (Apheris), मध्यस्वरलोप (Syncope), सवर्णलोप (Haplology) आदि के सिद्धान्तों से भाषाशास्त्र की ध्वनिविज्ञान (Phonetics, Phonemics, Phonology) शाखा पर बहुत अनुकूल प्रकाश पड़ता है।

इसी प्रकार भाषा शास्त्र की रूपविज्ञान (Morphology), अर्थविज्ञान (Semantics), वाक्यविज्ञान (Syntax) और निर्वचन विज्ञान (Etymology) शाखाओं के अध्ययन के लिए भी यास्क के ग्रन्थ की बहुत उपयोगिता है।

---

१. स्कन्दस्वामी ने (भाग १, पृष्ठ ९३ पर) निरुक्त में शास्त्रारम्भ के पांच प्रयोजन बतलाए माने हैं। उन्होंने निघण्टु की व्याख्या करने को शास्त्रारम्भ का प्रयोजन नहीं माना है।

अध्याय १०

मन्त्र अनर्थक हैं ?

यास्काचार्य ने निरुक्त लिखने के छह प्रयोजनों में दूसरा प्रयोजन मन्त्रों के अर्थ का ज्ञान कराना बतलाया है। इस पर आचार्य कौत्स का (निरुक्त १।१५ में) कहना है कि मन्त्रों का अर्थ बतलाने के लिए निरुक्त लिखना बेकार है, क्यों कि मन्त्र अनर्थक हैं।

कौत्स के इस मन्तव्य का तात्पर्य यह नहीं है कि मन्त्रों का भाषा की दृष्टि से कोई अर्थ नहीं है। अर्थात् जैसे काल की एक लम्बी अवधि बीत जाने के कारण वैदिक भाषा आज के जनसाधारण या साधारण कोटि के पढ़े-लिखों के लिए दुरवबोध्य एवम् अगम्य हो गई है, वैसे ही मन्त्र दुरवबोध्य नहीं हैं। कौत्स के अनुसार वैदिक मन्त्रों की विषय-वस्तु तथा प्रतिपादन शैली कुछ इस प्रकार की है कि वस्तुतः मन्त्र सार्थक हैं, कुछ काम की बातें बतलाते हैं, इस पर सन्देह होता है। अर्थ की उपपत्ति न होने से वेदार्थ श्रद्धेय एवं प्रामाणिक नहीं प्रतीत होता। जैसे किसी पागल व्यक्ति के अनुपपन्न, उल-जलूल, परस्पर-विसंवादी, अस्पष्ट और भ्रामक वाक्य भाषा की दृष्टि से अर्थवान् होते हुए भी बुद्धिमान व्यक्ति के लिए उपादेय नहीं होने से निरर्थक होते हैं, वैसे ही वेदमन्त्र भी अनुपपन्न, परस्पर-विसंवादी, अस्पष्ट एवम् भ्रामक अर्थ को प्रकट करने के कारण निरर्थक हैं। वेदमन्त्रों का अर्थ है, पर वह अर्थ अनेक अर्थदोषों से ग्रस्त होने से अनर्थ ही है।

मन्त्रों की अनर्थकता वेदों को प्रमाण न मानने वाले मतवादों में केवल चार्वाकों ने प्रतिपादित की है। उनके अनुसार वेदों के रचयिता तीन प्रकार के लोग हैं: १. धूर्त, २. भांड अर्थात् अनहोनी को भी बढ़ा-चढ़ा कर बखानने वाले लोग एवं ३. सुरापान, हिंसक कार्य, मांसभक्षण आदि भयङ्कर कार्यों में लिप्त (निशाचर) लोग। अतः वेद उटपटांग हैं और श्रद्धेय नहीं हैं :

त्रयो वेदस्य कर्तारो धूर्तभण्डनिशाचराः। जर्फरी तुर्फरीत्यादि पण्डितानां वचः स्मृतम् ॥

[सर्वदर्शनसङ्ग्रह, (चार्वाकदर्शन), २८]

पूर्वमीमांसा दर्शन के प्रणेता आचार्य जैमिनि ने भी अपने मीमांसा दर्शन में मन्त्राधिकरण में मन्त्रों की प्रामाणिकता के प्रसङ्ग में पूर्वपक्ष के रूप में इस मत की अवतारणा करके अपना पक्ष उत्तरपक्ष के रूप में प्रस्तुत किया है। पूर्वमीमांसा में अध्याय १, पाद २, सूत्र ३१ से ३८ वें तक मन्त्रों की अनर्थकता की साधक युक्तियाँ दी हैं। १।२।४० से ५० तथा ५४ वें सूत्र तक उत्तरपक्ष की साधक युक्तियाँ दी हैं। बीच के कुछ सूत्र वेदों की नित्यता-अनित्यता से सम्बद्ध हैं। जैमिनि ने आचार्य यास्क के प्रकृत प्रकरण का पूरा उपयोग अपने इस प्रकरण में किया है। उनके तर्क प्रायः यास्क से उधार लिये हुए ही हैं। कहिं-कहीं किसी युक्ति को नये ढङ्ग से प्रयुक्त किया गया है।

आचार्य यास्क और जैमिनि ने पहले पूर्वपक्ष और फिर उत्तरपक्ष दिया है। आचार्य यास्क ने तो उत्तरपक्ष में पूर्वपक्ष की ६ युक्तियों में से प्रत्येक युक्ति का खण्डन करने से पूर्व पूर्वपक्ष की युक्ति को (उदाहरण को छोड़ कर) दुहराया है। इस प्रकार करने में असुविधा तो होती ही है, अनावश्यक पुनरुक्ति भी हो जाती है। अतः हम आचार्य कौत्स की प्रत्येक युक्ति के साथ ही उत्तरपक्ष प्रस्तुत कर रहे हैं :

१ वेदमन्त्रों में शब्दों का प्रयोग तथा उनका क्रम निश्चित है[1]। जैसे—अग्निमीळे पुरोहितम् (ऋ. सं १।१।१) इस मन्त्र में प्रयुक्त शब्दों का प्रयोग करने को बाधित हैं। इतना ही नहीं, इन शब्दों का क्रम भी यही रहना चाहिए, यह भी हम पर बन्धन है। परन्तु आम व्यवहार में तो यदि स्वरसंस्कार व्याकरणसम्मत है, तो शब्द तथा उनका क्रम चाहे जो हो, अर्थ वही रहता है। इससे सिद्ध होता है कि मन्त्रों का कोई अर्थ नहीं होता। ये जैसे, जिन शब्दों से, जिस क्रम से युक्त हैं, वैसे ही इनका उच्चारण मात्र करके तो भले ही अपने आप को कृतकृत्य समझ लें, अर्थ की दृष्टि से इनकी कोई उपयोगिता नहीं है।

इस पर उत्तर देते हुए आचार्य यास्क कहते हैं कि मन्त्रों में भी वही शब्द प्रयुक्त हैं, जो लोक में हम लोग आपसी व्यवहार में काम में लाते हैं। अतः लोक में जब इन शब्दों का अर्थ होता है, तो वेद में क्यों नहीं होगा[2]।

जहाँ तक शब्दों के प्रयोग तथा क्रम के नियम का प्रश्न है। यह तो लोक में भी होता है। लोक में जहाँ एक विशेष व्यवस्था के अधीन शब्दविशेष का प्रयोग एवम् उनका क्रम नियत है, और उससे लौकिक वाक्य अनर्थक नहीं हो जाते, तब वेद में ही यह अनर्थकता क्यों होगी ? लोक में द्वन्द्व समास की व्यवस्था के अधीन इन्द्राग्नी और

१. द्र. निरुक्त १।१५ नियतवाचोयुक्तयो नियतानुपूर्व्या भवन्ति। और पूर्वमीमांसा दर्शन १।२।३२ वाक्यनियमात्।

२. द्र. निरुक्त १।१६ अर्थवन्तः शब्दसामान्यात्।

पितापुत्रौ पदों में शब्द भी निश्चित हैं और उनका क्रम भी[1]।

यहाँ यास्क यदि लौकिक के श्लोकों में छन्दोऽनुरोधात् तथा कवि के शब्द-प्रयोग की चतुराई के कारण शब्द की अपरिवर्तनीयता और निश्चित क्रम का उदाहरण देते तो अधिक अच्छा उत्तर होता।

मीमांसकों के मत में तो विशेष क्रम में निबद्ध मन्त्र के पाठ से अदृष्ट फल होता है। उससे मन्त्र के अर्थावबोध में किसी प्रकार की बाधा नहीं होती। अतः नियत क्रम होना कोई दोष नहीं है[2]। जब यह दोष ही नहीं है,तब इस के आधार पर मन्त्रों को अनर्थक नहीं ठहराया जा सकता।

(२) कौत्स का दूसरा तर्क यह है कि...**उरुप्रथा उरु प्रथस्वोरु ते यज्ञपतिः प्रथताम्** (वा. सं. १।२२)—यह वेदमन्त्र है। इसमें स्पष्ट रूप से ही पुरोडाश को **उरुप्रथाः** (खूब फैलने वाला) बता कर उसे फैलने को कहा गया है। यह मन्त्र अपने प्रतिपाद्य कर्म के रूप (लिङ्ग) से सम्पन्न (युक्त) है। तब भी कर्म के समय इस पर **शतपथब्राह्मण** (१।१।६।८) की निम्नलिखित विधि यज्ञ कर्म करने वाले को अपेक्षित होती है: **तं प्रथयति। उरुप्रथा उरु प्रथस्वेति प्रथयत्येवैनम्**। इसमें कोई नवीन बात नहीं बताई गई है। जो मन्त्र में है, उसी बात को ब्राह्मण भी समझाता है। इसका यह अभिप्राय हुआ कि वेदमन्त्र का कोई अर्थ नहीं है, नहीं तो ऋत्विज् वेदमन्त्र के कथन से ही न प्रथन कार्य कर देता! ब्राह्मणग्रन्थ के कथन की अपेक्षा क्यों करता[3]?

इसी प्रकार **इदमहमात्मानमेव प्रोक्ष्यं प्रोहामि तेजसे ब्रह्मवर्चसाय** (दुर्गद्वारा उद्धृत) मन्त्र में भी स्पष्ट रूप से **प्रोहण कार्य मैं करता हूं** कहा गया है। किन्तु यज्ञ कर्म में वह पूछता है **प्रोहाणि**? प्रोहण करूं? और मन्त्र प्रतिपादित अर्थ का ही विधान करने वाले **प्रोहाणीति प्रोहति** (स्थल अज्ञात) ब्राह्मण वाक्य से ही मन्त्रोक्त कार्य करता है। इसका तात्पर्य यह है कि ब्राह्मणवाक्य सार्थक है, और मन्त्रवाक्य अनर्थक। जिस वाक्य को सुन कर मनुष्य की प्रवृत्ति या निवृत्ति हो, वही तो सार्थक होता है। अतः मन्त्रों की सार्थकता तो मात्र इतनी ही है कि यज्ञ के विविध ब्राह्मणविहित कर्म करते समय उनका उच्चारण किया जाए।

इसका उत्तर देते हुए यास्काचार्य कहते हैं कि ब्राह्मणग्रन्थ में तो मन्त्र के

---

१. द्र. निरुक्त १।१६....**लौकिकेष्वप्येतद्। यथेन्द्राग्नी, पितापुत्राविति**।

२. द्र. **पूर्वमी.** १।२।४० **अविशिष्टस्तु वाक्यार्थः**। १।२।४५ **अविरुद्धं परम्**।

३. द्र. **सम्बद्ध स्थल** पर दुर्गाचार्य की टीका: **एतस्माच्च कारणादनर्थका मन्त्रा वाच्यवाचकत्वेन सन्तो विनियोगमात्रेणार्थवन्तो विधेयत्वात्**। और **पूर्वमी.** १।२।३१ **तदर्थशास्त्रात्**।

कथन का ही अनुवाद किया जाता है। यदि मूल ही अनर्थक हो, तो उसका अनुवाद सार्थक कैसे हो सकता है ? उस अनुवाद के आधार पर ऋत्विज् की भी तत्तत् कर्म में प्रवृत्ति कैसे हो सकती है ? इसके अतिरिक्त किसी-किसी प्रकरण में एक जैसे ही लिङ्ग वाले अनेक मन्त्र कर्म में प्राप्त होते हैं। उनमें से उस कर्म में अभीष्ट किसी एक मन्त्र का ब्राह्मण के द्वारा विधान किया जाता है। अतः इस प्रकार का न तो अनुवाद व्यर्थ है, और न ही इस प्रकार का विधान व्यर्थ है[1]।

इसके अलावा ऐतरेय ब्राह्मण (एतद् वै यज्ञस्य समृद्धं यद्रूपसमृद्धं यत् कर्म क्रियमाणमृगभिवदति[2] ॥१।४।८) में कहा गया है कि यज्ञकर्म की यही तो सफलता, समृद्धि है कि वह मन्त्रोक्त लिङ्ग (रूप) के अनुसार समृद्ध होता है। अर्थात् ब्राह्मणोक्त विधिवाक्यों की सहायता से मन्त्रोक्त कर्म का जो अनुष्ठान होता है, वही वस्तुतः यज्ञकर्म की कृतार्थता है। जिस कर्म का अनुष्ठान किया जा रहा है, ऋचा में भी उसी कर्म का वर्णन है, यही कर्म की सार्थकता है। जैसे—

इहैव स्तं मा वियौष्टं विश्वमायु र्व्यश्नुतम्।
क्रीळन्तौ पुत्रैर्नप्तृभिर्मोदमानौ स्वे गृहे ॥ (ऋ. सं. १०।८५।४२)

---

१. द्र. उदितानुवादः स भवति। तथा इस पर दुर्गाचार्य की टीका। और पूर्वमी. गुणार्थेन पुनः श्रुतिः ॥ १।२।४१ ॥, अर्थवादो वा ॥ ४३ ॥, मन्त्राभिधानात् ॥ ४४ ॥

२. यह वाक्य मूलतः ऐतरेय ब्राह्मण में लगभग १ दर्जन बार आया है। वहां इस में यजुर्वा नहीं है। गोपथ ब्राह्मण में यह वाक्य दो बार (२।२।६, २।४।२ में) आया है तथा इसमें ऋग् के बाद अभिवदति से पहले यजुर्वा शब्द दिये गये हैं। श्री वै. का राजवाडे (पृ. २७२) का कथन है कि वास्तव में निरुक्त में यह वाक्य ऐतरेयब्राह्मण से ही लिया गया है। निरुक्त के मूल तथा दुर्ग की वृत्ति में इस वाक्य में यजुर्वा का प्रक्षेप हुआ है, क्योंकि न निरुक्त में और न दुर्ग की वृत्ति में ही कोई यजुर्मन्त्र उद्धृत है, जिस की पुष्टि के लिए यास्क तथा दुर्ग यजुर्वा वाला गोपथ का वाक्य उद्धृत करते। निरुक्त की एक पाण्डुलिपि (II. A., १८७९-८०, भाण्डारकर प्राच्यविद्यासंशोधनमन्दिर, पूना) में यजुर्वा नहीं है।

हम श्री राजवाडे के निष्कर्ष से सहमत हैं। हमारा विचार है कि गोपथ ऐतिहासिक दृष्टि से भी वस्तुतः ब्राह्मण श्रेणी का या उस काल का ग्रन्थ नहीं है। मैकडानल् (ए हिस्ट्री आफ् संस्कृत लिट्रेचर, पृ. १८३-४) भी इसे वैतान-सूत्र पर आधारित तथा बहुत पीछे का ग्रन्थ मानते हैं। इसकी भाषा, विषय, विषय-प्रतिपादन की शैली सब बातें बिल्कुल लौकिक-संस्कृत की ही हैं, वैदिकता केवल नाम भर की है। अतः हम ने यहाँ ऐतरेयब्राह्मण का उद्धरण ही दिया है।

इस मन्त्र का प्रयोग विवाह कर्म में विहित है। मन्त्र में भी इसी अर्थ के अनुकूल वर-वधू को आशीर्वाद दिया गया है। ऐसी स्थिति में यह मन्त्र अनर्थक कैसे माना जा सकता है?

अतः इस तर्क से तो यही निष्कर्ष निकलता है कि ब्राह्मणग्रन्थ मन्त्रार्थ का अनुसरण करते है, एवम् मन्त्र सार्थक है[१]।

(३) कौत्स की तीसरी युक्ति दूसरी युक्ति से बहुत कुछ मिलती-जुलती सी ही है। वे कहते हैं कि होता ऋत्विज् भली भाँति शास्त्र पढ़ कर कर्म-काण्ड में अपने कर्त्तव्य कर्म को जान कर प्रवृत्त होता है। मन्त्रों का भी उसे भली भाँति ज्ञान होता है। किन्तु ब्राह्मण फिर भी उसे उसका कर्म बतलाता है : **स आह—अग्नये समिध्यमानायानुब्रूहीत्यग्नये ह्येतत्समिध्यमानायान्वाह** (शतपथब्राह्मण १।३।२।२)। अर्थात् वह अध्वर्यु बतलाता है—तुम प्रदीप्त अग्नि के लिए बोलो। तब (होता) प्रदीप्त अग्नि के लिए बोलता है। इस सम्प्रेषण का अर्थ यह हुआ कि मन्त्र अनर्थक है[२]।

इस पर आचार्य यास्क का उत्तर है कि जानकार को भी बतलाना (सम्प्रेषण) तो कोई दोष नहीं होता। लोकव्यवहार में प्रतिदिन अभिवादन करने वाले शिष्य के कुल, गोत्र, नाम को यद्यपि गुरु जानते हैं, तब भी शिष्य उन सब को बतलाते हुए ही अभिवादन करता है। इसी प्रकार विवाह में मधुपर्क सामने प्रस्तुत है, यह वर जानता है, तब भी कन्या का पिता तीन बार मधुपर्क है, मधुपर्क है, मधुपर्क है[३] कह कर उसे बतलाता है[४]।

आचार्य जैमिनि ने कौत्स की इस युक्ति का उत्तर भिन्न प्रकार से दिया है। वे कहते हैं कि जानकार को सम्प्रेषण करने से उक्त दोष नहीं आता; क्योंकि सम्प्रेषण से एक अदृष्ट संस्कार हो जाता है[५]।

(४) मन्त्रों के सार्थक होने में कर्मकाण्ड से सम्बद्ध कुछ असङ्गतियाँ बतला कर अब कौत्स सीधे ही मन्त्रों की सार्थकता पर चोट करते हैं। वे कहते हैं कि वैदिक

---

१. द्र. निरुक्त १।१६ तथा दुर्गाचार्य की टीका। एवं पूर्वमी. १।२।४१ गुणार्थेन पुनः श्रुतिः।

२. द्र. निरुक्त १।१५ तथा पूर्वमी० बुद्धि-शास्त्रात् ॥ १।२।३३ ॥

३. द्र. पारस्कर गृह्यसूत्र ॥ १।३।५–६ ॥ आहरन्ति विष्टर, पद्यं, पादार्थमुदकम् अर्घम्, आचमनीयं, मधुपर्कं दधि-मधु-घृतमपिहितं कांस्ये कांस्येन ॥ अन्यस्त्रिस्त्रिः प्राह विष्टरादीनि ॥

४. द्र. निरुक्त १।१६ जानन्तमभिवादयते, जानते मधुपर्कं प्राहेति।

५. पूर्वमी. १।२।४६ सम्प्रैषकर्मणां गर्हानुपलम्भः, संस्कारत्वात्।

मन्त्रों का अर्थ सङ्गत (उपपन्न) नहीं होता। जैसे—

ओषधे त्रायस्वैनं स्वधिते मैनं हिंसीः (तैत्तिरीय संहिता १।२।१।१)[1] मन्त्र में स्वधिति (छुरे) से काटी जाती ओषधि (कुशके बना हुए तरुण) से यजमान की रक्षा की प्रार्थना और स्वधिति से उसकी हिंसा न करने की प्रार्थना की गई है। यहाँ विचारणीय बात है कि जो ओषधि (कुशतरुण) स्वयं काटी जा रही है, वह यजमान की रक्षा क्या करेगी ? कुशतरुण को काटते हुए छुरे से ही कहा गया है—हे छुरे, तू इसे मत काट। यह सब असङ्गत नहीं तो और क्या है ? अतः वेदवाक्यों में बिल्कुल असङ्गत बकवाद की गई है। उसे कैसे सार्थक माना जाए ?

आचार्य जैमिनि ने इस युक्ति को कुछ भिन्न रूप में प्रस्तुत किया है। वे कहते हैं कि ओषधि तथा स्वधिति अचेतन पदार्थ हैं। त्राण तथा हिंसा न करना चेतन के द्वारा ही निष्पन्न होने वाले कार्य हैं। अचेतन से उनकी अपेक्षा करना असङ्गत है। वेदमन्त्रों में चेतनपदार्थों से सम्भव कार्य करने की प्रार्थना चूंकि अचेतन पदार्थों से की गई है, अतः इस प्रकार के मन्त्र असङ्गत बातें कहने के कारण अनर्थक हैं[2]।

आचार्य दुर्ग के अनुसार लोक में ऐसी बातें पागल किया करते हैं, और लोग उन्हें अनर्थक बतलाते हैं। अतः पागलों की अटपटी, उटपटांग बातों के समान वेद-मन्त्र भी अनर्थक ही हैं[3]।

इस युक्ति का उत्तर देते हुए आचार्य यास्क कहते हैं कि वेद के इस प्रकार के वाक्यों से इस प्रकार की वैदिक हिंसा अहिंसा ही है, हिंसा नहीं—यह विशेष अभिप्राय प्रतीत होता है। अर्थात् यज्ञ के लिए जो ओषधि, वनस्पति, पशु आदि सूक्ष्म या स्थूल रूप से चेतन पदार्थों की हिंसा होती है, वह उनकी हिंसा नहीं है। यज्ञ में उनका उपयोग करना तो उन पर उपकार है। यज्ञ में अपनी बलि देकर उन्हें

---

१. वा० सं. (४।१; ५।४२; ६।१५) में ओषधे त्रायस्व, स्वधिते मैनं हिंसीः पाठ है तथा तैत्तिरीय संहिता में निरुक्त में धृत उपर्युक्त पाठ। अतः हमने तै. सं. का ही सङ्केत दिया है।

२. द्र. पूर्वमी. १।२।३५ : अचेतनेऽर्थबन्धनम्।

३. द्र. निरुक्त १।१५ पर दुर्गाचार्य : य एतेष्वर्थो लभ्यते स्वयमेतेष्वर्थः स्याविति, नासावुपपद्यते। न चौषधिरात्मानमपि त्रातुं समर्था, किं पुनर्वृक्षम्।.... को हि नाम एवमुक्त्वा स्वयमेव हिंस्यात् ? हिनस्ति च। लोके यान्येवंविधानि वाक्यान्युन्मत्तप्रमत्तोक्तानि तान्यनर्थकान्युच्यन्ते। तथेमानि। तस्मादिमान्यप्यनर्थकानीति उपपद्यते।

उत्तम लोक मिलेंगे[1]।

आचार्य जैमिनि का कथन है कि सामान्यतः जब कोई असम्भव बात कही जाती है, तो वहाँ उसका प्रधान अर्थ अभिप्रेत नहीं होता, अपितु गौण अर्थ ही समझना चाहिए। फलतः अचेतनों के प्रति जो कुछ कहा गया है, उसे अर्थवाद अर्थात् उस पदार्थ की स्तुति के रूप में समझना चाहिए। जैसे कुशतरुण का पवन (छेदन) करने पर भी ओषधि की रक्षा (उसकी उत्कृष्ट गति होने के कारण) हो जाती है, तो वपन जिस यजमान के निमित्त किया जा रहा है, उसकी क्यों न होगी? अतः प्रकृत वाक्यों में ओषधि तथा स्वधिति की स्तुति अभिप्रेत है[2]।

आचार्य बादरायण व्यास का कथन है कि ऐसे अचेतन पदार्थों के बारे में भी चेतनोचित बातें कहने का आधार यह है कि उपयुक्त कथन उस अचेतन पदार्थ के लिए नहीं, अपितु उसके अधिष्ठाता चेतन देवता के प्रति होता है[3]।

(५) कौत्स की पाँचवी युक्ति यह है कि मन्त्रों में परस्पर विरोधी बातें हैं :

---

१. वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति—यह एक बहुत प्राचीन विश्वास है। ऋ. सं. १।१६२।२१ और ३।८।११ में इसी विश्वास के कारण दीर्घतमा औचथ्य तथा गाथिन विश्वामित्र ऋषि कहते हैं :

न वा उ एतन् म्रियसे, न रिष्यसि, देवाँ इदेषि पथिभिः सुगेभिः।
हरी ते युञ्जा पृषती अभूतामुपास्थाद् वाजी धुरि रासभस्य॥
वनस्पते शतवल्शो विरोह, सहस्रवल्शा वि वयं रुहेम।
यं त्वामयं स्वधितिस्तेजमानः प्रणिनाय महते सौभगाय॥

इसी विश्वास के आधार पर मनु जी ने भी कहा है :

ओषध्यः, पशवो, वृक्षास्, तिर्यञ्चः, पक्षिणस्तथा।
यज्ञार्थं निधनं प्राप्ताः प्राप्नुवन्त्युच्छ्रतीः पुनः॥ मनुस्मृति ५।४०॥

वेदवादियों के इस विश्वास का उपहास करते हुए ही तो आचार्य बृहस्पति ने कहा था :

पशुश्चेन्निहतः स्वर्गं ज्योतिष्टोमे गमिष्यति।
स्व-पिता यजमानेन तत्र कस्मान्न हिंस्यते॥ सर्वदर्शनसं. १।२०॥

बौद्धों का भी सारा विरोध वैदिकों के जातिवाद के अतिरिक्त, प्रायः इसी मुद्दे पर केन्द्रित था।

२. द्र. पूर्वमी० १।२।४७ : अभिधानेऽर्थवादः।

३. द्र. ब्रह्मसूत्र २।१।५ : अभिमानिव्यपदेशस्तु विशेषानुगतिभ्याम्। तथा इस पर शाङ्करभाष्य।

(क) एक एव रुद्रोऽवतस्थे न द्वितीयः[1] मन्त्र में रुद्र एक ही था, दूसरा नहीं कहा है तो अन्यत्र असङ्ख्याता सहस्राणि ये रुद्रा अधि भूम्याम् (वा. सं. १६।५४) में रुद्रों को हजारों की सङ्ख्या में बताया गया है ।

(ख) अशत्रुरिन्द्र जज्ञिषे (ऋ. सं. १०।१३३।२) में इन्द्र का कोई शत्रु नहीं है—यह बताया गया है। जबकि शतं सेना अजयत् साकमिन्द्रः (१०।१०३।१) में इन्द्र के एक साथ सौ सेनाओं के जीतने का वर्णन आया है ।

(ग) अदितिर्द्यौरदितिरन्तरिक्षमदितिर्माता स पिता स पुत्रः ।
विश्वे देवा अदितिः पञ्चजना अदितिर्जातमदितिर्जनित्वम् ।। (ऋ. सं. १।८९।१०)—इस मन्त्र में एक अदिति को ही सब कुछ बताया गया है ।

इस प्रकार इन मन्त्रों में पागल के प्रलाप की तरह एक-दूसरे के विपरीत बातें कही गयी हैं । पाँचवें मन्त्र में तो वदतो व्याघात दोष स्पष्ट ही है । असङ्गतता तथा वदतो व्याघात दोष से ग्रस्त होने से वेदमन्त्रों को अर्थवान् की अपेक्षा अनर्थक मानना ही अच्छा है[2] ।

इस पर यास्क का कहना है कि कौत्स जिसे परस्परविरुद्ध बता रहे हैं, वह तो आलङ्कारिक वर्णन है । लौकिक व्यवहार में भी हम जब कहते हैं कि इस ब्राह्मण का कोई शत्रु नहीं है, या इस राजा का कोई शत्रु नहीं है, तो हमारा अभिप्रेत अर्थ इन वाक्यों का प्रधान अर्थ नहीं होता । क्यों कि जगत् में कोई भी व्यक्ति मित्र, तटस्थ या शत्रु से रहित नहीं हो सकता । जैसे कि कहा भी है :—

मुनेरपि वनस्थस्य स्वानि कर्माणि कुर्वतः ।
उत्पद्यन्ते त्रयः पक्षा मित्रोदासीनशत्रवः ।।

अदिति ही सब कुछ है—इस निष्कर्ष पर जो विरुद्धार्थता की बात कही गई है, वह भी उचित नहीं है । जब हम जल की प्रशंसा में कहते है कि पानी में सारे ही रस आ गये हैं तो हमारा अभिप्राय वास्तव में जल को एक साथ खट्टा, मीठा, कड़ुवा, नमकीन और कसैला बतलाना नहीं होता । उसी प्रकार अदिति को भी आलङ्कारिक भाषा में ही द्यु, अन्तरिक्ष, माता पिता आदि बताया गया है[3] ।

१. संहिताओं में इस पाठ वाला मन्त्र नहीं मिलता । तै. सं. (१।८।६।१) में 'एक एव रुद्रो न द्वितीयाय तस्थे' पाठ मिलता है । श्वेताश्वतर उपनिषद् (३।२) में 'तस्थुः' पाठ है । दुर्गाचार्य ने समूचे मन्त्र का पाठ यों दिया है :

एक एव रुद्रोऽवतस्थे न द्वितीयो रणे निघ्नन्पृतनासु शत्रून् ।
संसृज्य विश्वा भुवनानि गोपाः प्रत्यङ् जनान्सञ्चुकोचान्तकाले ।।

रोथ (एरलाटेरुंगेन्, पृष्ठ एफ् २, टि. ४) के अनुसार दूसरे पाद में विघ्नन् पाठ है ।

२. द्र. निरुक्त १।१५ तथा इस पर दुर्गाचार्य की टीका ।

३. द्र. निरुक्त १।१६ और पूर्वमी. १।२।४८ : गुणादप्रतिषेधः ।

(६) मन्त्रों की अनर्थकता के विषय में आचार्य कौत्स का अन्तिम तर्क यह है कि मन्त्रों का अर्थ स्पष्ट नहीं होता। जैसे—

(क) अम्यक् सा त इन्द्र रिष्टिरस्मे (ऋ. सं. १।१६९।३),

(ख) याहृश्मिन्धायि तमपस्ययाऽविदत् (ऋ. सं. ५।४४।८),

(ग) उस्रः पितेव जारयायि यज्ञैः (ऋ. सं. ६।१२।४),

(घ) इन्द्रः सोमस्य काणुका (ऋ. सं. ८।७७।४),

इन मन्त्रों में अम्यक्, याहृश्मिन्, जारयायि और काणुका शब्द बिल्कुल अस्पष्ट हैं। इस प्रकार के और भी बहुत से अस्पष्ट शब्द तथा भाव मन्त्रों में प्रतिपादित हैं। अतः अस्पष्टार्थक होने से वेदमन्त्र अनर्थक हैं— यही मानना श्रेयस्कर है[1]।

इस युक्ति पर यास्काचार्य का कहना है कि अन्धा आदमी यदि ठूँठ को नहीं देख पाता, तो दोष ठूँठ का है, या पुरुष का ? यदि आपको वेद पढ़ते समय इन शब्दों का अर्थ स्पष्ट नहीं हुआ, तो यह शब्दों का दोष है, या आपका ? इस प्रकार के क्लिष्ट शब्दों का अर्थज्ञान कराने के लिए तो निरुक्त की सुतराम् आवश्यकता एवम् उपयोगिता है। साधारण लोगों में विद्या से मनुष्य की विशेषता होती है। किन्तु शास्त्र या वाङ्मय के पारावारगामी विद्वानों में तो जो अधिक जानकार है, शास्त्र में कृतश्रम है, वही अधिक प्रशंसनीय होता है। आप साधारण लोगों में अपनी विद्या के कारण श्रेष्ठ हो सकते हैं, किन्तु समस्त मन्त्रों के अर्थ पर भली भाँति विचार करके मन्त्रों को सार्थक या निरर्थक कहने का अधिकार रखने वाले पारोवर्यवेदी लोगों में आपकी बात श्रद्धेय नहीं होगी, क्यों कि आपने मन्त्रों का अर्थ भली-भाँति जानने के लिए जो ज्ञान प्राप्त करना चाहिए, जो शास्त्र पढ़ना चाहिए, वह तो किया नहीं और आचार्य बनकर लगे फतवे देने (१।१६)।

आचार्य जैमिनि ने इसी युक्ति को इसकी कड़वाहट थोड़ी हटाकर कहा है कि अर्थ तो है, पर आप को मालूम नहीं है[2]।

(७) **सायणाचार्य** ने (ऋग्वेदभाष्य के उपोद्घात में) पूर्वपक्ष में इन युक्तियों के अतिरिक्त एक युक्ति और दी है। वे कहते हैं कि बहुत से मन्त्रों में सन्दिग्ध बातें कही गयी हैं। जैसे—एक मन्त्र कहता है : **अधः स्विदासीदुपरि स्विदासीत** (ऋ. सं. १०।१२९।५)। इस मन्त्र में कुछ ऐसी ही बात कही गयी है जैसे कोई कहे—यह ठूँठ है, या पुरुष है ?

इसका उत्तर उन्होंने दिया है कि इस मन्त्र में सन्देह प्रतिपाद्य नहीं है, अपितु जगत् के रचयिता परब्रह्म की अत्यन्त गम्भीरता बतलाना ही प्रतिपाद्य है।

---

१. द्र. निरुक्त १।१५ और दुर्गटीका।

२. द्र. पूर्वमी. १।२।५० : सतः परमविज्ञानम्।

अध्याय ११

पद-विभाग

भावसम्प्रेषण में भाषा की भूमिका। यह विराट् जगत् ब्रह्मचैतन्य का प्रपञ्च है। इसके समस्त शरीरवान् पदार्थ सचेतन हैं और सुख तथा दुःख की अनुभूति से युक्त हैं[1]। इन सचेतन प्राणियों के भी दो वर्ग हैं :

(क) पशु अर्थात् वे प्राणी जिनमें सुख दुःख आदि को अनुभव करने की विशिष्ट इन्द्रियशक्ति है[2]। इस वर्ग में जरायुज, अण्डज, स्वेदज जाति के प्राणी हैं।

(ख) अपशु अर्थात् वे प्राणी जो सुख और दुःख को अनुभव तो करते हैं, परन्तु उनकी चेतना भीतर छुपी हुई ही है। उसे वे विभिन्न इन्द्रियों द्वारा बाहर प्रकाशित नहीं कर सकते हैं और न विभिन्न रूपों में अनुभव कर सकते हैं। इस वर्ग में उद्भिज्ज जाति के पदार्थ आते हैं जो हैं तो प्राणी ही, पर प्राणक्रिया बहुत सूक्ष्म होने के कारण जड़ ही कहे जाते हैं[3]।

चैतन्य की इन दो स्थितियों के कारण पशु न केवल सुख-दुःख को अनुभव कर सकते हैं, अपितु उनके मन में सुख-दुःख के घात-प्रतिघात से विभिन्न भाव भी उठते तथा लीन होते रहते हैं। उन भावों का सम्प्रेषण कैसे किया जाए ? यह सृष्टि की एक आदिम समस्या है। परस्पर स्पर्श, अङ्गों के विभिन्न प्रकार के आमोटन,

---

१. जीवसंज्ञोऽन्तरात्माऽन्यः सहजः सर्वदेहिनाम्।
येन वेदयते सर्वं सुखं दुःखं च जन्मसु ॥ मनुस्मृति १२।१३ ॥

२. चतुर्नमो अष्टकृत्वो भवाय दशकृत्वः पशुपते नमस्ते।
तवेमे पञ्च पशवो विभक्ता गावो अश्वाः पुरुषा अजावयः ॥ अ. सं. ११।२।९ ॥
तुभ्यमारण्याः पशवो मृगा.... हंसाः सुपर्णाः शकुना वयांसि। वहीं २४ ॥
ये ग्राम्याः पशवो विश्वरूपास्तेषां सप्तानां मयि रन्तिरस्तु। वहीं ३।१०।६ ॥
इन स्थलों में दोपाये, चौपाये, पक्षी—सब को पशु कहा गया है।

३. तमसा बहुरूपेण वेष्टिताः कर्महेतुना।
अन्तःसंज्ञा भवन्त्येते सुखदुःखसमन्विताः ॥ इत्यादि मनुस्मृति १।४९–४९ ॥

आकुञ्चन, निकुञ्चन, अथवा विभिन्न प्रकार की ध्वनियों को विभिन्न भावों का प्रतीक या व्यञ्जक मान कर करतलध्वनि, चुटकी, थाप आदि विविध चेष्टाएँ मन के भावों को कुछ-कुछ प्रकाशित कर सकती हैं[1]। परन्तु मन की सम्पूर्ण गहराइयों को व्यक्त कर पाना इन प्रतीकाश्रित चेष्टाओं के बस का नहीं है, यह अनुभव सिद्ध है। ईश्वर ने पशु-जगत् में इस समस्या के समाधान के लिए वाक् की सृष्टि की है। समस्त प्रकार के पशु अपने भावों को प्रकट करने के लिए वागिन्द्रिय का आश्रय लेते हैं[2]। अर्थात् विभिन्न प्रकार की ध्वनियाँ करके अपना आशय प्रकट करते हैं और उन ध्वनियों को सुन कर दूसरों का आशय समझते हैं। पशुओं में प्रत्येक जाति की अपनी एक भाषा होती है, जो सामान्यतः दूसरी जाति वालों के लिए सर्वथा विचित्र एवं दुर्बोध होती है। मनुष्यों ने अपनी भाषा का सम्यक् विश्लेषण किया है, इसलिए इसे निरुक्त (व्याख्यात) कहा गया है[3]। मनुष्येतर पशुओं की भाषा को भी समझने का प्रयास प्राचीन काल में किया गया था। बहुत से लोग उनकी आपसी बातचीत को समझ लेते थे[4]। परन्तु उन भाषाओं का भली-भाँति व्याकरण नहीं किया गया। अतः मुख्यतः वे भाषाएँ अनिरुक्त (अव्याख्यात, अव्याकृत) ही रहीं[5]। आधुनिक काल में इन भाषाओं को समझने का प्रयास किया जा रहा है। पर अभी यह प्रयास फल की दृष्टि से अपनी शैशवावस्था में ही है।

भाषा का आधार शब्द। परस्पर भावसम्प्रेषण के इस माध्यम (वाक् अर्थात् भाषा) का आधार अथवा साधन शब्द है[6]। मनुष्य-भाषा के समान ही

---

१. द्र. डा. भोलानाथ तिवारी, भाषाविज्ञान, पृष्ठ १।

२. देवीं वाचमजनयन्त देवास्तां विश्वरूपाः पशवो वदन्ति। (ऋ.सं. ८।१००। ११)। और इस पर निरुक्त ११।२९ : पशवो वदन्ति व्यक्तवाचश्चाव्यक्तवाचश्च। तथा यहीं दुर्ग : व्यक्तवाचो मनुष्यादयोऽव्यक्तवाचो गवादयः।

३. द्र. शतपथब्राह्मण ४।१।३।१६ : तदेतत्तुरीयं वाचो निरुक्तं यन्मनुष्या वदन्ति। और निरुक्त ११।२९ में व्यक्तवाचः पद भी मनुष्यों की वाणी की व्यक्तता अर्थात् निरुक्तता=स्पष्टता को बतलाता है।

४. महाभारतादि में पशु-पक्षियों की बोली समझने के बहुत से प्रसङ्ग हैं।

५. द्र. शतपथब्राह्मण ४।१।३।१६ : अथैतत्तुरीयं वाचोऽनिरुक्तं यत्पशवो वदन्त्यथतत्तुरीयं वाचोऽनिरुक्तं यद्वयांसि वदन्त्यथं०....यदिदं क्षुद्रं सरीसृपं वदति। निरुक्त ११।२९ में इसी अनिरुक्त वाक् के लिए अव्यक्त विशेषण का प्रयोग किया गया है।

६. चत्वारि वाक् परिमिता पदानि तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः। गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति॥ ऋ.सं. १।१६४।४५॥

मनुष्येतर-भाषाओं में भी शब्द ही प्रयुक्त होते हैं[1]। परन्तु प्रकृत में उन भाषाओं पर विचार करना अप्रासङ्गिक है। निरुक्त आदि शास्त्रों द्वारा मनुष्य की भाषा पर ही विचार किया गया है। अतः हमारे विचार का विषय भी वही है।

शब्द और पद में अन्तर। शब्द √शब्द्+घञ् से निष्पन्न है[2]। मैत्रेय के अनुसार √शब्द् का अर्थ शब्दक्रिया है[3]। मूलगत शब्द से ही अर्थनिर्देश किये जाने के कारण शब्द के वास्तविक अर्थ पर इस अर्थनिर्देश से कोई प्रकाश नहीं पड़ता। शब्द के अर्थ के इतिहास से विदित होता है कि शब्द का आदिम अर्थ ध्वनि अर्थात् स्वन (अंग्रेजी साउण्ड्, फ्रेंच सां) है[4]। यह ध्वनि दो प्रकार की होती है: (क) वेणु, शङ्ख या अन्य किसी उपकरण से वायु के आघात से उत्पन्न क्वणन, थपक, धमक आदि अव्यक्त ध्वनि[5]। (ख) स्थान और करण से पुरुष-प्रयत्न द्वारा उच्चारित व्यक्त-ध्वनि। यह दूसरे प्रकार की ध्वनि वर्ण कहलाती है[6]। एक वर्ण अथवा वर्णों के समुदाय को अक्षर कहते हैं[7]। अक्षर का प्रयोग तीन अर्थों में हुआ है: (क) अ, आ इत्यादि स्वर अक्षर हैं[8]। (ख) अंग्रेजी के सिलेबल (syllable) के लिए भी अक्षर शब्द प्रयुक्त

१. पक्षियों की बोली पर अध्ययन कर के उनकी भाषा के दो शब्दकोष पश्चिम के विद्वानों ने प्रकाशित किए हैं।

२. द्र. शब्दस्तोममहानिधिः।

३. द्र. माधवीय धातुवृत्ति, पृष्ठ ३६०, धातुसूत्र १७९: मैत्रेयस्तु....शब्द शब्दक्रियायामिति पठित्वा शब्दयतीत्याह।

४. द्र. महाभाष्य, पस्पशाह्निक, पृष्ठ ७: शब्दं कुरु। शब्दं मा कार्षीः। ध्वनिं कुर्वन्नेवमुच्यते। और अमर कोष, पङ्क्ति ३५५-३५७ शब्दे निनादनिनदध्वनिध्वान-रवस्वनाः। स्वाननिर्घोषनिर्ह्रादनादनिस्वाननिस्वनाः। आरवारावसंरावविरावाः....।

५. द्र. शुक्लयजुः प्रातिशाख्य १।८ सङ्कुरोप। और इस पर उव्वट: सम्यक करणैरुपहितो हृदि वायुर्वेणुशब्दादिभिः शब्दोभवति।

६. द्र. वही १।६: ससङ्घातादीन् वाक्। और उव्वट: सङ्घातः पुरुषप्रयत्नः, स आदो येषां स्थानादीनां ते सङ्घातादयः। तान्प्राप्य वाग्भवति वर्णो भवतीत्यर्थः। और तैत्तिरीय प्रातिशाख्य २२।१-२: शब्दः प्रकृतिः सर्ववर्णानाम्। तस्य रूपान्यत्वे वर्णान्यत्वम्।

७. द्र. वही ८।३९-४०: वर्णसमुदायोऽक्षरम्। वर्णो वा।

८. द्र वही १।९९ स्वरोऽक्षरम्। और वहीं ८।४० पर उव्वट: व्यवस्थित-विभाषा चेयम्—स्वरः केवलोऽप्यक्षरं भवति, व्यञ्जनसमुदायस्तु स्वरसहित एवाक्षरं भवति। और तैत्तिरीय प्रा० २३।७ अक्षरव्यञ्जनानामनुपलब्धिर्ध्वानः।

यहाँ व्यञ्जन से पृथक् अक्षर का अर्थ स्वर ही है।

होता है[1]। (ग) क्वाचित्क रूप से वर्णमात्र को भी अक्षर कहते हैं[2]। एक वर्ण अथवा एक अक्षर अथवा अनेक वर्णों या अक्षरों के समुदाय को पद कहते हैं[3]। पद के विषय में उपर्युक्त विवरण केवल संरचना की दृष्टि से किया गया है। अतः यह लक्षण अधूरा है। इसे पूर्ण बनाने के लिए आचार्य इन्द्र ने पदत्व का आधार अर्थ माना है[4]। अर्थात् जिस एक वर्ण या अक्षर अथवा अनेक वर्णों या अक्षरों के समुदाय से किसी अर्थ (वस्तु, पदार्थ) का ज्ञान होता है, वह वर्ण/अक्षर या उनका समुदाय पद कहलाता है।

लोक में पद के लिए शब्द का भी प्रयोग होता है[5]। शब्द का आदिम अर्थ तो जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है ध्वनि होता है; किन्तु रूढा लक्षणा से पदार्थ को शब्दित कराने वाले पद को शब्द भी कहते हैं[6]। वस्तुतः शब्द और पद के अर्थ में अन्तर है। शब्द आम तौर पर प्रातिपदिक का पर्याय है[7]। पद वह शब्द कहलाता है, जिस में विभक्ति लगी हुई हो[8]। अर्थात् जिसका वाक्य में प्रयोग हो सकता हो वह

---

१. द्र. शुक्लयजुः प्रा. १।१००-१०१ : सहाद्यैर्व्यञ्जनैः। उत्तरैश्चावसितैः।

२. द्र. वही ८।४० : वर्णो वा। और मेदिनीकोश, पृष्ठ १३०, श्लोक १०९ : अक्षरं ब्रह्मवर्णयोः। तथा रामतापिन्युपनिषद् (उत्तर) : मकारस्तृतीयाक्षरो भवति।

३. द्र. बृहद्देवता २।११७ : वर्णसङ्घातजं पदम्। तैत्तिरीय प्रा. २३।३ : वर्णपृक्तः शब्दो वाच उत्पत्तिः। और कौटिलीय अर्थशास्त्र २।१०।२८ : वर्णसङ्घातः पदम्। एवं शुक्लयजुः प्रा. ८।४६-४७ : अक्षरसमुदायः पदम्। अक्षरं वा।

४. आचार्य दुर्ग द्वारा निरुक्त १।१ पर उद्धृत : अर्थः पदमैन्द्राणाम्। बृहद्देवता २।११७ : अर्थात्पदं स्वाभिधेयम्। और शुक्लयजुः प्रा. ३।२ : अर्थः पदम्।

५. द्र. महाभाष्य, पस्पशा, पृष्ठ ७ : प्रतीतपदार्थको लोके ध्वनिः शब्दः। और शृङ्गारप्रकाश १ : येनोच्चारितेनार्थः प्रतीयते स शब्दः।

६. द्र. अमरकोष,पङ्क्ति ३१४ : शास्त्रे शब्दस्तु वाचकः।

७. द्र. महाभाष्य १।२।६४, वार्तिक १८, पृष्ठ १२९ और वार्तिक २४, पृष्ठ १३८ पर पद तथा शब्द का अनेकशः प्रयोग। और अष्टाध्यायी १।२।४५ अर्थवदधातुरप्रत्ययः प्रातिपदिकम् पर काशिका तथा सिद्धान्तकौमुदी में शब्दरूपम् और शब्दस्वरूपम् का प्रयोग।

८. द्र. अष्टाध्यायी १।४।१४ : सुप्तिङन्तं पदम्। महाभाष्य १।२।६४, पृष्ठ १२९ : विभक्त्यन्तं च पदम्। रूपं चेहाभीयते। रूपनिर्ग्रहश्च शब्दस्य नान्तरेण लौकिकम्प्रयोगम्। तस्मिंश्च लौकिके प्रयोगे प्रातिपदिकानां प्रयोगो नास्ति।

शब्द पद कहलाता है[1]। कोशों में तथा व्यवहार में निर्देशमात्र के लिए प्रयुक्त होने वाले शब्द ही हैं। परन्तु भाषा की दृष्टि से शब्दों के प्रकारभेद आदि की विवेचना करते समय पद का ही प्रयोग होता है। परन्तु यह भेद बहुत सूक्ष्म एवं प्रायिक है। बहुधा लाक्षणिक रूप से शब्द और पद—दोनों—एक दूसरे के पर्याय के रूप में भी प्रयुक्त किए गए हैं[2]।

पद गत्यर्थक √पद् से करण में घ प्रत्यय से निष्पन्न होता है : **पद्यते=गम्यते-ऽर्थोऽनेनेति पदम्**[3]। अर्थात् पद वह है, जिससे अर्थ की प्रतीति होती है।

यह शब्द अथवा पद दो प्रकार का है :

(क) एकाक्षर : अ, इ, उ आदि अकेले वर्णों के अर्थ एकाक्षरकोशों में विशेष रूप में, तथा अमरकोष आदि कोशों में सामान्य रूप में बतलाये गए हैं[4]।

(ख) अनेकाक्षर : अश्व, पुरुष, गच्छति, किल, परा आदि। संस्कृत में एकाक्षरों की अपेक्षा अनेकाक्षर शब्द अधिक है।

वाक्य लक्षण : इस प्रकार के पदों के समूह को वाक्य कहते हैं : **पदसङ्घातजं वाक्यम्** (बृहद्देवता २।११७)। कौटिल्य के मत में जिस पदसमूह से प्रतिपाद्य की पूरी तरह प्रतीति हो जाए वह वाक्य कहलाता है : **पदसमूहो वाक्यमर्थपरिसमाप्तौ** (कौटिलीय अर्थशास्त्र, २।१०।२८)।

पद चार प्रकार के होते हैं. यह आगे बतलाया जायेगा। वक्ता अपने आशय की स्पष्टता के लिए द्रव्यवाचक, क्रियावाचक, उपसर्ग और निपात शब्दों में से चुन कर पदों का जो प्रयोग करता है, वही वाक्य कहलाता है। वाक्य में चार प्रकार के शब्दों में से द्रव्यवाचक पद और क्रिया पद साक्षात् या अर्थतः अवश्य होना चाहिए। उपसर्गों और निपातों की आवश्यकता होने पर उनका प्रयोग किया जा सकता है।

---

१. द्र. साहित्यदर्पण २।२ : वर्णाः पदं प्रयोगार्हानन्वितैकार्थबोधकाः। वाक्य के पदसङ्घातज वाक्यं लक्षण में भी यही तथ्य स्पष्ट है।

२. द्र. महाभाष्य १।२।६४ वार्तिक २६, पृष्ठ १४२ :.... केष्वर्थेषु लौकिकाः कान् शब्दान् प्रयुञ्जते—में प्रयोग के कर्म के रूप में शब्द लिए गए हैं, पद नहीं। अर्थात् कानि पदानि प्रयुञ्जते नहीं कहा है। जब कि वस्तुतः प्रयोग पद का ही होता है। इसी प्रकार पस्पशाह्निक, वार्तिक १, पृष्ठ ३२, में अनेक बार शब्दों के प्रयोग की बात कही गई है। पदों के प्रयोग की नहीं।

३. द्र. अष्टा ३।३।१२५ : खनो घ च। पर सिद्धान्त कौमुदी : पदं करणे घः तथा इस पर बालमनोरमा : पद्यते गम्यतेऽनेनेति विग्रहः। न्यास ३।१।६२।

४. अ-शब्दः स्यादभावेऽपि स्वल्पार्थ-प्रतिषेधयोः।

अनुकम्पायाञ्च तथा वासुदेवे त्वनव्ययम् ॥ मेदिनीकोश ॥

सारे द्रव्यपद साक्षात् या परोक्ष—किसी-न-किसी—रूपमें क्रियापद से अन्वित होते हैं। द्रव्यपद या तो कारक के रूप में क्रिया से अन्वित होते हैं, या किसी कारक द्रव्यपद का विशेषण बन कर उसके माध्यम से, या साक्षात् क्रिया के विशेषण बन कर क्रिया से अन्वित होते हैं। अतः वाक्य का लक्षण हुआ :

कारक नामपदों, कारक-विशेषण नामपदों क्रिया-विशेषण नामपदों तथा (यदि आवश्यकता हो तो) उपसर्गों, निपातों से युक्त तिङन्त क्रिया पद वाक्य होता है[1]।

और भी सङ्क्षेप यदि अभीष्ट हो तो सविशेषण तिङन्त क्रियापद ही वाक्य होता है—यह भी कहा जा सकता है। सभी शब्द साक्षात् या परम्परया क्रियाशब्द की ही विशेषता बताते हैं। कारक, कारकविशेषण, क्रियाविशेषण आदि भेद तो इसी का व्याख्यान हैं[2]।

यदि सम्भ्रम आदि के कारण क्रियापद का एकाधिक बार प्रयोग होता है, तो भी एक ही क्रिया को कहने के कारण वह एकाधिक बार प्रयोग एक ही माना जायेगा[3]। अर्थात् वह पद-समुदाय वाक्य कहलाता है, जिसमें एक क्रिया साक्षात् या अध्याहार से प्रकट की गई हो, तथा शेष पद उस क्रिया की विशेषता बतलाते हों।

वाक्य में प्रयुक्त शब्दों के लिए तीन बातें आवश्यक हैं :

(क) वाक्यगत पदों के अर्थों के सम्बन्धों में कोई बाधा न हो। जैसे जलेन क्षेत्रं सिञ्चति में यह सम्बन्ध अबाधित है। अतः यह पदसमुदाय वाक्य है। किन्तु वह्निना सिञ्चति में यह सम्बन्ध बाधित है। अतः एक-व्यापार-वाचक सविशेषण क्रियापद के होते हुए भी यह पदसमुच्चय वाक्य नहीं कहलायेगा।

(ख) वाक्यगत पद परस्परनिरपेक्ष न हों, अपि तु एक दूसरे की आकाङ्क्षा रखते हों। जैसे अश्वेन रामो ग्रामं गच्छति पदसमुच्चय में हरेक[4] शब्द साकाङ्क्ष है,

---

१. द्र. महाभाष्य २।१।१ वा० ९, भाग २, पृ. ५३२ : आख्यातं साव्यय-कारकविशेषणं वाक्यम्।

२. द्र. महाभाष्य, २।१।१, वा. ९, पृ. ५३३, अपर आह—आख्यातं सविशेषणमित्येव। सर्वाणि ह्येतानि क्रियाविशेषणानि। पूर्वमीमांसा-दर्शन २।१।४६ : अर्थैकत्वादेकं वाक्यं साकाङ्क्षं चेद् विभागे स्यात्। अमरकोश : क्रिया वा कारकान्विता। हेमचन्द्र १।१।२१ : सविशेषणमाख्यातं वाक्यम्।

३. द्र. महाभाष्य वही स्थल वा० १० : एकतिङ्। तथा इस पर प्रदीप : एकशब्दः समानवचनो, न तु सङ्ख्यावाची। विस्तर के लिए उद्योत भी देखें।

४. हिन्दी के पछी-धोरी (पूरबी यू. पी. के भइया) चौंकें नहीं, यह हर-एक का पछाँही रूप है।

अतः यह पदसमूह वाक्य है। पर रामो ग्रामो गच्छति अश्वः पदसमूह के पद केवल निर्देशक विभक्ति से युक्त होने के कारण निराकाङ्क्ष हैं। अतः यह पदसमूह वाक्य नहीं है।

(ग) वाक्यगत पद एक दूसरे के निकट हों, अर्थाविबोध कराने की प्रक्रिया में अलग-थलग न पड़े हों। जैसे गिरिरग्निमान् दृश्यते, देवदत्तेन मोदको भुक्तः इन दो पदसमूहों में पदों के सम्बन्ध भी अबाधित हैं, पद परस्पर साकाङ्क्ष और एक-दूसरे के निकट भी हैं। अतः ये दोनों वाक्य हैं। परन्तु इन्हीं को उलटने-पुलटने पर गिरि-भुक्तः, मोदकोऽग्निमान् देवदत्तेन पदों के समूह में यथायोग्य सम्बन्धार्थक विभक्ति तथा योग्यता होने पर भी विभक्तियों से अन्वीयमान पदों की अपेक्षित निकटता नहीं है। अतः यह पदों का गड्डमगड्डा ही है, वाक्य नहीं[1]।

यहाँ एक बात ध्यान में रखनी उचित है। श्लोक में छन्द को ही प्रमुखता मिलने के कारण अन्वीयमान पदों के नैकट्य को बहुत ध्यान में नहीं रखा जाता। अर्थाविबोध के लिए खण्डान्वय करना पड़ता है। पर वहाँ भी अर्थावगमन में बाधा डालने वाली अनिकटता यदि है, तो वह दोष ही होती है। इसी लिए अलङ्कार-शास्त्र में दूरान्वय आदि दोष बतलाए गए हैं[2]।

इस विवरण से यह स्पष्ट है कि भाषा में शब्दों का बहुत महत्वपूर्ण स्थान है। भाषा का विशाल महालय वर्णों की मिट्टी से बने शब्दों की ईंटों से ही बना हुआ है। भाषा का व्याकरण करने वाले शास्त्र के लिए प्रचलित शब्दानुशासन नाम भी शब्दों के इसी महत्त्व को प्रकट करता है। निघण्टुकार ने भी इसी महत्त्व को दृष्टि में रख कर निघण्टु में वैदिक शब्दों का समाम्नान किया है। निघण्टुगत उन पदों की व्याख्या करने से पूर्व उनका वर्गीकरण, उन वर्गों के लक्षण तथा उन से सम्बद्ध अन्य बातें बतलाना बहुत आवश्यक है। यही कारण है कि सीधे ही निघण्टुगत पदों की व्याख्या प्रारम्भ न करके आचार्य यास्क ने सवा अध्याय अपनी व्याख्या के सैद्धान्तिक पक्ष को स्पष्ट करने के लिए पहले लिखा है। उसी सैद्धान्तिक पक्ष के अङ्गभूत है पदविभागविचार। पदविभाग प्रमुख रूप से दो दृष्टियों से किया जाता है :

---

१. द्र. वाक्यपदीय २।४ : साकाङ्क्षावयवं भेदे परानाकाङ्क्षशब्दकम्। क्रिया-प्रधानं गुणवदेकार्थं वाक्यमिष्यते ॥ तथा साहित्यदर्पण २।१ : वाक्यं स्याद् योग्यताऽऽ-काङ्क्षासत्तियुक्तः पदोच्चयः। तथा इसकी वहीं पर व्याख्या।

२. द्र. काव्यप्रकाश (भाण्डार. संस्करण, १९३३ ई०) पृ० २८४ : क्लिष्टं यतोऽर्थप्रतिपत्तिर्व्यवहिता। पृष्ठ ३०४ पर सम्बन्ध में क्लिष्टता को वाक्यदोष बतलाया है। पृष्ठ ३६२ पर सङ्कीर्ण भी देखें।

(१) ऐतिहासिक दृष्टि । देश और काल विशेष को आधार मान कर तत्सम, तद्भव, अपभ्रष्ट आदि वर्गों में पदों का विभाजन ऐतिहासिक पदविभाग कहलाता है। इस दृष्टि से यास्क ने पदों के दो विभाग किये हैं: भाषिक शब्द तथा नैगम शब्द[१]। भाषिक शब्द लोक में बोले जाते हैं तथा नैगम शब्द वैदिक साहित्य में प्रयुक्त हैं। यों, मोटे तौर पर वैदिक शब्द और लौकिक शब्द समान ही हैं[२]।

(२) व्याकरण दृष्टि । शब्दों का व्याकरण अनेक आधारों पर होता है :—

(क) प्रवृत्तिनिमित्त के आधार पर । किसी शब्द की प्रवृत्ति=लोक या वेद में चलन का निमित्त क्या है, इस आधार पर शब्दों का वर्गीकरण इस वर्ग में है। जैसे :—

(अ) आचार्य इन्द्र का मत है कि शब्द की प्रवृत्ति किसी अर्थ को प्रकट करने के लिए होती है, अतः अर्थाभिधायक रूप में पद एक ही प्रकार का है[३]।

(आ) शब्द की प्रवृत्ति जाति, गुण, क्रिया और यदृच्छा को प्रकट करने के लिए होती है। अतः शब्द चार प्रकार के हैं :—जाति शब्द, गुणशब्द, क्रियाशब्द, और यदृच्छा शब्द[४]।

(ख) व्युत्पत्तिनिमित्त अर्थात् रचना के आधार पर। प्रकृति-प्रत्यय आदि की कल्पना करके, प्रकृति से शब्दों के बनने को आधार मान कर शब्दविभाग करना इस वर्ग के अन्तर्गत आता है। जैसे :— धातु से तिङ्, कृत् प्रत्यय लगा कर बनने वाले शब्द क्रमशः तिङन्त और कृदन्त कहलाते हैं। नाम से तद्धित प्रत्यय लगा कर बनने वाले शब्द तद्धित या तद्धितान्त कहलाते हैं। पदों का आपस में समास होकर समास शब्द बनते हैं[५]।

---

१. द्र. निरुक्त २।२ : अथापि भाषिकेभ्यो धातुभ्यो नैगमाः कृतो भाष्यन्ते दमूनाः, क्षेत्रसाधा इति। अथापि नैगमेभ्यो भाषिकाः—उष्णं घृतमिति। अथापि प्रकृतय एवैकेषु भाष्यन्ते, विकृतय एकेषु। शवतिर्गतिकर्मा कम्बोजेष्वेव भाष्यते, विकारमस्यार्येषु भाषन्ते—शव इति। दातिर्लवनार्थे प्राच्येषु, दात्रमुदीच्येषु। और वही १।४ : इवेति भाषायाञ्चान्वध्यायञ्च। इत्यादि अनेक स्थल भी देखें।

२. द्र. निरुक्त १।२ : अणीयस्त्वाच्च शब्देन सञ्ज्ञाकरणं व्यवहारार्थं लोके। तेषां मनुष्यवद्देवताऽभिधानम्।

३. द्र. दुर्ग १।१ : नैकं पदजातम् यथाऽर्थः पदमैन्द्राणामिति।

४. द्र. महाभाष्य १।१।२, पृष्ठ ७१, : चतुष्टयी शब्दानां प्रवृत्तिर्जातिशब्दा, गुणशब्दाः, क्रियाशब्दा यदृच्छाशब्दाश्चतुर्थाः।

५. द्र. शुक्लयजुः प्रा. १।२७ : तिङ्कृत्तद्धितचतुष्टयसमासाः शब्दमयम्।

(ग) प्रयोग के तरीके के आधार पर। बोलने में शब्द दो प्रकार से प्रयुक्त हैं :

(अ) दृष्टव्यय। वे शब्द जिनके विभिन्न प्रकार के रूप प्रयोग में आते हैं[1]। इस वर्ग के शब्दों के भी दो प्रकार हैं : सुबन्त और तिङन्त[2]।

(आ) अव्यय। जिन शब्दों के विभिन्न लिङ्गों, विभक्तियों और वचनों में रूप नहीं चलते[3]। अर्थात् वाक्य में जिन्हें ज्यों-का-त्यों, बिना किसी विकार के, रख दिया जाता है, उन्हें अव्यय कहते हैं।

पाणिनि ने अपने शास्त्र की अनुकूलता के लिए अव्ययों को दृष्टव्यय शब्दों के एक भेद सुबन्त के अन्तर्गत माना है, जिन के सुप् प्रत्ययों का उनके तन्त्र में लोप कर दिया गया है[4]।

यास्क उपर्युक्त सब आधारों से भली भाँति परिचित हैं[5]। किन्तु उन्होंने उन को मान कर पद विभाग नहीं किया है। उन्होंने प्रवृत्ति-निमित्त (२क) और प्रयोग की पद्धति (२ग) को दृष्टि में रखकर अपना पदविभाग प्रस्तुत किया है। जाति, गुण और यदृच्छा वाचक शब्दों में सत्त्व की प्रधानता ही प्रवृत्तिनिमित्त है। अतः इन तीनों प्रकार के शब्दों को उन्होंने नामवर्ग में माना है। सञ्ज्ञी (सत्त्व) के लिए प्रयुक्त शब्द ही नाम है। सञ्ज्ञी की क्रिया को प्रकट करने वाले शब्द को इन्होंने आख्यात नाम दिया है। अव्यय शब्दों में से, नाम और आख्यात के साथ लग कर ही अर्थाभिधान करने वाले शब्द को उपसर्ग कहा है, तथा शेष अव्ययों में से वाक्य में विविध अभिप्रायों से जहाँ-कहीं प्रयुक्त होने वाले शब्दों को निपात कहा है[6]। यास्क के अनुसार शब्द के सामान्य भेद हैं : दृष्टव्यय और अव्यय[7]; विशेष भेद हैं : नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात।

---

१. द्र. निरुक्त १।८।५।२३ : दृष्टव्ययन्तु भवति।

२. द्र. अष्टाध्यायी १।४।१४ : सुप्तिङन्तं पदम्।

३. सदृशं त्रिषु लिङ्गेषु सर्वासु च विभक्तिषु।
वचनेषु च सर्वेषु यन्न व्येति तदव्ययम्॥ गोपथ ब्राह्मण १।१।२६॥

४. द्र. अष्टाध्यायी २।४।८२ : अव्ययादाप्सुपः।

५. द्र. २।१-३ में यास्क ने व्याकरण की बहुत सी सूक्ष्म प्रवृत्तियों को बड़े साधारण-से ढंग से प्रस्तुत किया है।

६. द्र. निरुक्त १।१,३-११। तथा यास्क के आधार पर ही शौनक (ऋ. प्रा. १२।२५) और कात्यायन (शुक्लय जु: प्रा. ८।४६) का निम्न श्लोक :

क्रियावाचकमाख्यातमुपसर्गो विशेषकृत्।
सत्त्वाभिधायकं नाम निपातः पादपूरणः॥

७. यास्क ने अव्यय शब्द का प्रयोग तो नहीं किया है, पर दृष्टव्यय शब्द के आधार पर कहा जा सकता है कि अव्यय की कल्पना से वे अपरिचित नहीं होंगे।

नैरुक्तों ने पाणिनिसम्मत अव्ययों में से कुछ **स्वर्** आदि सत्ववाचक शब्दों को—तो **नाम** पदों में, **च** आदि असत्ववाचक शब्दों को **निपातों** में मान लिया है। **प्र** आदि असत्ववाचक पदों को **उपसर्ग** कह दिया गया, तथा तिङन्तों को **आख्यात** नाम दे दिया गया। सुबन्त, तिङन्त और अव्यय सञ्ज्ञाएँ जहाँ व्याकरण की प्रकृतिप्रत्यय विभाग की कल्पना पर आधारित हैं, वहाँ नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात सञ्ज्ञाएँ वाक्य में उनके कार्य (function) पर आधारित हैं।

वैयाकरणों तथा नैरुक्तों की इसी दृष्टि से विचार करने वाले लोगों में एक पक्ष पदों के पाँच प्रकार मानता है। उनका मन्तव्य है कि पाणिनीय तन्त्र में **अति** आदि कुछ असत्ववाचक पद कुछ विशेष परिस्थितियों में **कर्मप्रवचनीय** के रूप में प्रसिद्ध हैं। उन परिस्थितियों में वे **उपसर्ग** नहीं माने जाते। अतः उनको सम्मिलित करके पदों के **नाम, आख्यात, उपसर्ग, कर्मप्रवचनीय** और **निपात**—ये पाँच भेद माने जाने चाहिएँ[1]।

परन्तु यह मत उचित नहीं है। क्योंकि :—

(क) ये कर्मप्रवचनीय भी क्रियावाचक शब्द का प्रयोग न करके ही क्रिया-विशेष के साथ सम्बन्ध बतलाते हैं, अतः वस्तुतः क्रियाविशेष को ही प्रकट करने से क्रिया से युक्त हैं और फलतः उपसर्ग भी हैं ही[2]। जैसे—**अप त्रिगर्तेभ्यो वृष्टो देवः**। (त्रिगर्त को छोड़कर वर्षा हुई।) वाक्य में **अप** कर्मप्रवचनीय है। इसका सम्बन्ध **छोड़कर** क्रिया (अनुक्त) से है ही। पाणिनि ने अपनी सुविधा के लिए तथा इनके इस विशिष्ट चरित्र (कर्म=क्रिया को कहना) को स्पष्ट करने के लिए ही इन्हें उपसर्गों से अलग कर्मप्रवचनीय नाम दिया है।

(ख) यदि उपसर्गों के अन्तर्गत कर्मप्रवचनीयों को न मानें तो भी पाणिनि के अनुसार इनकी निपात सञ्ज्ञा भी होने[3] के कारण इनका निपातों में अन्तर्भाव न्याय-सङ्गत है। अतः पाँचवाँ वर्ग मानना अनावश्यक है।

पाणिनि को सम्मत (दृष्टव्यय) सुबन्त तो नामपद हैं ही, अव्यय सुबन्तों में भी **स्वर्** आदि सत्वाभिधायी शब्दों का अन्तर्भाव नामपदों में ही होता है। **च** आदि असत्वाभिधायक निपात अव्ययों का यास्क के निपातों में और पाणिनि के उपसर्गों, गति तथा कर्मप्रवचनीय पदों का अन्तर्भाव उपसर्गपदों में हो जाता है।

---

१. द्र. **द्विधा कैश्चित्पदं भिन्नं चतुर्धा पञ्चधाऽपि वा।**
अपोद्धृत्यैव वाक्येभ्यः प्रकृतिप्रत्ययादिवत् ॥ वा. प. ३।१।१॥

२. द्र. सर्वदर्शनसङ्ग्रह पाणिनिदर्शन, पृष्ठ १५८ : **कर्मप्रवचनीयास्तु क्रियाविशेषोपजनितसम्बन्धावच्छेदहेतव इति सम्बन्धविशेषद्योतनद्वारेण क्रियाविशेष-द्योतनादुपसर्गेष्वेवान्तर्भवन्ति।**

३. द्र. काशिका : १।४।५८ : **प्रादयोऽसत्वे निपातसञ्ज्ञा भवन्ति।**

प्रकृत–पदविभाग का इतिहास

नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात की चर्चा ग्रन्य कुछ व्याकरण की पारिभाषिक सञ्ज्ञाओं के साथ, सबसे पहले ब्राह्मण-ग्रन्थों में गोपथब्राह्मण (१।१।२४, २७) में दो बार मिलती है। वहाँ धातु, प्रातिपादिक, अव्यय, नाम, आख्यात उपसर्ग और निपात—यह पदविभाग-सम्बन्धी, तथा लिङ्ग, विभक्ति, वचन, प्रत्यय, स्वर—यह व्युत्पत्ति अर्थात् पदरचना से सम्बद्ध शब्दावली मिलती है[1]। किन्तु गोपथ से हमें कोई प्रामाणिक सूचना नहीं मिलती। इसमें दो कारण हैं :

१. गोपथ से यह स्पष्ट नहीं होता कि गोपथ के प्रवक्ता आचार्य पदविभाग के सम्बन्ध में नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात सञ्ज्ञाओं के वर्ग को प्रश्रय देते हैं, या धातु, प्रतिपदिक और अव्यय सञ्ज्ञाओं के वर्ग को! उन्होंने दोनों वर्गों में किसी प्रकार का भेदभाव किये बिना सब शब्दों को अव्यवस्थित रूप में एक स्थान पर सङ्कुलित भर कर दिया है। इससे हम कोई ऐतिहासिक निष्कर्ष नहीं निकाल सकते।

२. गोपथ की भाषा, शैली, विषयवस्तु तथा उसका आधारग्रन्थ वैतानसूत्र ऐतिहासिक दृष्टि से इस प्रकार के हैं कि विद्वानों को उसकी प्राचीनता पर सन्देह है[2]। अतः उसे ऐतिहासिक विवेचन में निर्भ्रान्त आधार नहीं माना जा सकता।

नामन् शब्द का सञ्ज्ञा अर्थात् अभिधान के रूप में प्रयोग वेदसंहिताओं में मिलता है। शतपथब्राह्मण के एक स्थल से निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि सञ्ज्ञा-वाचक नाम शब्द शब्द अर्थात् पद के पर्याय के रूप में शतपथ के आचार्य को इष्ट था[3]। प्रत्येक शब्द वास्तव में तो किसी अर्थ की सञ्ज्ञा ही है, चाहे वह अर्थ द्रव्य हो, चाहे द्रव्येतर क्रिया। हमारे कथन का आशय यह है कि शतपथब्राह्मण में नाम शब्द

---

१. द्र. १।१।२४ : ओङ्कारं पृच्छामः — को धातुः ? किं प्रातिपदिकम् ? किं नामाख्यातम् ? किं वचनम् ? का विभक्तिः ? कः प्रत्ययः ? कः स्वरः, उपसर्गो, निपातः ? किं वै व्याकरणम् ? को विकारः ? को विकारी ? कतिमात्रः ? कतिवर्णः ? कतिपदः ? कः संयोगः ? किं स्थानानुप्रदानकरणम् ? शिक्षकाः किमुच्चारयन्ति ? किं छन्दः ? को वर्ण इति पूर्वे प्रश्नाः। १।१।२७ : आख्यातोपसर्गानुदात्तस्वरितलिङ्ग-विभक्तिवचनानि च संस्थानाध्यायिनः पूर्वे बभूवुः। श्रवणादेव प्रतिपद्यन्ते, न कारणं पृच्छन्ति।

२. द्र. मैक्डानल्, ए हिस्ट्री आफ सं. लि., पृ. १८३–१८४।

३. द्र. १४।४।४।१ : त्रयं वा इदं नाम, रूपं कर्म। तेषां नाम्नां वागित्येतद् एषामुक्थम्, अतो हि सर्वाणि नामान्युत्तिष्ठन्ति। एतदेषां साम, एतद् धि सर्वैर्नामभिः समम्। एतदेषां ब्रह्म, एतद् धि सर्वाणि नामानि बिभर्ति।

का प्रयोग नाम शब्द के रूढ अर्थ के साथ-साथ नाम, आख्यात आदि सब (पदमात्र) के लिए किया गया है, तथा नाम, आख्यात आदि पारिभाषिक सञ्ज्ञाओं का प्रयोग अन्य प्राचीन ब्राह्मणग्रन्थों में नहीं मिलता।

पदविभाग के रूप में इन सञ्ज्ञाओं का सर्वप्रथम तथा स्पष्ट निर्देश यास्काचार्य के निरुक्त (१।१,३,१२;१३।६) में मिलता है। यास्क का कथन है कि यह पदविभाग वैयाकरण आचार्यों का किया हुआ है[1]। इस कथन की पुष्टि शौनक के ऋक्प्रातिशाख्य (१२।१७) से भी होती है। वैयाकरणों में कौन आचार्य इस पदविभाग के उद्भावक हैं, इस पर निरुक्त में कोई प्रत्यक्ष या परोक्ष सङ्केत नहीं दिया गया है। हाँ, शाकटायन आदि प्राचीन आचार्यों के मतों को प्रस्तुत करते समय के प्रसङ्ग से इतना अवश्य विदित होता है कि उस काल में यह पदविभाग ही उपदेशपरम्परा में सुप्रचलित एवम् एकमात्र मान्यताप्राप्त सिद्धान्त था।

निरुक्त के बाद इस पदविभाग का उल्लेख प्रातिशाख्यों[2], बृहद्देवता[3], कौटिलीय अर्थशास्त्र[4], मीमांसासूत्र[5], महाभाष्य[6], और नाट्यशास्त्र[7], में मिलता है।

अष्टाध्यायी में प्रमुख पदविभाग सुबन्त, तिङन्त और अव्यय के रूप में ही किया गया है[8]। सुबन्तों के लिए प्रातिपदिक शब्द का प्रयोग किया गया है, तथा उपसर्ग और निपात अव्यय शब्दों के अवान्तर भेद के रूप में वर्णित हैं[9]। नाम और आख्यात का तो उन्होंने नामोल्लेखमात्र किया है[10]। परन्तु इस नामोल्लेखमात्र से भी यह सूचित होता है कि उस समय तक यह पदविभाग न केवल प्रसिद्ध ही हो चुका था, अपितु नामपदों और आख्यातपदों पर अलग-अलग नामिक तथा आख्यातिक के नाम से, तथा दोनों पर इकट्ठे नामाख्यातिक के नाम से स्वतन्त्र ग्रन्थ तथा उन पर

---

१. द्र. १३।६ : चत्वारि वाक्परिमिता पदानि (ऋ. सं. १।१६४।४५)....कतमानि चत्वारि पदानि ? ओङ्कारो महाव्याहृतयश्चेत्यार्षम्। नामाख्याते चोपसर्गनिपाताश्चेति वैयाकरणाः।

२. ऋक्प्रा. १२।१७। शुक्लयजु : प्रा. ८।५२।

३. द्र. १।३९, ४२-४५; २।८९-९५।

४. द्र. २।१०, पण्डितपुस्तकालय सं., पृ. १११। ५. द्र. २।१।

६. द्र. १।१।१, पृ. १७-१८। ७. द्र. १५।२१।

८. द्र. अष्टाध्यायी, १।४।१४ : सुप्तिङन्तं पदम्। तथा १।१।३७; २।४।८२।

९. द्र. अष्टाध्यायी, १।४।५६ से प्रारब्ध निपातप्रकरण में उपसर्ग भी आ गये हैं। निपातसञ्ज्ञा का प्रयोजन इनकी अव्यय सञ्ज्ञा है : स्वरादिनिपातमव्ययम् ।१।१।३७।

१०. द्र. वही ४।३।७२ : द्व्यजृद्ब्राह्मणर्क्प्रथमाध्वरपुरश्चरणनामाख्याताट्ठक्।

टीकाएँ भी लिखी जा चुकी थीं[1]।

आचार्य शौनक ने इस पदविभाग का क्रम कुछ बदल कर उपसर्ग, निपात, नाम और आख्यात कर दिया है[2]। स्यात् यह परिवर्तन छन्द के बन्धन पर किया गया है।

व्याकरण और निरुक्त में दृष्टि-भेद

प्रकृत पदविभाग के विषय में एक बात को ध्यान में रखना उचित होगा। व्याकरण शब्दनिर्वचन शास्त्र है[3]। इसमें प्रमुख रूप से शब्द की रचना बतलायी जाती है। अतः इस शास्त्र में पदविभाग भी रचनाविधा के वैशिष्ट्य के आधार पर ही होता है। निरुक्त प्रमुख रूप से अर्थ निर्वचन शास्त्र है, अर्थात् इसमें शब्द के अर्थ के अनुरूप ही प्रकृति-प्रत्यय की योजना कल्पित होती है। स्वर-संस्कार अर्थात् व्याकरण शास्त्र की बारीकियाँ, इसमें बिल्कुल गौण हो जाती हैं[4]। फलतः इसके पदविभाग में भी यही दृष्टि प्रमुख रहती है। इसी लिए सुबन्त, तिङन्त आदि के रूप में पदविभाग नैरुक्तों को इष्ट नहीं है। अपितु सत्त्व और भाव रूप अर्थ को ही प्रधानतया दृष्टि में रख कर पदविभाग किया गया है। उपसर्गों और निपातों के प्रसङ्ग में भी ये किस प्रकार के अर्थ को किस प्रकार प्रकट करते हैं, यही ध्यान में रखा गया है।

शब्द अनित्य होने से पदविभाग अनुचित है

आचार्य औदुम्बरायण का मत है कि शब्द जब तक इन्द्रिय में रहता है, तब तक ही टिकता है[5]। न उससे पहले है, और न उसके बाद रहता है। अतः शब्द अनित्य है। अर्थात् वक्ता की वागिन्द्रिय में और श्रोता की श्रोत्रेन्द्रिय में जब तक शब्द है, तब तक ही वह है। उसके पहले या बाद में शब्द का अस्तित्व नहीं रहता। जैसे–एक

---

१. द्र. अष्टा० ४।३।७२ द्व्यजृद्— सूत्र तस्य व्याख्यानमिति च व्याख्यातव्यनाम्नः (६६) के अधिकार में आता है। नामिक, आख्यातिक और नामाख्यातिक ग्रन्थों का अस्तित्व इस सूत्र पर कात्यायन के वार्तिक नामाख्यातग्रहणं सङ्घातविगृहीतार्थम् से सिद्ध होता है। महाभाष्य पृ. ७७१ भी देखें।

२. उपसर्गो निपातश्च नाम चाख्यातमित्यपि। बृहद्देवता १।३६॥

३. द्र. महाभाष्य, १।१।१, पस्पशा, पृष्ठ १ : अथ शब्दानुशासनम्। उद्योत, पृष्ठ ३।

४. द्र. निरुक्त २।१ : अर्थनित्यः परीक्षेत केनचिद् वृत्तिसामान्येन।... न संस्कारमाद्रियेत। विशयवत्यो हि वृत्तयो भवन्ति।

५. द्र. निरुक्त १।२ : इन्द्रियनित्यं वचनमौदुम्बरायणः।

वाक्य बोलते समय जब तक नाम शब्द इन्द्रिय में है, तब तक कोई दूसरा शब्द इन्द्रिय में नहीं होता, क्योंकि एक बार के प्रयत्न से एक ही शब्द का उच्चारण हो सकता है। अतः उच्चार्यमाण शब्द अविनष्ट है, एवम् उच्चारित शब्द विनष्ट है। फलतः अविनष्ट और विनष्ट शब्दों को लेकर पद चार प्रकार के होते हैं–यह नहीं कहा जा सकता[1]। जब तक सब शब्द इकट्ठे न हों, तब तक यह नाम पद एक, यह आख्यात पद दो, यह उपसर्ग पद तीन—इस प्रकार पदविभाग करना उचित नहीं है।

इसी प्रकार वागिन्द्रिय में एक साथ उत्पन्न नहीं हुए शब्दों में यह (आख्यात) अमुक (नाम) की अपेक्षा प्रधान है, नाम आख्यात के आगे गौण हो जाता है—नमति प्रह्वो भवति—इत्यादि गौण-प्रधानभाव बतलाना भी उचित नहीं है[2]।

नैरुक्त लोग शब्द में वर्ण का आगम, अदल-बदल होना आदि कुछ बातें मानते हैं[3]। ये बातें (शास्त्रकृत योग), अथवा व्याकरण शास्त्र में प्रतिपादित उपसर्ग धातु के साथ प्रयुक्त होता है, धातु प्रत्यय के साथ, अमुक प्रत्यय लगाने से धातु में अमुक विकार होता है—इत्यादि बातें भी उचित नहीं हैं[4]।

शब्द नित्य है, किन्तु पदविभाग अनुचित

कुछ लोग ऊपर उद्धृत अयुगपदुत्पन्नानाम् (द्र. टि. २) पाठ (सन्धिविच्छेद) को न मान कर युगपदुत्पन्नानाम् पाठ मानते हैं। उनके मत में शब्द सृष्टि के प्रारम्भ में हिरण्यगर्भ से एक साथ (युगपद्) उत्पन्न हुए तथा वे नित्य हैं। तब वे परस्पर गौण या प्रधान कैसे हो सकते हैं? भैंस एक साथ उत्पन्न हुए अपने दो सींगों में से किस को गौण माने और किस को प्रधान?

इसी प्रकार सृष्टिकाल में शब्द अखण्ड रूप में जैसे हैं, वैसे ही उत्पन्न हुए हैं। उनमें अमुक अंश प्रकृति है, अमुक अंश प्रत्यय इत्यादि कल्पना करना भी युक्तिसङ्गत नहीं है। अतः व्याकरणशास्त्रकृत प्रकृतिप्रत्ययादि योग भी उचित नहीं है।

इस प्रकार शब्द को अनित्य मानने वालों और नित्य मानने वालों—दोनों के ही अनुसार पदविभाग, गौण-प्रधानभाव और शास्त्रकृत योग उचित नहीं हैं[5]।

पद-विभाग उचित है

आचार्य यास्क ने इन दोनों पक्षों का उत्तर एक ही तर्क से दिया है—

---

१. द्र. वहीं : तत्र चतुष्ट्वं नोपपद्यते।

२. द्र. वहीं : अयुगपदुत्पन्नानां वा शब्दानामितरेतरोपदेशः।

३. वर्णागमो वर्णविपर्ययश्च द्वौ चापरौ वर्णविकारनाशौ।
धातोस्तदर्थातिशयेन योगस्तदुच्यते पञ्चविधं निरुक्तम्॥

४. द्र. निरुक्त १।२ : शास्त्र-कृतो योगश्च।

५. द्र. यहीं दुर्गटीका देखें।

व्याप्तिमत्त्वात्तु शब्दस्य (१.२)। अर्थात् शब्द चूँकि व्याप्तिमान्—व्यापनशील—है, अतः ये तीनों बातें उचित हैं। जैसे—

वक्ता के द्वारा उच्चारित **शब्द-व्यक्ति** (ध्वनि, sound) क्षण भर रह कर दूसरे क्षण ही नष्ट हो जाती है। किन्तु शब्द की **आकृति** (जाति, स्फोट) नष्ट नहीं होती। वह श्रोता की बुद्धि में अपने अर्थ को प्रतिपादित करके शब्दब्रह्म के रूप में जगत् को व्याप्त करके स्थित हो जाती है। जैसे—**राम** ध्वनिसमुदाय वक्ता की वाग् इन्द्रिय से अभिव्यक्त हो कर क्षण भर को स्थित होता है। किन्तु दूसरे ही क्षण नष्ट हो जाता है। परन्तु **शब्द-व्यक्ति** (ध्वनिसमुदाय) के नष्ट होने से पूर्व ही उसका एक संस्कार श्रोता की श्रवण इन्द्रिय के द्वारा ग्रहण कर लिया जाता है। शब्द यदि अनित्य हो, तो यह संस्कार उपपन्न नहीं हो सकता। किन्तु संस्कार होता अवश्य है। अतः इस से शब्द की **आकृति** (जाति) नित्य है, इस बात का अनुमान होता है। यह शब्दाकृति ही **स्फोट** कहलाती है। यह शब्द-स्फोट ही श्रोता की बुद्धीन्द्रिय में प्रतिष्ठित (व्याप्त) हो कर अर्थज्ञान कराता है। फलतः एक साथ उत्पन्न (अभिव्यक्त, उपलब्ध) न होते हुए भी ये शब्दस्फोट श्रोता की बुद्धि में स्थित होने से गिने तथा विभाजित किये जा सकते हैं। इसी प्रकार गौण-प्रधानभाव और शास्त्रकृत योग भी शब्द (-व्यक्ति) के अनित्य—इन्द्रियनित्य—होने पर भी उचित हैं।

शब्द को नित्य मान कर भी जो पदविभाग आदि को नहीं मानते, उनका समाधान भी यास्क ने उपर्युक्त युक्ति से ही किया है। जैसे—

शब्द प्रयोग करते समय ही उत्पन्न नहीं होते। यदि उत्पन्न होते हैं मान लिया जाये, तब तो **शब्द नित्य है** यह सिद्धान्त ही खण्डित हो जाता है। हिरण्यगर्भ से एक साथ उत्पन्न होने की बात मानने पर भी उनकी अभिव्यक्ति तो आवश्यकता के अनुसार अयुगपत् ही होती है। अतः अभिव्यक्ति को दृष्टि में रख कर पदविभाग आदि करना ठीक ही है। इसके अतिरिक्त, **समाम्नाय** में समाम्नात पदों के विशेष अर्थ शास्त्र के द्वारा तथा व्यवहार से निश्चित करके उन(अर्थों) के आधार पर सङ्क्षेप, सन्देह-निराकरण तथा वाङ्मय की रक्षा के लिए पदों को नाम, आख्यात आदि चार विभागों में बाँटना अनुचित नहीं है, अपितु उचित ही है। सींगों का जो उदाहरण दिया है, वह निर्णायक नहीं है। एक ही समय में उत्पन्न राजपुत्र तथा अमात्यपुत्र अपनी सहज विशेषता के कारण जैसे परस्पर गौण या प्रधान होते ही हैं, वैसे ही पद सृष्टि के प्रारम्भ में एक साथ उत्पन्न भले ही हों, किन्तु अपनी भाव-प्रधानता आदि सहज विशेषता के कारण आख्यात आदि चार श्रेणियों में बाँटे जाते हैं। तब इनका परस्पर गौण-प्रधानभाव और शास्त्रकृत योग भी उचित ही है।

डा० लक्ष्मणसरूप की व्याख्या। डा. लक्ष्मणसरूप ने इस प्रघट्टक की

व्याख्या दूसरे ढङ्ग से की है। उनका कहना है कि **औदुम्बरायण** के मत में शब्द अनित्य है। यास्क **तत्र चतुष्ट्वं....योगश्च** से इस धारणा का खण्डन करते हैं। अर्थात् यदि शब्द को अनित्य मान लिया तो न तो शब्दों का चतुर्विध विभाग उपपन्न होगा, न व्याकरणकृत योग उपपन्न होगा, और न एक साथ उत्पन्न नहीं की गई ध्वनियों का पारस्परिक सम्बन्ध ही उपपन्न होगा। डा. लक्ष्मणसरूप के मत में यास्क का आशय यह है कि जब ध्वनियाँ ही अनित्य हैं तो उन ध्वनियों का एक काल में एकत्र होना असम्भव होगा; फलतः ध्वनि-समुदाय-रूप पद ही नहीं बनेंगे। और जब तक पद एकत्रित न हों, उनका वर्गीकरण, गौणप्रधानभाव तथा शास्त्रीय योग सम्भव नहीं होगा। जब कि व्यवहार में ये सब बातें प्रत्यक्ष हैं। अतः व्यवहार से विरोध होने के कारण औदुम्बरायण का मत उचित नहीं है।

डा. लक्ष्मणसरूप के मत में **व्याप्तिमत्त्वात्तु शब्दस्याणीयस्त्वाच्च शब्देन सञ्ज्ञाकरणं व्यवहारार्थं लोके**— यह एक अलग वाक्य है। उनके अनुसार यास्क ने इस वाक्य में लोग-बाग अपने दैनिक व्यवहार में शब्द का प्रयोग क्यों करते है, यह दो हेतुओं के साथ बताया है। शब्द का विषयक्षेत्र व्यापक तथा सूक्ष्म (अणीयस्) है, इस लिए व्यवहार में वस्तुओं का निर्देश करने के लिए शब्दों का प्रयोग किया जाता है[1]।

व्याप्तिमत्त्वात्तु शब्दस्य वाक्य दुर्ग के मत में अधूरा है तथा इसकी पूर्ति के लिए **सर्वमेतदुपपद्यते** का अध्याहार करना पड़ता है[2]। तु का प्रयोग प्रसङ्ग या सिद्धान्त का भेद करने के लिए, या अवधारण (निश्चय) करने के लिए किया जाता है[3]। दुर्गानुसारी (ऊपर किए) व्याख्यान में यह पूर्वपक्ष से उत्तरपक्ष का भेद करने के लिए होसकता है। प्रा. राजवाडे (पृ. २२३) यही मानते हैं। किन्तु इस व्याख्या में **अणीयस्त्वाच्च शब्देन**....में समुच्चायक च से किस हेतुपद का समुच्चय होगा, यह स्पष्ट नहीं होता। डा. लक्ष्मणसरूप के व्याख्यान के अनुसार **व्याप्तिमत्त्वात्तु** ...में तु प्रसङ्ग बदलने के लिए और च दोनों हेतुओं (**व्याप्तिमत्त्वात्** तथा **अणीयस्त्वात्**) के समुच्चय के लिए प्रयुक्त हो सकता है। इस पक्ष में (**सर्वमेतदुपपद्यते** की तरह) अध्याहार भी नहीं करना पड़ता।

स्कन्दस्वामी ने (भाग १, पृ. १३ पर) **केचिदेवं व्याचक्षते** (कुछ लोग ऐसे व्याख्या करते हैं)— कह कर इस सन्दर्भ को इस प्रकार लगाया है: शब्द वागिन्द्रिय के व्यापार (उच्चारण) के बाद उपलब्ध होता है, न उससे पहले और न उसके बाद। शब्द इन्द्रियजन्य है तथा बोले जाने के तत्काल बाद नष्ट हो जाता है। वह इतनी देर

१. द्र. निघण्टु और निरुक्त, पृष्ठ ८२, ३१४, ३१८, ३१९।

२. द्र. दुर्ग : **तस्माद् व्याप्तिमत्त्वाच्छब्दस्य सर्वमेतदुपपद्यत इति वाक्यशेषः।**

३. द्र. **अमरकोष, पङ्क्ति २८१९ : तु स्याद् भेदेऽवधारणे।**

नहीं टिकता कि कई शब्द इकट्ठे हो सकें तथा उनकी गिनती की जा सके। अतः पद चार प्रकार के हैं—यह कहना गलत है।

युगपदुत्पन्नानां... अणीयस्त्वाच्च - आदि से इस आक्षेप का उत्तर दिया गया है। इसका आशय यह है कि शब्दों की उत्पत्ति नहीं होती, किन्तु अभिव्यक्ति होती है। प्रयोग से पहले ही शब्द है। उपयोक्ता लोग अर्थ को प्रकट करने के लिए उस अर्थ में प्रसिद्ध शब्दों का प्रयोग करते हैं। अतः युगपदवस्थान होने से पदों को चार प्रकार का बतलाना गलत नहीं है।

किन्तु प्राचीन काल से ही पदचतुष्ट्व की अनुपपत्ति आदि की युक्तियां औदुम्बरायण की ही हैं, यही पक्ष रहा है, न कि उन्हें यास्क के पक्ष से समझा गया है। भर्तृहरि ने कहा भी है :

वार्ताक्ष तथा औदुम्बरायण कहते हैं कि क्रिया की प्रधानता वाला आख्यात होता है, नामों में सत्त्व (द्रव्य) की प्रधानता होती है, पद चार प्रकार के होते हैं यह सब (हमारे सिद्धान्त के) विरुद्ध है। क्योंकि वाक्य (शब्द) बुद्धि में ही स्थित होता है, इस बात को और लोक में प्रतिपादित पदार्थों के योग (शास्त्रकृत योग) को देखकर शब्दों के चार भेद नहीं हैं[1]।

शब्द का प्रयोग क्यों ? जिस प्रकार लोक में व्यापक और हृदय में स्थित भाव (अभिप्राय) को प्रकट करने में समर्थ आकार, इङ्गित, चेष्टा, आकृति, इशारे आदि उपायों की अपेक्षा शब्दों के अधिक सूक्ष्म होने के कारण इन से वस्तुओं को पुकार कर काम चलाया जाता है, उसी प्रकार शब्द ही देवताओं को भी अर्थावबोध कराते हैं। यही कारण है कि देवताओं से व्यवहार करने के लिए भी मनुष्य वैदिक शब्दों (उनसे निबद्ध मन्त्रों) का ही आश्रय लेते हैं। अन्तर इतना ही है कि लोक में हम किसी भावविशेष को प्रकट करने के लिए शब्दों का चुनाव करने में समर्थ हैं, जब कि देवताओं से व्यवहार करने के लिए हमारे लिए वेद के मन्त्र ही नियत हैं। इस भेद का कारण यह है कि मनुष्य का ज्ञान सीमित एवम् अनित्य है। अतः सीमित एवम् अनित्य ज्ञान वाले मनुष्यों के साथ मन-चाहे शब्दों से व्यवहार करने में कोई भय नहीं है। किन्तु देवताओं का ज्ञान तो असीम एवं दिव्य है। अतः उनसे अपने टूटे-फूटे शब्दों में व्यवहार करने से उनके रुष्ट होने का भय रहता है। दूसरे, मनुष्य स्वभावतः प्रमादी है। उसका प्रमाद दैवकार्य में अपूर्णता ला सकता है। फलतः नित्य

१. द्र. क्रियाप्रधानमाख्यातं नाम्नां सत्त्वप्रधानता ।
चत्वारि पदजातानि सर्वमेतद् विरुध्यते ॥
वाक्यस्य बुद्धौ नित्यत्वमर्थयोगं च लौकिकम् ।
दृष्ट्वा चतुष्ट्वं नास्तीति वार्ताक्षौदुम्बरायणौ ॥ वा.प. २।३४२, ३४३ ॥

तथा अप्रमत्त श्रुति-भगवती अपने मन्त्रों में मनुष्यों के कर्म का विधान करती हैं।

प्रा. राजवाडे का (पृष्ठ २२५ पर) मत है कि **इन्द्रियनित्यं** से लेकर **मन्त्रो वेदे** तक का यह सारा प्रकरण निरुक्त से असम्बद्ध है। भाव के विषय में यास्क जो कुछ विचार प्रस्तुत कर रहे हैं, उनके मध्य में यह प्रघट्टक अस्थाने-पतित जैसा लगता है। रहस्यमय और सूत्र शैली में निबद्ध यह प्रघट्टक यास्क की बहुत विशद तथा स्पष्ट शैली से भी बहुत भिन्न शैली में निबद्ध है। अतः सम्भव है कि यह प्रघट्टक यास्ककृत न हो, अपितु प्रक्षिप्त हो।

डा. लक्ष्मणसरूप के (पृष्ठ ३२० पर) मत में सूत्र शैली में लिखित इस प्रघट्टक से प्रतीत होता है कि सूत्र शैली यास्क के समय अपनी बाल अवस्था में थी तथा इस प्रघट्टक के कुछ वाक्य सम्भवतः सूत्र शैली का प्रथम प्रतिरूप हैं।

अध्याय १२

नाम और आख्यात का विवेचन

पदों के चार विभाग बता देने के अनन्तर यास्क ने उनके लक्षण भी बताये हैं। **पदविभाग** के क्रम में नाम का निर्देश सब से पूर्व है। किन्तु लक्षण पहले आख्यात का दिया है। डा० लक्षमणसरूप के मत में यह क्रमपरिवर्तन बिना किसी युक्ति-युक्तता के ही कर दिया गया है[1]। दुर्ग का कथन है कि **नाम** आख्यातज माना जाता है, अतः पहले **आख्यात** का लक्षण बता कर फिर **नाम** का लक्षण बताया है। श्री राजवाडे का मत है कि एक **आख्यात** से बहुत से नाम बन जाते हैं, तथा **सत्त्व** से **भाव** पूर्ववर्ती है (यास्क की युक्ति), इस लिए पहले **आख्यात** का लक्षण दिया गया है[2]। हमारा विचार है कि निरुक्त के पदविभाग वाक्य में **नाम** का पूर्वनिपात **समास** में पूर्वनिपात के नियम के कारण, **अर्थात् आख्यात** शब्द की अपेक्षा **नाम** शब्द के

१. द्र निघण्टु और निरुक्त, पृष्ठ ३११।

२. द्र. यास्क'ज् निरुक्त, पृष्ठ २१९–२२०।

अल्पाक्षर होने के कारण, किया गया है[1]। लक्षण-प्रकरण में नाम का लक्षण बाद में करने का कारण यह है कि वाक्य में नाम आख्यात की अपेक्षा गौण होता है। अतः पहले प्रधान का लक्षण बतलाया है, फिर गौण का।

आख्यात : अर्थ

आ + √ख्या[2] + त (क्त) से आख्यात शब्द निष्पन्न है। शतपथ ब्राह्मण[3] में आचार्य याज्ञवल्क्य ने साक्षात् आख्यात शब्द का निर्वचन न देते हुए भी अपने विशिष्ट प्रयोग से (आतमाम् ख्यायते कह कर) सम्भवतः आख्यात का भी स्वरूप स्पष्ट किया है। वाक्य में कारक, विशेषण और अव्यय शब्द गौण होते हैं, क्रियावाचक शब्द प्रधान[4]। क्रियावाचक शब्द के बिना अर्थ भली-भाँति, पूरी तरह से (आतमाम्) प्रकट नहीं होता (ख्यायते)। अर्थात् क्रियाशब्द के बिना अर्थ अ-सु-समाप्त ही रहता है। क्रियावाचक शब्द के आते ही वाक्य पूर्ण हो जाता है। अतः आतमाम् ख्यायते (अनेन) इस व्युत्पत्ति से आख्यात वह शब्द कहलाता है, जिसके साथ कारक-विशेषण और अव्यय अर्थात् सभी प्रकार के शब्द लगते (अन्वित होते) हैं, तथा पूरी तरह से प्रत्येक शब्द जिसके द्वारा कह दिया जाता है। इस प्रकार का शब्द होता है तिङन्त पद। अतः निष्कर्ष यह है कि आख्यात तिङन्त शब्द को कहते हैं।

जैसा कि पहले कहा गया है आख्यात शब्द का प्राचीनतम, प्रामाणिक एवम् विस्पष्ट प्रयोग यास्काचार्य के निरुक्त में मिलता है[5]। शाकपूणि के नामोल्लेख के साथ आख्यातज (१।१२) तथा आख्यातेभ्यो जायते (७।१४) के उदाहरण से यह सिद्ध होता है कि आख्यात शब्द यास्क से पूर्ववर्ती आचार्यों के समय में ही पारिभाषिक शब्द के रूप में प्रसिद्ध हो चुका था। शाकटायन और शाकपूणि के आख्यात का सम्बन्ध भी क्रियावाचक शब्द से ही था, यह तो निरुक्त में उनके उद्धरणों से भली-भाँति सिद्ध है।

---

१. द्र. अष्टाध्यायी २।२।३४ : अल्पाच्तरम्।

२. द्र. धातुपाठ, अदादिगण, धातुसूत्रसङ्ख्या १०६० : ख्या प्रकथने।

३. द्र. १०।१।२।५ : ..तस्माद् यत्रैतानि सह क्रियन्ते, महदेवोक्थमातमां ख्यायते, आत्मा हि महदुक्थम्।

४. द्र. अष्टा. २।१।१, वार्तिक ६ : आख्यातं साव्ययकारक-विशेषणं वाक्यम्। महाभाष्य, पृष्ठ ५३२–५३३ : सर्वाणि ह्येतानि क्रियाविशेषणानि।

५ द्र. १।१ में दो बार, ८।३ में २ बार, ६।२८ में वने न वायो न्यधायि चाकन् (ऋ. सं. १०।२९।१) की व्याख्या में एक बार ७।१ में एक बार, १३।९ में एक बार।

परन्तु श्री क्षितीशचन्द्र चाटुर्ज्या का मत है कि वे आचार्य इस शब्द का प्रयोग या तो अकेले धातु के अर्थ में करते थे, या धातु और उसके तिङन्त (finite verb) पद के रूप में[1]। उन्हों ने अपने मत के समर्थन में महाभाष्य में शाकटायन के नामोल्लेख के साथ आख्यातज के स्थान पर उस के अनुवाद के लिए धातुज शब्द के प्रयोग[2] को प्रस्तुत किया है।

हम श्री चाटुर्ज्या जी के मत से सहमत नहीं हैं। हमारे विचार में शाकटायन और शाकपूणि के नाम आख्यातज हैं—कथन का प्रधान अर्थ यह है कि वे आचार्य नाम पद अर्थात् वस्तु की सञ्ज्ञा को उस वस्तु की किसी क्रिया के कारण पड़ा मानते हैं। भाषा में चूँकि क्रिया (वैयाकरणों के यहाँ) धातु से ही कही जाती है, अतः वैयाकरण आचार्य पतञ्जलि ने अपने शास्त्र को दृष्टि में रख कर नाम धातुज हैं—यह कह कर आख्यातज का अभिप्राय स्पष्ट किया है। इससे आख्यात शब्द धातु का पर्याय नहीं बन जाता। इस सिद्धान्त की पुष्टि के लिए हमारी युक्तियाँ ये हैं :

(क) सब नामपद आख्यातज हैं के पक्ष और विपक्ष के तर्कों में आख्यात के प्रतिनिधि के रूप में, अर्थात् नामकरण के कारण के रूप में, हमें सर्वत्र कर्म, भाव, आदि शब्दों अथवा किसी क्रियापद या भाववाचक सञ्ज्ञा का ही प्रयोग मिलता है, न कि धातु का। इस से सिद्ध होता है कि आख्यात से तात्पर्य क्रियापद से ही है।
जैसे :—

(अ) शाकटायन ने सत्य शब्द का निर्वचन उसके अर्थ में दो क्रियायें (एक होना, दूसरी अवगमन करना) देख कर ही दो आख्यातों अर्थात् क्रियाओं के कारण सत्+य =सत्य कहा है।

(आ) पृथिवी के निर्वचन (निरुक्त १।१४) में यास्क ने पृथिवी नाम पड़ने का कारण √प्रथ् धातु को नहीं बतलाया, अपितु प्रथन रूप व्यापार को बतलाया है। इस से यह सङ्केत मिलता है कि यास्क भी क्रिया के कारण नाम पड़ना ही मानते हैं।

(इ) इसी तथ्य को यास्क ने हम देखते हैं कि एक ही कर्म करने वालों में भी कुछ का नाम उसके कारण पड़ता है, कुछ का नहीं (१।१४). और हम देखते हैं कि बाद में होने वाले भाव अर्थात् क्रिया के कारण पहले उत्पन्न कुछ द्रव्यों का नाम पड़ जाता है, कुछ का नहीं (१।१४), एवम् एक ही शब्द के जब अनेक अर्थ होते हैं, तो जिन द्रव्यों की एक समान क्रिया होती है, उनके निर्वचन भी उस क्रिया के

१. द्र. टेक्नीकल टर्म्स् एण्ड् टेक्नीक् आफ् संस्कृत ग्रामर्, भाग १, पृष्ठ ६८।

२. द्र. महाभाष्य ३।३।१, वा. १ :

नाम च धातुजमाह निरुक्ते व्याकरणे शकटस्य च तोकम्॥

कारण समान ही होते हैं। यदि क्रियाएँ भिन्न-भिन्न हैं, तो निर्वचन भी भिन्न-भिन्न ही करने चाहिएँ (२।७)—इत्यादि स्थलों में बहुत स्पष्ट रूप में कहा है।

(ई) निऋति के निर्वचन (२ ७) के प्रसङ्ग में भिन्न-भिन्न क्रियाओं से (भिन्न-भिन्न अर्थों में) नाम पड़ जाते हैं – यह दुर्गाचार्य का कथन भी इसी आशय को पुष्ट करता है।

(उ) तीन आख्यातों से अग्नि नाम पड़ा है (निरुक्त ७।१४)—शाकपूणि के इस कथन में भी इत, अक्त अथवा दग्ध और नीत—ये भावक्तान्त सञ्ज्ञाएँ धातु से नाम की निष्पत्ति को प्रधान रूप में न कह कर इन तीन क्रियाओं को ही अग्नि के नामकरण का आधार बतलाती हैं। इसी लिए दुर्गाचार्य ने लिखा भी है :

त्रयाणामाख्यातानामभिधेयाः क्रिया अत्र लक्ष्यन्ते। ता उपादाय हेतुत्वेनाग्नि-शब्द आत्मानं लभते। ...एता एतद्धातुवाच्याः क्रिया एव करोतीत्यग्निः।

अतः आख्यातज का मुख्य अर्थ यही है कि कोई भी शब्द किसी अर्थ में जो प्रसिद्ध होता है तो उस अर्थ (पदार्थ) को किसी खास क्रिया से ही होता है[१]। नाम-करण की आधारभूत प्रेरणा क्रिया-विशेष से ही मिलती है। उसकी पूर्ति की प्रक्रिया में धातु शब्दों से, या उनके अंशों से, या उनके विकारों से, शब्द की निष्पत्ति होती है —यह गौण बात है। आख्यातज से नाम पड़ने के मानस अर्थात् अन्तराल हेतु को कहा गया है। धातुज कह कर वैयाकरणों ने उस अन्तराल की बात को व्याकरण के अनुकूल मूर्त रूप दिया है। अतः आख्यातज का धातुज अर्थ करना गलत भी नहीं है, और आख्यात का धातु अर्थ करना सही भी नहीं है।

(ख) हम आख्यात का धातु अर्थ मान लेते, यदि समूचे वाङ्मय में इन सन्दिग्धार्थक स्थलों को छोड़ कर कहीं भी इस अर्थ में आख्यात का प्रयोग मिला होता। आख्यात का जिस किसी भी आचार्य ने प्रयोग किया है, तो तिङन्त पद के अर्थ में ही किया है। जैसे :—

(अ) सब से पहले हम यास्क को ही लें। व्रजति, पचति आदि तिङन्त शब्दों से प्रकट होने वाले पूर्वापरीभूत (साध्य) भाव को कहने वाले शब्द को यास्क ने आख्यात कहा है[२]। वने न वायो न्यधायि चाकन् (ऋ. १०।२९।१) की व्याख्या

---

१. स्कन्दस्वामी ने (भाग १, पृ ८३ पर) इसके दो अर्थ किये हैं : आख्यातं तिङन्तपदम्। तेनात्रैकदेशो धातुर्लक्ष्यते। धातुजानीत्यर्थः। अथवा—आख्यातेन स्वार्थो लक्ष्यते। तेनैकदेशभूता क्रिया। तज्जानि—तन्निमित्तप्रवृत्तानीत्यर्थः। पहले व्याख्यान के अभिप्राय का खण्डन हम कर चुके हैं। दूसरा व्याख्यान हमारे अनुकूल है।

२. नि. १।१ : पूर्वापरीभूतं भावमाख्यातेनाचष्टे व्रजति पचतीति।

(निरुक्त ६।२८) में **व्यथायि** को **आख्यात** कहा है। अब आप समझ लें कि यह शब्द धातु है, या तिङन्त पद। परोक्ष वर्णन वाली ऋचाएँ वे होती हैं, जिनमें सब प्रातिपदिक विभक्तियों का तथा आख्यात के प्रथम पुरुष का प्रयोग होता है (निरुक्त ७।१) —में भी यास्क हमें तो **आख्यात** से तिङन्त ही कहते लगते हैं। मन्त्र अथवा वाक्य में केवल धातु का तो प्रयोग भी नहीं होता। १३।६ में दिए **पदविभाग** वाक्य में भी यास्क ने **आख्यात** को माना है। तो, शेष स्थलों में जैसे **आख्यात** का तिङन्त अर्थ उन्होंने माना है, वैसे ही वहां भी मानते हैं, अर्थात् **आख्यात** का तिङन्त अर्थ मानते हैं, यह कहना नितान्त तर्कसङ्गत है।

(आ) यास्क के इन असन्दिग्ध प्रयोगों से यह भी सूचित होता है कि **आख्यात** शब्द के अर्थ के विषय में यदि उनमें और उनके पुरखे आचार्यों में मतभेद हुआ होता, तो वे उसे उसी प्रकार स्पष्ट करते, जैसे उन्होंने अन्य प्रसङ्गों में किया है। अतः यास्क के मत में भी **शाकटायन**, **शाकपूणि** और **गार्ग्य** आचार्य **आख्यात** शब्द का अर्थ तिङन्त पद ही मानते हैं, न कि और कुछ।

(इ) अब यास्क के बाद के आचार्यों को लें। शाब्दिक-शिरोमणि आचार्य **पाणिनि** ने अपने **सूत्रपाठ** (अष्टाध्यायी) में केवल एक बार (४।३।७२ में) **समस्त नामाख्यात** पद में **आख्यात** शब्द का प्रयोग **आख्यातिक** और **नामाख्यातिक** नामक व्याख्या-ग्रन्थों की व्युत्पत्ति के लिए किया है। यहां **आख्यात** शब्द का अर्थ क्या है, इस पर कुछ प्रकाश नहीं पड़ता। पर साहचर्यनियम से **नाम** शब्द के साहचर्य के आधार पर कहा जा सकता है कि **आख्यात** शब्द कोई पारिभाषिक शब्द है, अतः उसका अर्थ भी पारिभाषिक ही होगा। उस पारिभाषिक अर्थ की हम ऊपर चर्चा कर चुके हैं। अतः यहां **आख्यात** का अर्थ उससे भिन्न नहीं हो सकता।

(ई) **गणपाठ**[1] में प्रयुक्त **आख्यातम्** और **आख्यातेन** शब्दों के स्पष्टीकरण के प्रसङ्ग में दिये **अश्नीत-पिबता**, **पचत-भृज्जता**, **खादत-मोदता**, **खादताचमता**, **आहर-निवपा** आदि **समस्त** शब्दों के अवयव शब्द हमारी दृष्टि में तो **तिङन्त** पद ही हैं। अतः युक्ति और साक्षात् शब्दप्रमाण से सिद्ध होता है कि **आख्यात पद आख्यात पद से समस्त होते हैं, क्रिया की निरन्तरता अर्थ में**—इस गणसूत्र में प्रयुक्त **आख्यात** का अर्थ भी **पाणिनि** जी **तिङन्त** पद मानते थे।

(उ) अब लें **पाणिनि** के ही सम्प्रदाय के दूसरे महत्व-पूर्ण आचार्य **कात्यायन**

---

१. द्र. अष्टा. २।१।७२ : **मयूरव्यंसकादयश्च** के गणपाठ में गणसूत्र : आख्यातमाख्यातेन क्रियासातत्ये।

की। उन्होंने भी अनेक स्थलों पर[1] तिङन्त पदों के लिए ही आख्यात शब्द का प्रयोग किया है।

(ऊ) अन्य आचार्यों में अपने समय के मूर्धन्य आचार्य शौनक बृहद्देवता (१।३९, ४४; २।९४; १२१; ८।८५) और ऋक्प्रातिशाख्य (१२।१७) में, आचार्य जैमिनि पूर्वमीमांसादर्शन (२।१४) में, आचार्य विष्णुगुप्त चाणक्य अर्थशास्त्र (२।१०।२८) में, आचार्य भरत नाट्यशास्त्र (१५।२४) में, आलङ्कारिक-शिरोमणि रुद्रट के काव्यालङ्कार (२।२) पर प्रख्यात टीकाकार नमिसाधु, सिद्ध हेमचन्द्र शब्दानुशासन (१।१।२१ पर) में आख्यात का प्रयोग तिङन्त पद के अर्थ में मानते तथा करते रहे हैं।

मीमांसकों और नव्य नैयायिकों के परवर्ती ग्रन्थों[2] में ति आदि प्रत्ययों के अर्थ में आख्यात शब्द का प्रयोग केवल पारिभाषिक ही है, इतर शास्त्रसम्मत नहीं। उनके इस प्रयोग की मनोभूमि भी यह है कि आख्यात शब्द साध्यव्यापारवाचक माना जाता रहा है। अपने विशिष्ट सिद्धान्तों के अनुसार मीमांसकों ने साध्य व्यापार को वैयाकरण जिस प्रकार धातु का अर्थ मानते हैं, वैसे न मानकर ति आदि प्रत्ययों का अर्थ माना है। अतः आतमां ख्यायते अनेन व्युत्पत्ति के आधार पर तिङ् प्रत्यय के लिए आख्यात का प्रयोग वे लोग करने लगे। परन्तु यह अर्थ गौण ही है।

इसलिए इस सारे प्रकरण का निष्कर्ष यही है कि आख्यात शब्द तिङन्त पद का पर्याय है, धातु अथवा अन्य प्रत्यय आदि का नहीं।

यह तो हुआ योगरूढ अर्थ। अब आख्यात के लक्षण को भी लें। जैसे आख्यात शब्द का प्रामाणिक प्रयोग सबसे पहले निरुक्त में मिलता है तथा उसके बाद अन्य शास्त्रों की भी इसने सैर कर ली है, वैसे ही इसका लक्षण भी सबसे पहले हमें निरुक्त में ही मिलता है, फिर परवर्ती अन्य तन्त्रों में भी यह अपना प्रभुत्व जमाए दिखलाई पड़ता है[3]।

यास्क के मत में जिस शब्द में भाव की प्रधानता होती है, वह शब्द आख्यात

---

१. द्र. महाभाष्य १।२।३७, वार्तिक २, पृ. ५५ : आकार आख्याते पगादिश्च। २।१।१ वा० ६, पृ. ५३२ : आख्यातं साव्ययकारकविशेषणं वाक्यम्।

२. द्र. जगदीश तर्कालङ्कार, शब्दशक्तिप्रकाशिका, पृ. ९७, तिङाख्यातयोः पर्यायत्वम्।

३. द्र. बृहद्देवता २।१२१; ऋक्प्रा : १२।१९; शुक्लयजुः प्रा. : ८।५४–५५; पूर्वमी. २।१।१; अष्टा. १।३।१ तथा इस पर महाभाष्य।

कहलाता है[1]।

भावप्रधान आख्यात और नाम का विवेक

यहाँ एक प्रश्न का उठना स्वाभाविक है कि जहाँ **नाम** और **आख्यात** दोनों में ही **भाव** की प्रधानता हो, तब यह कैसे निश्चय करियेगा कि कौन सा पद **आख्यात** है, और कौन सा **नाम** ? जैसे—

पचति में **भाव** की प्रधानता है, यह तो ठीक। किन्तु **पक्तिः** पद में भी तो **भाव** की ही प्रधानता है। यहाँ लिङ्ग-सङ्ख्या-समेवत द्रव्य अर्थात् सत्त्व की प्रधानता बिल्कुल नहीं है। इसमें भी **पचति** की तरह दो ही अंश हैं : √**पच्** धातुका अर्थ तथा **ति** प्रत्यय का **अर्थ**। **पचति** में जैसे धात्वर्थ की प्रधानता है और सङ्ख्या-कर्तृ रूप अर्थ होते हुए भी गौण है, वैसे ही यहाँ भी लिङ्ग-सङ्ख्यारूप प्रत्ययार्थ गौण है, तथा **पकाव** रूप **भाव** ही प्रधान है। ऐसी स्थिति में **पक्तिः**, **पाकः** आदि भाव शब्दों को **आख्यात** कहेंगे कि **नाम** ?

इस प्रश्न का उत्तर भगवान् यास्क ने इन पङ्क्तियों से दिया है : **पूर्वापरीभूतं भावमाख्यातेनाचष्टे व्रजति पचतीति। उपक्रमप्रभृत्यपवर्गपर्यन्तं मूर्तं सत्त्वभूतं सत्त्वनामभिराचष्टे व्रज्या पक्तिरिति।**

अर्थात् **आख्यात** से तो पूर्व, अपर आदि स्थितियों में से गुजरता हुआ भाव प्रकट किया जाता है। जैसे—**व्रजति** आख्यात से लक्ष्य की ओर जाना शुरू करने से लेकर लक्ष्य तक पहुँचने तक की जितनी अवस्थायें हैं, वे पूर्व-अपर—यह पहले, यह बाद में—इस प्रकार अविच्छिन्न-भाव अर्थात् क्रिया-सन्तान से व्यक्त की जाती हैं। इसी प्रकार **पचति** में भी साध्यमान अर्थात् पूर्वापरीभूत **भाव**=**पकाव** ही व्यक्त किया जाता है। इसके विपरीत उपक्रम से लेकर अपवर्ग—क्रिया की चरम अवस्था—तक का भाव **मूर्त**=**सिद्ध** रूप में लिङ्ग-सङ्ख्या से युक्त द्रव्य की तरह, उस स्थिति को पहुँचा हुआ सत्त्वप्रधान **नाम** पदों से व्यक्त किया जाता है। जैसे—

व्रज्या में व्रजनक्रिया की पूर्वापरीभूतता कतई व्यक्त नहीं होती। इसके विपरीत **व्रजन** क्रिया उसके प्रारम्भ करने से लेकर अन्त तक सिद्ध अवस्था में ही **व्रज्या** शब्द से प्रकट होती है। **आख्यात** में भाव व्यापार रूप में—**साध्यावस्था** में है, **नाम** (भाव-प्रधान) में मूर्त्त-सा **सिद्धावस्था** में है यही भेद है। **नाम** में मूर्त्त हुआ भाव **लिङ्ग** और **सङ्ख्या** से समवेत हो कर द्रव्यरूप-सा हो जाता है। आख्यात में प्रत्यय का अर्थ

---

१. द्र. १।१ : **भावप्रधानमाख्यातम्। वस्तुतः यह लक्षण यास्क से प्राचीन आचार्यों का किया हुआ है। यास्क भी इससे सहमत हैं। इस लिए हमने इसे यास्क के मत में शब्दों से प्रस्तुत किया है।**

भाव पर आश्रित होता है, क्योंकि भाव के आगे वहाँ वह गौण हो जाता है। नाम में प्रत्यय का अर्थ भाव के प्रति विशेषण हो जाता है। व्रज्या नामपद में √व्रज् का अर्थ व्रजनानुकूल व्यापार और या प्रत्यय का अर्थ भाव, एक सङ्ख्या, स्त्रीलिङ्ग—ये अंश हैं। समुच्चित अर्थ है : एक सङ्ख्या और स्त्रीलिङ्ग से विशिष्ट तथा मूर्त्त हुआ व्रजनानुकूल भाव। यहाँ प्रत्यय का अर्थ भाव का विशेषण होकर भाव को मूर्त्त (सिद्ध), सत्त्वभूत बना देता है। इसलिये विशेषण से युक्त हुआ भाव मूर्त (सिद्ध) और सत्त्वभूत हो जाता है। जहाँ धात्वर्थ और प्रत्ययार्थ में आश्रयाश्रयिभाव सम्बन्ध है, वहाँ भाव ही प्रधान हो जाता है। आचार्य शौनक ने (बृहद्देवता १।४४-४५ में) कहा भी है :—

> क्रियासु बह्वीष्वभिसंश्रितो यः पूर्वापरीभूत इवैक एव।
> क्रियाऽभिनिर्वृत्तिवशेन सिद्ध आख्यातशब्देन तमर्थमाहुः॥
> क्रियाऽभिनिर्वृत्तिवशोपजातः कृदन्तशब्दाभिहितो यदा स्यात्।
> सङ्ख्या-विभक्ति-व्यय-लिङ्ग-युक्तो भावस्तदा द्रव्यमिवोपलक्ष्यः॥

भर्तृहरि ने भी (वाक्यपदीय ३।८।४ में) इसी प्रकार कहा है :—

> गुणभूतैरवयवैः समूहः क्रमजन्मनाम्।
> बुद्ध्या प्रकल्पिताभेदः क्रियेति व्यपदिश्यते॥
> सत्त्वस्वभावमापन्ना व्यक्तिर्नामभिरुच्यते।
> असत्त्वभूतो भावश्च तिङ्पदैरभिधीयते॥[1]

'तद् यत्रोभे...' व्याख्याभेद

तद् यत्रोभे....पक्तिरिति (निरुक्त १।१) सन्दर्भ का उपर्युक्त प्रकार से अन्वय एवं व्याख्यान सर्वप्रथम डा. पाण्डुरङ्ग वामन गुणे[2] और उनके बाद डा. लक्ष्मणसरूप ने (पृष्ठ ८१, ३११ पर) किया था। आचार्य दुर्ग ने इस प्रघट्टक की व्याख्या बिल्कुल भिन्न प्रकार से की है :—

उनके मत में तद् यत्रोभे, भावप्रधाने भवतः। — वाक्य विन्यास है। वाक्य में नाम और आख्यात— दोनों—का प्रयोग होने पर किस की प्रधानता होगी—यह बतलाना ही इस वाक्य का प्रयोजन है। उनके अनुसार इस वाक्य का अर्थ यों है :

जहाँ (अर्थात् वाक्य में) नाम और आख्यात दोनों होते हैं, वहाँ ये भाव की प्रधानता वाले होते हैं। अर्थात् वाक्य में नाम और आख्यात दोनों का प्रयोग होने

---

१. श्रीवाधिमय जी द्वारा सम्पादित निरुक्त के पृष्ठ १५ पर पा. टि. २ में हरिणाऽप्युक्तम् कह कर उद्धृत श्लोक। पूना से प्रकाशित वाक्यपदीय (मूल) के संस्करण में यह श्लोक नहीं मिलता।

२. द्र. इंडियन ऐंटिक्वेरी, ई० १९१६, भाग ४५, पृष्ठ १५८।

पर भाव की प्रधानता वाले (**आख्यात**) की ही प्रधानता होती है[1]।

अगले दो वाक्यों का अन्वय उन्होंने यों किया है : **पूर्वापरीभूतं भावमाख्यातेनाचष्टे व्रजति पचतीत्युपक्रमप्रभृत्यपवर्गपर्यन्तम्। मूर्तं सत्त्वभूतं सत्त्वनामभिः व्रज्या पक्तिरिति।** शबरस्वामी ने (शाबरभाष्य १।१।५ में) तथा **स्कन्दस्वामी** के भाष्य के प्रतिसंस्कर्ता महेश्वर ने भी (भाग१, पृ. १० पर) इन वाक्यों का यही अन्वय दिया है।

आचार्य दुर्ग के अनुसार इन दो वाक्यों में से प्रथम वाक्य का उद्देश्य साध्यावस्थापन्न भाव आख्यात के द्वारा कैसे बतलाया जाता है, आख्यात क्या है, यह बतलाना है[2]। दूसरे वाक्य का प्रयोजन यह बतलाना है कि कभी-कभी आख्यात के लक्षण (भाव की प्रधानता) के विपरीत (अपवाद रूप में) भाव का अभिधान नाम पदों के द्वारा भी हो जाता है[3]।

इस विश्लेषण से यह कहना अनुचित न होगा कि दुर्ग इन तीनों वाक्यों में से प्रथम वाक्य (**तद् यत्रोभे, भावप्रधाने भवतः।**) का अगले दो वाक्यों से कोई पौर्वापर्य अथवा अन्य सम्बन्ध नहीं मानते हैं। यह वाक्य अन्यवाक्यनिरपेक्ष, परिपूर्ण वाक्य है। वस्तुतः नामाख्यात के लक्षण के प्रसङ्ग में सहसा वाक्य में किस की प्रधानता होगी, यह विचार सर्वथा अव्यावहारिक है, जब कि इसके तुरन्त बाद फिर नाम और आख्यात का ही स्पष्टीकरण **आस्ते, शेते, व्रजति, तिष्ठतीति** तक किया है। इस प्रसङ्ग में दुर्ग की व्याख्या के सर्वतोभावेन समर्थक श्री वैजनाथ काशीनाथ राजवाडे ने (पृ. २२१ पर) तो इसी अव्यावहारिकता के आधार पर **तद् यत्रोभे, भावप्रधाने भवतः** वाक्य को यास्क छोड़ सकते थे, क्योंकि इस वाक्य से नाम और आख्यात के उदाहरण देने में व्याघात हुआ है—कहा है।

---

१. द्र. १।१ : **अथ पुनर्यत्रैते उभे भवतः।....वाक्ये, तत्र कस्य प्रधानमर्थः ? कस्य गुणभूतः ? इति शृणु—भावप्रधाने भवतः। तस्य चिकीर्षितत्वात्। वाक्ये ह्याख्यातं प्रधानं, तदर्थत्वात्; गुणभूतं नाम, तदर्थस्य भावनिष्पत्तावङ्गभूतत्वात्। एवं तावदाख्यातं वाक्ये प्रधानम्।** महेश्वर ने (भाग १, पृ. ६ पर) भी इसी प्रकार की व्याख्या की है। अन्तर न होने से हमने पृथक् से उनकी चर्चा नहीं की है।

२. द्र. **अथ पुनः कथमभिनिर्वर्त्यमानो भाव आख्यातेनोच्यते ? किं वा तदाख्यातमिति यतो लोकप्रसिद्ध्यैवोदाहरति—तत्प्रसिद्धत्वाच्छब्दार्थसम्बन्धस्य।**

३. **कदाचित्तु तमेव भावं तथैवोपक्रमप्रभृत्यभिनिर्वर्तमानमपवर्गपर्यन्तं मूर्तं सत्त्वभूतं सत्त्वरूपिणं लिङ्गसङ्ख्यायुक्तैः सत्त्वनामभिराचष्टे। कथम् ? व्रज्या पक्तिरिति। तत्रोक्तो विशेषः कृदभिहितो भावो द्रव्यवद् भवति। सोऽयं प्रयुक्तस्य लक्षणस्य प्रयोगमपेक्ष्य क्वचिदपवादः।**

दुर्ग के इस अर्थ के विरुद्ध दूसरी आपत्ति यह है कि **तद्यत्रोभे** (तो जहाँ दोनों) में **उभे** (दोनों) का आक्षेपलभ्य विशेष्य प्रकरण के आधार पर **नामाख्याते** (नाम और आख्यात) पद है। **भावप्रधाने भवतः** (वे दोनों भाव की प्रधानता वाले होते हैं) में भी **नामाख्याते** ही विशेष्य होगा। अब प्रश्न यह है कि वाक्य में दोनों **नाम** और **आख्यात** पद भाव की प्रधानता वाले कैसे हो सकते हैं ? सिद्धान्त में आख्यात ही तो भाव की प्रधानता वाला सम्मत है। अतः **वाक्य में आख्यात प्रधान होता है**, यह अर्थ तो इस वाक्य-विन्यास से द्रविड-प्राणायाम करके भी नहीं निकल सकता ! यदि यही अर्थ यास्क को अभीष्ट होता, तो प्रथम तो वे इस प्रसङ्ग को **इन्द्रियनित्यं वचनम् औदुम्बरायणः** से पूर्व नाम और **आख्यात** के प्रकरण के अन्त में उठाते। दूसरे, **तद् यत्रोभे, भावप्रधानं भवति** या **आख्यातं प्रधानं भवति** आदि स्पष्ट वाक्य से कहते। अतः **भावप्रधाने भवतः** के प्रथमा-द्विवचन का कोई उचित आधार ही नहीं होने से यह व्याख्यान उचित नहीं प्रतीत होता।

यदि हमारी व्याख्या के अनुसार इस वाक्य का अगले दो वाक्यों से पौर्वापर्य सम्बन्ध मान लिया जाता है, तो प्रथम वाक्य में प्रश्न और अगले दो वाक्यों में समाधान प्रस्तुत होने से न तो प्रकरणभङ्ग का दोष रहता है, जिसके आधार पर श्री राजवाडे जी ने इस प्रथम वाक्य को निरुक्त से गर्दनिया ही देने की सिफारिश की थी, और न **भावप्रधाने भवतः** के द्विवचन के औचित्य पर कोई द्रविड-प्राणायाम ही अपेक्षित होगा।

जहाँ तक अगले दो वाक्यों के वाक्य-विन्यास—अर्थात् **उपक्रमप्रभृत्यपवर्गपर्यन्तं** को प्रथम वाक्य में लिया जाये, या अगले वाक्य में ? - इस प्रश्न का सम्बन्ध है, हमारा कहना है कि इस वाक्यांश को कहीं भी अन्वित कर देने से कोई मौलिक अर्थभेद नहीं होता। क्योंकि वस्तुतः **पूर्वापरीभूतं** से जो बात कही है, उसी को **उपक्रम-प्रभृत्यपवर्गपर्यन्तम्** से स्पष्ट किया गया है। यदि उसे पहले वाक्य में रखते हैं, तो इससे कोई विशेष बात नहीं प्रकट होती। तीन दोष अलबत्ता आते हैं :

(क) **भावम्** के **पूर्वापरीभूतम्** और **उपक्रमप्रभृत्यपवर्गपर्यन्तम्**—इन दोनों विशेषणों के क्रम के औचित्य को यदि देखा जाय तो **उपक्रम से अपवर्ग** तक के **पूर्वापरीभूत भाव को आख्यात द्वारा वक्ता बतलाता है**—यह क्रम अधिक उपयुक्त है, न कि इसके विपरीत। अतः इस वाक्यविन्यास में **क्रमभङ्ग** दोष है।

भावम् के दो विशेषणों में से पहला (**पूर्वापरीभूतम्**) तो **अन्वय की दृष्टि से** अपने उचित स्थान पर है; किन्तु दूसरा विशेषण (**उपक्रमप्रभृत्यपवर्गपर्यन्तम्**) **विशेष्य** से बहुत दूर जा पड़ता है। अतः दूरान्वय होने से **क्लिष्टता** दोष है।

(ग) **इति** वाक्य की परिसमाप्ति में आता है और **निर्देशक के रूप में भी**।

प्रथम वाक्य में **पचति** के बाद स्थित **इति** ये दोनों कार्य करता है। उसके बाद वाक्य के सर्वप्रथम शब्द के विशेषण को रखना कुछ उचित नहीं प्रतीत होता। इससे यहाँ **समाप्तपुनरात्तता** दोष आता है।

इसके विपरीत यदि दूसरे वाक्य से इसका अन्वय करते हैं, तो न केवल ये तीन दोष ही नहीं आते हैं, अपितु मूर्त्त और सत्त्वभूत होने वाले भाव की विशेषता भी बिल्कुल स्पष्ट और जोरदार ढंग से बतला दी जाती है। हमारे कहने का आशय यह है कि आख्यात का स्वरूप स्पष्ट करने के लिए तो भाव की पूर्वापरीभूत अवस्था को बतलाना ही प्रधानरूप से अपेक्षित है। **पचति** से भाव उपक्रम से अपवर्ग तक पूर्वापर—आश्रित-क्रम—रूप में प्रकट होता है, यह कहा जाए, अथवा केवल पूर्वापर रूप में प्रकट होता है यह कहा जाए, प्रकृत में विशेष अन्तर नहीं पड़ता। आख्यात में पूर्वापरीभूतता पर ही बल होता है। जब कि किस प्रकार का भाव पूर्वापर अवस्था को प्राप्त होता है, यह बतलाने के लिए उपक्रम से लेकर अपवर्ग तक की स्थिति ही मूर्त रूप में सत्त्वभूत हो जाती है—यह स्पष्ट रूप से कहना आवश्यक है। इसके अतिरिक्त यदि भाव के दोनों विशेषण पहले वाक्य में ही रखे जाते हैं, तो अगले वाक्य में **मूर्त्तं सत्त्वभूतम्** के विशेष्य के रूप में केवल **उपक्रमप्रभृत्यपवर्गपर्यन्तं भावम्** का ही परामर्श कैसे होगा ? अर्थात् फिर तो दोनों विशेषणों से युक्त भावम् का ही इस दूसरे वाक्य में परामर्श होगा। ऐसी स्थिति में **उपक्रम से लेकर अपवर्ग की स्थिति तक का पूर्वापरीभूत भाव ही मूर्त और सत्त्वभूत होने पर सत्त्वप्रधान नामपदों से प्रकट होता है** यह अनर्थ प्रतीत होता है। नामपद से प्रकट होने वाले मूर्त्त और सत्त्वभूत भाव में पूर्वापरीभूतता तो है ही नहीं।

उपर्युक्त तीनों वाक्यों की एकवाक्यता के प्रकृत पक्ष का श्रीराजवाडे जी ने (पृष्ठ २२१ पर) विरोध किया है। उनका कहना है कि इस पक्ष में **व्रज्या और व्रजति** में भाव की प्रधानता के सादृश्य की जो बात कही गई है, वही गलत है। अर्थात् **व्रजति** में **भाव** की प्रधानता है, यह तो ठीक; किन्तु **व्रज्या** में भी **भाव** की प्रधानता है, यह कहना गलत है। क्योंकि उनके मत में **भाव** का अर्थ **होना** (becoming) है। अर्थात् वे **पूर्वापरीभूत** (साध्यावस्थापन्न) भाव को ही भाव मानते हैं। सिद्धावस्थापन्न भाव भाव नहीं है, वह तो सत्त्वभूत होने से द्रव्यवत् हो गया है और **व्रजति** में जैसे भाव साध्यावस्था में है, वैसे **व्रज्या** में नहीं है। अतः **व्रज्या** में भाव की प्रधानता है ही नहीं। जब **नाम** भावप्रधान हो ही नहीं सकता, तब **तद् यत्रोभे** .. की आलोच्य व्याख्या ही निराधार है। फलतः उसके सन्दर्भ में अगले दो वाक्यों की व्याख्या भी उचित नहीं है। अतः दुर्ग की व्याख्या बिलकुल ठीक है।

डा० राजवाडे की इस आपत्ति पर हमारा समाधान यह है कि यास्क द्वारा

प्रयुक्त भाव शब्द का becoming : होना अर्थ है तथा व्रजति (पूर्वापरीभूत भाव) ही भाव है, यह किसने कहा ? यदि भाव पूर्वापरीभूत (साध्य) ही होता है, तो यास्क ने पूर्वापरीभूतम् विशेषण का प्रयोग क्या निरर्थक या स्पष्टप्रतिपत्त्यर्थं किया है ? पूर्वापरीभूत को ही भाव मानने की स्थिति में मूर्तं सत्त्वभूतम् का विशेष्य क्या है, जिसे वक्ता नाम के द्वारा कहता है । स्पष्ट ही वह सत्त्व नहीं है, अन्यथा सत्त्व को सत्त्वभूतम् कहना बिलकुल निरर्थक होगा। पाणिनि के अनुसार व्रज्या में √व्रज् का अर्थ व्रजि-क्रिया अर्थात् भाव ही है, और उससे विहित या (क्यप्) प्रत्यय का भी भाव ही अर्थ है[1]। ऐसी स्थिति में व्रज्या में भाव की प्रधानता नहीं है, तो किसकी है ? सत्वार्थ (लिङ्ग-सङ्ख्या-समवेत-द्रव्य) की प्रधानता तो बिल्कुल भी नहीं है । जैसे व्रजति में कर्तृत्व और एकत्व द्रव्य की विशेषता हैं, क्रिया की नहीं, वैसे ही व्रज्या में भी एकत्व मात्र द्रव्य की विशेषता है । लिङ्ग का तो इसमें कोई महत्त्व ही नहीं है । अतः द्रव्य की दो-दो विशेषताओं को धारण करते हुए भी पचति यदि भावप्रधान हो सकता है, तो व्रज्या क्यों नहीं ? जहाँ तक साध्यावस्था और सिद्धावस्था का प्रश्न है, न तो यास्क ने अपने लक्षण में साध्यभावप्रधानमाख्यातम् कहा है, और न पाणिनि ने क्यप् प्रत्यय का विधान करते समय भाव का कोई व्यवच्छेदक विशेषण ही दिया है । यदि यास्क का भाव साध्यावस्थापन्न है, तो पाणिनि का सिद्धावस्थापन्न कैसे ? अतः श्री राजवाडे की पूर्वापरीभूत भाव (becoming) ही भाव है–यह स्थापना ही गलत है । आलोचित सन्दर्भ से आगे स्वयं श्री राजवाडे जी ने व्रज्या और व्रजति में केवल कहने भर का ही भेद माना है[2] ।

अब रहा यह प्रश्न कि यास्क का लक्षण क्या वस्तुतः अतिव्यापक है ? अर्थात् भाव साध्यावस्थापन्न और सिद्धावस्थापन्न होता है, इस में तो कोई विप्रतिपत्ति नहीं है; तो इन दोनों अवस्थाओं में से किस अवस्था का भाव प्रधान होने पर शब्द आख्यात कहलाता है—इस मुद्दे को स्पष्ट करने के लिए क्या लक्षण में साध्यभावप्रधानमाख्यातम् इस प्रकार परिवर्धन किया जाए ? या और कुछ ? वैयाकरणों ने तो बड़ी आसानी से कृदन्तशब्दाभिहित भाव द्रव्यवत् होता है, यह कह दिया[3] । परन्तु निर्वचन-शास्त्र की दृष्टि तो व्याकरण की प्रकृति-प्रत्यय चिन्ता से मुक्त है, एवम् अर्थनिष्ठ है । अतः यास्क ने इस बात को वस्तुविश्लेषण की पद्धति से स्पष्ट करने का प्रयास किया है ।

---

१. द्र. महाभाष्य १ ३।१; अष्टाध्यायी ३।३।९८ : व्रजियज्योर्भावे क्यप् ।

२. The distinction between व्रजति and व्रज्या and between पचति and पक्ति is a distinction only in name...the distinction between the two is that of form.

३. द्र. महाभाष्य २।२।१९ पृ. ६६२; ३।१।६७, पृ. १४४ इत्यादि अनेक स्थल : कृदभिहितो भावो द्रव्यवद् भवति । और बृहद्देवता १।४५ ।

यास्क के इस स्पष्टीकरण में सब से पहली बात तो यह है कि प्रारम्भ से ले कर पूर्णता तक की स्थिति का मूर्त, समग्र, परिपूर्ण भाव नाम पद का भी अभिधेय हो सकता है। पचति में पूर्वापरीभूतता का विचार हमें भाव को मूर्त, समग्र, निष्पन्न अवस्था में नहीं समझने दे सकता, जब कि पाक में पूर्वापरीभूतता के न होने से समग्र क्रिया अपने समस्त अवयवों तथा क्रमों से युक्त निष्पत्ति के साथ-साथ बुद्धि में आती है। अतः मूर्तता भाव की सिद्धता की प्रथम पहिचान है।

दूसरी बात है सत्त्वभूतम्। अर्थात् भाव मूर्त होते ही वस्तुतः सत्त्व नहीं हो जाता। सत्त्व का अर्थ है द्रव्य। लिङ्ग और सङ्ख्या तो द्रव्य के ग्राहक धर्म हैं। द्रव्य वास्तव में तो पदार्थ ही होता है, शब्द नहीं। परन्तु पद और पदार्थ के मध्य नित्य अविनाभाव सम्बन्ध के कारण द्रव्याभिधायी पद भी द्रव्य कहलाता है। अतः द्रव्य के ग्राहक धर्म लिङ्ग और सङ्ख्या पद में भी आ जाते हैं। ऐसी स्थिति में लिङ्ग और सङ्ख्या को व्यक्त करने वाला पद वस्तुतः अद्रव्याभिधायी तथा स्वयम् अद्रव्य होते हुए भी व्यवहार में द्रव्यवत् कहलाता है। यही कारण है कि मूर्त भाव भी यद्यपि वस्तुदृष्ट्या असत्त्व है, पर व्यवहार में सत्त्वभूत हो जाता है। असत्त्व भी सत्त्वभूत हो जाता है, इस में शब्द का स्वभाव ही कारण है। अर्थात् व्रज्या आदि शब्दों में सत्त्व से बिल्कुल भिन्न भाव भी मूर्त हो कर सत्त्वभूत=सत्त्वसदृश हो जाता है, इस में कोई अन्य युक्ति नहीं बतलायी जा सकती। शब्द के द्वारा अपने अर्थ को प्रकट करने का ढंग ही ऐसा है कि असत्त्व को भी सत्त्व की तरह बतलाता है।

तद् यत्रोभे, भावप्रधाने भवतः की व्याख्या पर यद्यपि आचार्य दुर्ग की और हमारी व्याख्या में आधार भूत अन्तर है, पर शेष दोनों वाक्यों (पूर्वापरीभूतं...पक्तिरिति।) की व्याख्या में कोई विशेष अन्तर नहीं है। नहीं तो वे आख्यात के इस लक्षण का प्रयोग की दृष्टि से व्रज्या आदि शब्द अपवाद हैं।....क्या कारण है कि एक ही भाव तिङन्त और कृदन्त शब्दों के द्वारा भिन्न-भिन्न प्रकार से प्रकट किया जाता है? उत्तर यह है कि यहां शब्द के स्वभाव को छोड़ कर और कोई बात कारण नहीं है'[1]—नहीं लिखते।

---

१. द्र. १।१ : कदाचित्तु तमेव भावं तथैवोपक्रमप्रभृत्यभिनिर्वर्त्तमानमपवर्गपर्यन्तं मूर्त्तं सत्त्वभूतं सत्त्वरूपिणं लिङ्गसङ्ख्यायुक्तैः सत्त्वनामभिराचष्टे। कथम्? व्रज्या पक्तिरिति। तत्रोक्तो विशेषः—कृदभिहितो भावो द्रव्यवद् भवति। सोयं प्रयुक्तस्य लक्षणस्य प्रयोगमपेक्ष्य क्वचिदपवादः। आह च—

क्रियाभिनिर्वृत्तिवशोपजातः कृदन्तशब्दाभिहितो यदा स्यात्।

सङ्ख्याविभक्तिव्ययलिङ्गयुक्तो भावस्तदा द्रव्यमिवोपलक्ष्यः॥ (बृहद्देवता १।४५।) आह—कस्मात् पुनरेक एव भावस्तिङन्तेन कृदन्तेन चान्यथोच्यत इति? उच्यते—शब्दस्वाभाव्यादृते नान्यदत्र प्रयोजकमस्ति

अर्थों के तीन भेद

हम किसी अर्थ को प्रकट करने के लिए ही किसी शब्द का प्रयोग किया करते हैं— अर्थगत्यर्थः शब्दप्रयोगः[1]। ये अर्थ तीन प्रकार के होते हैं :

(१) द्रव्य अर्थात् वस्तु। इनके वाचक शब्दों में हम लिङ्ग और सङ्ख्या का प्रयोग किया करते हैं। शब्दगत लिङ्ग दो प्रकार का होता है :

(अ) कल्पित अर्थात् जो १. या तो वस्तु में है ही नहीं, या २. यदि है, तो वस्तु में कुछ है, और उसके वाचक शब्द में कुछ। जैसे—१. पात्रम्, पात्री, दंष्ट्रा, दन्तः, शोभा, शाला, गृहम्, गृहाः इत्यादि शब्द निर्जीव अर्थों के लिए प्रयुक्त हैं। अतः इनमें लिङ्ग है ही नहीं। व्यवहारनिष्पत्ति के लिए, अर्थात् संस्कृत भाषा में चूँकि कोई सञ्ज्ञा लिङ्ग-रहित नहीं होती, अतः यहाँ शब्द में लिङ्ग कल्पित है। २. दाराः, स्त्री के लिए पुँल्लिङ्ग शब्द। अर्थात् अर्थ स्त्रीलिङ्ग है और वाचक पुँल्लिङ्ग। षण्ढः पुँल्लिङ्ग शब्द नपुंसक के लिए जो पुरुष तो है ही नहीं, स्त्री भी नहीं है।

(आ) वास्तविक अर्थात् जो वाचक और वाच्य दोनों में ही यथार्थ पर आधारित है। जैसे —मृगः, मृगी, पुरुषः, स्त्री इत्यादि शब्द तथा उनके अर्थ यथार्थ में पुँल्लिङ्ग या स्त्रीलिङ्ग होते हैं।

वस्तुतः संस्कृत में लिङ्ग यथार्थ पर आधारित न होकर वैयाकरणों की इच्छा पर आधारित होता है। तभी तो व्याकरण-धुरन्धर मित्र के आगे किसी कवि ने अपना दुखड़ा रोया था :

> नपुंसकमिति ज्ञात्वा प्रियायै प्रेषितं मनः।
> तच्च तत्रैव रमते हताः पाणिनिना वयम्॥

अतः द्रव्य का प्रधान तथा वस्तुपरक लक्षण होता है सङ्ख्यावत्त्व अर्थात् जिसकी सङ्ख्या हो सके, वह द्रव्य है। और उस द्रव्य के लिए हम काल्पनिक या वास्तविक लिङ्ग से तथा सङ्ख्या से युक्त जो सञ्ज्ञा शब्द प्रयोग करते हैं, वह नाम कहलाता है। फलतः लिङ्ग और सङ्ख्या से युक्त जो शब्द होता है, वह नाम होता है। इसी लिए यास्क ने कहा है : सत्त्व अर्थ को प्रधान रूप में प्रकट करने वाले शब्द नाम होते हैं : सत्त्व-प्रधानानि नामानि।

(२) द्रव्य में स्थित क्रिया। इसका न कोई अपना लिङ्ग होता है, और न सङ्ख्या। द्रव्य के लिङ्गभेद से क्रिया में कोई अन्तर नहीं आता। इस लिए संस्कृत में क्रियाशब्द का कोई लिङ्ग भी नहीं होता। हिन्दी में भी जिन क्रियाशब्दों में लिङ्ग होता है, वस्तुतः वे क्रियाशब्द न होकर द्रव्य के विशेषण के रूप में प्रयुक्त

---

१. तु. करें बृहद्. २।९९ : प्रधानमर्थः शब्दो हि तद्गुणायत्त इष्यते।

कृदन्त आदि प्रकार के शब्द होते हैं। इसी लिए आचार्य विष्णुगुप्त ने कहा भी है: लिङ्ग की विशिष्टता से रहित तथा क्रिया का अभिधायक (शब्द) आख्यात होता है[1]।

संस्कृत में क्रियावाचक शब्द में सङ्ख्या भी क्रिया का विशेषण नहीं होती, अपितु क्रिया के आश्रय (कर्ता या कर्म) का विशेषण होती है।

भाव शब्द का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है होना[2] (सत्ता): √ भू+घञ् (धातु के अपने ही अर्थ में कृत् प्रत्यय)। होना द्रव्य का ही धर्म है, कोई स्वतन्त्र, मूर्त्त पदार्थ नहीं। द्रव्य की अवस्था प्रतिक्षण बदलती रहती है। परन्तु उस अवस्था के सूक्ष्म तथा हमारे करणों के स्थूल होने के कारण हम प्रत्येक अवस्था का ज्ञान नहीं कर पाते। बच्चा प्रतिक्षण बड़ा होता जाता है, पर हम महीने-बीस दिन के बाद ही अनुभव कर पाते हैं कि बच्चा बड़ा हो गया। यह बदलती अवस्था ही भाव कहलाती है। पुष्प अभी खिला हुआ है। उसके समस्त अवयवों में एक अनुपम कसाव, सुन्दरता और ताजगी है। कुछ समय बाद हम पाते हैं कि न वह कसाव रहा है, न वह सुन्दरता और न वह ताजगी। हम कहते हैं पुष्प को कुछ हो गया है। इस होने, अर्थात् पुष्प के इस अवस्थाभेद को हम मुरझाना नामक भाव कहते हैं। इस अवस्थाभेद की विभिन्न विशेषताओं को दर्शाने के लिए हम इस के वाचक शब्द में तरह-तरह के प्रत्यय लगाते हैं। इस विवेचन से यह स्पष्ट हुआ कि —

(क) हम भाव का ज्ञान साक्षात् नहीं कर सकते। द्रव्य के माध्यम से ही, अर्थात् द्रव्य के अवस्थाविशेष को ही प्रत्यक्ष करके, हम उसमें किसी भाव का अनुमान करते हैं। अतः भाव कोई मूर्त्त सत्त्व नहीं है, अपितु अमूर्त्त एवम् अनुमेय है।

(ख) द्रव्य का एक अवस्था से दूसरी अवस्था को प्राप्त करना ही भाव है।

इस प्रसङ्ग को आचार्य पतञ्जलि ने अपनी रोचक शैली में बहुत सुन्दर ढंग से यों स्पष्ट किया है: क्रिया क्या होती है? ईहा। ईहा क्या? चेष्टा। चेष्टा क्या? व्यापार। आप तो शब्दों से ही शब्दों की व्याख्या कर रहे हैं, यह तो नहीं कि कोई पदार्थ लेकर बतायें कि यह ऐसी होती है क्रिया। क्रिया है ही ऐसी कि प्रत्यक्ष नामक सर्वोत्कृष्ट प्रमाण से दिखलाई ही नहीं देती। जैसे आशय से निकले हुए भ्रूण को हम दिखला देते हैं कि यह गर्भ है वैसे क्रिया को किसी पिण्ड (सावयव वस्तु) के रूप में दिखलाना सम्भव नहीं है। वह तो अनुमान से समझी जाती है। वह अनुमान क्या है? द्रव्यों के होने पर भी कभी हम कहते हैं—'पका रहा है', कभी नहीं कहते।

---

१. द्र. अर्थशास्त्र २।१०, पृ. १११: अविशिष्टलिङ्गमाख्यातं क्रियावाचि।

२ द्र. महाभाष्य १।३।१, वा. ७, पृ. १८६: कः पुनर्भावः? भवतेः स्वपदार्थो भवनं भाव इति। तथा यहां प्रदीप।

द्रव्य में जिसके उपस्थित होने पर 'पकाता है'—यह कहना बनता है, वह अवश्य क्रिया ही होगी। अथवा जिससे देवदत्त यहाँ होकर पाटलिपुत्र में हो जाता है, वह अवश्य क्रिया ही है[1]।

यह भाव दो प्रकार का है : (क) सामान्य, अर्थात् द्रव्य के अस्तित्व की ही विशिष्टता। जैसे देवदत्त आस्ते, तिष्ठति, शोभते आदि। (ख) द्रव्य में किसी प्रकार के प्रयत्न या परिस्पन्दन के रूप में। जैसे देवदत्तो गच्छति, पचति, जुहोति।

पहले के लिए मूलतः भाव शब्द का तथा दूसरे के लिए क्रिया शब्द का प्रयोग हुआ होगा[2]। परन्तु परिस्पन्दन भी द्रव्य का एक खास तरह का अस्तित्व ही तो है, यह देख कर कालान्तर में दोनों शब्द एक-दूसरे के पर्याय ही बन गये।

भाव को प्रकट करने वाले शब्द दो तरह के हैं :

(अ) भाव को प्रधानतया कहने वाले। ये शब्द भाव से अतिरिक्त बातों को यदि प्रकट करते भी हैं, तो उनको भाव के प्रति गौण बना कर। इस श्रेणी में तिङन्त शब्द आते हैं। जैसे—

पठति, पचति आदि तिङन्त शब्दों में पढ़ना तथा पकाना व्यापार प्रधान के रूप में प्रकट होता है। कर्ता उसके आश्रय के रूप में गौण हो कर प्रतीत होता है। एक सङ्ख्या भी कर्ता का ही विशेषण है। वर्तमान काल भी व्यापार का विशेषण है[3]।

(आ) भाव को गौण बना कर, अथवा पर-सापेक्ष हो कर, प्रकट करने वाले। ये शब्द भाव वाचक होते हुए भी किसी अन्य क्रियावाचक (प्रधान रूप से भाव को प्रकट करने वाले) शब्द की अपेक्षा में रहते हैं[4] इस श्रेणी में सारे कृदन्त शब्द, हिरुक्, पृथक् विना, नाना, ऋते आदि सब क्रियावाचक अव्यय शब्द, आते हैं। भावार्थक तद्धित प्रत्यय तथा अन्नेन व्यञ्जनम् (अष्टा० २।१।३४) और भक्ष्येण मिश्रीकरणम् (अष्टा० २।१।३५) आदि से क्रिया अर्थ में होने वाले समास भी इसी श्रेणी से सम्बन्धित हैं। पर इन सब प्रकार के शब्दों में भाव अर्थ अप्रधान के रूप में ही होता है। जैसे—

१. द्र. महाभाष्य १।३।१, वा. २, पृ. १७९।

२. द्र. महाभाष्य १।३।१ पर प्रदीप, पृ. १९६ : परिस्पन्दापरिस्पन्दरूपतया क्रियाभावयोर्भेदेनोपन्यासः।

३. द्र. वैयाकरण भूषणसार, धात्वर्थनिर्णय, २ कारिका की व्याख्या।

४. द्र. वही, २ कारिका, पृष्ठ २०। पचति पाकः, करोति कृतिरित्यादौ धात्वर्थावगमाविशेषेऽपि क्रियान्तराकाङ्क्षाऽनाकाङ्क्षयोर्दर्शनस्यैव मानत्वात्।

कृदन्त । तव्यत्, क्त, क्तवतु, क्त्वा, तुमुन्, घञ्, ल्युट् आदि प्रत्ययों से निष्पन्न शब्दों का अर्थ भाव वाक्य में प्रधान के रूप में नहीं होता। यह वाक्य के अर्थ को पूर्ण करने में असमर्थ है, चाहे वह पूरक भाव इतना साधारण ही क्यों न हो कि हम उसे बिना कहे भी, अध्याहार से ही, समझ सकें। जैसे—**मया कि कर्तव्यम्, त्वं कुत्र गतः** आदि कृदन्त शब्दों वाले वाक्य **अस्ति, आसीत्, असि, आसीः** आदि शब्दों के बिना अधूरा अर्थ लिए खड़े हैं। **पाठः, गमनम्** आदि से भी तत्तद् भाव तो प्रकट हो गया, पर प्रधान के रूप में नहीं, अपितु क्रियान्तर का मुँह देखने वाले गौण के रूप में ही।

अव्यय । पृथक् शब्द अलगाव रूप व्यापार को कहता है। परन्तु यह व्यापार **ददाति, करोति,** इत्यादि किसी दूसरे क्रियावाचक के बिना पूर्ण भाव को नहीं कहता।

तद्धित । कृत्वः, शः आदि प्रत्ययों से निष्पन्न **पञ्चकृत्वः, एकैकशः** आदि शब्द भी तिङन्त-शब्द सापेक्ष-व्यापारवाचक हैं।

समास । समस्त शब्दों में तो समास की शक्ति से प्रकट होने वाला व्यापार अर्थ कांग्रेसी नेताओं की तरह अपने ही अवयवों की शक्तिस्पर्धा में फँसा रह कर बिल्कुल गौण पड़ा रहता है। जैसे **दध्ना उपसिक्त ओदनः=दध्योदनः** में उपसेचन व्यापार करण और कर्म रूप पूर्वोत्तरपदों के चक्र से ही मुक्ति नहीं पाता, प्राधान्य की तो कौन कहे।

द्रव्य की अनेक अवस्थाओं में से जिस अवस्था को हम प्रधान रूप में कहना चाहते हैं, वह प्रधान व्यापार कहलाने लगती है। उसकी निष्पत्ति के लिए अपेक्षित अन्य अवस्थाएँ गौण हो जाती हैं तथा वे उस प्रधान के वाचक शब्द के ही अन्तर्भूत हो जाती हैं; उसके लिए या तो कोई दूसरा शब्द प्रयुक्त नहीं होता, या, यदि गौणता को शब्द से बतलाना आवश्यक है ही, तो प्रधान व्यापार से भिन्न व्यापार के वाचक शब्द का प्रयोग प्रधानव्यापारवाचक शब्द के अङ्ग के रूप में किया जाता है। जैसे—**देवदत्त ओदनं पचति** यह वाक्य हम तब भी कह सकते हैं जब देवदत्त **पकाने** की तैयारी ही कर रहा है, या बटलोई में उबलते, पकते चावलों के पास बैठा भर है। तो **पकाने** के लिए आवश्यक जितने भी अवान्तर व्यापार देवदत्त को करने पड़ते हैं, वे **पचति** में ही अन्तर्भुक्त समझ लिए जाते हैं। इसी प्रकार **यात्रा** (जाना) में आवश्यक जूता-कपड़े पहिनना, एक-एक कदम उठाना आदि सब अवान्तर व्यापार **गच्छति** में ही आ सिमटते हैं। अवान्तर के रूप में उन्हें प्रकट करने के लिए दूसरा शब्द प्रयोग करने की आवश्यकता नहीं है। किन्तु **फलान्यानेतुमापणं गच्छति**

आदि वाक्यों में फल लाना रूप अवान्तर क्रिया को कहना आवश्यक होने पर उसे तुमुन् प्रत्यय से गौण बनाकर कहा गया है।

यहाँ भाव की प्रधानता के बारे में एक बात और समझ लेनी चाहिए। प्रधानता वाक्य में प्रयोग की दृष्टि से है। जिस क्रियावाचक शब्द के होने से आपका अर्थ सु-समाप्त होता है, जिस के आने से और किसी पूरक की अपेक्षा नहीं रहती, वही क्रिया-वाचक शब्द उस वाक्य में प्रधान कहलायेगा। भाव की प्रधानता का निर्णय व्यापारों के परस्पर अपेक्षित महत्त्व या गौण-प्रधान-भाव के आधार पर नहीं होता। अर्थात् फल लाने बाजार जाता है वाक्य में दो व्यापार हैं। उनमें से जाना तो फल लाने के लिए है, स्वतन्त्र नहीं, अतः लाना प्रधान, तथा जाना उसकी निष्पत्ति के लिए आवश्यक होने से अङ्ग है—यह नहीं होता।

इस प्रकार का भाव जिस शब्द से प्रधान के रूप में प्रकट किया जाता है, वह शब्द आख्यात कहलाता है।

(३) सम्बन्ध : यह द्रव्य और द्रव्य में तथा द्रव्य और क्रिया में परस्पर होता है। इसे विभक्तिप्रत्ययों और अव्यय शब्दों (उपसर्गों और निपातों) के द्वारा प्रकट किया जाता है। जैसे—

विभक्तिप्रत्यय : षष्ठी विभक्ति से द्रव्य और द्रव्य में सम्बन्ध बताया जाता है : राज्ञः पुत्रः। समास भी इस सम्बन्ध को बतलाता है : राजपुत्रः।

कारक विभक्तियों से द्रव्य और क्रिया में सम्बन्ध प्रकट किया जाता है : अहं दाशरथिमपश्यम् में द्वितीया विभक्ति के द्वारा दाशरथि द्रव्य और अपश्यम् क्रिया में कर्म सम्बन्ध बताया गया है।

उपपद विभक्तियों से द्रव्यों का पारस्परिक सम्बन्ध, द्रव्य और क्रिया में सम्बन्ध एवं द्रव्य तथा सम्बन्धवाचक शब्द के अर्थ (सम्बन्धविशेष) में सामान्य सम्बन्ध बतलाया जाता है। जैसे—

उपपदविभक्ति से द्रव्यों के पारस्परिक सम्बन्धों का अभिधान : पूर्वो ग्रामात् पर्वतः में पूर्वः के योग में हुई पञ्चमी विभक्ति से ग्राम और पर्वत में पूर्वापरभाव सम्बन्ध बतलाया गया है।

उपपद विभक्ति से द्रव्य और क्रिया का सम्बन्ध : पुष्पेभ्यः स्पृहयति में √स्पृह् के योग में हुई उपपदविभक्ति से पुष्प और स्पृहा में सम्बन्ध बतलाया गया है। पुत्रेण सहागतः पिता। यहाँ साहचर्य सम्बन्ध पुत्र और पिता का परस्पर है। इस सम्बन्ध को कहने वाले सह शब्द के योग में हुई तृतीया पुत्र और सम्बन्ध वाचक सह के साथ सम्बन्ध को बतलाती है।

अव्यय : **नरः नारायण इव**, नर नारायण जैसा है। यहाँ दोनों द्रव्यों में **सादृश्य** सम्बन्ध इव से प्रकट होता है। **गङ्गामनु वाराणसी**=गङ्गा के साथ-साथ वाराणसी है। यहाँ दो द्रव्यों—**गङ्गा** और **वाराणसी**—का सम्बन्ध **अनु** उपसर्ग (पाणिनि के तन्त्र में कर्मप्रवचनीय) से प्रकट किया गया है।

इन तीन प्रकार के **अर्थों** के अभिधायक शब्द क्रमशः **नाम** (नपुं०), **आख्यात**, (नपुं०) **उपसर्ग** (पुं०) और **निपात** (पुं०) कहलाते हैं[1]।

सत्त्व तथा भाव का निर्देश किस प्रकार ?

सत्त्व तथा भाव का निर्देश किस प्रकार होता है, यह बतलाने के लिए भगवान यास्क ने कहा है : **अद इति सत्त्वानामुपदेशः, गौरश्वः पुरुषो हस्तीति। भवतीति भावस्य, आस्ते शेते व्रजति तिष्ठतीति** (१।२)।

इसका आशय यह है कि जिस वस्तु को **अदः आदि सर्वनामों** से निर्दिष्ट किया जा सके, वह वस्तु **सत्त्व** होती है[2]। जैसे गाय, घोड़ा, पुरुष, हाथी। ये सब सर्वनाम से निर्देश के योग्य हैं, अतः **सत्त्व** हैं। और इनके वाचक पद **नाम** पद कहलाते हैं। **आख्यात** पद में स्थित **भाव** का निर्देश सत्तासामान्यवाची है (**भवति**) क्रिया पद से होता है। जिस पद की प्रवृत्ति **भवति** आदि सामान्य क्रिया के द्वारा होती है, वह **आख्यात** कहलाता है। जैसे **शेते** (सोता है) इस प्रयोग में **शयानो भवति** का ही आशय विशेष क्रियापद के द्वारा कहा गया है। दोनों ही प्रकार से कहने में **वर्तमानकाल में होने वाला, एक (अन्य पुरुष)** कारक के द्वारा **क्रियमाण, शयनानुकूल व्यापार है**, यह अर्थ निकलता है।

अथवा **नाम** और **आख्यात** का लक्षण बतला कर तथा उसमें आई विप्रतिपत्ति को हटा कर अब **नाम आख्यात** के प्रकरण का उपसंहार करना चाहते हुए भगवान् यास्क **नाम** पद से अभिधेय **सत्त्वों** तथा **क्रियापद** से अभिधेय भाव का सामान्य और विशेष निर्देश बतला रहे हैं :

सत्त्वों का सामान्य रूप से निर्देश **अदस्** आदि सर्वनामों से होता है तथा विशेष रूप से गाय, घोड़ा, पुरुष, हाथी आदि तत्तत् **सत्त्व** का तत्तत् **नाम** लेकर। भाव का सामान्येन निर्देश सत्ता-सामान्य-वाची √ भू से होता है, एवं बैठता है,

१. तुलना करें : बृहद्देवता १।४२-४४; तथा ऋ. प्रा १२।१८-१९ :
तन्नाम येनाभिदधाति सत्त्वं तदाख्यातं येन भावं सधातु ॥

२. **वस्तूपलक्षणं यत्र सर्वनाम प्रयुज्यते।**
द्रव्यमित्युच्यते सोऽर्थो भेद्यत्वेन विवक्षितः ॥ वाक्यपदीय ३।४।३ ॥
इस श्लोक में सत्त्व **को और भी अधिक स्पष्ट करके कहा गया है।**

सोता है, जाता है इत्यादि विशेष क्रियापदों से विशेष रूप में[1]।

महेश्वर का (भाग १, पृ. ११ पर) कहना है कि सर्वनाम शब्दों का प्रयोग तो सब सत्त्वों के लिए तथा गो, अश्व इत्यादि का प्रयोग कुछ सत्त्वों के लिए ही होता है। इसी प्रकार भवति से सब भावों का उपदेश (प्रतिनिर्देश) होता है। आस्ते, शेते आदि से किसी-किसी भाव को ही कहा जाता है।

महेश्वर ने भाव तथा नाम का लक्षण बतलाने के बाद उनका उदाहरण देने के लिए इन वाक्यों को यहाँ दिया माना है।

भाव के भेद

भाव शब्द क्रिया का पर्याय है। यास्क ने क्रिया के दो भेद बताये हैं और वे हैं अमूर्त (पूर्वापरीभूत) भाव तथा मूर्त भाव। व्याकरण की शब्दावली में उन्हें क्रमशः साध्य अवस्था में स्थित भाव तथा सिद्ध अवस्था में स्थित भाव कहा जाता है[2]। भाव के ये दो भेद सामान्य अभिव्यक्ति की दृष्टि से हैं। स्वरूप विशेष की दृष्टि से भाव छह प्रकार के हैं[3] यह आचार्य वार्ष्यायणि का सिद्धान्त है। ये छह भाव, सभी, ऊपर की दोनों अवस्थाओं में अभिव्यक्त होते हैं। १. जन्म २. अस्तित्व, ३. परिवर्तन, ४. वृद्धि, ५. क्षय, और ६. नाश यह इनकी सिद्ध अवस्था है; १. जायते, २. अस्ति, ३. विपरिणमते ४. वर्धते, ५. अपक्षीयते, और ६. नश्यति साध्य अवस्था है।

यास्क ने जन्म और नाश के बारे में कहा है कि दोनों भावविकार क्रमशः

---

१. यह वैकल्पिक व्याख्या भी दुर्गाचार्य के अनुसार है। महेश्वर ने इस की आलोचना करते हुए (भाग १. पृ. १२ पर) कहा है: इस व्याख्या में सामान्येन, विशेषेण पदों का अध्याहार निष्प्रयोजन करना पड़ता है; अतः यह अपव्याख्यान है।

२ द्र. साध्यत्वेन क्रिया तत्र धातुरूपनिबन्धना।
सिद्धभावस्तु यस्तस्याः स घञादिनिबन्धनः॥ वैयाकरणभूषण १५॥

३. आचार्य महेश्वर ने (भाग १, पृ० २५-२८ में) भाव शब्द के १ क्रिया २ वस्तु. ३ शब्द तथा ४ सत्ता अर्थ मान कर इस वाक्य की चार व्याख्याएं की हैं: (क) क्रियाप्रकाराः क्रियाभेदाः...एवं पुनरुक्ताः षड्भेदा एतद्विशेषा इति वक्ष्यति (ख) भावस्य=पदार्थस्य=वस्तुन एकरूपस्यैव सतः षड् विकारभेदा भवन्ति स्फटिकस्येव संसर्गि-धर्म-भेदात्। (ग) वाक्यभूतः शब्दग्रामः षोढाऽवस्थितः कथ्यते। अतः षड्भावस्य शब्दस्य वाक्यभूतस्य भेदा इत्यर्थः। (घ) भावः=सत्ता=महासामान्यम्। सा चैकाऽपि सती नित्याऽपि वाऽसत्यैः शब्दमाहात्म्यनिबन्धनं व्यंवहारानुवादिभि र्जायते शब्दादिवाच्यैरवस्थाभेदैराविष्टेवानुगतेव कुटिल-कुण्डलाद्यवस्थाभेदैरिव पन्नगः स्तिमिततनुः, ...।

आरम्भ और **अन्त** का प्रारम्भ बतलाते हैं। आरम्भ के बाद की तथा अन्त के पूर्व की जो स्थिति (भाव) है, वह न तो इनसे प्रकट होती है और न उसका निषेध ही होता है। अर्थात् **जन्म** भाव से मुख्य रूप से **जन्म** ही प्रकट होता है, यों गौण रूप से **अस्तित्व** भाव भी उसमें समाहित है। अतः **जन्म** से न **अस्तित्व** का अभिधान होता है और न उसका **निषेध** ही। इसी प्रकार **अपक्षय** अर्थात् ह्रास भी नाश में समाहित है। किन्तु **नाश** भाव से **नाश** ही प्रकट होता है, ह्रास नहीं। और न ही उसका निषेध होता है।

आचार्य दुर्ग का मत है कि उपयुक्त अन्य भाव का अनभिधान और अप्रतिषेध केवल १. **जन्मभाव** और २. **नाशभाव** पर ही नहीं, अपितु शेष ३. **अस्तित्व**, ४. **विपरिणाम** ५. **वृद्धि** और ६. **क्षय** पर भी लागू होता है। अर्थात् प्रत्येक भाव केवल अपनी ही **क्रिया** को मुख्य रूप से प्रकट करता है। वह अपने से परवर्ती अन्य **भाव** को न तो प्रकट करता है। और न उसका निषेध करता है। हां, पूर्ववर्ती भाव परवर्ती भाव के प्रकट होने में गौण रूप से अपेक्षित अवश्य है। बिना **जन्म** के **अस्तित्व** तथा बिना **अस्तित्व** के **विपरिणाम** नहीं होता। इसी प्रकार अन्य भाव विकारों में भी पूर्वभावविकार की अपेक्षा रहती है।

जगत् की विभिन्न क्रियाएँ भाव के ही विभिन्न रूप हैं। पर वर्गीकरण की दृष्टि से यास्क के अनुसार वार्ष्यायणि का मत है कि उन सब का समाहार इन छह विकारों अथवा वर्गों में ही हो जाता है[1]।

श्री **वै. का. राजवाडे** ने इस पर निम्नलिखित आपत्तियां उठायी हैं :—

१. **जन्म** केवल जीवों (animate) का होता है। पृथ्वी तथा अन्य ग्रह-नक्षत्र निर्जीव हैं, किन्तु घूमना आदि विभिन्न क्रियाएँ करते हैं। इन क्रियाओं का किस वर्ग में समाहार होगा?

२. **आस्ते** (बैठता है), **शेते** (सोता है), **व्रजति** (जाता है) तथा **तिष्ठति** (खड़ा होता है, ठहरता है) का परिगणन किस वर्ग में होगा? क्या **विपरिणमते** (बदलता है) में?

३. **अस्ति** (अस्तित्व, सत्ता) को **भावविकार** नहीं मानना चाहिए। यह तो **जन्म**, **विपरिणाम**, **वृद्धि** तथा **अपक्षय** में एक साथ रहता है। **भाव** अर्थात् **होना** भी सत्ता का ही विकार है।

---

१. तु. भावप्रधानमाख्यातं षड्विकारा भवन्ति ते।
जन्मास्तित्वं परीणामो वृद्धिर्हानं विनाशनम्॥
एतेषामेव षण्णां तु येऽन्ये भावविकारजाः।
ते यथावाक्यमभ्यूह्याः सामर्थ्यान्मन्त्रवित्तमैः॥ बृहद्देवता २।१२१-१२२॥

४. जन्म वस्तुतः विपरिणाम एवं वृद्धि ही है । भ्रूण के १. विपरिणाम, २. वृद्धि, ३. अपक्षय और ४. नाश भाव जन्म से पूर्व ही हो सकते हैं । अतः १. जन्म, २. वृद्धि, ३. अपक्षय और ४. नाश का अन्तर्भाव विपरिणाम में किया जा सकता है ।

५. जन्म से पूर्व ही विपरिणाम एवं वृद्धि हो चुकते हैं । अतः इनका क्रम जायते के बाद उचित नहीं है[1] ।

हम श्रीयुत राजवाडे के इन निष्कर्षों से सहमत नहीं हैं । क्योंकि :—

१. √जन् का अर्थ प्रादुर्भाव अर्थात् प्रकट होना है[2] । अतः जन्म का अर्थ प्रादुर्भाव है । प्रादुर्भाव जीव और अजीव, जड और चेतन, दोनों का होता है । एक समय था जब पृथ्वी नहीं थी । एक समय आया कि पृथ्वी का प्रादुर्भाव हो गया, तथा पृथ्वी के अस्तित्व, विपरिणाम आदि सब भाव होते चले गये । उन्हीं भावों में घूमना भी है, जिसे हम प्रादुर्भूत और अस्तित्व में आई हुई पृथ्वी का विपरिणाम कह सकते हैं ।

२. आसन, शयन, व्रजन और स्थान भावविशेषों का परिगणन विपरिणाम में करने में हमें कोई आपत्ति नजर नहीं आती; श्री राजवाडे जी ने भी इसमें कोई आपत्ति नहीं बतलाई है ।

३. सारा जगत् सत्ता का ही प्रपञ्च है । कर्तृपदार्थ या कर्मपदार्थ की पूर्वापरीभूत सत्ता ही तो क्रिया है[3] । अतः अस्तित्व को भाव न मानना तो दिन में चमकते सूर्य के अस्तित्व से इन्कार करने जैसा है । जन्म आदियों में सत्ता का एक साथ रहना कोई दोष नहीं है । वस्तुतः सब भावों का आधार सत्ता ही तो है[4] । उसके बिना अन्य भाव हो भी कैसे सकते हैं ? भाव परस्परसापेक्ष हैं, यह हम ऊपर बता ही चुके हैं ।

३. जन्म प्रादुर्भाव है । भ्रूण भी शुक्ररजस् के संयोग के द्वारा पहले गर्भ में प्रादुर्भूत होता है, फिर उसके अस्तित्व के अनन्तर उसमें विपरिणाम एवं वृद्धि आदि

---

१. द्र. यास्क'ज् निरुक्त, पृ. २२७-२२८ ।

२. द्र. पाणिनि, धातुपाठ, दिवा० ११४९ : जनी प्रादुर्भावे ॥

३. स्वव्यापारविशिष्टानां सत्ता वा कर्तृकर्मणाम् ।
क्रिया, व्यापारभेदेषु सत्ता वा समवायिनी ॥
अन्तरात्मनि या सत्ता सा क्रिया कैश्चिदिष्यते ।
भाव एव हि धात्वर्थ इत्यवच्छिन्न आगमः ॥ वा. प. ३।८।२३, २४॥

४. द्र. कैयट, भाष्यप्रदीप, १।३।१, पृष्ठ १९५ : सत्तैवानेकक्रियात्मिका साधनसम्बन्धादवसीयमानसाध्यरूपा जन्मादिरूपतयाऽवभासते । तथा वा.प. ३।८।२८ : अतो भावविकारेषु सत्तैका व्यवतिष्ठते ।

विकार होते हैं। अतः जन्म विपरिणाम आदि भावविकारों से बहुत भिन्न भावविकार है। इसी प्रकार वृद्धि और अपक्षय आदि का अन्तर्भाव विपरिणाम में नहीं हो सकता।

वस्तुतः श्री राजवाडे ने यहां जायते का अर्थ जन्म (birth) बहुत सीमित रूप में माना है, और विपरिणाम अर्थात् परिवर्तन (change) का अर्थ बहुत विस्तृत रूप में। उन्होंने विपरिणाम को व्यापारसन्तान के सामान्य अर्थ में लिया है। इस अर्थ में तो विपरिणाम और क्रिया में ही कोई अन्तर नहीं रह जायेगा।

५. जब तक वस्तु प्रकट ही नहीं हुई है, तब तक उसके अस्तित्व आदि शेष भावविकारों का किसी भी प्रमाण से न तो ग्रहण ही होगा और न वे भावविकार कहीं (सूक्ष्म, स्थूल रूप में भी) अस्तित्व में ही आ पावेंगे। अतः जायते को सब से प्रथम रखना सर्वथा उचित है।

वस्तुतः भावविकारों के इस प्रसङ्ग में एक बात ध्यान में रखनी चाहिए कि प्रत्येक भाव भी इन छह दशाओं में से गुजरता है। क्रिया स्वतः अमूर्त है। अतः उसका इन्द्रियों से साक्षात् अनुभव नहीं हो सकता। कारक तथा काल के आश्रय से हम उसके होने का अनुमान करते हैं[1]। आश्रय जितना स्थूल होगा, क्रिया का अनुमान भी उतना ही स्थूल होगा। कारक आदि आश्रय में स्थित हुए भाव ही अभिव्यक्त होते हैं। वस्तुतः प्रत्येक भाव में जन्म आदि सारे भाव भी होते रहते हैं। सूक्ष्म होने से हमें उनका बोध बहुत स्पष्ट एवं शीघ्र नहीं हो पाता।

मूल में वर्धते भाव दो प्रकार से बताया है : एक वस्तु के आन्तरिक तत्त्वों की वृद्धि, दूसरी बाह्य उपकरणों के कारण मानसिक (psychological) वृद्धि। किन्तु इनके उदाहरणों में क्रम उलट गया है। पहले बाह्य वस्तुओं के कारण होने वाली वृद्धि का उदाहरण दिया है—विजय से बढ़ता है, फिर अन्तरङ्ग वृद्धि का —अथवा शरीर से (बढ़ना है)। आचार्य महेश्वर का कथन है कि यहाँ क्रम को तोड़े बिना पाठ देना उचित है : वर्धते शरीरेण, वर्धते विजयेनेति क्रमाबाधेनोदाहरणपाठो युक्तः (भाग १, पृ० ३१)। श्री राजवाड़े के मत में यहाँ लक्षणवाक्य में सांयोगिक पदार्थों की (वृद्धि को बतलाता है)—वाक्य की समीपता के कारण पहले (व्युत्क्रम से) उसका उदाहरण दिया है, फिर अन्तरङ्ग वृद्धि का।

पाठप्रक्षेप। श्री वं० का० राजवाडे के अनुसार औदुम्बरायण और वार्ष्यायणि

१. द्र. महाभाष्य १।३।१, पृ० १७९ : क्रिया नामेयमत्यन्तापरदृष्टा। अशक्या क्रिया पिण्डीभूता निदर्शयितुम्, यथा गर्भो निर्लुठितः। साऽसावनुमानगम्या। और अन्यत्र : अमूर्ता हि क्रिया निरुपाख्या। सा हि कारकैरभिव्यज्यमाना कारकशरीरे वसन्ती शक्यते निर्देष्टुम्।

के ये सिद्धान्त निरुक्त में मौलिक नहीं, अपितु प्रक्षिप्त हैं। क्यों कि इन सिद्धान्तों के यहाँ रखने से पदचतुष्टय के प्रतिपादन में व्याघात होता है।

परन्तु यह निष्कर्ष तर्कसङ्गत नहीं है। क्यों कि :—

१. यास्क की यह प्रवृत्ति है कि वे प्रसङ्ग-प्राप्त विषय पर भी प्रधान विषय के प्रतिपादन के समय, उसके बीच में ही, विचार करते चलते हैं। शब्दानित्यत्व का सिद्धान्त पदविभाग के प्रसङ्ग में पूर्वपक्ष के रूप में सर्वथा प्रासङ्गिक है। इसी प्रकार भाव-प्रधान आख्यात के वर्णन के समय भाव की सामान्य अवस्थाओं (पूर्वापरीभूतता तथा मूर्तता) एवं विशेष अवस्थाओं (जन्म, अस्तित्व आदि) का वर्णन सर्वथा प्रासङ्गिक ही है।

२. भावविकारों का निर्देश भगवान् भाष्यकार ने भी अपने ग्रन्थ में ठीक इसी प्रकार किया है जैसे आचार्य यास्क ने किया है। शब्दावली भी लगभग वही है। केवल **वार्ष्यायणि** के लिए उन्होंने **भगवान्** विशेषण का प्रयोग किया है[1]। इस प्रकार नाम-निर्देश पूर्वक उनके मत को उद्धृत करने से प्रतीत होता है कि उन्होंने पूरा वाक्य निरुक्त से ही लिया है, वार्ष्यायणि के ग्रन्थ से नहीं। वार्ष्यायणि के ग्रन्थ से यदि सीधे लिया होता, तो उनकी शब्दावली निरुक्त से हू-ब-हू न मिलती। अतः पतञ्जलि के पाठ से प्रतीत होता है कि प्रस्तुत सन्दर्भ निरुक्त का मौलिक अंश है, प्रक्षिप्त नहीं।

३. शारीरक भाष्य (१।१।२) में भगवान् शङ्कराचार्य ने भी **जायतेऽस्ति** ....आदि वाक्य को यास्कपरिपठित बतलाया है। अतः प्रकृत सन्दर्भ निरुक्त का अभिन्न अंश है, प्रक्षिप्त नहीं।

---

१. द्र. महाभाष्य, १।३।१, पृष्ठ १९४ : षड् भावविकारा इति ह स्माह भगवान्वार्ष्यायणिः। जायतेऽस्ति विपरिणमते वर्द्धतेऽपक्षीयते विनश्यतीति।

अध्याय १३

नाम पड़ने का आधार क्रिया है

चार प्रकार के पदों में उपसर्ग तथा निपात पद गिनती के ही हैं। अतः उनका प्रतिपद व्याख्यान भी सम्भव है। आख्यात पद भी धातुओं से बनते हैं, जो यों तो परिगणित ही हैं, पर इतनी कम भी नहीं हैं कि उनका प्रतिपद व्याख्यान सरलतया हो सके। वस्तुतः यह व्याकरण का विषय है। वैयाकरणों ने आख्यात पदों की आधारभूत प्रकृति के रूप में कल्पित धातुओं की इयत्ता निर्धारित करते हुए उनका सङ्ग्रह धातुपाठों में कहीं अर्थ-निर्देश-समेत, तो कहीं उसके बिना किया है। यों, सम्भव है कि भारोपीय परिवार की भाषाओं के और अध्ययन से कुछ अन्य धातु शब्द भी धातुपाठों में जुड़ें। द्रव्य अनन्त हैं, अतः उनके वाचक नामपद भी अनन्त हैं। उनका प्रतिपद व्याख्यान नहीं हो सकता[1]।

पीछे (पृ. १०७ पर) हम देख चुके हैं कि नाम शब्द अर्थाभिधायक पद मात्र के लिए शतपथब्राह्मण (१।४।४।१) में प्रयुक्त होते हुए भी द्रव्याभिधायक पद अर्थ में ही रूढ है। नाम शब्द सञ्ज्ञा का पर्याय है। अब यह प्रश्न बहुत स्वाभाविक है कि किसी भी पदार्थ की कोई सञ्ज्ञा क्यों पड़ती है ? नाम पड़ने का आधार क्या है ?

निरुक्त (१।१२-१४) से विदित होता है कि प्राचीन आचार्यों ने इस पर विचार करके एक सिद्धान्त तय किया था। बृहद्देवता (१।२३-३३) में इस विषय पर तनिक विस्तार से विचार किया गया था। उनके कथन से हमें इस प्रश्न के ऐतिहासिक विकास की स्थिति का भी ज्ञान होता है। बृहद्देवता (१।२३) में इस प्रश्न को उठा कर (१।२४-२५ में) बतलाया गया है कि नैरुक्त, पुराने विद्वान् तथा मधुक, श्वेतकेतु और गालव निम्नलिखित नो बातों को नाम पड़ने का आधार मानते थे : १. निवास, २. कर्म अर्थात् क्रिया, ३. रूप, ४. मङ्गल, ५. बोली, ६. आसीस, ७. स्वेच्छा (यदृच्छा), ८. आदत (उपवसन) और ९. अमुक माता या

---

१. द्र. महाभाष्य, पस्पशा, पृष्ठ २४-२५।

पिता का पुत्र होना, या उनके गोत्र में उत्पन्न होना (आमुष्यायण)[1]। बृहद्देवता में इनके उदाहरण नहीं दिए हैं। हमारे विचार में ये उदाहरण हो सकते हैं :

१. निवास अर्थात् रहने की जगह के आधार पर द्रव्यों के नाम पड़ जाते हैं। शलातुर-ग्रामनिवासी होने से पाणिनि शालातुरीय कहलाते थे। गोनर्द-निवासी पतञ्जलि गोनर्दीय के नाम से प्रसिद्ध थे। खरक-ग्रामनिवासी होने से हमारा कुल खरकिया कहलाता है।

२. कर्म अर्थात् कोई कार्य विशेष रूप से करने के कारण भी उस क्रिया के वाचक धातु से नाम निष्पन्न हो जाते हैं। तक्षण के कारण तरखान तक्षा, तथा वर्धन (काटने) के कारण वर्धकि कहलाता है। ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि वर्णों के नाम तत्तत् क्रियाओं के ही आधार पर पड़े हैं। पेशों (व्यवसाय-धन्धों) के आधार पर पड़े नाम इसी श्रेणी में आते हैं।

३. रूप अर्थात् आकृति आदि के आधार पर भी नाम पड़ते हैं। काले (सांवले) रंग के कारण राम कृष्ण, श्याम, तथा आकार (डील-डौल) के कारण वामन, लम्बू आदि नाम लोक में प्रसिद्ध ही हैं।

४. मङ्गल अर्थात् कल्याण की भावना से देवताओं के नाम पर भी नाम पड़ जाते हैं। श्रीमद्भागवत के अजामिल का मङ्गल अपने बेटे नारायण को पुकारने से हो गया था—यह श्रद्धालु लोगों में प्रसिद्ध ही है।

५. बोली अर्थात् खास तरह से बोलने के आधार पर भी उस बोली को प्रकट करने वाले शब्द से पदार्थ का नाम पड़ जाता है। का-का बोलने के कारण कौवा संस्कृत में काक और पंजाबी में कां कहलाता है। बिल्ली का म्यांऊँ नाम, कोयल का कुहू नाम भी इसके उदाहरण हैं। कुक-कुक (वास्तविक उच्चारण कुक्-कुक् जैसा) बोलने के आधार पर मुर्ग महाशय संस्कृत में कुकवाकु हो गए तथा पंजाबी में कुकड़ूँ कूँ बोलने से (अथवा संस्कृत कुक्कुट<कुककृत=वास्तविक उच्चारण कुक्कृत से) कुक्कड़ हो गए। भाषाविज्ञान में तो इस प्रवृत्ति को भाषा के जन्म में इतना महत्त्वपूर्ण माना जाता है कि इसके आधार पर एक सिद्धान्त ही खड़ा

---

१. बृ. तत्त्वत्वाहुः कतिभ्यस्तु कर्मभ्यो नाम जायते।
सत्त्वानां वैदिकानां वा यद्वाऽन्यदिह किञ्चन ॥१।२३॥
नवभ्य इति नैरुक्ताः पुराणाः कवयश्च ये।
मधुकः श्वेतकेतुश्च गालवश्चैव मन्यते ॥२४॥
निवासात्[1] कर्मणो[2] रूपात्[3] मङ्गलात्[4] वाच[5] आशिषः[6]।
यदृच्छयोपवसनात्[7] तथाऽऽमुष्यायणाच्च[8] यत् ॥२५॥

हो गया है : अनुकरणमूलकतावाद अर्थात् वो-वो सिद्धान्त।

६. **आशीः** अर्थात् शुभकामना। नितान्त निर्धनता में उत्पन्न **सेठ किरोड़ीमल** का यह नाम उनके माँ-बाप ने शुभकामना प्रकट करते हुए रखा था। **लखीराम**, **धन्ना** इत्यादि नाम इस प्रवृत्ति के अन्य उदाहरण हैं।

७. **यदृच्छा** अर्थात् मन-मर्जी से कुछ भी कह कर पुकारने लग जाना। **मदालसा** ने इसी दृष्टि से अपने पुत्र का नाम **अलर्क** रखा था, अन्यथा अपने बेटे को **पागल कुत्ता** कौन माँ कहना चाहेगी। संस्कृत के बहुपरिचित **डित्थ डवित्थ** आदि नाम तथा लोक में प्रचलित **मुन्ना, पिङ्कू, टिङ्कू, लल्लू** आदि नाम भी इसी वर्ग में आते हैं।

८. **उपवसन** : **मंक्डानल** ने इसका अर्थ **addiction** किया है। अतः हम **आदत, लत या स्वभाव** कहना उचित समझते हैं। **बिल्वाद** (**बेल** का शौकीन), **सूदखोर** आदि नाम इसी श्रेणी में आते हैं।

९. **अमुक का पुत्र होने से** ही जमदग्निपुत्र परशुराम को **जामदग्न्य**, रघुवंशी **राम** को **दशरथपुत्र** होने से **दाशरथि**, **सुमित्रापुत्र** होने से लक्ष्मण को **सौमित्रि** कहा जाता था। **यादव, पाण्डव, यास्क, चौहान** आदि भी इसी प्रकार के नाम हैं।

इस के अनन्तर **शौनक** ने कहा है कि **यास्क, गार्ग्य** और **रथीतर** आचार्य **१. आसीस**, **२. अर्थवैरूप्य** (अर्थों अर्थात् विषयों की विभिन्नता, **मंक्डानल** ने diversity of objects अर्थ किया है), ३. **बोली** और ४. **कर्म**—इन चार बातों **को ही नाम** पड़ने का आधार मानते हैं :

चतुर्भ्य इति तत्राहुर्यास्क-गार्ग्य-रथीतराः।
आशिषोऽथार्थ-वैरूप्याद् वाचः कर्मण एव च ॥ १।२६ ॥

ये चारों बातें निरुक्त में मिलती हैं—यह हम पीछे (पृष्ठ ४० पर) कह आए हैं।

इसके बाद अपना मत देते हुए **शौनक** ने कहा है कि वे सब नामों को कर्म अर्थात् क्रिया के आधार पर ही पड़ने वाला मानते हैं। उनके मत में उपर्युक्त सब दस (नौ नैरुक्तों के तथा एक अर्थ-वैरूप्य यास्कादि का अतिरिक्त) आधारों का अन्तर्भाव **कर्म** में ही हो जाता है :

"ये सब नाम क्रिया से ही (पड़ने हैं)—यह शौनक (कहते हैं)। **आसीस**, **रूप, शब्दानुकरण**—सब क्रिया से ही होते हैं। **स्वेच्छा** से, **स्वभाव** के आधार पर और **अमुक का पुत्र** होने से जो (नाम पड़ते हैं) तो ये सब भी कर्म ही हैं। सो सुनो (ये) युक्तियां (हैं) : सब जीवधारी क्रिया से ही उत्पन्न हुए हैं। क्रिया के कारण ही द्रव्य आपस में संयुक्त होते हैं। कोई द्रव्य जो कहीं हो जाता है तो वह उस निवास से हुआ है (—कहा जाता है)। **स्वेच्छा** से जहाँ-तहाँ जो नाम रख दिए जाते हैं, तो

उन्हें भी किसी कर्म की समानता के कारण ही पड़ा माने। कोई भी सत्ता कर्म-रहित नहीं है, कोई भी नाम अर्थ-रहित नहीं है। नाम क्रिया से रहित नहीं होते। अतः सब (नाम) कर्म के कारण ही पड़ते हैं। मङ्गल हो—इस दृष्टि से और वस्तु के स्वभाव (आदतों) को देख कर जो नाम रखा जाता है, वह भी कल्याण-कामना ही है। यह खराब नाम धारण करके ही जी जाए, लम्बी उम्र पा जाए—यह सोच कर भी कई बार पदार्थों के (बुरे के रूप में) प्रसिद्ध नाम रख दिए जाते हैं[1]।"

शौनक के इस कथन से विदित होता है कि बहुत प्राचीन काल में वस्तुओं के नामकरण के नो आधार माने जाते थे, कालान्तर में ये चार हुए तथा अन्ततः एक कर्म के आधार पर ही नाम पड़ता है—यह सिद्धान्त प्रतिष्ठित हुआ। यह आवश्यक नहीं है कि नाम पड़ने का आधार कर्म भी उसी वस्तु में स्थित हो, जिसका नाम रखा जाना है। वस्तु का किसी भी क्रिया से निकट का या दूर का, स्वयं का या किसी अन्य के माध्यम से सम्बन्ध मात्र होना चाहिए। नाम पड़ने के ये सब आधार मानसिक है, अर्थात् नाम रखने वाले लोगों की मन-स्थिति को ही प्रकाशित करते हैं। नाम की व्युत्पत्ति धातु से हो—यह इस सिद्धान्त में बिल्कुल अपेक्षित नहीं है।

पाणिनि के तन्त्र में नाम का समानार्थक शब्द है प्रातिपदिक। प्रतिपादिक दो प्रकार के होते हैं: १. व्युत्पन्न और २. अव्युत्पन्न।

१. व्युत्पन्न वे कहलाते हैं जिनकी कोई व्युत्पत्ति है, अर्थात् जो कृत्, तद्धित या समास में से किसी एक वृत्ति के अनुसार निष्पन्न हों। नैरुक्तों की दृष्टि से ये

---

१ द्र सर्वाण्येतानि नामानि कर्मतस्त्वाह शौनकः।
आशी रूपं च वाच्यं च सर्वं भवति कर्मतः॥ १।२७॥
यदृच्छयोपवसनात्तथामुष्यायणाच्च यत्।
तथा तदपि कर्मैव तच्छृणुध्वं च हेतवः॥ १।२८॥
प्रजाः कर्म-समुत्था हि कर्मतः सत्त्व-सङ्गतिः।
क्वचित्संजायते सत्त्वं निवासात्तत्प्रजायते॥ १ २९॥
यादृच्छिकं तु नामाभिधीयते यत्र कुत्रचित्।
औपम्यमादपि तद्विद्याद्भावस्यैवेह कस्यचित्॥ १।३०॥
नाकर्मकोऽस्ति भावो हि न नामास्ति निरर्थकम्।
नान्यत्र भावान्नामानि तस्मात्सर्वाणि कर्मतः॥ १।३१॥
मङ्गलात्क्रियते यच्च नामोपवसनाच्च यत्।
भवत्येव तु सा ह्याशीः स्वस्त्यादेर्मङ्गलादिह॥ १।३२॥
अपि कुत्सित-नामायमिह जीवेत्कथं चिरम्।
इति क्रियन्ते नामानि सुतानां विविधान्यपि॥ १।३३॥

तीन प्रकार के हैं : (क) **प्रत्यक्ष-वृत्ति**, जिन शब्दों में वृत्ति अर्थात् व्युत्पत्ति की प्रक्रिया प्रत्यक्षवत् स्पष्ट होती है। जैसे—**कारक, पाचक, वव्या, तक्षा, शालतुरीय, पौर्वशाल, पीताम्बर**। लगता है यास्क ऐसे शब्दों को **अवगत-संस्कार** कहा करते थे। उन्होंने (४।१, ५।२ में) इसके विलोम (**अनवगत-संस्कार**) शब्द का प्रयोग किया है। (ख) **परोक्षवृत्ति**, जिन शब्दों में व्युत्पत्ति की प्रक्रिया होती है, किन्तु स्पष्ट न होकर छुपी हुई (परोक्ष) रहती है। जैसे—**अश्व, गौ, पुरुष**। (ग) **अति-परोक्ष वृत्ति**, जिनमें प्रकृति-प्रत्यय का ज्ञान इतना दुरूह हो गया है कि व्युत्पत्ति पहचान में नहीं आती। जैसे **निघण्टु**। दुर्ग ने (१।१२ में) इन तीनों के लिए क्रमशः **प्रत्यक्ष-क्रिय, प्रकल्प्य-क्रिय** और **अविद्यमानक्रिय** सञ्ज्ञाओं का भी प्रयोग किया है।

२. **अव्युत्पन्न** वे प्रातिपदिक कहलाते हैं जो किसी व्युत्पत्ति के बिना, रूढ़ि से ही, अर्थबोध कराते हैं। इन शब्दों में व्याकरण की कोई भी वृत्ति काम नहीं करती। जैसे—**काक, कोकिल, डित्थ, डवित्थ**। रामचन्द्र, कृष्ण, घासीराम, बनारसीदास आदि व्यक्तिवाचक सञ्ज्ञाएँ अपने व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ में प्रयुक्त न होकर स्वेच्छया प्रयुक्त होती हैं। कहावत भी है : **विद्याधराणां पोथी न पन्ना, धरणीधराणां धरती न बीघा**। ऐसे शब्द अपने इन यादृच्छिक अर्थों में व्युत्पन्न नामपद नहीं माने जाते। हाँ, जब ये व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ में प्रयुक्त हों, तब अवश्य व्युत्पन्न माने जायेंगे।

इस विवरण से स्पष्ट होता है कि पाणिनीय तन्त्र में सब नामों का आधार द्रव्यस्थ या द्रव्य से सम्बद्ध कर्म ही नहीं माना जाता। अर्थात् पाणिनि यादृच्छिक शब्दों को कर्म के आधार पर पड़ा हुआ नहीं मानते। परन्तु पाणिनीय तन्त्र के अङ्गभूत **उणादि सूत्रों** की रचना सब प्रकार के **नामों** को **आख्यातज** मान कर सिद्ध करने को ही हुई है—यह विद्वद्वृन्द में प्रसिद्ध ही है। पाणिनि ने भी इसी लिए उणादि के आधीन सिद्ध होने वाले शब्दों को **उणादयो बहुलम्** (३।३।१) कह कर अपने व्याकरण के डण्डे से मुक्त कर दिया है।

तद्धित तथा **समास** प्रकरणों को देखने से विदित होता है कि पाणिनि ऊपर चर्चित सब बातों को नामकरण का आधार मानते हैं।

आचार्य **शाकटायन** और गार्ग्य अपने काल के सर्व-तन्त्र-स्व-तन्त्र विद्वान् थे। साहित्य में **शाकटायन** का नाम **वेदविदों**[1], **नैरुक्तों**[2], और **वैयाकरणों**[3] में बहुत आदर से

१. द्र. बृहद्दे. : २।१, ९५; ३।१५६; ४।१३८; ६।४३; ७।६९; ८।११, ९० ।

२. द्र. निरुक्त : १।३; १२।२; १३।३ ।

३. द्र. ऋक्प्रा. : १।१६; १३।३८ । वा. प्रा. : ३।८, ११; ४।५ । अ. प्रा. : २।२४ । अष्टा. : ३।४।१११; ८।३।१८, ४।५० ।

लिया गया मिलता है। गार्ग्य भी वेद[1], निरुक्त[2] व्याकरण[3] और अलङ्कारशास्त्र[4] के लब्धप्रतिष्ठ विद्वान् थे। यास्क इन दोनों के ऋणी हैं, किन्तु एकान्ततः किसी एक के अनुयायी या विरोधी नहीं हैं, यह उपसर्ग प्रकरण से और प्रकृत प्रकरण से भली-भाँति स्पष्ट है।

आलोच्य प्रश्न पर नैरुक्त एक मत हैं और वैयाकरण बँटे हुए हैं। कुछ वैयाकरण सब नामों को आख्यातज अर्थात् क्रिया के आधार पर पड़ने वाला मानते हैं, तो कुछ लोग नहीं[5]। यास्क ने वैयाकरणों के दोनों सम्प्रदायों के आचार्यों का नामोल्लेख नहीं किया है। इन दोनों शास्त्रों के प्रतिनिधि निरुक्त में क्रमशः यास्क और गार्ग्य हैं। यास्क ने शाकटायन का तो नामोल्लेखमात्र किया है। गार्ग्य ने शाकटायन का नामोल्लेख करते हुए उनके लिए परोक्ष भूत काल के आख्यात (सञ्चस्कार) का (१।१२ में) प्रयोग करके उनके कथन की आलोचना की है। यास्क उस वैयक्तिक आलोचना से लगभग तटस्थ हैं। इस विवरण से सिद्ध होता है कि गार्ग्य से शाकटायन प्राचीन हैं, एवं यास्क दोनों के परवर्ती हैं।

इन दोनों पक्षों की युक्ति-प्रतियुक्तियाँ निम्नलिखित प्रकार से हैं।

१. गार्ग्य :—जिन सञ्ज्ञा शब्दों में उदात्त आदि स्वर और प्रकृति-प्रत्यय आदि में होने वाले विकार उन शब्दों और उसके आधार (प्रकृति) धातु के अर्थ के अनुकूल हों, तथा उससे युक्त हों, अर्थात् जिन शब्दों को देखते ही उनकी व्युत्पत्ति स्पष्ट झलक जाए, उन्हें हम उस क्रिया के आधार पर पड़ा हुआ नामपद मानते हैं। परन्तु

---

१. द्र. बृहद्दे. : १।२६। निरुक्त ४।४ में साम. सं. १।३४५ के मेहना की व्याख्या में नामोल्लेख के बिना यास्क ने गार्ग्य का पदपाठ उद्धृत किया है। द्र. दुर्ग-व्याख्या तथा ४।३ पर स्कन्द की टीका तथा वा. प्रा. ४।१७७ पर उव्वट।

२. द्र. निरुक्त १।१२ में वैयाकरणों से पृथक् गार्ग्य का उल्लेख।

३. द्र. ऋक्प्रा. : १।१५; १३।३१। वा. प्रा. ख्यातेः खयौ कशौ गार्ग्यः सख्योख्यमुख्यवर्जम्।

४. द्र. निरुक्त ३।१३ में गार्ग्य के नामोल्लेख के साथ उपमा का लक्षण : यदतत्तत्सदृशमिति गार्ग्यः।

५. इस सन्दर्भ में स्कन्दस्वामी का (भाग १, पृ. ८३ में) यह कहना है कि ये लोग गो आदि शब्दों को अव्युत्पन्न प्रातिपदिक मानते हैं, आख्यातज नहीं। ऐतिहासिकों के मत में गो शब्द संस्कृत में विदेशी भाषा से उधार लिया हुआ रूढ शब्द है। अतः उसकी तथा ऐसे अन्य शब्दों की व्युत्पत्ति संस्कृत की धातु से खोजना उचित नहीं है। सम्भव है कि हमारे ये प्राचीन वैयाकरण भी रूढ शब्दों की व्युत्पत्ति इसी लिए न मानते हों कि न जाने इन शब्दों का कहाँ, कैसा मूल होता है।

गो, अश्व, पुरुष, हस्ती आदि शब्द तो रूढ (संविज्ञात) ही हैं, अर्थात् ये किसी क्रिया के कारण नहीं बने। अपितु सङ्केत के द्वारा पशुविशेष के लिए गो, अश्व और हस्ती तथा पुं. मनुष्य के लिए पुरुष शब्द बिना ही किसी व्युत्पत्ति के प्रसिद्ध हो गये हैं।

यास्क :—हमारा तो सिद्धान्त ही है कि सब नामपद किसी-न-किसी क्रिया के आधार पर पड़ते हैं। (अत: उनमें स्वर-संस्कार तथा धातु का अस्तित्व तो अक्षर या वर्णमात्र के रूप में ही सही, रहेगा ही। भले ही वह इतना परोक्ष हो गया हो कि आप जैसे मोटी दृष्टि वालों को न दिखाई पड़े।) इसमें आपत्ति देने योग्य कुछ भी नहीं है।

२. गार्ग्य :—आपत्ति देने योग्य है। यदि नाम आख्यातज ही हैं, तो उस क्रिया को करने वाले हर किसी का वह नाम पड़ना चाहिए। मार्ग को घोड़ा ही तो अशन (व्यापन) नहीं करता। कोई हरकारा भी मार्ग का अशन करने से अश्व क्यों न कहलाए ? तृण को आप √तृद् (चुभना) के कारण बना बताते हैं। तो, चुभने वाली हर चीज का नाम तृण पड़ना चाहिए। हमारी आपत्ति का आशय यह है कि एक क्रिया को करने वाले तो बहुत से हैं, तब किसी एक वस्तु का नाम ही उस क्रिया के कारण क्यों पड़े ?

यास्क :—अच्छा, तक्षा, परिव्राजक, जीवन और भूमिज शब्दों की व्युत्पत्ति स्पष्ट होने से इन्हें तो आप आख्यातज (तक्षा < √तक्ष् = काठ छीलना, परिव्राजक < परि + √व्रज् = चारों ओर घूमना, जीवन < √जीवि = जिलाना, भूमिज < भूमि + √जन् = धरती से पैदा होना क्रियाओं के कारण पड़ा) नामपद मानते हैं। तो, हम पूछते हैं कि तब क्या ये अपने यौगिक (व्युत्पत्तिलभ्य) अर्थ में जो कोई वह क्रिया करता है, उसके लिए प्रयुक्त हो सकते हैं ? वास्तव में बात यह है कि एक ही कर्म करने वाले अनेक द्रव्यों में से किसी का उसके कारण नाम पड़ जाता है, किसी का नहीं—ऐसा हम लोक में प्रतिदिन देखते हैं। इसमें हमारे सिद्धान्त का दोष नहीं है, अपितु लोक-प्रवृत्ति ही कारण है। इसी कारण कहा गया है—योगाद्रूढिर्गरीयसी।

३. गार्ग्य :—एक द्रव्य अनेक क्रियाओं से युक्त होता है। यदि आप का सिद्धान्त माना जाए तो उन सब क्रियाओं के कारण उस द्रव्य के अनेक नाम पड़ने चाहिएँ। जैसे—स्थूणा (थूण, खम्भा) को खड्डे में पड़ी होने से दरशया (दर = बिल, खड्डा; शया < √शी = लेटना, सोना, निश्चेष्ट पड़ा रहना) और उस पर बाँस आदि टिकाये जाने के कारण सञ्जनी (√सञ्ज् = लगाना, संयुक्त करना) भी कहना चाहिए। पर ऐसा होता नहीं है। अत: आपका सिद्धान्त बनावटी है।

यास्क :—इसके लिए भी हमारा पिछला उत्तर देखिए। लोग किसी क्रिया के कारण तो अमुक पदार्थ को अमुक नाम दे देते हैं, पर अन्य क्रिया की उपेक्षा कर

देते हैं। क्या जिसे आप तक्षा कहते हैं, वह और कोई कार्य करता ही नहीं? तब आप भी उसके तक्षण को ही क्यों महत्त्व देते हैं? अतः लोकप्रवृत्ति को देखते हुए यही कहा जा सकता है कि किसी क्रिया के कारण नाम पड़ जाता है, किसी के कारण नहीं पड़ता।

४. गार्ग्य :—नाम अगर क्रिया के कारण ही पड़ते हैं, तो वे ऐसे क्यों नहीं रखे जाते कि उनका अर्थ उनकी व्युत्पत्ति से प्रकृति-प्रत्यय को देखते ही प्रकट हो जाए! पुरुष शब्द में क्या क्रिया है, यह बिल्कुल स्पष्ट नहीं होता। अगर यह पुर्= शरीर में √शी=विराजने वाला होने के कारण पड़ा होता, तो इसे सीधे-सीधे पुरिशय कह देते। पुरन्दर शब्द आख्यातज है, यह व्युत्पत्ति स्पष्ट होने के कारण कोई भी कह सकता है। इसी प्रकार से अशन के कारण अश्व नाम यदि पड़ा है, तो अष्टा (√अश्+तृ=अष्टृ) कहना ज्यादा अच्छा होता। तिनके को भी तृण जैसा अटपटा, व्याकरण-लक्षण-विरुद्ध नाम न देकर तर्दन कहा होता। पर ऐसा हुआ नहीं है। इससे सिद्ध होता है कि वस्तुतः सब नाम क्रिया के कारण नहीं पड़ते, अपितु आप जैसे साहसी पुरुष दूर की कौड़ी लाकर, खेंचतान करके, कोई-न-कोई क्रिया खोज डालते हैं। (जैसे—पञ्च में और कोई क्रिया नहीं मिली, तो पृक्ता सङ्ख्या कह कर पर्चन क्रिया ही ढूंढ निकाली!)

यास्क :— यह अकेले हमारा ही दोष नहीं है। आपके व्रतति, दमूना, जाट्य, आट्णार, जागरूक, और दर्विहोमी आदि शब्द तो व्युत्पन्न नामपद हैं। इनमें ही व्युत्पत्ति कहाँ स्पष्ट है? इसी प्रकार पुरुष, अश्व, तृण, आदि शब्द भी आख्यातज तो हैं, पर उनकी व्युत्पत्ति स्पष्ट नहीं है।

५ गार्ग्य :—आप कहते हैं कि क्रिया को देखकर नाम पड़ता है। पर होता तो इसके विपरीत है: पहले नाम पड़ जाता है, और फिर आप जैसे निठल्ले उस पर विचार करने बैठ जाते हैं कि आओ, इस शब्द में धातु खोजें! जैसे—पृथिवी नाम न जाने कब से चला आया है। नैरुक्त आते हैं और कहते हैं—यह नाम प्रथन क्रिया के कारण पड़ा है। अब कोई उनसे पूछे—भाई, किसने इसे फैलाया? फैलाते समय वह महाशय स्वयं कहाँ खड़े हुए? (अर्थात् सब का आधार धरती ही जब फैलाई जा रही थी, तो फैलाने वाले का आधार क्या रहा होगा?) अतः नैरुक्त तो घोड़े के अगाड़ी गाड़ी लगाकर घोड़े से कहते हैं—चल बेटा, खेंच इसे!

यास्क :—हमें तो इसमें कोई दोष नहीं दिखलाई देता। पृथिवी इस लिए पृथिवी है कि यह बहुत पृथु (फैली हुई, विस्तीर्ण) दिखाई देती है, चाहे किसी ने इसे फैलाया हो, या नहीं। अतः पहले पड़े नाम का बाद में आधार खोजना अनुचित नहीं है।

६. गार्ग्य :—आपके शाकटायन महोदय सब नामों की क्रियाधारता सिद्ध

करने के चक्कर में कई बार बड़ी ऊटपटांग कल्पनाएँ भी कर जाते हैं। जैसे—**सत्य** शब्द के बारे में वे कहते हैं : यह शब्द दो आख्यातों के कारण प्रसिद्ध हुआ है। अपनी कल्पना की उड़ान में वे दोनों आख्यातों को बेवजह जिस तरह जिबह करते हैं, तनिक उसका नमूना भी देखें। वे कहते हैं—**सत्य** का आधा हिस्सा य √इ के प्रेरणार्थक रूप √**आयि** का है, और वह शब्द के अन्त में रखा है। पहला आधा भाग **सत्** √**अस्** की शुद्ध अवस्था (अर्थात् प्रेरणा, इच्छा आदि अर्थों में लगने वाले प्रत्यय लगाये बिना) के सकारादि रूप से बना रखा है, और दोनों को जोड़कर बना एक शब्द **सत्य**। यह खेंचतान नहीं, तो और क्या है ?

यास्क :—इस प्रकार शब्दों के मूल खोजना गलत नहीं है। हाँ, यदि खोजी गई क्रियाओं का अस्तित्व शब्द में वस्तुतः न हो, तो आप दोष बता सकते हैं। और वह दोष भी अयुक्त (अनन्वित) अर्थ में शब्द का निर्वचन करने वाले पुरुष का ही दोष होगा, हमारे शास्त्र का नहीं।

७. **गार्ग्य** :—प्रामाणिक लोगों का कहना है कि पहले द्रव्य होता है, फिर उसमें कोई क्रिया। पूर्ववर्ती द्रव्य को परवर्ती क्रिया के कारण पुकारना उचित नहीं प्रतीत होता। (क्या उस नाम से पहले उस द्रव्य का कोई नाम ही नहीं रहा होगा ? यदि था, तो दूसरे नाम की, वह भी परवर्ती क्रिया के आधार पर रखने की, आवश्यकता क्या है ? यदि नहीं था, तो लोग उसे व्यवहार में कैसे लाते होंगे ?)

यास्क :—लोगों के व्यवहार में हम रोज देखते हैं कि पहले से उत्पन्न किसी द्रव्य का तो बाद में होने वाली क्रिया से नाम पड़ जाता है, पर किसी का नहीं पड़ता। बच्चे के जन्म से ही लम्बी चोटी नहीं होती। पर आगे हो जाने पर **लम्बचूड** नाम रख दिया जाता है। बच्चा जन्मते ही कुछ नहीं खाता। पर जब बाद में उसे बेल का फल बहुत प्रिय लगने लगता है, तो लोग उसका नाम ही रख देते हैं—**बिल्वाद** (बेल खाने वाला)। महाजन के लिए प्रयुक्त **सूदखोर** शब्द भी इसी प्रवृत्ति का परिचायक है।

गार्ग्य वैयाकरण आचार्य हैं। नामों की आख्यानजता के विरोध में उन्होंने जो युक्तियाँ दी हैं, वे भी व्याकरणदृष्टि को ही उपस्थित करती हैं। वैयाकरण के लिए सब से महत्त्वपूर्ण वस्तु है व्युत्पत्ति। संरचना, अर्थाभिधान, रूढि आदि सब बातों में शब्द व्युत्पत्ति के अनुकूल हों— वैयाकरण का यही आग्रह होता है। नैरुक्त को व्युत्पत्ति का मोह नहीं होता। वह शब्द के शरीर की अपेक्षा उसके आत्मा अर्थ पर ही दृष्टि रखता है। मूलतः शब्दों का अर्थनिश्चय व्याकरण से नहीं होता। वह तो लोक से ही होता है। अतः नैरुक्त के लिए लोक के द्वारा निर्धारित अर्थ ही सर्वाधिक प्रधान वस्तु है; भले ही व्युत्पत्ति की दीपशिखा उस अर्थवस्तु को

प्रकाशित न कर सके। अमुक शब्द अमुक अर्थ में क्यों प्रसिद्ध हो गया ?—इस प्रश्न का उत्तर देना वैयाकरण के बस का उतना नहीं है, जितना कि नैरुक्त के बस का है। गार्ग्य के आक्षेपों के समाधान में यास्क ने इसी ब्रह्मास्त्र से काम लिया है। एक क्रिया करने वाले अनेक व्यक्तियों के नाम उस क्रिया के आधार पर नहीं पड़ते, तो लोकप्रवृत्ति के कारण। अनेक क्रियाओं को करने वाले एक द्रव्य के अनेक नाम नहीं पड़ते, तो लोकप्रवृत्ति के ही कारण। क्रिया के आधार पर पड़ने वाले नाम भी इतने स्पष्ट क्यों नहीं रखे जाते कि क्रिया तुरत ही झलक जाए ? तो यह भी लोकप्रवृत्ति के कारण ही नहीं होता। पूर्ववर्ती द्रव्य का परवर्ती क्रिया से नाम पड़ता है, तो इसमें भी लोक-प्रवृत्ति ही नियामक है; और यदि नहीं पड़ता, तो इसमें भी लोकप्रवृत्ति ही उत्तरदायी है। वस्तुत: नाम लोक के द्वारा अपनी सुविधा के लिए रखे जाते हैं। अशोक की धर्मान्धताजन्य मूढता की सीमा तक पहुँची नीतियों ने साम्राज्य की जड़ ही खोखली कर दी। फलत: उसकी मृत्यु के पचास वर्ष के भीतर ही विशाल तथा सुदृढ मौर्य साम्राज्य रेत की दीवार की तरह गिर पड़ा। एक समय अशोक के लिए बड़े आदर से प्रयुक्त **देवानाम्प्रिय** का अर्थ भी जनता की नजरों में बदल गया, तो उस के लिए उत्तरदायी कौन ? वैयाकरण को झख मार कर लोकप्रवृत्ति के सामने सिर झुका कर कहना पड़ा : **देवानां प्रिय इति च मूर्खे**। शब्द का अर्थ यदि वैयाकरण की व्युत्पत्ति का अनुसरण करता, तो इस वार्तिक से पहले भी **देवानाम्प्रिय** था ही। तब उस में आदर का भाव कैसे आ गया ? और वह कालान्तर में बदल कर उससे विपरीत क्यों हो गया ? जैन साधु के लिए **लुञ्चित** शब्द बड़े आदर से व्युत्पत्त्यनुसारी अर्थ में प्रचलित हुआ था। आज उसी के विकसित रूप **लुच्चा** को वैयाकरण महोदय जरा उत्तर भारत में प्रयुक्त करके तो देखें ! उनका ही **लुञ्चन** न हो जाए, तो जानें ! हाँ, जैनधर्म के लिए अधिक श्रद्धालु गुजरात में वे धड़ल्ले से अपने मित्र को **लुच्चा** कह सकते हैं। मतलब यह है कि अर्थविशेष में शब्द की प्रसिद्धि में सर्वाधिकारी तो लोक ही है। उससे विदित होता है कि द्रव्य का नाम उसकी किसी क्रिया के कारण ही पड़ता है।

यहाँ एक बात और ध्यान में रखनी चाहिए। वैयाकरण लोग **क्रिया**, **कर्म**, **भाव**, **आख्यात** आदि शब्दों से प्राय: **धातु** शब्द को ही प्रकृति के रूप में लिया करते हैं। यही कारण है कि गार्ग्य ने अपने सारे आक्षेपों में **सारे नामपद धातु से निष्पन्न होते हैं**—इसी आशय का खण्डन किया है। यास्क ने भी जैसा पूर्वपक्ष, वैसा उत्तरपक्ष प्रस्तुत किया है। **नाम आख्यातज हैं** का आशय **नाम धातुज हैं**—इतना ही नहीं है, यह हम पीछे (पृष्ठ ११७ पर) कह चुके हैं। इस सिद्धान्त के ऐतिहासिक विकास से भी हमारे कथन की पुष्टि होती है। यास्क के निर्वचनों में भी क्रिया को ही नामकरण का आधार खोजा गया है। धातु को ही आधार बतलाने का आग्रह यास्क को नहीं है।

वैदिक साहित्य में किए गये निर्वचनों या शब्दयोगों के आधार पर भी कहा जा सकता है कि नाम पड़ने के आधार के रूप में उस काल में भी क्रिया को ही माना जाता था। कालान्तर में रूढिशब्द के रूप में ज्ञात व्यक्तिविशेष के नाम नचिकेतस् की भी उपपत्ति ऋग्वेद संहिता में **नाहं चिकेत** (मैं नहीं जानता) के कारण नचिकेतस् दी गई है[1]। वैदिक साहित्य में उपलब्ध ८३३ निर्वचनों[2] में से अधिकांश में साक्षात् या परोक्षरूप में क्रिया को ही नामकरण का आधार खोजा गया है। अकेले ऐतरेय ब्राह्मण में उपलब्ध ४२ सञ्ज्ञापदों के निर्वचनों में से कम से कम ३३ में क्रिया को ही उन सञ्ज्ञाओं का आधार बतलाया गया है[3]। निरुक्त में यास्क द्वारा अपने निर्वचनों की पुष्टि में उद्धृत ब्राह्मणवचनों से दिए निर्वचनों से भी यही तथ्य पुष्ट होता है। यास्क ने निर्वचन केवल नाम शब्दों का ही किया है, तथा उसमें भी नाम शब्द का सम्बन्ध एक या एक से अधिक क्रियाओं से ही दिखलाया है। उपसर्गों के अर्थनिर्वचन के प्रकरण में भी क्रिया बतला कर ही उन्हें सन्तोष हुआ है। उदाहरण है **अच्छ** शब्द की **अभि** से व्याख्या तथा फिर उसके अर्थ का निर्वचन **आप्तुम्** से[4]। अतः सब नाम आख्यातज हैं, यह सिद्धान्त वैदिक काल में भी समादृत था, एवं यह एक निर्दोष सिद्धान्त है—इस बारे में दो रायें नहीं हो सकतीं।

---

१. द्र. १०।५१।४ तथा तु. करें, वहीं १।७६।४।

२. द्र. डा. फतहसिंह, दी वेदिक एटिमालाजी।

३. द्र. डा. नाथूलाल पाठक, ऐ. ब्रा. का एक अध्ययन, पृष्ठ १०६।

४. द्र. निरुक्त ५।२८ (निघण्टु ४।२।७८ पर)।

अध्याय १४

उपसर्ग

उपसर्ग शब्द का इतिहास

उप+√सृज् से निष्पन्न उपसर्ग शब्द आज उपलब्ध वैदिक संहिताओं में नहीं मिलता। ऋग्वेद-संहिता में उपसृजतः, उपसृजन्ति, उपसृजथः, उपससृजे, उपसृजे, उपासृक्षि, उपसर्जि और उपसृजतम्—इन आठ तिङन्त पदों में उप+√सृज् का प्रयोग हुआ है। ऋग्वेद-संहिता में उप का प्रमुख अर्थ है समीप√और सृज् का है रचना, बनाना। इन दोनों अर्थों को मिलाकर समीप रचना>संयुक्त करना, (१।१८०।६; ८।३५।२०; ६।६६।१), रचना (२।१।१६, ३५।१; ७।१८।४; ८।२७। ११), प्रेरणा देना (६।२०।८; ८।२७।७)—इन तीन अर्थों में उपर्युक्त आठ पदों का कुल नौ बार प्रयोग हुआ है। अन्य संहिताओं में तिङन्त और कृदन्त पदों के रूप में डालना (निक्षेप)[1] और संयुक्त करना[2] अर्थों में उप+√सृज् का प्रयोग हुआ है।

ब्राह्मणग्रन्थों में उपर्युक्त अर्थों में तो उप+√सृज् का प्रयोग हुआ ही है, इस से निष्पन्न कृदन्त सञ्ज्ञाओं के रूप में दो विशिष्ट शब्द भी प्रयोग में आये हैं: १. उपसर्जनी तथा २. उपसर्ग। उपसर्जनी शब्द आपः की योगरूढ सञ्ज्ञा है तथा पिट्ठी (काफी देर तक भिगो कर पीसी गई दाल) में मिलाये जाने वाले पानी को उपसर्जनी कहते हैं[3]। यह आपाततः स्पष्ट है कि वैदिक कर्मकाण्डियों ने यह शब्द संयोजन अर्थात् मिश्रण अर्थ को ही दृष्टि में रख कर घड़ा है।

---

१. द्र. माध्यन्दिन सं. ११।३८; काठक सं. ८।२; तैत्ति. सं. ५।१।३।१, ५।१; मैत्रा. सं. १।६।३; ३।१।५-६; ४।१।६; कपिष्ठल सं. ६।७; ३०।३।

२. द्र. मैत्रा. सं. १।८।८; ३।७।१०; पैप्पलाद सं. ५।३१।१; कपिष्ठल सं. ४।४।

३. द्र. शतपथब्राह्मण, काण्ड १, अध्याय २, प्रपाठक १, ब्राह्मण ६, कण्डिका २ : अथैक उपसर्जनीभिरेति........। सं ह्येतदाप ओषधिभिरेताभिः पिष्टाभिः सङ्गच्छन्ते।

उपसर्ग शब्द का प्रयोग हमें शाङ्खायन ब्राह्मण (१७।१) और आरण्यक (२।१) तथा ऐतरेय ब्राह्मण (४।४)[1] और गोपथ ब्राह्मण (१।१।२४,२७) में मिला है। ऐतरेय ब्राह्मण में महानाम्नी नामक कुछ अतिच्छन्दस ऋचाओं में जोड़े जाने वाले ५ अष्टाक्षर पदों और पदसमुदायों को उपसर्ग कहा गया है। वे पाँच उपसर्ग हैं: (१) प्रचेतन, (२) प्रचेतय, (३) आयाहि पिब मत्स्व,[2] (४) क्रतुश्छन्द ऋतं बृहत् तथा (५) सुम्न आधेहि नो वसो[3]।

ब्राह्मणों पर आधारित कल्प सूत्रों से विदित होता है कि प्रवह, हरिह, मतिन्न[4] और स्वित्[5] शब्द भी इसी प्रकार विभिन्न मन्त्रों में जोड़ कर बोले जाते थे तथा अपनी इसी विशेषता के कारण उपसर्ग कहलाते थे। उपसर्ग शब्द का प्रयोग इस अर्थ के अलावा कुछ और अर्थों में भी मिलता है। जैसे—द्राह्यायण गृह्यसूत्र (३।२।३०) में चन्द्र-सूर्य के ग्रहण के लिए, बोधायन गृह्यसूत्र (३।५।८), अथर्वपरिशिष्ट[6] एवं विष्णुधर्मसूत्र (७१।६७) में उत्पात, उपद्रव आदि अनिष्टों के लिए उपसर्ग शब्द का, या उप+√सृज् से व्युत्पन्न किसी शब्द का प्रयोग हुआ है। किन्तु इन प्रयोगों में भी संयोजन अर्थ मूल में है ही—इसमें विद्वज्जनों को विरोध नहीं होगा। कौषीतकि गृह्य (४।२।४) में उपसर्ग का प्रयोग प्रारम्भ अर्थ में भी किया गया है।

अतः इस समग्र विवेचन के निष्कर्ष के रूप में हम कह सकते हैं कि उप उपसर्ग और √सृज् धातु के मूलभूत अर्थ (संयोजन) को आधार बना कर उपसर्ग शब्द साथ जुड़ने वाले शब्द के अर्थ में योगरूढ हो कर सब से पहले ब्राह्मणों में ही कर्मकाण्डियों द्वारा लिखित रूप में प्रयुक्त हुआ। मौखिक रूप में तो यह बहुत पहले से ही चलता रहा होगा। जब भाषाशास्त्र का उद्गम हुआ तो यह शब्द नैरुक्तों तथा प्रातिशाख्यकार वैयाकरणों के द्वारा अपने यहाँ पारिभाषिक शब्द के रूप में आत्मसात् कर लिया गया। इन शास्त्रों में भी यह शब्द सब से पहले भाषाशास्त्र की किस शाखा में आया?—इस पर हमारा मत है कि वह शाखा निरुक्तशास्त्र ही रहा

---

१. पूना संस्करण १६।४, पृष्ठ ४४०।

२. इसका वास्तविक उच्चारण मत्सुव था। अन्यथा इनके अक्षरों को जोड़ने से ३२ की सङ्ख्या नहीं बन पाती। द्र. ऐ. ब्रा. (४।४) पर सायणभाष्य।

३. द्र. आश्वलायनश्रौतसूत्र ६।२।६। ऐ. ब्रा. १६।४ पर सायण भी देखें।

४. द्र. ताण्ड्य ब्रा. १२।१३।२२ पर सायण, तथा निदानसूत्र २।१२।२०।

५. द्र. आग्निवेश्यगृह्यसूत्र २।१।५।२६; बोधायनगृ. २।१।२७; हिरण्यकेशीय गृ. २।४।१०; आपस्तम्बगृ. ६।१५।१०।

६. द्र. ३१।४।५; ७० b, २३, २; ७२।५।३।

होगा। हमारे मत में भाषाशास्त्र का उद्गम ही निर्वचन की प्रवृत्ति से हुआ होगा। क्योंकि :—

(क) प्रातिशाख्य और व्याकरण के ढंग पर शब्दानुशासन के सङ्केत हमें वैदिक संहिताओं और ब्राह्मणों में बिल्कुल नहीं मिलते। परन्तु निर्वचन की प्रवृत्ति के अच्छे निदर्शन न केवल ऋग्वेद संहिता[1] में ही मिलते हैं, अपितु अन्य संहिताओं[2] में भी उपलब्ध होते हैं। ब्राह्मणग्रन्थों के आचार्यों को तो निर्वचन से इतना लगाव है कि वे अपने प्रिय शब्द का निर्वचन दिये बिना आगे बढ़ते ही नहीं[3]। यही कारण है कि आचार्य यास्क ने अपने निर्वचन की पुष्टि के लिए स्थान-स्थान पर जब-तब किसी-न-किसी ब्राह्मणग्रन्थ को इति ह विज्ञायते, या इति च ब्राह्मणम् कह कर उद्धृत किया है[4]।

---

१. द्र. १।७।१ : इन्द्रमर्केभिरर्किणः, ११ ३ : स्तोतृभ्यो मंहते मघम्, १६४।५० : यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः; ६।६६।६ : ये सहांसि सहसा सहन्ते; ८।५।३१ : पूर्वीरश्नन्तावश्विना; १०।२।५ : यजिष्ठो देवाँ ऋतुशो यजाति। ५१।४ : एतमयं नचिकेताहमग्निः में अग्नि को नचिकेता सञ्ज्ञा का निर्वचन किया गया है।

२. द्र. यजुः (मा. सं.) १।२० : धान्यमसि धिनुहि देवान्। ११।७ : केतपूः केतं नः पुनातु। साम. उत्त. (१३०२) ५।२।८।५ : येन देवाः पवित्रेणात्मानं पुनते सदा। अथर्वसं. ३।१३।१ : यददः सम्प्रयतीरहावनदता हते। तस्मादा नद्यो नाम स्थ ता वो नामानि सिन्धवः॥ तथा इससे अगले मन्त्रों में √आप् से आपः का, √वृ (अवीवरत्) से वार् का, उद् √अन् से उदक का निर्वचन किया गया है। १८।४।७ : तीर्थैस्तरन्ति। काठक सं. ३६।१३ में नाकम् की निरुक्ति : न वै अमुं लोकं जग्मुषे किंचन अकम्। तै. सं. २।३।१०।१, काठक सं. ११।७, मैत्रा. सं. २.३।४ : ३१।१. २।३।५ : ३२।१६ : यदसर्पत्तत्सर्पिः। तै. सं. २।३।१०।१, ११।२, मै. सं. २।३।४: ३१।१ : यन्नवमैत्तन्नवनीतम्। देखें श्री सुधीरकुमार गुप्त, वेदभाष्यपद्धति को दयानन्द सरस्वती की देन, अध्याय ४।

३. ऐतरेय ब्रा. में ४२ शब्दों का निर्वचन किया गया है। देखें श्री नाथूलाल पाठक, ऐ. ब्रा. का एक अध्ययन, पृष्ठ ८३-११०। तथा श्री फतहसिंह, दी वैदिक एटिमोलॉजी, भूमिका। श. ब्रा. के पहले २ अध्यायों में ही १० निर्वचन दिये गये हैं।

४. द्र. (१) १।८, (२) ६; (३) २।११, (४) १७; (५) ३।४; (६) ८; (७) ४।४; (८) ७।१२; (९) ८।२२; (१०) १०।८; (११) ११।२६; (१२) ३१; (१३) १२।१३; (१४) १४। इति च ब्राह्मणम् : (१) १।१६; (२) ३।२०; (३) ६।३१; (४) ७।९; (५) १२, (६) १३, (७) १७; (८) २३; (९) २८; (१०) ८-४; (११) २२; (१२) १२।८; (१३) १४।४१।

(ख) व्याकरण शास्त्र के उद्गम और विकास का प्राचीनतम प्रमाण हमें आचार्य शाकल्य के ऋग्वेदसंहिता के पदपाठ के सिद्धान्तों से मिलता है। पदपाठ से पूर्व संहितापाठ और उससे पूर्व ब्राह्मणग्रन्थ लिपिबद्ध हुए थे, विद्वानों की यह मान्यता है[1]। यास्क ने शाकल्य के पदपाठ को गलत ठहराया है (६।२८), या उससे भिन्न पदपाठ दिया है (५।२१; १४।२२)। इससे दो बातें सिद्ध होती हैं :

(अ) निर्वचन तो ब्राह्मणों में प्रतिष्ठा को प्राप्त कर चुके हैं। किन्तु व्याकरण की प्रमुखता पर आधारित पदपाठ अभी भविष्य के गर्भ में ही था तथा व्याकरण के कोई चिह्न उस समय दृष्टिगोचर नहीं होते। अतः भाषाशास्त्र की निर्वचन शाखा व्याकरण शाखा से प्राचीन है।

(आ) यास्क के समय जब निरुक्त पूर्णता को प्राप्त हो चुका था, तब भी व्याकरण प्रक्रिया विवाद का विषय थी तथा यास्क के समय तक पदपाठ निर्विवाद रूप से प्रामाणिकता को प्राप्त नहीं कर पाया था। हाँ, यास्क के समय तक व्याकरण एक पृथक् शाखा के रूप में निस्सन्देह प्रतिष्ठित हो चुका था।

(ग) किसी शब्द को देखकर मनुष्य को सब से पहले सामान्य जिज्ञासा होती है कि यह शब्द इस अर्थ में क्यों चला ? इसी जिज्ञासा का उत्तर है निर्वचन। निर्वचन के बाद ही शब्द के स्वर-संस्कार अर्थात् व्युत्पत्ति को जानने की उत्सुकता प्रबुद्ध व्यक्तियों में उद्भूत होती है, और इसके उत्तर में आता है व्याकरण।

अतः हमारे विचार में भाषाशास्त्र का प्रारम्भ निर्वचन अथवा निरुक्तशास्त्र से ही हुआ है। तथा उपसर्ग आदि शब्द भी भाषाशास्त्रीय अर्थ में सर्वप्रथम नैरुक्तों के यहाँ ही ब्राह्मणों से आये। इसके बाद ये व्याकरण, प्रातिशाख्यों में भी फैल गये तथा वहाँ इतने प्रचलित हो गये कि यास्क ने भी (१३।९ में) पदविभाग को वैयाकरणों की ही देन माना है।

(घ) ऐतिहासिक दृष्टि से भी भाषाशास्त्र के उपलब्ध वाङ्मय में हमें यह शब्द सबसे पहले यास्क के निरुक्त में ही मिलता है। यास्क से पूर्व शाकटायन और गार्ग्य आचार्य इस शब्द को अपना चुके थे—यह तथ्य हमें यास्क के उल्लेख (१।३) से हो विदित होता है।

यास्क से अर्वाचीन आचार्यों में सबसे प्रथम इस शब्द को अपनाया आचार्य

---

१. द्र. आ. ऐ. मॅक्डानल्, ए हिस्ट्री आफ् सं. लिट्रेचर्, पृष्ठ ४०—४१।

पाणिनि ने[1]। उन्होंने इस शब्द को परम्परा से भिन्न अपना पारिभाषिक अर्थ (अष्टा. १।४।५९ : उपसर्गाः क्रियायोगे।) प्रदान किया और उनके परवर्ती सब आचार्यों ने उसी अर्थ को सिरमाथे चढ़ाया। यास्क को प्राप्त उपसर्ग के लक्षण और पाणिनि द्वारा प्रदत्त नये लक्षण में भेद की चर्चा हम आगे करेंगे।

उपसर्ग : लक्षण

आचार्य यास्क ने जिस प्रकार नाम और आख्यात का लक्षण स्पष्ट और असन्दिग्ध शब्दों में दिया है, उस प्रकार उपसर्ग का लक्षण नहीं दिया है। उपसर्गों का कार्य (function) क्या है? तथा वे किस प्रकार अपना वह कार्य करते हैं?—इस विषय में उन्होंने अपने पूर्ववर्ती दो आचार्यों के मत (१।३ में) उद्धृत किये हैं। इन मतों से उपसर्गों के स्वरूप पर भी अनिवार्यतः कुछ प्रकाश पड़ता है। अतः निरुक्त में प्रतिपादित उपसर्गों के कार्य तथा उसे करने के प्रकार के इन आचार्यों द्वारा किए वर्णन के आधार पर हम उपसर्गों का लक्षण निम्नलिखित प्रकार से कर सकते हैं :

आचार्य शाकटायन के अनुसार उपसर्ग नाम पदों और आख्यात पदों के साथ लग कर उनके अर्थ को ही द्योतित करते हैं[2]। अतः अर्थविशेषाय उप सृज्यन्ते, नामाख्यातयोः समीपे संयोज्यन्ते इत्युपसर्गाः (अर्थ में विशेषता लाने के लिए नाम पदों और आख्यात पदों के समीप जोड़े जाते हैं, इस लिए उपसर्ग हैं)—यह शाकटायन के मत के अनुसार उपसर्ग का लक्षण हो सकता है[3]। शाकटायन ने यहाँ दो बातें आवश्यक बताई हैं :

---

१. पाणिनि ने सूत्रपाठ में कुल २६ बार उपसर्ग शब्द का प्रयोग किया है : (१) १।४।५९; (२) २।३।५९; (३) ३।१।१३६, (४) २।६१, (५) ९९, (६) १४७, (७) ३।२२, (८) ५९, (९) १२, (१०) १०६; (११) ५।१।११८, (१२) ४।८५, (१३) ११९; (१४) ६।१।९०, (१५) २।१७७, (१६) ३।१२१; (१७) ७।१।६७, (१८) ४।३।२३, (१९) ४७; (२०) ८।२।१९, (२१) ३।६५, (२२) ४।१४, (२३) २८ में असमस्त रूप में तथा (२४) ६।३।९९; (२५) ८।१।२८ (२६) ३।८७ में समस्त रूप में। गणपाठ में कुल ३ बार : (१) १।४।५७ : १४६वाँ शब्द; (२) ५।१।१०१ : १२; (३) ७।३।५३ : १६।

२. द्र. निरुक्त १।३ : न निर्बद्धा उपसर्गा अर्थान् निराहुरिति शाकटायनः। नामाख्यातयोस्तु कर्मोपसंयोगद्योतका भवन्ति।

३. द्र. दुर्ग १।३ : आख्यातमुपगृह्यार्थविशेषमिमे तस्यैव सृजन्तीत्युपसर्गाः।

(क) **उपसर्गों** का **नाम** और **आख्यात** पदों के साथ (अर्थ कृत सम्बन्ध में[1]) ही प्रयोग होता है, स्वतन्त्र नहीं। (ख) इनका अपना कोई अर्थ नहीं है। इनके लगने से **नाम** और **आख्यातों** के अर्थ में ही विशेषता आ जाती है। दूसरे शब्दों में **नाम और आख्यातों के अर्थ में विशेषता** ला देना, उनके अर्थ को द्योतित करना, इनका कार्य (function) है, और **नाम** और **आख्यातों** के साथ (अर्थतः सम्बन्ध रखते हुए) प्रयोग उसकी विधि है।

आचार्य गार्ग्य के मत में **उपसर्गों** के अर्थ का **नाम** पदों और **आख्यात** पदों के अर्थ से योग होता है, और इससे **नाम** और **आख्यात** पदों के अर्थ में विकार (बदलाव) आ जाता है[2]। इस मत को दृष्टि में रखकर **उपसृजन्ति नामाख्यातयोरर्थं विकारम्** (नाम और आख्यात के अर्थ में विकार को साथ लग कर उत्पन्न कर देते हैं)—यह लक्षण कहा जा सकता है। जिस प्रकार स्वतन्त्र अर्थ वाले पदों के **समास** से एक भिन्न (विकृत) अर्थ का अभिधान होता है, वैसे ही स्वतन्त्रार्थक **उपसर्गों** और **नामाख्यातों** के एक साथ प्रयोग से एक भिन्न अर्थ का अभिधान होता है। **गार्ग्य** के अनुसार उपसर्ग **नाम** और **आख्यात** की तरह सर्वथा स्वतन्त्र अर्थवान् पद हैं; परन्तु उनका प्रयोग स्वतन्त्र अर्थात् अलग-अलग, **नामाख्यात** से निरपेक्ष रूप में, नहीं होता। यह उनका स्वभाव है। अतः स्वतन्त्र अर्थ को रखते हुए भी **नामाख्यातों** के अर्थ को विकृत कर (बदल) देना इनका कार्य (function) है, और **नामाख्यातों** से लग कर (अर्थात् उनसे अर्थतः सम्बद्ध होकर) प्रयुक्त होना उस कार्य का प्रकार (विधि) है। अतः **शाकटायन** और **गार्ग्य** में **उपसर्गों** के कार्य (function) के विषय में तो मतभेद है, किन्तु विधि के विषय में मोटे तौर पर ऐकमत्य-सा ही है।

अब हम आचार्य **यास्क** से परवर्ती आचार्यों के **उपसर्ग** से सम्बद्ध मतों पर विचार करते हैं :—

आचार्य **पाणिनि** (१।४।५८–५९) के अनुसार **प्रादि-गण** में पठित बाईस शब्द यदि द्रव्यवाचक नहीं हैं, तथा क्रिया के योग में हैं, अर्थात् उनका क्रिया से अर्थकृत सम्बन्ध है[3], तो वे **उपसर्ग** कहलाते हैं। आम तौर पर जिन्हें **उपसर्ग** समझा जाता है, उन्हें **पाणिनि** ने अपनी आवश्यकता के अनुसार चार नाम दिये हैं : १. **निपात**, २. **उपसर्ग**, ३. **गति**, ४. **कर्मप्रवचनीय**।

---

१. द्र. प्रदीप : योगश्चार्थलक्षणः।

२. द्र. निरुक्त १।३ : तद्य एषु पदार्थः प्राहुरिमे तं नामाख्यातयोरर्थविकरणम्।

३. द्र. प्रदीपः योगश्चार्थलक्षणः।

१. मोटे तौर पर सभी प्र आदि शब्द निपात कहलाते हैं[1]।

२. क्रियायोगी प्र आदियों के लिए उन्होंने उपसर्ग नाम दिया है[2]। यों तो केवल क्रिया के योग में ही प्र आदि बाईस शब्दों को उपसर्ग कहा गया है, पर पाणिनि स्वयम् अपनी परिभाषा पर स्थिर नहीं रह सके। पाणिनि ने अष्टाध्यायी में कुल छह बार तो अवश्य ही उपसर्ग शब्द का प्रयोग इस पारिभाषिक अर्थ से विपरीत अर्थ में किया है। अर्थात् इन छह स्थलों में उपसर्ग का पारिभाषिक अर्थ नहीं घटता[3]। केवल पाणिनि ही नहीं, कात्यायन[4] और पतञ्जलि[5] ने भी क्रियायोगनिरपेक्ष प्र आदियों के लिए उपसर्ग शब्द का अनेक बार प्रयोग किया है।

३. क्रिया के योग में प्र आदि शब्द निपात और उपसर्ग होने के साथ-साथ गति भी कहलाते हैं[6]। किन्तु इनके अलावा और भी बहुत से शब्द गति हैं, जिन्हें यदि शाकटायन और गार्ग्य की कसौटी पर कसा जाये, तो वे उपसर्ग का ही कार्य

---

१. द्र. अष्टाध्यायी १।४।५८; महाभाष्य १।४।५६, पृष्ठ ४४२ पर।

२. द्र. अष्टाध्यायी १।४।५९-६० : उपसर्गाः क्रियायोगे। गतिश्च।

३. द्र. अष्टाध्यायी ५।१।११८ : उपसर्गाच्छन्दसि धात्वर्थे; ४।८५ : उपसर्गादध्वनः; ११९ : उपसर्गाच्च; ६।२।१७७ : उपसर्गात्स्वाङ्गं ध्रुवमपर्शु (पृ. ५२६ पर बालमनोरमा : स्वाङ्गं प्रति क्रियायोगाभावादुपसर्गग्रहणं प्राद्युपलक्षणम्।); ३।९७ : द्व्यन्तरुपसर्गेभ्योऽप ईत्; ८।४।२८ : उपसर्गाद् बहुलम्। और महाभाष्य १।४।६०, वा. ६, पृष्ठ ४४८ : वद्विधि-नत्भाव-अबीत्व-स्वाङ्गादिस्वर-णत्वेषु वचनप्रामाण्यात्सिद्धम्। और इस पर प्रदीप : क्रियाशब्दस्याप्रयोगादुपसर्गत्वाभावः।.. येषां हि क्रियाशब्दप्रयोगे तं प्रत्युपसर्गसञ्ज्ञा, ते सम्प्रत्यनुपसर्गसञ्ज्ञा अपि गृह्यन्त इत्यर्थः। और इस पर उद्योत : तत्र सर्वत्रोपसर्गग्रहणं प्राद्युपलक्षणमिति भावः।

४. द्र. महाभाष्य १।२।४४ पर वा. ३, पृष्ठ ६८ : प्रयोजनं द्विगुप्राप्तापन्नालंपूर्वोपसर्गाः क्तार्थे। यहां प्रादयः क्तार्थे (२।२।१८ पर वा. ४, पृष्ठ ६८८) के स्थान में उपसर्गाः क्तार्थे कहा है। कैयट ने तो आदि शब्द को प्रकारार्थक मान कर प्रादियों में अलं को भी शामिल कर लिया है। द्र. १।२।४४, पृष्ठ ६८, पर प्रदीप और उद्योत।

५. द्र. महाभाष्य २।१।१, वा. ४, पृष्ठ ५२६ : समोऽयमर्थशब्देन समासः। सं चोपसर्गः। और इस पर उद्योत : यद्यप्यनुपसर्गा अपि प्रादयः सन्ति, तथाऽपि प्रसिद्धत्वादेवमुक्तम्। और महाभाष्य ३।१।१२, वा. ५ से पूर्व, पृष्ठ ६१ : इह काश्चित् प्रकृतयः सोपसर्गाः पठ्यन्ते— √अभिमनस्, √सुमनस्, √उन्मनस्, √दुर्मनस्।

६. द्र. महाभाष्य १।४।५९, वा. ३, पृष्ठ ४४४ : यस्मिन्नेव विशेषे गत्युपसर्गकर्मप्रवचनीयसञ्ज्ञास्तस्मिन्नेव विशेषे निपातसञ्ज्ञा स्यात्। और १।४।५६, वा. १, पृष्ठ ४४२।

(function) करने के कारण **उपसर्ग** कहला सकते हैं[1]। पाणिनि **गति** शब्द के प्रयोग को भी पारिभाषिक अर्थ में स्थिर नहीं रख सके : आठवें अध्याय में तो केवल दो स्थलों (८।१।७०-७१) को छोड़कर, कहीं भी पारिभाषिक अर्थ में **गति** का प्रयोग नहीं हुआ है[2]। अपितु सर्वत्र ही **गति** से **प्र** आदि उपसर्ग समझे जाते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि पारिभाषिक दृष्टि से पाणिनि **उपसर्ग** शब्द का चाहे जो अर्थ करें, परन्तु उनके यहाँ **प्र** आदि शब्दों के लिए यह शब्द रूढ है।

४. **प्र** आदि बाईस **निपातों** में से ग्यारह निपात (१ **अति**, २ **अधि**, ३ **अनु**, ४ **अप**, ५ **अपि**, ६ **अभि**, ७ **आ**, ८ **उप**, ९ **परि**, १० **प्रति** और ११ **सु**) कुछ विशेष स्थितियों में नाम पद के योग में प्रयुक्त हो कर क्रियाविशेष को बतलाते हैं और अपनी इस विशेषता के कारण **कर्मप्रवचनीय** (क्रियावाचक) कहलाते हैं[3]। इस स्थिति (कर्मप्रवचनीयावस्था) में इनका जिस **नाम** पद से योग होता है, उसमें विभक्तिविशेष का भी ये नियमन करते हैं[4]। पारिभाषिक रूप में **कर्मप्रवचनीय** **निपात** हैं। क्रिया के योग में प्रयुक्त न होने से ये **उपसर्ग** या **गति** नहीं कहलाते। किन्तु वस्तुत: ये **नाम** पद से अपने विशिष्ट प्रकार के सम्बन्ध के द्वारा **क्रिया** को ही प्रकट करते हैं, अत: **उपसर्ग** के रूप में माने जा सकते हैं[5]।

आचार्य पाणिनि के द्वारा अनुसृत मार्ग का ही अनुकरण करने वाले लोगों में बृहद्देवता के प्रणेता आचार्य शौनक, वार्तिककार आचार्य कात्यायन, भगवान् पतञ्जलि

---

१. अष्टा. १।४।६०-७९। इनमें से १. ऊरी, २. उररी, ३. सजू:, ४. प्रादुस्, ५. आविस्, ६. सत्, ७. अलम्, ८. अन्तर्, ९. कणे, १०. पुरस्, ११. अस्तम्, १२. तिरस्, १३. उपाजे, १४. अन्वाजे (अथवा उप और अनु को निकाल कर केवल आजे), १५. साक्षात्, १६. मिथ्या का कार्य तो प्र आदि से मिलता-जुलता ही है।

२. द्र. महाभाष्य ८।१।५७, पृष्ठ ३३८ : **अपर आह—सर्वत्रैवाष्टमिके गतिग्रहण उपसर्गग्रहणं द्रष्टव्यम् गतिर्गतौ** (८।१।७०) **तिङि चोदात्तवति** (७१) **वर्जमिति**। और इस पर प्रदीप। भाष्य में इसी सूत्र पर वा. १ भी देखें।

३. द्र. अष्टाध्यायी १।४।८०-९८। और महाभाष्य १।४।८३, पृष्ठ ४५६ : **कर्म प्रोक्तवन्त: कर्मप्रवचनीया:।... ये सम्प्रति क्रियां नाहु:।...येऽप्रयुज्यमानस्य क्रियामाहुस्ते कर्मप्रवचनीया:।** यहाँ नागेश : **प्रोक्तवन्त:— भूते कृत्यल्युटो बहुलम्** (३।३।११३) **इति कर्तर्यनीय:।** और : **क्रियाया द्योतको नायं न सम्बन्धस्य वाचक:। नापि क्रियापदापेक्षी सम्बन्धस्य तु भेदक:॥** वा. २।२०४॥

४. द्र. अष्टाध्यायी २।३।८-११।

५. द्र. सायण, सर्वदर्शनसङ्ग्रह, पाणिनिदर्शन, पृष्ठ १५८ : **कर्मप्रवचनीयास्तु क्रियाविशेषोपजनितसम्बन्धावच्छेदहेतव इति सम्बन्धविशेषद्योतनादुपसर्गेष्वेवान्तर्भवन्ति।**

और दुर्गाचार्य के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। आचार्य शौनक (२।६४) का कथन है कि प्र आदि बीस शब्द क्रिया के योग में उपसर्ग के रूप में जाने जाते हैं, तथा ये नाम और आख्यात पदों के विभक्ति-प्रत्ययान्त रूपों के अर्थ में विशेषता ला देते हैं :

उपसर्गास्तुविज्ञेयाः क्रियायोगेन विंशतिः ।
विवेचयन्ति ते ह्यर्थं नामाख्यातविभक्तिषु ।। बृहद्देवता ।।

आचार्य कात्यायन और पतञ्जलि का कथन है कि प्र आदि शब्द जिस क्रियावाचक शब्द से युक्त होते हैं, उस शब्द के प्रति ही वे उपसर्ग कहलाते हैं[1]। अर्थात् इन दोनों आचार्यों के मत में उपसर्गता के लिए क्रिया का योग अत्यन्त आवश्यक है। न केवल इतना ही, कात्यायन तो उपसर्ग के रूप में अनभिमत प्र आदियों के प्रादि तत्पुरुष समास में भी प्र आदि पदों के साथ क्तप्रत्ययान्त क्रिया का योग मानते हैं[2]। पतञ्जलि भी उपसर्गों का स्वभाव बतलाते हुए कहते हैं कि जहाँ किसी क्रियावाची पद का प्रयोग किया जाता है, वहाँ उपसर्ग उस क्रिया में विशेषता को बतलाते हैं। जहाँ उसका साक्षात् प्रयोग नहीं किया होता है, वहाँ उपसर्ग की उपस्थिति से क्रियापद का उसी प्रकार अनुमान (से अध्याहार) कर लिया जाता है, जिस प्रकार धूम से अग्नि का और दण्ड से दण्डी सन्यासी का[3]। इस विवरण से प्रकट होता है कि कात्यायन और पतञ्जलि के मत में क्तप्रत्ययान्त क्रिया शब्द का भाव ही वह विशेषता है, जो उपसर्ग के द्वारा नाम पद के साथ अपने योग से प्रकट की जाती है। अर्थात् इस प्रकार के स्थलों में प्र आदि शब्द किसी अवान्तर भाव से ही नाम पद की विशेषता प्रकट करते हैं। फलतः मोटे तौर पर पारिभाषिक रूप से इस प्रकार के समासों में स्पष्टतः तो यद्यपि क्रिया से योग नहीं है, परन्तु सूक्ष्म रूप में है ही। अतः इन आचार्यों के मत में भी प्रायशः क्रियायोगे उपसर्गाः लक्षण है।

---

१. द्र. अष्टाध्यायी १।४।६० पर वार्तिक ३–४ : गत्युपसर्गसञ्ज्ञाः क्रियायोगे यत्क्रियायुक्तास्तं प्रतीति वचनम् । प्रयोजनं घञ्, षत्वणत्वे । और महाभाष्य ८।४।१६, वा. २, पृष्ठ ४९९ : या क्रिया यत्क्रिया, यत्क्रियायुक्तास्तं प्रति गत्युपसर्गसञ्ज्ञे भवतः ।

२. द्र. महाभाष्य २।२।१८ वा. ४, पृष्ठ ६८८ : प्रादयः क्तार्थे; २।१।१, वा. २३–२४, पृष्ठ ५४५-५४६ ।

३. द्र. महाभाष्य २।१।१, वा. ४, पृष्ठ ५२६ : उपसर्गाश्च पुनरेवमात्मका यत्र कश्चित्क्रियावाची शब्दः प्रयुज्यते तत्र क्रियाविशेषमाहुः । न चेह कश्चित् क्रियावाची शब्दः प्रयुज्यते, येन समः सामर्थ्यं स्यात् । तत्र प्रयोगादेतद् गन्तव्यं नूनमत्र कश्चित् प्रयोगार्हः शब्दो न प्रयुज्यते, येन समः सामर्थ्यमिति । तद्यथा—धूमं दृष्ट्वाऽग्निरत्रेति गम्यते, त्रिविष्टब्धकं च दृष्ट्वा परिव्राजक इति ।

दुर्गाचार्य (१।३) का कथन है कि आख्यात को पकड़ कर उसी के विशेष अर्थ को उत्पन्न कर देते हैं, अतः उप + √सृज् = उपसर्ग हैं : आख्यातमुपगृह्यार्थविशेषमिमे तस्यैव सृजन्तीत्युपसर्गाः ।

आचार्य शाकटायन, गार्ग्य और उनका अनुसरण करने वाले यास्क, तथा पाणिनि एवम् उनके अनुसारी आचार्यों में एक बात पर सहमति है कि किसी शब्द के साथ उपसर्ग के लगने पर उन दोनों के सङ्घात से ही अर्थावगम होता है[1] । किन्तु यह सङ्घात किस प्रकार के पदों से बना हो, इस विषय में आचार्यों के दोनों वर्गों में परस्पर मतभेद हैं : १. शाकटायन, गार्ग्य और तदनुसारी यास्क के मत में उपसर्गों का नाम पदों और आख्यात पदों से अविशेषेण सम्बन्ध होता है (निरुक्त १।३) । नाम पद चाहे धातुज हों, चाहे अधातुज, ये उनके साथ लग कर उन (नाम पदों) के अर्थ (सत्त्व) में विशेषता—सत्त्व के अपने अभिधेय अर्थ से विचित्रता, भिन्नता, या अधिकता—उत्पन्न कर देते हैं । आख्यात अर्थात् तिङन्त शब्द के साथ लग कर ये उसके अभिधेय अर्थ (भाव) में विशेषता उत्पन्न कर देते हैं । २. पाणिनि और उनके पक्षधर अन्य आचार्यों के मत में उपसर्ग शब्दों का क्रिया से ही योग होता है । क्रिया से भिन्न सत्त्व अर्थ से योग होने पर तो उपसर्गत्व ही नष्ट हो जाता है[2] । ऐसी स्थिति (सत्त्व से योग) में ये प्र आदि निपात ही रहते हैं, अथवा कर्मप्रवचनीय हो जाते हैं, उपसर्ग और गति नहीं । पाणिनि ने समासप्रकरण में क्रियानिष्पन्न सुबन्तों से प्र आदि शब्दों के समास के प्रसङ्ग में प्र आदि को गति और उपसर्ग मान कर गतिसमास का विधान किया है, और अक्रियानिष्पन्न रूढ सुबन्त शब्दों से उन्हीं के समास के प्रसङ्ग में गतिसमास से पृथक् प्रादिसमास का विधान किया है[3] । इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि पाणिनि और उनके अनुयायी आचार्य आख्यात अथवा धातुज शब्दों के साथ लगे प्र आदि को ही उपसर्ग मानते हैं । दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि सुपठति, सुपाठक आदि पदों में प्रयुक्त सु तो उपसर्ग है, किन्तु सुपुरुष,

---

१. द्र. निरुक्त १।३ : न निर्बद्धा उपसर्गा अर्थान् निराहुरिति शाकटायनः । महाभाष्य १।३।१, वा. ३-४, पृष्ठ १८२ : सङ्घातेन ह्यर्थो गम्यते सप्रकृतिकेन, सप्रत्ययकेन, सोपसर्गेण च । और ३।१।७, वा. ७, पृष्ठ ३३, पर प्रदीप : सङ्घातेन विशिष्टा क्रिया प्रतिपाद्यते....।

२. द्र. महाभाष्य १।४।६०, वा. ६, पृष्ठ ४४८ पर प्रदीप : क्रियाशब्दस्याप्रयोगादुपसर्गत्वाभावः ।

३. द्र. अष्टाध्यायी २।२।१८ : कुगतिप्रादयः ।

सुदेश आदि शब्दों में प्रयुक्त सु उपसर्ग नहीं, अपितु निपात है[1]। इसी तथ्य को और भी स्पष्ट रीति से प्रस्तुत करते हुए आचार्य दुर्ग ने कहा है कि उपसर्ग नाम के साथ लग कर उसके अर्थ में विशेषता नहीं लाते हैं; वे तो क्रियापद से ही संयुक्त होते हैं, न कि नाम से। नाम से संयुक्त होते भी हैं, तो उन नामपदों में स्थित क्रियार्थ से ही संयुक्त होते हैं[2]। आचार्य शौनक ने इस सम्बन्ध में एक-साथ दो घोड़ों की सवारी की है। उनका (बृहद्देवता २।९४ में) कहना है कि प्र आदि बीस शब्दों के उपसर्गत्व की पहिचान उनका क्रिया से योग है। साथ ही वे कहते हैं कि इन उपसर्गों से विभक्त्यन्त नामपदों और आख्यातपदों के अर्थ में कुछ विशेषता आ जाती है :

उपसर्गास्तु विज्ञेयाः क्रिया योगेन विंशतिः।
विवेचयन्ति ते ह्यर्थं नामाख्यातविभक्तिषु॥

ऋक्प्रातिशाख्य में भी उन्होंने यही दुमुँही बात कही है कि उपसर्ग क्रिया के अर्थ में विशेषता कर देता है : क्रियावाचकमाख्यातमुपसर्गो विशेषकृत् (१२।२५) तथा नाम और आख्यातपदों के साथ प्रयुक्त होकर उपसर्ग अर्थ का अभिधान करते हैं : उपसर्गा विंशतिरर्थवाचकाः सहेतराभ्याम् (१२।२०)।

इस समूचे विवेचन का निष्कर्ष यह है कि प्र आदि शब्द मूलतः निपात हैं। वे जब किसी अन्य शब्द के साथ लग कर उसके अर्थ में कोई विशेषता ला देते हैं, तो वे उपसर्ग कहलाते हैं अन्यथा निपात रहते हैं। अर्थात् उपसर्गत्व जात्या नहीं है, अपितु प्रयोगवशात् आरोपित धर्म है। इसके लिए हम मोटे रूप में अपि का और शाकटायन तथा यास्क सम्मत अच्छ का उदाहरण ले सकते हैं। समुच्चय अर्थ में अपि पद च का समानधर्मा है तथा निपात है। संसर्ग अर्थ में नामाख्यात के साथ प्रयुक्त होकर उनके अर्थ में कुछ अन्तर लाने पर यही उपसर्ग कहलाने लगता है :

---

१. द्र महाभाष्य १।४।५८-५९, पृष्ठ ४४४, पर प्रदीप तथा इन्हीं सूत्रों पर काशिका। और १।४।७९ : जीविकोपनिषदावौपम्ये पर सिद्धान्तकौमुदी (पृष्ठ ८२) : प्रादिग्रहणमगत्यर्थम्। सुपुरुषः। और इस पर बालमनोरमा : सुपुरुष इति—अत्र क्रियायोगाभावादगतित्वेऽपि समासः। सोः पूजार्थकत्वेऽपि धातुवाच्यक्रियायोगाभावान्न गतित्वम्। और महाभाष्य २ २ १८ वा. ४, पृष्ठ ६८८, पर प्रदीप : अगत्यर्थमिदम्।

२. द्र. निरुक्त १।३ पर वृत्ति : आह—नामाख्यातयोस्तु कर्मोपसंयोगद्योतका भवन्तीत्युक्तम्। अत्र नाम्नः कर्मोपसंयोगद्योतका भवन्तीत्येवं न गृह्यते। उपसर्गाः क्रियायोगे (अष्टा० १।४।५९) इति प्रसिद्धो ह्युपसर्गाणां क्रियापदेन योगो न नाम्ना। उपसर्गा हि क्रियाङ्गत्वेनैव नामान्यास्कन्दन्ति।

अपिहितम्, पिहितम्, पिदधाति[1]। इसी संसर्ग को उभार कर क्रिया के रूप में प्रकट करने पर यही (पाणिनीय तन्त्र में) **कर्मप्रवचनीय** हो जाता है[2]। दुर्गाचार्य के अनुसार यास्क ने तो तब भी इसे **उपसर्ग** ही माना है[3]। **अच्छ** शब्द भी **अच्छा वाक, स्वच्छ जलं** में विशेषण के रूप में प्रयुक्त है, किन्तु **अच्छा यो गन्ता नाधमानमूती** (ऋ. सं. ४।२६।४) आदि सैंकड़ों स्थलों में ऋग्वेदसंहिता में ही **उपसर्ग** के रूप में प्रयुक्त है। इसी प्रकार **प्रति, परि** और **अनु** भी सामान्य **निपात** और **उपसर्ग** के रूप में, दोनों तरह से, प्रयुक्त होते हैं। **प्रतिक्रिया, प्रतिकूल, परिष्कार, अनुकरोति, अनुकूल** आदि में ये उपसर्ग के रूप में प्रयुक्त हैं, तो **ग्रामं प्रति, वृक्षं परि, नदीमनु** में **कर्मप्रवचनीय** के रूप में प्रयुक्त हैं।

उपसर्ग के संयोग से **नाम** और **आख्यात** के अर्थ में जो विशेषता आती है, उसे तीन तरह से प्रकट किया जाता है :—

(क) उपसर्ग के संयोग से कभी तो नाम और आख्यात का **मुख्यार्थ** बाधित हो जाता है। अर्थात् उपसर्गार्थ के संसर्ग से नाम और आख्यात का अर्थ अपने वाच्यार्थ से भिन्न प्रकार का हो जाता है। जैसे—**पराभवति** या **पराभव**। यहाँ **परा** (उपसर्ग) और **भवति** (आख्यात), तथा **भाव** (नाम पद) का परस्पर यथा-योग्य संसर्ग है। **परा** का अभिधेय अर्थ है दूरत्व, तथा **भवति** और **भाव** में सत्ता रूप भाव की अपने-अपने ढङ्ग से प्रधानता है। यह सत्तारूप भाव अकर्मक अर्थात् केवल कर्तृ निष्ठ व्यापार है। जब **परा** निपात के रूप में, अर्थात् उपसर्ग के रूप में नहीं, **भवति** से स्वतन्त्र अर्थात् उससे असम्बद्ध हो कर, प्रयुक्त होता है, तब **भवति** के अर्थ में कोई अन्तर नहीं आता। जैसे—**जरासन्धात् परा कृष्णो भवति**। अर्थात् कृष्ण जरासन्ध से दूर होता है, परे हटता है। यहाँ **परा** का **भवति** से योग नहीं है, अपितु **जरासन्ध** से (अपादान सम्बन्ध) से है। अतः इसके योग में **जरासन्धात्** पञ्चम्यन्त है। किन्तु जब यही **परा** शब्द **भवति** या **भाव** पद के साथ उपसर्ग के रूप में प्रयुक्त होता है, तब इस के अर्थ के संयोग से **भवति** और **भाव** का मुख्यार्थ बाधित होकर **करोति** तथा **कार** के रूप में, अर्थात् सकर्मक व्यापाराभिधायी पद के रूप में परिणत हो जाता है। फलतः **कृष्णः कंसं पराभवति** वाक्य में कृष्ण **कंस** को दूर करता है, अर्थात उसे खदेड़ता है, परास्त करता है—यह उस आख्यात के अपने अर्थ से

---

१. द्र. सिद्धान्तकौमुदी, अव्यय प्रकरण के अन्त में उद्धृत श्लोक :
वष्टि भागुरिरल्लोपमवाप्योरुपसर्गयोः।

२. द्र. अष्टा. १।४।९६ : **अपिः पदार्थसम्भावनाऽन्ववसर्गगर्हासमुच्चयेषु।**

३. द्र. निरुक्त २।३ : **अपीति संसर्गम्।** तथा इस पर दुर्ग : **आह—सर्पिषोऽपि स्यात्। मधुनोऽपि स्यात्।**

भिन्न अर्थ प्रतीत होता है। यदि यह भिन्नता प्रतीत नहीं होती, तो वाक्य का स्वरूप **कृष्णात् कंसः पराभवति** हुआ होता।

(ख) कभी उपसर्गार्थ नाम और आख्यात के अर्थ का ही **अनुगमन** अर्थात् अनुवर्तन करता है। अर्थात् उपसर्गार्थ एवं नामाख्यातार्थ में परस्पर अनुकूलता होनी है। उपसर्ग अपना अर्थ भी नामाख्यात के अर्थ में ही मिला देता है। जैसे—**आनयति**। **आ** का अर्थ होता है **इधर**, एवं **नयति** का अर्थ है **प्रापण**। **इधर अर्थ प्रापण** के ही अनुकूल हो जाता है। फलतः **गामानयति** (गाय को लाता है) में उपसर्ग और आख्यात का समुच्चित अर्थ हो जाता है **लाता है**। **आहार, अनुभव, प्रभाव** शब्दों में उपसर्ग का कार्य इसी कोटि का है।

(ग) कभी उपसर्ग का अर्थ नामाख्यात के अर्थ के साथ संयुक्त हो कर नामाख्यातार्थ को ही बढ़ा देता है, उसी को **विशिष्ट बना देता है**[1]। जैसे—**विजयते**। यहाँ **वि** उपसर्ग से **जयति** का ही अर्थ पुष्ट हुआ है। **वि** का **जय** अर्थ नहीं होता। अतः इस पोषण को हम **पुनरुक्ति** नहीं कह सकते।

कभी-कभी यह विशेषकता इतनी मामूली होती है कि साधारण रूप में प्रतीत ही नहीं होती। ऐसी स्थिति में उपसर्ग के संयोग से नाम और आख्यात के अर्थ में कुछ भी अन्तर अर्थात् परिवर्तन या परिवर्धन नहीं आता, एवम् उपसर्ग **अनर्थक** ही रहता है[2]। जैसे—**कुतोऽध्यागच्छति भवान्?** (आप कहाँ से पधार रहे हैं?) में **आ** उपसर्ग तो उपर्युक्त (ख) श्रेणी का है, एवम् अर्थ-भेद-कारक है, किन्तु **अधि** उपसर्ग उपर्युक्त तीन श्रेणियों में किसी में नहीं आता, अतः यह संयोग **अनर्थक** है[3]।

इस प्रकार के शब्दों को हम एक पृथक् चौथी श्रेणी में भी रख सकते हैं। इस चतुर्थ श्रेणी में आने वाले **प्रादियों** को केवल **नाम और आख्यात के साथ प्रयुक्त होने के कारण ही उपसर्ग** कहा जाता है। कर्मप्रवचनीयता भी पाणिनीय तन्त्र की पद्धति में स्वरादिनियमन में उपयोगी होने से वहीं तक सीमित है। मुख्य वृत्ति से

१. **धात्वर्थं बाधते कश्चित्कश्चित्तमनुवर्तते।**
तमेव विशिनष्ट्यन्य उपसर्गगतिस्त्रिधा॥ जैन शाकटायनीय धातुपाठ। तथा स्कन्द (भाग १, पृ. ३६) : **स च (उपसर्गाणां प्रकर्षादिरर्थः) क्रियायाः क्वचित् कदाचिदविशिष्टाया विशेषकः, पचति, प्रपचतीति। क्वचिन् निवृत्ति-धर्म-विशिष्टायाः प्रवृत्ति-धर्मकत्वम्, तिष्ठति, प्रतिष्ठत इति। क्वचिदनुवादित्वम्, लभ्यते, प्रलभ्यत इति।**

२. **धात्वर्थं बाधते....अनर्थकोऽन्यः प्रयुज्यते॥ वर्धमान॥**

३. द्र. अष्टा. १।४।९३ : **अधिपरी अनर्थकौ**, तथा इस पर **महाभाष्य**, पृष्ठ. ४९३,: **अनर्थान्तरवाचिनावनर्थकौ धातुनोक्तां क्रियामाहतुः तत्** (**क्रियालक्षणं वस्तु**—प्रदीप) **अविशिष्टम्** (**अधि-परि-सन्निधानेऽप्यनाहितविशेषम्....प्रदीप**) **भवति।**

तो ये अनर्थक प्रादि (वाक्यालङ्कार) निपात ही होते हैं, उपसर्ग या कर्मप्रवचनीय नहीं।

उपसर्ग : सङ्ख्या

तैत्तिरीय प्रातिशाख्य में निम्नलिखित उपसर्ग गिनाये गये हैं : १ अधि, २ अभि, ३ अव, ४ आ, ५ उप, ६ नि, ७ परि, ८ प्र, ९ प्रति और १० वि[1]। इस प्रातिशाख्य के प्रसिद्ध टीकाकार माहिषेय को अभिमत पाठ यदि लिया जाये, तो इन में एक उपसर्ग (अप) और जुड़ जाता है[2]। इन के अतिरिक्त तैत्तिरीय प्रातिशाख्य में १ उत्, २ अनु, ३ निष्, ४ सम्, ५ साम् (साम्राज्य में) और ६ सु भी आये हैं;[3] किन्तु इन्हें वहां उपसर्ग नहीं माना गया है[4]। सम्भवतः ऊपर बताये दस या ग्यारह को छोड़ कर अन्य उपसर्ग शब्दों को निपात मात्र ही समझा गया हो।

यास्क ने (१।३ में) निम्नलिखित बीस पद उपसर्ग के रूप में बताए हैं : १ अति, २ अधि, ३ अनु, ४ अप, ५ अपि, ६ अभि, ७ अव, ८ आ, ९ उत्, १० उप, ११ दुर्, १२ नि, १३ निर्, १४ परा, १५ परि, १६ प्र, १७ प्रति, १८ वि, १९ सम् और २० सु[5]। यास्क ने उपसर्गों के प्रकरण में केवल २० पदों का ही विवरण दिया है। परन्तु उन्होंने यह प्रकट नहीं किया है कि केवल यही शब्द उपसर्ग हैं। अर्थात् उन्होंने उपसर्गों की इयत्ता निर्धारित नहीं की है। यही कारण है कि यहां उपसर्गों में परिगणन न करने पर भी यास्क ने अन्यत्र १ अच्छ, २ श्रत् और ३ अन्तर् को उपसर्ग की तरह ही व्यवहृत किया है[6]। सम्भवतः इनके बहुत कम प्रयोग के कारण ही उन्होंने अपनी प्रमुख सूची में इन तीनों को स्थान न दिया हो।

शौनक और कात्यायन के अनुसार भी उपर्युक्त बीस पद ही उपसर्ग हैं[7]।

---

१. द्र १।१।१५ : आप्रावोपाभ्यधिपरिप्रतिविनीत्युपसर्गाः।

२. द्र. वहीं, पादटिप्पणि ७। ३. द्र. वही : १।३।१५, १६; ५।५, १४; ७।२; ८।२३, ३३, ३४; ९।२४; ११।५, ७।

४. द्र. वही १।६।४ : उपसर्ग निष्पूर्वोऽनुदात्ते पदे। यहां उपसर्ग के साथ निष् का पृथग् ग्रहण सूचित करता है कि निष् उपसर्ग नहीं माना गया है।

५. हमने यास्क का क्रम तोड़ कर सुविधा के लिए वर्णानुपूर्वी से दिया है।

६. द्र. निरुक्त २।२ में अन्तर्धातु शब्द में अन्तर्; २।२५ में मन्त्रगत अच्छ की अभि से व्याख्या; ५।२८ में अच्छाभेः (दुर्ग—अर्थ भवति।); ९।३० में श्रद्धा की श्रद्धान से व्याख्या।

७. द्र. ऋक्प्राति. १२।२० : प्राभ्यापरानिर्दुरनुव्युपापसम्परिप्रतिन्यत्यधि सूदवाऽपि। उपसर्गा विंशति....। शुक्लयजुः प्रातिशाख्य ६।२४ : परोपावाप्रतिपर्यन्वप्यत्यध्याङ्प्रसंनिर्दुरुन्निविस्वभि। बृहद्देवता २।९४ : उपसर्गास्तु विज्ञेयाः क्रियायोगेन विंशतिः।

शौनक की सूचना के अनुसार शाकटायन ने इन वीस के अलावा १ अच्छ, २ श्रत् और ३ अन्तर् को क्रिया के योग में अर्थात् जब इनका आख्यात या धातुज नाम से योग हो, उपसर्ग माना है[1]। इससे सिद्ध होता है कि यास्क और उनसे प्राचीन शाकटायन २३ उपसर्ग मानते थे।

आचार्य पाणिनि ने २२ उपसर्ग माने हैं[2]। किन्तु निस् और निर्, दुस् और दुर् में प्रयोग के समय सन्धि के कारण रूपमात्र का भेद है। अतः इनको अलग-अलग उसी प्रकार नहीं माना जा सकता, जिस प्रकार अव और व को तथा अपि और पि को भिन्न-भिन्न नहीं माना जाता[3]। अतः पाणिनि के अनुसार वास्तविक उपसर्ग २० हैं।

वार्तिककार कात्यायन के अनुसार कुछ विशिष्ट स्थितियों में १ मरुत्, २ श्रत् और अन्तर् भी उपसर्ग हैं[4]। श्रत् और अन्तर् को तो शाकटायन और यास्क भी उपसर्ग मानते हैं, यह अभी-अभी कहा गया है। किन्तु मरुत् को उपसर्ग मानना असम्भव है। कात्यायनोक्त मरुत्त (एक प्राचीन राजा का नाम) को छोड़ कर मरुत् का इस रूप में प्रयोग अन्यत्र उपलब्ध नहीं है। मरुत्त में भी मरुत् उपसर्ग है, यह केवल विशुद्ध रूप से पारिभाषिक है[5]। वस्तुतः मरुत् देवताविशेषवाची सञ्ज्ञा शब्द है, तथा मरुत्त में भी वही है[6]। अतः कात्यायन के अनुसार उपसर्गों की सङ्ख्या २२ है।

उपसर्गों के लक्षण के प्रसङ्ग में हम कह आए हैं कि पाणिनि के तन्त्र में क्रिया के साथ लग कर क्रिया के अर्थ में विशेषता ला देने वाले शब्द उपसर्ग और गति कहलाते हैं। विशुद्ध उपसर्ग शब्द से यद्यपि पाणिनि को प्र आदि २२ शब्द ही अभिप्रेत हैं, पर कार्य की दृष्टि से देखा जाए तो गति भी उपसर्ग का ही कार्य करते हैं। अतः वस्तुतः गतियों में नामपदों के अतिरिक्त जो शब्द उपसर्ग की ही तरह प्रयुक्त होते हैं, उन्हें उनके कार्य (function) के आधार पर उपसर्ग माना जाना चाहिए। इस आधार पर हम निम्नलिखित शब्दों को उपसर्ग का कार्य करने वाला

१. अच्छ श्रदन्तरित्येतानाचार्यः शाकटायनः।
उपसर्गान् क्रियायोगान्मेने ते तु त्रयोऽधिकाः॥ बृहद्देवता २।९५॥

२. द्र. अष्टाध्यायी १।४।५४ प्रादयः पर गणपाठ।

३. द्र. वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदी, अव्यय प्रकरण :
वष्टि भागुरिरल्लोपमवाप्योरुपसर्गयोः।
वगाहः, अवगाहः। पिधानम्, अपिधानम्।

४. द्र. काशिका, १।४।५९ और ६५ पर वार्त्तिक।

५. द्र. मरुत् की उपसर्ग सञ्ज्ञा होने से मरुद् + √दा + क्त में अच उपसर्गात्तः (अष्टा ७।४।४७) से √ दा को त् हो जाता है।

६. द्र. महाभाष्य ५।२।१२२, वा. १०, पृष्ठ १७२, पर्वमरुद्भ्यां तप्।

कह सकते हैं :

१. ऊरी और २. उररी अङ्गीकार करना अर्थ में √कृ से निष्पन्न तिङन्त और कृदन्त पदों के साथ प्रयुक्त होते हैं। ऊरीकरोति, उररीकृतम्। ३. सजूः साथ अर्थ में पूर्ववत् प्रयुक्त होता है। सजूःकृत्य। ४. वषट् ५. वौषट्, ६. श्रौषट्, ७. स्वाहा, ८. स्वधा देवपितृकार्य में अर्पण अर्थ में पूर्ववत् प्रयुक्त होते हैं। ९. प्रादुस् और १०. आविस् प्राकट्य अर्थ में √भू और √कृ के धातुरूपों तथा प्रातिपदिक रूपों के साथ प्रयुक्त होते हैं। प्रादुर्भवति, प्रादुर्भाव, प्रादुष्करोति, आविष्कार। ११. सत् आदर अर्थ में √कृ के साथ प्रयुक्त होता है। अनादर अर्थ में इसका प्रयोग निषेधार्थक अ उपसर्ग के साथ होता है। अतः असत् को अलग से मानने की आवश्यकता नहीं है। सत्कार, असत्कार। १२. अलम् भूषण अर्थ में √कृ के साथ ही। अलङ्कार। १३. कणे छकना, तृप्त होना अर्थ में √हन् के साथ प्रयुक्त होता है। कणेहत्य पयः पिबति (छक कर दूध पीता है)। १४. पुरस् सत्कार अर्थ में √कृ के साथ आता है। पुरस्करोति, पुरस्कार। १५. तिरस् छुपाव अर्थ में √भू और √धा के साथ, अनादर अर्थ में √कृ के साथ प्राप्त होता है। तिरो भवति, तिरोहित, तिरस्कार। टेढ़ा, तिरछा अर्थ में √अञ्च् के साथ प्रयुक्त होता है। तिरश्चीन। तिरि (तिर्यक्) इसी का विकृतरूप है। १६. साक्षात् प्रत्यक्ष अर्थ में √कृ के साथ। साक्षात्कृत्य, साक्षात्कार। १७. अन्तर् छुपाव अर्थ में ही √भू और √धा के साथ। कात्यायन (वार्तिककार) ने भी कुछ विशिष्ट स्थितियों में इसे उपसर्ग माना है[1]। १८ कु, १९ का, २० कत्, २१ कव शब्द भी प्रयोग की दृष्टि से उसी तरह उपसर्ग हैं, जिस प्रकार इनका विपरीतार्थक सु है। कत्, का और कव को कु का आदेश बतलाना[2] बिल्कुल पारिभाषिक है। वस्तुतः ये चारों एक-दूसरे से बिलकुल अलग, स्वतन्त्र किन्तु समानार्थक उपसर्ग हैं। इसी प्रकार निषेधार्थक २२ अ को व्याकरण में यद्यपि न (नञ्) निपात के नकार का लोप होने से निष्पन्न पूर्वपद माना जाता है,[3] किन्तु वस्तुतः केवल नाम और आख्यात के साथ लगकर उनके अर्थ को विशिष्ट करने के लिए प्रयोग होने के कारण उसे उपसर्ग से भिन्न और कुछ नहीं कहा जाना चाहिए। उपसर्गों के समान ही नामाख्यात से अलग होकर प्रयुक्त न होना

१. द्र. अष्टा. १।४।६५ पर काशिका में वार्तिक : अन्तः शब्दस्याङ्कि-विधिणत्वेषूपसर्गसञ्ज्ञा वक्तव्या।

२. द्र. अष्टाध्यायी ६।३।१०१—१०८। कोः कत्तत्पुरुषेऽचि। रथवदयोश्च। तृणे च जातौ। का पथ्यक्षयोः। ईषदर्थे। विभाषा पुरुषे। कवं चोष्णे। पथि च छन्दसि। और सूत्र १०१ पर वार्तिक : कद्भावे त्रावुपसङ्ख्यानम्।

३. द्र. अष्टाध्यायी ६।३।७३ : नलोपो नञः।

भी इसे उपसर्गों की कोटि में लाने में सहायक है। २३. सह √प्रथ्, भू, √कृ, √वस्, √युज् आदि के साथ प्रयुक्त होता है। सहायक, सहभाव, सहकार, सहकारी, सहवास, सहयोग, सहकर्मी, सहसम्पादक, सहयात्री, सहपाठी। २४. सध्री भी साथ अर्थ में ही √अञ्च् के साथ आता है। सध्र्यङ्, सध्रीचीन।

इस प्रकार हम देखते हैं कि वस्तुतः उपसर्ग की तरह प्रयोग में आने वाले शब्दों की सङ्ख्या कम से कम (२३ यास्कोक्त उपसर्ग, १७ पाणिन्युक्त गति और ७ अन्य =) ४७ अवश्य है।

उपर्युक्त उपसर्गों में से बहुत से तो कई-कई रूपों में प्रयुक्त होते हैं। इन्हें तीन वर्गों में बाँटा जा सकता है :

(क) एक तो वे जो प्रयोग में घिस कर छोटे (सङ्क्षिप्त) हो गये हैं। अपि = पि, अव = व[1]। अपिहित मूँदा हुआ, ढँका (लगा) हुआ। पिधान (<पिहाण <प्हाण)। अवगाहन, वगाहन। तिरस् = तिरि[2] = तिर्यक्। सह = स[3] = सकल।

(ख) कुछ उपसर्ग बढ़े हुए (extended) रूप में प्रयुक्त होते हैं। सम् = समी। सम्यक्, समीचीन। अच्छ = अच्छा। प्रति = प्रती। प्रतीकार। अ = अन्। अनर्थ।

संस्कृत में अन् उपसर्ग उन्हीं शब्दों से पूर्व लगता है, जिनका पहला वर्ण स्वर है[4]। किन्तु आजकल की भाषाओं में यह नियम ढीला हो रहा है। अहित के साथ अनहित और इसी प्रकार अनहोनी, अनभल, अनगिनत आदि अनगिनत शब्दों में इस प्रकार प्रयोग मिलता है।

(ग) सन्धि के नियमों के अधीन रेफान्त और सकारान्त उपसर्ग रेफान्त, सकारान्त, शकारान्त और षकारान्त रूपों में प्रयुक्त होते हैं। निरर्थक, निस्तार, निश्चल, निष्कर्म। दुर्गम, दुस्तर, दुश्चरित्र, दुष्कर।

---

१. द्र. सिद्धान्तकौमुदी, अव्ययप्रकरण में भागुरि का मत।

२. द्र. अष्टाध्यायी ६।३।९४। तिरसस्तिर्यलोपे।

३. द्र. वही ६।३।७८—८२। ८४ से ८९ तक समान का सङ्क्षेप स बताया है। इस आधार पर स को सह से पृथक् एक उपसर्ग भी माना जा सकता है। स के दो अर्थ हैं : १ सह और २ समान।

४. द्र. अष्टाध्यायी ६।३।७४ : तस्मान्नुडचि।

अध्याय १५

उपसर्गार्थ : दो सम्प्रदाय

संस्कृत के व्याकरण शास्त्र की परम्परा में उपसर्गों से अर्थ किस प्रकार प्रकट होता है इस विषय में पुराने समय से दो सम्प्रदाय चले आये हैं। एक सम्प्रदाय का तो मत है कि जिस प्रकार नाम और आख्यात पदों का अपना वाच्यार्थ होता है, वैसे उपसर्गों का अपना कोई अर्थ नहीं होता। ये नामों और आख्यातों के ही अर्थ को कुछ विशिष्ट बनाकर द्योतित कर देते हैं[1]। यह सम्प्रदाय **द्योतकतापक्ष** कहलाता है। दूसरे सम्प्रदाय का सिद्धान्त है कि उपसर्गों का अपना वाच्यार्थ होता है। यह सम्प्रदाय **वाचकतापक्ष** कहलाता है।

यों तो इन दोनों ही पक्षों पर बहुत अर्वाचीन समय तक बहुत कुछ कहा

---

१. आचार्य महेश्वर ने (भाग १, पृष्ठ ३४–३६ पर) इस स्थल की व्याख्या और ढंग से की है : शाकटायन उपसर्गों का स्वतन्त्र प्रयोग और स्वतन्त्र अर्थ नहीं मानते। तब वे पद कैसे हैं ? पद तो वे होते हैं जिनका स्वतन्त्र प्रयोग तथा स्वतन्त्र अर्थ होता है। अतः उपसर्ग तो पद ही नहीं हैं। उनको पद सिद्ध करने के लिए ही पाणिनि ने सुप्तिङन्तं पदम् (अ. १।४।१४) कह कर तथा उनके सुप् का अव्ययादाप्सुपः (अ. २।४।८२) से लोप किया है। अतः इसी (केवल पाणिनीय ही नहीं, अपि तु साधारण) वैयाकरण सिद्धान्त को देखकर वैयाकरण शाकटायन नैरुक्तों के पदचतुष्टय-सिद्धान्त को अनुचित बता रहे हैं। गार्ग्य के मत के द्वारा यास्क ने इस आपत्ति का समाधान किया है : उपसर्गों का स्वतन्त्र अर्थ होता है; हां, स्वतन्त्र प्रयोग कम होता है। पर यह इन शब्दों (उपसर्गों) का स्वभाव है। अतः ये स्वतन्त्र कम प्रयुक्त होते हुए भी पद होते हैं। स्वतन्त्र प्रयोग वैयाकरण भी मानते हैं : अकेले उपसर्गों से तद्धित प्रत्यय विहित हैं—उद्गतः, निवतः। निष्कौशाम्बिः आदि समास भी स्वतन्त्र प्रयोग मानने पर ही बन सकते हैं। महेश्वर ने द्योतकता-वाचकता परक व्याख्या को अन्ये तु न निर्बद्धा इत्यादिना द्योतकत्व-वाचकत्व-विषयामाचार्य-विप्रतिपत्तिं समर्थयन्ते कह कर एक पङ्क्ति में ही रफा-दफा कर दिया है।

जाता रहा है. परन्तु इन दोनों सम्प्रदायों के जन्मदाता कौन थे इस विषय में कम से कम नाम भर देने का ऐतिहासिक उपकार यास्क ने (१।३ में) किया है । उनके अनुसार प्रथम (द्योतकता) पक्ष के उद्भावक आचार्य थे शाकटायन । प्रातिशाख्यों में अथर्व-प्रातिशाख्य में इसी पक्ष को प्रश्रय दिया गया है[1] । परवर्ती वैयाकरणों में इस पक्ष को मानने वालों में आचार्य भर्तृहरि[2], कैयट और नागेश[3] के नाम प्रमुख हैं । यास्क ने दूसरे (वाचकता) पक्ष के समुपस्थापक के रूप में गार्ग्य का नाम देकर उनका मत ही अपने उत्तर पक्ष के रूप में उद्धृत किया है ।

आचार्य पाणिनि ने स्पष्ट रूप से इस विषय में कुछ नहीं कहा है; किन्तु उन्होंने उपसर्गों का जिस ढंग से प्रतिपादन किया है, उससे प्रतीत होता है कि वे मध्यमार्गी थे । उन्होंने (१।४।८४—९८ में) कर्मप्रवचनीयों (जो पाणिनीय शास्त्र को छोड़कर वस्तुतः उपसर्ग ही हैं) के विभिन्न अर्थ बताये हैं । विशुद्ध उपसर्गों का भी अर्थ होता है, यह अन्वय-व्यतिरेक से अष्टाध्यायी से सूचित होता है[4] । कुछ क्रियाओं के साथ उनका अपना अर्थ गौण पड़ जाता है, तथा उन उपसर्गों एवम् उन क्रियाओं के स्वार्थ से भिन्न कोई अन्य अर्थ ही आ जाता है जो वाच्यार्थ नहीं होता[5] । इससे प्रतीत होता है कि उनके मत में दोनों ही पक्षों में कुछ दम-खम है और वे किसी एक को रद्द नहीं करना चाहते ।

यास्क और पाणिनि के ही आस-पास के आचार्यों में शौनक और कात्यायन ने उपसर्ग को आख्यात में विशेषता ला देने वाला (विशेषकृत्) कहा है[6] । उपसर्ग के

---

१. द्र. ह्विटने, जे. ए. ओ. एस्., भाग ७, पृष्ठ ५१५ ।

२. द्र. वाक्यपदीय : २।१६५ से २०६ ।

३. द्र. महाभाष्य, १।३।१, वार्तिक ७, पृष्ठ १८४, एवं १।२।४५, वार्तिक १२, पृष्ठ ८१, पर प्रदीप और उद्योत ।

४. द्र. अष्टा. १।३।२४ । उदोऽनूर्ध्वकर्मणि से प्रतीत होता है कि उत् का ऊर्ध्वकर्म प्रसिद्ध अर्थ था । १।३।४२ प्रोपाभ्यां समर्थाभ्याम् से सिद्ध होता है कि प्र और उप अनेकार्थक हैं । दोनों के कुछ अर्थ मिलते जुलते हैं, कुछ अलग हैं । माधवभट्ट के मत में भी पाणिनि उपसर्गों का अर्थ मानते हैं :

पाणिनिश्चाह भगवानर्थानेषाम्बहूंस्तथा ।
उदाहरणमेतेषां बाहुल्यान्न प्रदर्शितम् ॥ ऋग्वेदानुक्रमणी ३।७।१६ ॥

५. द्र. अष्टा. १।३।२०—५६ (२४वें तथा ४२वें सूत्रों को छोड़कर) ।

६. द्र. ऋक्प्रातिशाख्य १२।२५ और शुक्ल यजुः प्रातिशाख्य ८।४६ :

क्रियावाचकमाख्यातमुपसर्गो विशेषकृत् ।

और बृहद्देवता २।९४ : विवेचयन्ति ते ह्यर्थं नामाख्यातविभक्तिषु ॥

लगने से क्रिया में विशेषता तो उपसर्ग के वाचक होने पर भी आ सकती है और द्योतक होने पर भी। उपसर्ग लगने से क्रिया में विशेषता तो आनी ही है। जब दो अर्थ इकट्ठे होते हैं, तो इससे एक विशिष्ट अर्थ तो प्रकट होना ही है। अतः केवल इतने से—उपसर्ग विशेषता बतलाते हैं कहने से—इन्हें द्योतकवादी नहीं माना जा सकता। सौभाग्य से शौनक ने इस विषय में एक निर्णायक सन्दर्भ रख छोड़ा है। उन्होंने उपसर्ग विशेषता लाते हैं—कहने से पूर्व बीस उपसर्ग अर्थवाचक हैं, यह स्पष्ट रूप से कहा है[1]। अतः उनके मत में और उनके अनुयायी प्रातिशाख्यकार कात्यायन के मत में उपसर्ग वाचक हैं, द्योतक नहीं। यह निस्सङ्कोच कहा जा सकता है।

उपर्युक्त आचार्यों से पीछे के आचार्य वार्तिककार कात्यायन और पतञ्जलि भी उपसर्गों को विशेषकृत् मानते हैं[2]। इससे वार्तिककार वास्तव में क्या कहना चाहते हैं, यह जानने का आज हमारे पास कोई साधन नहीं है। महाभाष्यकार ने उपसर्गों का स्वरूप बतलाते हुए कहा है, "उपसर्ग ऐसे हैं कि जहाँ कोई क्रियावाचक शब्द प्रयुक्त होता है, वहाँ (उस) क्रिया की विशेषता को कहते हैं[3]।" यहाँ उपसर्गों को क्रिया की विशेषता का वाचक स्पष्ट रूप से कहा है, क्रिया की विशेषता को द्योतित करते हैं—नहीं कहा है। ऊपर चर्चित वार्तिक पर वे कहते हैं, "... इस अधि का दूसरे प्रयोगों (√इ से अन्य धातुओं के साथ लगने) में जो भी अर्थ होता है, वही यहाँ (√इ के साथ) भी है।....(अन्यत्र) अधि ऊपर अर्थ में है[4]"। इससे भी यही सिद्ध होता है कि वे उपसर्गों का अभिधेय अर्थ मानते हैं। अकेले √स्था का अर्थ है रुकना, ठहरना; किन्तु प्र के साथ चल पड़ना हो जाता है। इस पर उनका कहना है, "तिष्ठति से जाना क्रिया की निवृत्ति, प्रतिष्ठते से जाना क्रिया प्रतीत होती है। हम मानते हैं कि यह उपसर्ग का कार्य है, जिससे यहाँ जाना क्रिया प्रतीत होती है। यह प्र क्रिया के आरम्भ अर्थ में देखा गया है[5]"। इससे भी यही

---

१. द्र. ऋक्प्रातिशाख्य १२।२० : उपसर्गा विंशतिरर्थवाचकाः सहेतराभ्याम्। और इस पर उव्वट : सहेतराभ्याम्। कतराभ्याम्? नामाख्याताभ्याम्।

२. द्र. महाभाष्य १।३।१. वा. ७, पृष्ठ १८४ : क्रियाविशेषक उपसर्गः।

३. द्र. महाभाष्य २।१।१, वा. ४. पृष्ठ ५२६ : उपसर्गाश्च पुनरेवमात्मका यत्र कश्चित् क्रियावाची शब्दः प्रयुज्यते, तत्र क्रियाविशेषमाहुः।

४. द्र. महाभाष्य, १।३ १. वा. ७, पृष्ठ १८४ : ते मन्यामहे य एवास्याधेरन्यत्रार्थः, स इहापीति। कः पुनरन्यत्राधेरर्थः? अधिरुपरिभावे वर्तते।

५. द्र. वहीं, पृष्ठ १८५ : इह तर्हि व्यक्तमर्थान्तरं गम्यते—तिष्ठति, प्रतिष्ठत इति। तिष्ठतीति व्रजिक्रियाया निवृत्तिः, प्रतिष्ठत इति व्रजिक्रिया गम्यते। ते मन्यामहे उपसर्गकृतमेतद् येनात्र व्रजिक्रिया गम्यत इति। प्रोऽयं दृष्टापचार आदिकर्मणि वर्तते।

ध्वनि निकलती है कि वे उपसर्गों को वाचक मानते हैं। किन्तु इससे आगे के निम्न कथन से इस पर कुछ शङ्का हो आती है कि वे कदाचित् उपसर्गों को द्योतक ही मानते हों। उनका कथन है कि धातु अनेकार्थक होती हैं। अतः यहाँ (तिष्ठति तथा प्रतिष्ठते) में भी √स्था ही जाना अर्थ का वाचक है, तथा √स्था ही रुकना, ठहरना अर्थ का। वास्तव में इस कथन के आधार पर ही आचार्य कैयट और नागेशभट्ट ने अपना उपसर्गों की द्योतकता का सिद्धान्त खड़ा किया है। अनर्थक अधि, परि पर चर्चा करते हुए महाभाष्यकार (१।४।९३, पृ. ४६३ पर) कहते हैं, "अनर्थक का अर्थ क्या है ? जो किसी अन्य अर्थ का अभिधान नहीं करते, धातु के द्वारा अभिहित क्रिया को (ही) कहते हैं, वे अनर्थक हैं। अगर ऐसा है, तब तो धातु के द्वारा क्रिया को कह दिए जाने के कारण (उसको पुनः कहने के लिए उसके साथ) उपसर्ग का प्रयोग प्राप्त ही नहीं होता, क्योंकि जिनको कह दिया गया है, उन अर्थों का प्रयोग नहीं होता ! कह दिये गये अर्थों का भी (पुनः) प्रयोग देखा जाता है। जैसे— अपूपौ द्वावानय, ब्राह्मणौ द्वावानय (दो पूड़े ले आओ, दो ब्राह्मणों को ले आओ। यहाँ दो की सङ्ख्या द्विवचन से कह दी गई है, फिर भी उसे कहने के लिए द्वौ का प्रयोग किया गया है)"। यहाँ उन्होंने धातु के द्वारा अभिहित क्रिया को प्रकट करने वाले उपसर्गों को स्पष्ट शब्दों में अनर्थक कहा है। इससे सिद्ध होता है कि धातुओं के अनेकार्थक होने से उनके किसी एक अर्थ को उपसर्ग यदि प्रकट करता है, उसे द्योतित करके उसे प्रकट करने में यदि सहायता करता है, तो वह उपसर्ग अनर्थक कहलाएगा। इतना ही नहीं, उपसर्गों को यदि धातु के ही अर्थ को प्रकट (द्योतित) करने वाला कहा जाता है, तब तो सभी उपसर्ग अनर्थक हो जायेंगे, अकेले अधि और परि की तो बिसात ही क्या है ? इससे बिल्कुल साफ हो जाता है कि आचार्य पतञ्जलि उपसर्गों को द्योतक मानने के पक्ष में नहीं हैं। वे उपसर्गों को वाचक ही मानते हैं।

आचार्य दुर्ग ने (१।३ में) यों तो वाचक के रूप में उपसर्गों की न केवल व्याख्या की है, अपितु प्रत्येक उपसर्ग के अनेक अर्थ होते हैं, यह बात भी कही है; पर वस्तुतः श्रद्धा की दृष्टि से वे उपसर्गों को द्योतक ही मानते हैं। १।३ में उपसर्गों की वाचकता-द्योतकता के प्रकरण के अन्त में अपने वक्तव्य का उपसंहार करते हुए उनकी कलम—आह—नामाख्यातयोस्तु कर्मोपसंयोग-द्योतका भवन्तीत्युक्तम्। अत्र नाम्नः कर्मोपसंयोगद्योतका भवन्तीत्येवं न गृह्यते।—लिख कर द्योतकतापक्ष को ही सिद्धान्त के रूप में प्रस्तुत करती है। इसी प्रकार निपात प्रकरण की भूमिका बाँधते हुए भी वे द्योतकता की ही बात करते हैं: उक्तमुपसर्गलक्षणं सामान्यं नामाख्यातयोस्तु कर्मोपसंयोगद्योतका भवन्तीति।"

शाकटायन और गार्ग्य परस्पर लगभग समकालीन और यास्क से प्राचीन

आचार्य हैं। इन दोनों का नामोल्लेख प्रायः सभी नैरुक्त और वैयाकरण आचार्यों ने अनेक बार किया है : ये दोनों आचार्य अपने समय के उद्भट और पथिकृत् वैयाकरण रहे हैं, यह यास्क, पाणिनि और शौनक के साक्ष्य के आधार पर निश्चित है। शाकटायन का नैरुक्तों में भी दखल है और पाणिनि से पूर्व के वैयाकरणों में तो ये सब से प्रतापी और मूर्धन्य विद्वान् माने जाते थे, यह हम पीछे (पृ. १४२ पर) कह चुके हैं।

उपसर्ग : द्योतक हैं

आचार्य शाकटायन का मत है कि उपसर्ग नाम और आख्यात पदों के अर्थ के द्योतक होते हैं। यदि उपसर्गों का अपना अभिधेय अर्थ होता, तो उनका प्रयोग वाक्य में आख्यात पद से अलग भी होता। गाय, अश्व, घोड़ा, आदि निराकाङ्क्ष शब्दों का जैसे अपना एक स्वतन्त्र अर्थ होता है, वैसे प्र, परा आदि का नहीं होता। वाक्य में भी ये नाम और आख्यातपद के साथ लगकर ही अर्थ को प्रकाशित करने में समर्थ होते हैं, न कि स्वतन्त्र अर्थाभिधान में। जैसे वर्णसमुदाय-घटित पदों से उन वर्णों को अलग-अलग कर लेने पर उन वर्णों में कोई अर्थ नहीं होता, वैसे ही नामाख्यातपदों से अलग निकाले (निर्वद्ध) उपसर्गों का भी अपना कोई अर्थ नहीं रहता। अर्थात् यह निश्चय से नहीं कहा जा सकता कि अमुक उपसर्ग का यह अर्थ है, तमुक का यह। बल्कि ये तो नाम और आख्यात पदों के अर्थ के साथ उपसंयोग से—उनके साथ लग कर—ही उनके अर्थ में जो विशेषता होती है, उसका द्योतन अर्थात् प्रकाशन उसी प्रकार कर देते हैं, जिस प्रकार दीपक पहले से स्थित घड़े आदि की विशेषता का प्रकाशन कर देता है[1]।

शाकटायन के मत को यास्क ने दो वाक्यों में उद्धृत किया है। इनमें से दूसरा वाक्य (नामाख्यातयोस्तु कर्मोपसंयोगद्योतका भवन्ति) कुछ अस्पष्ट है। इसमें नामाख्यातयोः की षष्ठी का अन्वय अगले समस्त पद के उत्तरपद द्योतकाः से होना चाहिए। अर्थात् उपसर्ग नामाख्यातों के द्योतक होते हैं। (उनके) कर्म (अर्थ) में उपसंयोग (उपसर्जन, वृद्धि) इस द्योतन का साधन है, प्रक्रिया है[2]। इस पर पहली आपत्ति तो यह है कि (अर्थरहित) उपसर्ग पद का योग तो होता है नामाख्यात पद से, तब नामाख्यातों के अर्थ में उपसंयोग कैसे होगा, और क्यों होगा ? दूसरी विप्रतिपत्ति यह है कि द्योतित होने वाली वस्तु तो अर्थ है, न कि नाम और आख्यात;

१. द्र. निरुक्त १।३ : न निर्बद्धा उपसर्गा अर्थान् निराहुरिति शाकटायनः। नामाख्यातयोस्तु कर्मोपसंयोगद्योतका भवन्ति। और ऋग्वेदानुक्रमणी ३।७।४-६।

२. द्र. १।३ पर दुर्ग : नामाख्यातयोरेव योऽर्थः कर्म, तत्रैव विशेषं कञ्चिदुपसंयुज्य द्योतयन्ति।

क्योंकि नाम और आख्यात के तो द्योतित होने से भी क्या होगा ? यदि कर्मोपसंयोग को द्योतकाः का कर्म कहें तो दो आपत्तियां हैं । १. कर्मोपसंयोग को पूर्वपद बनाने से यह गौण हो जाता है । २. नामाख्यातयोः की षष्ठी से अन्वित कर्म पद भी पूर्वपद में गौण हो जाता है[1] । अतः यह वाक्य कुछ लग नहीं पा रहा है ।

आचार्य महेश्वर ने (भाग १, पृ ३४ पर) कर्मोपसंयोगद्योतकाः पद को खोलने की कुछ चेष्टा की है : १. नामाख्यातयोरेव कर्मणोऽर्थस्य, उपसंयुज्यत इत्युपसंयोगो विशेषः प्रकर्षादिः, तस्य शब्दतद्गुमात्रेण सन्निधानाद् द्योतका भवन्तीति कर्मोपसंयोगद्योतकाः । अर्थात् नाम और आख्यात के ही (कर्म) की विशेषता— जैसे अधिकता— को केवल अपनी उपस्थिति से द्योतित करने वाले होते हैं । २. द्योत्यत इति वा द्योतः । कर्मोपसंयोगो द्योत्यः (द्योत) एषामिति बहुव्रीहिः, ततः कप् । (नाम और आख्यात के) अर्थ की विशिष्टता प्रकाशनीय है जिनकी, (वे उपसर्ग होते हैं) । ३. अथवा कर्मोपसंयोगश्चासौ द्योतकश्चेति समानाधिकरणः, तं कारयतीति आतोऽनुपसर्गे क (अ. ३।२।३) इति कः । जो अर्थ की विशिष्टता रूपी प्रकाशक को करवाते हैं । इस विग्रह का कुछ अर्थ समझ नहीं पड़ता । हमारे विचार में यहां टीका का पाठ भ्रष्ट है । क्योंकि (क) कारयति में उपर्युक्त सूत्र से क प्रत्यय प्राप्त ही नहीं है, क्योंकि यह धातु आदन्त नहीं है (ख) समानाधिकरण से जब कर्मोपसंयोगद्योतक शब्द बन गया तब प्रत्यय (वह भी कृत्) करने की तुक क्या है ? अतः हमारा सुझाव है : कर्मोपसंयोगश्चासौ द्योतश्चेति समानाधिकरणः, तं कायति) √कै शब्दे (धा. पा. १।९१६) इति आतोऽनुपसर्गे कः इति कः । अर्थात् अर्थ (कर्म) की विशिष्टता (उपसंयोग) रूप द्योत्य (द्योत) को शब्दित=ध्वनित करने वाला (कायति) कर्मोपसंयोगद्योतक होता है ।

उपसर्ग वाचक हैं

आचार्य गार्ग्य का यह सिद्धान्त है कि उपसर्ग पद नाम या आख्यात के अर्थ को द्योतित नहीं करते, अपितु स्वतन्त्र रूप से अर्थों का अभिधान ही करते हैं । अर्थात् उपसर्ग पद द्योतक नहीं, अपितु वाचक हैं। उपसर्ग पदों के प्रत्येक के भिन्न-भिन्न अर्थ होते हैं, जो नाम और आख्यात पदों के अर्थ के साथ मिल कर उसमें विकार कर देते हैं, न कि उन (नामाख्यातों) के पूर्वतः विद्यमान अर्थ को ही प्रकाशित करते हैं । अर्थात् उपसर्ग के योग से नाम/आख्यात पदों के अर्थ में जो विशेषता या विकार आता है, वह उपसर्ग पद के स्वार्थ और नामाख्यात पदों के स्वार्थ के मेल से उत्पन्न होता है; अतः उपसर्ग पद नामाख्यातों के स्वार्थ में विकार करने वाले अर्थ का

---

१. क्योंकि : सविशेषणानां वृत्तिर्न, वृत्तस्य विशेषणयोगो न ।

अभिधान करते हैं। जिस प्रकार अश्व और गर्दभ जाति के स्त्री-पुरुषों के यथायोग्य संसर्ग के कारण इन से भिन्न खच्चर का जन्म होता है, तथा नील आदि वर्ण पीत आदि वर्णों में मिलाये जाने पर इन दोनों की विशेषताओं से युक्त वर्णान्तर को उत्पन्न कर देते हैं, उसी प्रकार उपसर्गार्थ और नामार्थ के, या उपसर्गार्थ और आख्यातार्थ के संयोग से एक भिन्न प्रकार का अर्थ अभिहित होता है। वाक्य में चूंकि उपसर्गार्थ की अपेक्षा नामार्थ और आख्यातार्थ की प्रधानता होती है, अतः उपसर्गार्थ विशेषकृत् होता है तथा नामाख्यातार्थ विशेषकृत होता है। यह नया विशेष अर्थ नाम और आख्यात के अर्थ से १. **कुछ भिन्न**, २. **बिल्कुल पृथक्**, ३. **बिल्कुल विपरीत**, या ४. **मिलता-जुलता** भी हो सकता है। उपसर्ग-रहित नामाख्यात के अर्थ से उपसर्ग सहित नामाख्यात के अर्थ का यह भेद परस्पर संयुक्त होने वाले दोनों अर्थों की पारस्परिक अनुकूलता, प्रतिकूलता या तटस्थता की मात्रा पर निर्भर होता है। प्रायेण समानार्थक उपसर्गों के साथ एक ही नाम या आख्यात के योग से अर्थों की छाया (शेड) में बहुधा अन्तर आ जाता है। एक ही उपसर्ग जब समानार्थ से प्रतीत होने वाले नामों और आख्यातों से लगता है, तब भी भिन्न-भिन्न अर्थों का अभिधान हो जाता है। प्र+ √**अञ्च्** (गति) से प्राक् (प्राञ्च्), प्राची शब्द बनते हैं। **प्राक्** शब्द में कालिक पूर्वभाविता है, तो **प्राची** में दैशिक पूर्वभाविता। **प्र**+ √**गम्** (गति) से बने **प्रगति** में केवल प्रकृष्ट गति ही है, तो **प्र**+ √**व्रज्** (गति) से बने **प्रव्रज्या** में सब कुछ छोड़ कर चले जाने की प्रकृष्टता से युक्त गति (सन्न्यास) का भाव निहित है। इस से यह सिद्ध होता है कि उपसर्गार्थ तथा नामाख्यातार्थ का संयोग होने पर प्रतीत होने वाली विशिष्टता के सामान्य स्वरूप का निर्धारण तो निरुक्त या व्याकरण शास्त्र के द्वारा किया जा सकता है, पर वस्तुतः तो लोक-मानस की विचित्रताओं का अध्ययन ही इसका कुछ-कुछ सही उत्तर शायद दे सकता है।

तर्क ऋषि की दृष्टि से भी द्योतकतासिद्धान्त में कुछ दम नहीं दिखलाई देता। "धातु अनेकार्थक होते हैं; उपसर्ग लगने से उन में से कोई सा एक अर्थ प्रकाशित हो जाता है, अतः उपसर्ग के संयोग से प्रतीत होने वाला अर्थ द्योत्यार्थ होता है एवम् उपसर्ग उस अर्थ के द्योतक हैं।"—इस कथन में कोई सार नहीं है। क्यों कि 'धातु अनेकार्थक होते हैं', यह आधार ही बहुत दुर्बल है। एक धातु से अनेक अर्थों का बोध अभिधा से होता है, या अन्य वृत्तियों से? यदि **तिष्ठते** का गति अर्थ भी अभिधा वृत्ति से ही है, तो उसे इसके प्रकाशन के लिए **प्र** की आवश्यकता क्यों है? **सन्तिष्ठते** से भी **सङ्गच्छते** के ही अर्थ की प्रतीति होनी चाहिए। **अवगच्छति** से भी **अवतिष्ठते** के ही अर्थ का बोध होना चाहिए। **आगच्छति** से ही **आना** का बोध क्यों होता है? **निर्गच्छति** से भी वही होना चाहिए। दोनों प्रयोगों में **गच्छति** तो समान है, केवल

उपसर्ग तथा अर्थ का ही भेद है। अतः अन्वय-व्यतिरेक से यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि उपसर्ग के कारण ही अर्थ में अन्तर हुआ है, इसलिए उपसर्ग में ही कोई ऐसी विशेषता है, जो धातु से मिल कर उसमें भिन्नता ला देती है। यह तो कभी नहीं होता कि एक दीपक से घड़ा घड़ा ही दिखलाई दे, तथा दूसरा दीपक ले लेने पर घोड़ा और अंधेरे में रखी अनेक चीजों में से हरेक को देखने के लिए आप अलग-अलग दीपक काम में लाते हों। जैसे एक ही दीपक से सारी चीजें दीख जाती हैं, वैसे ही एक ही उपसर्ग से सारे अर्थ क्यों नहीं प्रकट हो जाते ? इसके अलावा यदि अलग-अलग उपसर्ग से धातु के अलग-अलग अर्थ (अभिधेय) का ही द्योतन होगा, तो प्रथम तो वह अर्थ अभिधेय कहाँ रहा ? वह तो द्योत्य अर्थात् व्यङ्ग्य हो गया। तब 'धातु के अनेक अर्थ होते हैं' क्यों कहते हो ? इस कथन में तो स्वतः वदतोव्याघात दोष आ गया ! जो वाच्य है, वह द्योत्य नहीं हो सकता। दूसरे, तब तो द्योतकतावादी महा-शय को रात्रि में रास्ता चलते भी मोम-बत्तियों का गट्ठर सिर पर लाद कर चलना पड़ेगा; न जाने कब किस खास अर्थ (पदार्थ) को द्योतित करने वाली किस खास-उल् खास मोमबत्ती की जरूरत पड़ जाए। भाष्यकार ने भी (१।३।१, वार्तिक ७, पृ० १९५ पर) धातुओं की अनर्थकता के पृष्ठं कुरु, पादौ कुरु आदि जो पाँच-चार उदाहरण दिये हैं, उनमें भी √कृ का अभिधेय अर्थ वह नहीं है, जो उन्होंने बतलाया है। वह तो व्यङ्ग्यार्थ है। क्या पादौ कुरु से 'पाँव (इधर) कर' अर्थ नहीं प्रतीत हो सकता ? या, जब भी आप पादौ कुरु या पृष्ठं कुरु कहेंगे तब 'पाँव पोंछ ले', 'पीठ खुजला ले' अर्थ की सबको साधारण रूप में प्रतीत हो जायेगी ? क्या अश्मानमितः कुरु का अर्थ 'पत्थर इधर कर' अर्थात् मुझे दे, नहीं हो सकता ? 'रखने' का भाव तो प्रकरण विशेष में पर्यवसित अर्थ है, अभिहित अर्थ कदापि नहीं।

उपसर्गों की द्योतकता के सिद्धान्त के आधार के रूप में शाकटायन ने एक बात कही है, जो खास तौर से ध्यान देने योग्य है। वे कहते हैं कि उपसर्ग शब्दों का नाम और आख्यात से अलग कोई अर्थ नहीं है। अर्थात् वे सिर्फ नाम और आख्यात के साथ लग कर ही काम में लाये जाते हैं, इसलिए उनकी जाती तौर पर कोई अहमियत और शख्सियत नहीं है। वे तो नाम और आख्यात के अर्थ को ही प्रकाशित भर कर देते हैं।

इस तर्क में भी कोई दमदार और पायेदार नुक्ता नहीं है। प्रत्ययों का अपना अर्थ होता है; पर उनको नाम और आख्यात से अलग काम में कभी नहीं लाया जाता। क्या इससे प्रत्ययों को आप वाचक नहीं मानेंगे ? उपसर्गों का तो, तब भी, नाम और आख्यात के बिना प्रयोग पर्याप्त मात्रा में होता है। जैसे—वेद में उपसर्ग नाम और आख्यात के साथ पुछल्ले की तरह ही नहीं लगे रहते हैं। वहाँ उन्हें आप

वाक्य में कहीं भी रखा हुआ पायेंगे । वे अपने सम्बद्ध नाम पद या आख्यात पद से सम्बन्ध ठीक उसी तरह जोड़ लेते हैं, जैसे विभक्त्यन्त पद अपने सम्बद्ध नाम या आख्यात पद से सम्बन्ध स्वयं ही जोड़ लेते हैं। इसके अलावा द्योतकतावाद के हामी बतावें कि **उपोप मे परामृश** (ऋ० सं० १।१२६।७) में **उप+उप** उपसर्गों को किस नाम या आख्यात से जोड़ा गया है ? यहाँ तो **'धीरे-धीरे (या नजदीक-नजदीक से) मेरे (अङ्गों को) सहलाओ'** अर्थ है, और इसमें **उप+उप** का अपना अर्थ स्वतन्त्र है। **उपोप** का क्रियापद (**मृश**) से या निकटस्थ सर्वनाम (**मे**) से कोई पुछल्ले वाला ताल्लुक नहीं है। इसी प्रकार अलग-अलग उपसर्गों से एक ही तद्धित प्रत्यय लगाने से अलग-अलग अर्थ वाले शब्द भी निष्पन्न होते हैं। जैसे—**उद्वत्, निवत्, परावत्, प्रवत्, नूत्न, प्रत्न, नित्य, अमात्य, निष्ट्य, उत्तर, उत्तम, प्रथम** (<**प्रतम**); इन शब्दों में **वत्, त्न, त्य, तर** और **तम** प्रत्यय तथा उनका अर्थ तो एक ही है, किन्तु उपसर्ग तथा उपसर्ग+प्रत्यय=अर्थ अलग-अलग हैं। इससे सिद्ध होता है कि यह अलगाव उपसर्गों के अलगाव के कारण हुआ है, अतः उपसर्ग **वाचक** ही हैं। इन्हें **द्योतक** बतलाना महज हिमाकत और सच्चाई से आँख मूँद लेना है।

इसके अलावा एक बात और भी है, जो उपसर्गों की वाचकता को ही पुष्ट करती है। आचार्य दुर्ग का कहना है कि नैरुक्त सत्कार्यवादी हैं। प्राचीन काल के दर्शन (जैसे साङ्ख्य) सत्कार्यवादी ही थे। इस सिद्धान्त में वर्णसमुदाय रूप पद (कार्य) से यदि अर्थज्ञान होता है, तो पद के कारण रूप वर्ण भी अर्थवान् स्वतः सिद्ध हो जाते हैं। स्थूल मृत्तिका में घड़े का उपादान कारण बनने की सामर्थ्य यदि है, तो मृत्तिका के सूक्ष्म अणुओं में वह सामर्थ्य होगी ही। ठीक इसी तरह, नामाख्यात के संयोग में अर्थाभिधान करने में समर्थ उपसर्ग असंयोग की स्थिति में भी अर्थाभिधान करने में समर्थ हैं ही।

हमारे इस विवेचन से विद्वज्जन यह न समझें कि हम धातुओं का केवल एक ही वाच्यार्थ मानते हैं, तथा उनकी अनेकार्थकता के विरोधी हैं। जिस प्रकार बहुत-से नामपद एकार्थक तथा बहुत-से अनेकार्थक होते हैं, उसी प्रकार बहुत-सी धातु एकार्थक हैं, तो बहुत-सी अनेकार्थक भी। अनेकार्थक नामपदों को जैसे अपने उन अनेक वाच्यार्थों में से अन्यतम अर्थ का बोध कराने के लिए किसी उपसर्ग की आवश्यकता नहीं होती, केवल अभिधा से ही वे उस अर्थ का अभिधान करते हैं, वैसे ही अनेकार्थक धातु भी बिना किसी प्रकार की बाहरी (उपसर्ग की) सहायता के ही, शब्द की अपनी प्रातिस्विक शक्ति से ही, उन अनेक अर्थों में से एक अर्थ का अभिधान करते हैं। उदाहरण के तौर पर हम महाभाष्यकार द्वारा प्रदत्त √वप् के उदाहरण को ही लें। √वप् के दो अर्थ होते हैं : डालना तथा काटना। **वपति बीजानि क्षेत्रे** में प्रथम अर्थ

अभिधेय है तथा केशश्मश्रु वपति में द्वितीय अर्थ। जो अर्थ भाषा के मुहावरे के कारण प्रतीत होता है, उसे वाच्यार्थ मानना असङ्गत है। वह तो लक्ष्यार्थ या व्यङ्ग्यार्थ होता है। पृष्ठं कुरु, पादौ कुरु आदि में कुरु का तथा कथित निर्मल करना अर्थ इसी प्रकार का अर्थ है, अतः इस अर्थ को धातु का वाच्यार्थ मानना असङ्गत है। इसी प्रकार उपसर्ग के संयोग के कारण प्रतीत होने वाला अर्थ सदा ही केवल धातु का वाच्यार्थ नहीं होता, जिसे वह उपसर्ग प्रकाशित करता हो। गच्छति का गति अर्थ वाच्यार्थ है। आगच्छति, निर्गच्छति, प्रगच्छति सङ्गच्छते, आदि शब्दों में भी धातु का गति अर्थ सर्वत्र अव्याहत रूप से वाच्यार्थ ही है। इधर, बाहर, प्रारम्भ तथा मिश्री-भाव अर्थ क्रमशः आ, निर् प्र और सम् उपसर्गों का है—यह इन उदाहरणों में स्पष्ट-विदित है। उपसर्गार्थ के मिल जाने से नाम तथा आख्यात का प्रातिस्विक अर्थ बदल जाता है, इस बात की तथा इसके कारण की चर्चा हम पहले कर चुके हैं। अतः इस बारे में हमारा वक्तव्य यही है कि धातुओं, में अनेक अर्थ छुपे होते हैं, उपसर्ग उन्हें प्रकाशित कर देते हैं—इस सिद्धान्त से हम सहमत नहीं हैं।

यास्क ने उपसर्गों की वाचकता को न केवल उत्तरपक्ष के रूप में प्रस्तुत ही किया है अपितु प्रत्येक उपसर्ग के कम-से-कम एक-एक अर्थ को तो बतलाया भी है। इससे यह निश्चित हो जाता है कि यास्क भी उपसर्गों को वाचक ही मानते हैं। निरुक्त (५।२८) में उन्होंने अच्छ उपसर्ग अभि के अर्थ में है, यह स्पष्ट रूप से कहा है। इससे पूर्व (निरुक्त २।२५ में) भी उन्होंने प्र सिन्धुमच्छा...बृहे (ऋ. सं. ३।३३।५) के अच्छा का अनुवाद अभि से किया है : प्राभिह्वयामि सिन्धुम्....। इससे सिद्ध होता है कि वे इनको वाचक ही मानते हैं, द्योतक नहीं।

अब हम यास्क ने उपसर्गों में से प्रत्येक के जो अर्थ बतलाये हैं उनका विवेचन करेंगे। इस प्रसङ्ग में आचार्य दुर्ग का यह कथन बहुत ध्यान देने योग्य है कि यों तो उपसर्गों के अनेक अर्थ होते हैं, पर यास्क ने उपलक्षण के रूप में उपसर्गों की अर्थवत्ता प्रदर्शित करने के लिए इनका एक-एक अर्थ बतलाया है। इसी प्रकरण में यास्क ने अधि के उपरिभाव और ऐश्वर्य तथा अनु के सादृश्य और अपरभाव रूप दो-दो अर्थ बताये हैं। इससे सिद्ध होता है कि वे उपसर्गों के अनेक अर्थ मानते हैं, तथा यहां निदर्शनमात्र के लिये अधिक प्रचलित अर्थों में से अन्यतम ही दिये हैं।

१. आ उपसर्ग अर्वाक् अर्थात् निकट, इधर सन्निकृष्ट अर्थ में है। जैसे—वैश्वानरो वरमारोदस्योराग्निः ससाद पित्रोरुपस्थम् (ऋ. सं. ७।६।६), और आ समुद्रादवरादा परस्मादाग्निर्ददे दिव आ पृथिव्याः (वहीं ७)। लौकिक में आयाति, आनयति, आदत्ते आदि।

२. प्र और ३. परा उपसर्ग आ के अर्थ से विपरीत अर्थ को अर्थात् दूरी,

अलगाव को प्रकट करते हैं। जैसे—**अपाः सोममस्तमिन्द्र प्रयाहि** (ऋ. ३।५३।६), **प्र प्र ताम्दस्यूंरग्नि विबाध** (वहीं ३), **प्र वो देवं चित्सहसानमग्निमश्वं न वाजिनं हिषे नमोभिः** (ऋ. सं. ७।८।१), **जुहोत प्र चतिष्ठत** (ऋ. सं. १।१५।६), **असौ या प्रेव नश्यसि** (ऋ. सं. १०।१४६।१)—प्र के अर्वाक् से उलटे अर्थ में प्रयोग के उदाहरण हैं। **परा याहि मघवन्ना च याहीन्द्र भ्रातरुभयत्रा ते अर्थम्** (ऋ. सं. ३।५३।५), **आ च परा च पथिभिश्चरन्तम्** (ऋ. सं. १।१६४.३१) इन मन्त्रों में परा का यह अर्थभेद बहुत स्पष्ट रूप से प्रकट किया गया है।

४. **अभि** आभिमुख्य (तरफ) अर्थ में है जैसे—**अतो विश्वान्यद्भुता चिकित्वां अभि पश्यति** (ऋ. सं. १।२५।११), **अभि त्वा पूर्वपीतये सृजामि सोम्यं मधु** (ऋ. स. १।१९.९)—में **अभि** इस अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।

५. **प्रति** आभिमुख्य के ठीक उलटे अर्थ को प्रकट करता है। जैसे—**प्रति स्पशो विसृज तूर्णिततो..** (ऋ. सं. ४।४।३), **यो नो मरुतो अभि दुर्हणायुस्तिरश्चित्तानि वसवो जिघांसति । द्रुहः पाशान्प्रति स मुचीष्ट....** (ऋ.सं. ७।५९ ८)। यह उपसर्ग आभिमुख्य अर्थ में भी बहुधा प्रयुक्त होता है : **पिशङ्गं द्रापिं प्रतिमुञ्चते कविः** (ऋ. सं. ४।५३।२), √**मुञ्च्** का अर्थ है छोड़ना। अभिमुख्यार्थक **प्रति** साथ लगने पर अभिमुख+छोड़ना=सम्मुख करना=धारण करना अर्थ बन गया है। **प्रत्यक्ष, प्रत्यगात्म**, **प्रतीति** में भी अभिमुख अर्थ ही है।

६. **अति** और ७. **सु** श्रेष्ठता, अधिकता; अतिशय, अतिक्रमण अर्थ में हैं। **अतिधनः**, **सुधनः**, लौकिक के और **अत्यूर्मिर्मत्सरो मदः सोमः पवित्रे अर्षति** (ऋ. सं. ९।१७।३), **अतीदु शक्र ओहत इन्द्रो विश्वा अति द्विषः** (ऋ. सं. ८।६९।१४), **स गृणानो अद्भिर्देववानिति सुबन्धुर्नमसा सूक्तैः** (ऋ. सं. १०।६१।२६), **सुप्रजास्त्व-मङ्गिरसो वो अस्तु** (ऋ. सं. १०।६२।३) वैदिक उदाहरण हैं।

८. **निर्** और ९. **दुर्** उपसर्ग **अति** और **सु** के अर्थ के ठीक उल्टे अर्थ का अभिधान करते हैं। **यस्ते गर्भममीवा दुर्णामा योनिमाशये । अग्निष्टं ब्रह्मणा सह निष्क्रव्यादमनीनशत्** (ऋ. सं. १०।१६२।२) **आरे मन्युं दुर्विदत्रस्य धीमहि** (ऋ. सं. १०।३५।४)। **निर्धनः**, **दुर्गतः** लौकिक उदाहरण हैं।

१०. **नि** तथा ११. **अव** नियमन अर्थ में प्रयुक्त होते हैं। **निग्रह**, **अवग्रह** (वर्षा की रोक) लौकिक में हैं। वैदिक में हैं : **त्वां ह्यग्ने सदमित्समन्यवो देवासो देवमरतिं न्येरिर इति क्रत्वा न्येरिरे** (ऋ. सं. ४।१।१), **तयोरिदवसा वयं सनेम नि च धीमहि** (ऋ. सं. १।१७।७), **येषामाबाध ऋग्मिय इषः पृक्षश्च निग्रभे** (ऋ. सं. ८। २३।३), **अव स्थिरा तनुहि यातुजूनाम्** (ऋ. सं. ४।४।५)। **नि** अतिशय तथा नीचे अर्थ को भी बतलाता है—**नितराम्, निषीद**। पर ये अर्थ अवग्रह अर्थ की छाया ही हैं।

१२. उत् इन दोनों के विपरीत अर्थ को बतलाता है। जैसे—उदग्ने तिष्ठ प्रत्यातनुष्व न्यमित्राँ ओषतात् तिग्महेते (ऋ. सं. ४।४।४) में उत् और नि परस्पर विरोधी अर्थों में प्रयुक्त हैं। निमज्जति डूबता है, उन्मज्जति (पानी से) ऊपर उठता है। अवगृह्णाति रोकता है, उद्गृह्णाति छोड़ता है।

१३. सम् एकीभाव अर्थात् एक होना, इकट्ठापन, साथ अर्थ में है। जैसे—इदं त एकं पर ऊ त एकं तृतीयेन ज्योतिषा सं विशस्व (ऋ. सं. १०।५६।१), सं गच्छध्वं सं वदध्वं सं वो मनांसि जानताम् (वहीं १६१।२)।

१४. वि और १५. अप सम् के उल्टे अर्थ में हैं :— वि शत्रून् ताळिह वि मृधो नुदस्व (ऋ. सं. १०।१८०।२), आराच्छत्रुमप बाधस्व दूरम् (वहीं ४२।७), अक्षस्याहमेकपरस्य हेतोरनुव्रतामप जायामरोधम् (वहीं ३४।२)। सङ्ग्रह, विग्रह, समास, व्यास, सम्मान और अपमान में यह भेद बिल्कुल स्पष्ट है।

१६. अनु समानता तथा पश्चात् (कालिक और दैशिक दोनों दृष्टियों से बाद के) अर्थ में है। जैसे पूषा गा अन्वेतु नः (ऋ. सं. ६।५४।५), अनुश्रिया तन्वमुक्षमाणाः (वहीं ६६।४)। अमीशूनां महिमानं पनायत मनः पश्चादनु यच्छन्ति रश्मयः (वहीं ७५।६), जयन्तं त्वाऽनु देवा मदन्तु (वहीं १८)। अनुहुङ्कुरुते घनध्वनिं नहि गोमायुरुतानि केसरी लौकिक का उदाहरण है।

१७. अपि संसर्ग अर्थ को प्रकट करता है। जैसे—ग्रीवायां बद्धो अपि कक्ष आसनि (ऋ. सं. ४।४०।४), त्वमपामपिधानावृणोरपाधारयः (ऋ. सं. १।५१।४), अथा देवानामप्येतु पाथः (ऋ. सं. २।३।६)। लौकिक में अपिधान, पिधान, सर्पिषोऽपि स्यात् (घी हो भी तो !) उदाहरण हैं।

१८. उप अधिकता, समीपता में है। जैसे—उप बर्बृहि वृषभाय बाहुम् (ऋ. सं. १०।१०।१०), वेदा य उपजायते (ऋ. स. १।२५।८)। उपनिषद्, उपासना आदि लौकिक में हैं।

१९. परि चारों ओर के अर्थ में है। जैसे—परीतो षिञ्चता सुतम् (ऋ. सं. ९।१०७।१), इन्द्रायेन्दो परि स्रव (ऋ. सं. ८।६१।३), परि स्पशो निषेदिरे (ऋ. सं. १।२५।१३)। परिसङ्ख्या, परिणति लौकिक के उदाहरण हैं।

२०. अधि ऊपर होना तथा स्वामित्व अर्थ में है। जैसे—पृथिव्या अधि सानवि (अ. सं. ६।६३।२७)। यत्राधि सूर उदितो विभाति (ऋ. सं. १०।१२१।६), सर्वं यश्चाधितिष्ठति (ऋ. सं. १०।८।१)। लौकिक में अधिकार, अधिष्ठाता, अधीन, अधिपति आदि शब्दों में ये अर्थ सुविदित ही हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रत्येक उपसर्ग का एक निश्चित अर्थ होता है,

तथा वह उपसर्ग उस अर्थ से भिन्न अर्थात् विपरीत अर्थ का अभिधान कभी नहीं करता। नाम आदि के अर्थ के समान उपसर्ग के अर्थ की कई छायाएँ (shades) भी होती हैं, तो कई-कई अर्थ भी। परन्तु हमेशा वह अर्थच्छाया तथा एकाधिक अर्थ उपसर्ग का अपना वाच्यार्थ ही होते हैं। उपसर्ग नाम और आख्यात के छुपे हुए अर्थ का द्योतन नहीं करते। **आ** कभी भी **परा** के अर्थ को प्रकट नहीं करता। अर्थात् **आ** के साथ प्रयुक्त नाम या आख्यात का वह अर्थ कदापि नहीं होता, जो **परा** के साथ प्रयोग में आने पर होता है। **सम्** के योग से जो अर्थ प्रकट होता है, वह **अप** के योग में कदापि नहीं आता। नहीं तो प्राप्तिज्ञ वैयाकरण महाशय इतने वेदान्ती हो जायेंगे कि उन्हें **सम्मान** में और **अपमान** में, **विजय** में, और **पराजय** में, **विहार** में और **संहार** में, **सुगति** में और **दुर्गति** में कोई अन्तर ही नहीं नजर आ पाएगा।

अन्त में, निरुक्त में अपनाये गये **उपसर्गों** के क्रम पर कुछ कहना प्रसङ्ग से बहिरङ्ग नहीं होगा। पाणिनि ने **गणपाठ** में उपसर्गों का जो क्रम[1] रखा है वह किसी विशेष अभिप्राय से है, यह नहीं लगता; अपितु वहाँ केवल परिगणन किया गया है, यह प्रतीत होता है। शौनक ने **ऋक्प्रातिशाख्य** (१२।२०) में जो क्रम[2] रखा है, उसमें भी छन्द की अनुकूलता के लिए शब्दों को इधर या उधर रखने के अलावा और कोई सार्थकता दिखलाई नहीं देती। यास्क ने जो क्रम[3] रखा है उससे उपसर्गों के अर्थ की तुलना को—अर्थात् अनुलोमता तथा विलोमता को—विशेष रूप से ध्यान में रखा गया है। इससे बुधजनों को यह निष्कर्ष निकालने में तनिक भी हिचकिचाहट नहीं होगी कि यास्क द्वारा दिया क्रम अधिक उचित, सुनियोजित, भावप्रवण एवम् उपादेय है। अर्थप्रधान निरुक्त-शास्त्र में अर्थ को प्रमुखता मिलना स्वाभाविक भी है।

१, द्र. अष्टा. १।४।५४ पर गणपाठ : प्र[1], परा[2], अप[3], सम्[4], अनु[5], अव[6], निस्[7], निर्[8], दुस्[9], दुर्[10], वि[11], आङ्[12], नि[13], अधि[14], अपि[15], अति[16], सु[17], उत्[18], अभि[19], प्रति[20], परि[21], उपे[22]ति प्रादयः।

२[1]प्रा[2]भ[3]या[4] परा[5] नि[6]र्दु[7]रनु[8] [9]व्युपा[10]प[10] सं[11] परि[12] प्रति[13] [14]न्यत्य[15]धि[16] [17]सू[18]दवा[19]पि[20]।

३. आ[1], प्र[2]–परा[3]; अभि[4], प्रति[5]; अति[6]–सु[7] निर्[8]–दुर्[9]; नि[10]–अव[11], उत्[12]; सम्[13]; वि[14]–अप[15]; अनु[16]; अपि[17]; उप[18]; परि[19]; अधि[20]।

अध्याय १६

निपात

निपात शब्द नि+ √पत्+घञ् से निष्पन्न है : अनेक प्रकार के अर्थों में प्रयुक्त होने (नि+पतन) के कारण कुछ शब्द निपात कहलाते हैं[1]। ये शब्द भाव-प्रधान न होने से आख्यातों में, सत्त्वप्रधान नहीं होने के कारण नामों में, एवं नाम या आख्यात पदों से जुड़े (उप+सर्जन के) बिना ही अर्थाभिधान करने के कारण उपसर्गों में शामिल नहीं किये जा सकते। अतः इनकी अपनी एक पृथक् श्रेणी है। वाक्य में कारक आदि सम्बन्ध की अपेक्षा किये बिना ही, जहाँ चाहे प्रयुक्त (निपातित) होने के कारण ये पद निपात कहलाते हैं[2]। वस्तुतः निपात की सही परिभाषा दे पाना बहुत कठिन है। पाणिनि ने परिभाषा देना कठिन समझ कर ही शायद निपातों का प्रतिपद परिगणन करना उचित समझा हो। यहाँ यही ध्यान में रखना समुचित होगा कि निपात पद अव्यय होते हैं; किन्तु सभी अव्यय निपात नहीं होते।

निपात शब्द का इतिहास : वैदिक संहिताओं में निपात शब्द का प्रयोग केवल पैप्पलाद संहिता (१६।३६।६)[3] में हुआ है। परन्तु हमें वहाँ इसका अर्थ स्पष्ट नहीं हो पाया; कुछ तो यहाँ पाठ ही ठीक नहीं है, कुछ इसकी कोई व्याख्या भी उपलब्ध नहीं है। ब्राह्मणसाहित्य में भी प्रमुख ब्राह्मणों में निपात शब्द का प्रयोग नहीं मिलता। नि+ √पत् से निष्पन्न तिङन्त (लट् और लिट् प्रत्ययान्त) पदों का प्रयोग ताण्ड्य (२५।१०।४), षड्विंश (५।६।१२), तैत्तिरीय (३।१०।६।१२) और जैमिनीयोपनिषद् (३।१।५।३) ब्राह्मणों में हुआ है। किन्तु वहाँ इस योग का प्रयोग भाषाशास्त्र के परिभाषिक अर्थ में न हुआ है, और न होने की अपेक्षा ही है। गोपथ ब्राह्मण (१।१।२४, २६) में यह शब्द इस अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। वेदाङ्ग साहित्य में इस अर्थ में इस शब्द का प्रचुर प्रयोग हुआ है। निरुक्त के ही देवविद्या से सम्बद्ध

---

१. द्र. निरुक्त १।४,११ :....उच्चावचेष्वर्थेषु निपतन्ति।
२. द्र. बृहद्देवता २।९३ : वशात्प्रकरणस्यैते निपात्यन्ते पदे-पदे।
३. द्र. दी कश्मीरियन् अथर्ववेद, पृ. ३७–३८।

प्रकरणों से विदित होता है कि उस शास्त्र में यह शब्द एक विशिष्ट पारिभाषिक शब्द के रूप में प्रयुक्त हुआ करता था। वैदिक **देवविद्या** के आचार्य प्रधान देवता के साथ गौण रूप में स्तुत देवताओं को **निपात देवता** या **नैपातिक देवता** कहा करते थे। इतना ही नहीं, गौण वस्तु के लिए **निपात** शब्द का उन्मुक्त प्रयोग होता था[1]। इस विवरण से यह निष्कर्ष निकालना समुचित ही होगा कि निरुक्त-शास्त्र से प्राचीन देवविद्या में निपात शब्द का प्रयोग गौण अर्थ में होता था तथा भाषाशास्त्र में भी यह शब्द पद-विभाग की अन्य तीन विधाओं की अपेक्षा गौण विधा के लिए होने लगा। आचार्य यास्क ने **निपात** की जो व्याख्या की है, उस से भी इसी निष्कर्ष की पुष्टि होती है। अतः हमारे विचार में यह शब्द अपने सजातीय अन्य शब्दों की तरह सर्वप्रथम देवविद्या जैसे अन्य शास्त्र में प्रसिद्ध होने के बाद ही भाषाशास्त्र में अपनाया गया।

निपातों का वर्गीकरण। जिस प्रकार अन्य पदविधाओं से अर्थ का अभिधान होता है, उसी प्रकार **निपातों** से भी किसी अर्थ का अभिधान होता है। निपातों का वर्गीकरण भी अर्थ के ही आधार पर किया गया है। उपसर्गों के प्रकरण में (पृष्ठ १६१ पर) हम कह आये हैं कि अर्थ के अत्यन्त सूक्ष्म होने के कारण बहुत से उपसर्ग अनर्थक ही होते हैं। ठीक उसी तरह बहुत-से निपात भी अनर्थक होते हैं[2]। अतः मूलतः निपात दो प्रकार के हैं : १. **सार्थक** तथा २. **निरर्थक**। सार्थक निपातों को यास्क ने मोटे तौर पर दो वर्गों में बांटा है : (क) **उपमाऽर्थीय** अर्थात् साहश्यार्थक तथा (ख) **कर्मोपसङ्ग्रहार्थीय**। यहां दो बातें ध्यान में रखना उचित होगा : १. जो निपात किसी प्रसङ्ग में साहश्यार्थीय है, वह किसी अन्य प्रसङ्ग में कर्मोपसङ्ग्रहार्थीय ही नहीं, अपितु निरर्थक के रूप में भी आ सकता है। २. कुछ निपात वैदिक और लौकिक—दोनों—संस्कृत भाषाओं में इन अर्थों में प्रयुक्त होते हैं, कुछ केवल वैदिक या केवल लौकिक संस्कृत में ही, तो कुछ निपात लौकिक संस्कृत में प्रयुक्त होने बन्द ही हो गये हैं।

(१. क) उपमार्थीय निपात। १. इव, २. न, ३. चित् तथा ४. नु—ये चार निपात वैदिक भाषा में उपमा अर्थ में प्रयुक्त होते हैं। लौकिक भाषा में केवल **इव** ही इस अर्थ में प्रयुक्त होता है। **अग्निरिव मन्यो त्विषितः सहस्व** (ऋ. सं. १०।८४।२), **वागर्थाविव सम्पृक्तौ** (रघुवंश १।१)। २. न वैदिक भाषा में उपमा तथा निषेध अर्थों में प्रयुक्त हुआ है, जब कि लौकिक में केवल निषेध अर्थ में।

---

१. द्र. **निरुक्त** २।२०; ७।१३, १८, २०, ३१; ११।११, २०; १२।२०, २६–३३।

२.तु. **माधवभट्ट, ऋग्वेदानुक्रमणी**, ३।१।१७-१८।

वैदिक भाषा में भी उपमा अर्थ में प्रयोग अल्प हुआ है तथा निषेध अर्थ में प्रचुर भाषा में[1]। दुर्मदासो न सुरायाम् (ऋ. सं.८।२।१२) में उपमा अर्थ में तथा नेन्द्रं देवममंसत (ऋ. सं. १०।८६।१) में निषेध अर्थ में है। वाक्य में जब न अपने सम्बद्ध शब्द से पहले प्रयुक्त होता है, तब उसका अर्थ निषेध होता है; जब वह अपने सम्बद्ध शब्द के पश्चात् प्रयुक्त होता है, तब उसका अर्थ उपमा होता है[2]। ३. मित्रश्चित् (ऋ. सं. १०।१२।५) में चित् उपमा अर्थ में है। यों, चित् के अनेक अर्थ होते हैं: आचार्यश्चिदिदं ब्रूयात् इस लौकिक वाक्य में चित् आदर अर्थ को प्रकट करता है कि आचार्य ही यह कह सकते हैं! कुल्माषांश्चिदाहर—में यह निन्दा अर्थ को कहता है कि कुल्माष ही ले आओ, (और क्या लाओगे)! लौकिक में चित् का प्रयोग उपमा अर्थ में नहीं होता। ४. वृक्षस्य नु ते पुरुहूत वयाः (ऋ. सं. ६।२४।३) में नु उपमा अर्थ में है। यों, यह भी अनेकार्थक है: इदन्नु करिष्यति (इसे चूंकि करेगा) में कारण देना अर्थ में है। कथं नु करिष्यति (कैसे करेगा भला?) में प्रश्न के बाद प्रश्न अर्थ में है। नन्वेतदकार्षीत् (क्या यह कर लिया?) में भी इसी अर्थ में है। नु का प्रयोग भी लौकिक संस्कृत में उपमा अर्थ में नहीं होता।

(१. ख) कर्मोपसङ्ग्रहार्थीय निपात। जिस निपात के आगम अर्थात् साक्षात् अथवा परोक्ष (बोद्ध) प्रयोग से पदार्थों में अलगाव ही जाना जाता है, उस रूप में नहीं जिस रूप में शब्दों का अलग-अलग प्रयोग करके उनके अर्थों का अलगाव जाना जाता है; क्योंकि उन पृथक्-पृथक् निर्दिष्ट शब्दों से तो उनके अलग-अलग, एक दूसरे से भिन्न, आकार या रूप के कारण ही उनके अर्थों का अलगाव जान लिया जाता है; अर्थात् जब शब्द अलग है, तो उसका अर्थ भी अलग ही होगा; वह निपात कर्मोपसङ्ग्रह कहलाता है।

अर्थों का पार्थक्य यों तो शब्दों के पृथक् होने से ही प्रतीत हो जाता है; परन्तु जो निपात उससे भिन्न प्रकार के पार्थक्य को प्रकट करता है, वह कर्मोपसङ्ग्रहार्थीय

१. उपमार्थे नकारस्तु क्वचिदेव निपात्यते।
मिताक्षरेषु अन्येषु प्रतिषेधे त्वनल्पशः॥ बृहद्देवता २।९२॥

२. द्र. निरुक्त १।४: पुरस्तादुपचारस्तस्य यत्प्रतिषेधति।...उपरिष्टादुपचारस्तस्य येनोपमिमीते। तु. ऋग्वेदानुक्रमणी ३।३।१२—१४:

बह्वर्थेषु द्रष्टो नञ् निषेधेऽथ समुच्चये ॥१२॥
सम्प्रत्यये इवार्थे च पूरणेऽपि च दृश्यते।
प्रयुज्यते न वाक्यादावुपमार्थ इति स्थितिः ॥१३॥
उपमायां निषेधे च दृश्यन्ते बहवो नञः।
तथा समुच्चयार्थीयाः .... ॥१४॥

होता है। **अहं, त्वं, स, देवदत्तः, यज्ञदत्तः** कहने में इन सब शब्दों के अर्थ अलग-अलग तथा परस्पर निरपेक्ष हैं, यह सहज प्रतीत हो जाता है। किन्तु **अहं च, त्वं च, स च देवदत्तश्च, यज्ञदत्तश्च**, या **अहं वा, त्वं वा, अहमेव, त्वमेव** कहने में भी इन सब शब्दों के अलग-अलग अर्थ हैं, यह तो प्रकट होता है; पर केवल इतना ही नहीं प्रकट होता, अपितु ये परस्पर सापेक्ष हैं, यह पिछले पार्थक्य से भिन्न प्रकार का––अर्थात् परस्पर सापेक्ष पार्थक्य—प्रकट होता है। अतः इस प्रकार के पार्थक्य को कहने वाले निपात अन्य पदों को परस्पर सापेक्ष बनाकर उनका उपसङ्ग्रहण (संयोजन) करने के कारण उपसङ्ग्रहार्थीय निपात कहलाते हैं।

१. **च** तथा २. **आ** निपात संयोजन (समुच्चय) अर्थ में हैं। इनमें से भी लौकिक संस्कृत में केवल **च** ही इस अर्थ में आता है। **च** दोनों संयोज्य पदों के पश्चात् भी प्रयुक्त होता है, तो किसी एक के साथ भी। वैदिक भाषा में पहले या दूसरे कोई-से भी एक पद के साथ प्रयुक्त होता है; किन्तु लौकिक संस्कृत में दूसरे शब्द के पश्चात् या दोनों शब्दों के पश्चात् आता है। वैदिक भाषा में किसी एक शब्द के बाद **च**, तो किसी एक के बाद **आ**—यों भी प्रयोग मिलते हैं। **अहं च त्वं च वृत्रहन्त्सं युज्याव** (ऋ. सं. ८।६२।११), **इन्द्रश्च विष्णो यदपस्पृधेथाम्** (ऋ. सं. ६।६९।८), **प्रेदु हव्यानि वोचति देवेभ्यश्च पितृभ्य आ** (ऋ. सं. १०।१६।११)।

३. **वा** निपात दोनों भाषाओं में ही प्रमुख रूप से विकल्प अर्थ में आता है; वैदिक में कभी-कभी समुच्चय (संयोजन) अर्थ में भी प्रयुक्त हो जाता है। **हन्ताहं पृथिवीमिमां निदधानीह वेह वा** (ऋ. सं. १०।११९।९), **इति वा इति मे मनो गामश्वं सनुयामिति** (ऋ. सं. १०।११९।१)। **वायुर्वा त्वा मनुर्वा त्वा** (तै. सं. १।७।७) में यह समुच्चयवाचक है। प्रयोग की दृष्टि से यह **च** के समान ही है; अर्थात् दोनों शब्दों के पश्चात् या उनमें से किसी एक के पश्चात् प्रयोग में आता है। जब किसी एक के बाद प्रयुक्त होता है, तब यह दूसरे शब्द के बाद आता है। **स्कन्दस्वामी** (भाग १, पृ० ५६) के मत में इसके विकल्प, संशय, पक्षव्यावृत्ति तथा आवृत्ति आदि अर्थ भी होते हैं।

४. **अह** और ५. **ह** निपात विशेष नियमन अर्थ में, अर्थात् एकाधिक पदार्थों में से किसी एक पर अधिक जोर देने के लिए, उन पदों में से प्रथम (जिस पर बल डालना है) के बाद प्रयुक्त होते हैं। **आदह स्वधामनु पुनर्गर्भत्वमेरिरे** (ऋ. सं. १।६।४; यहां **आद्**=अथ, **अह**=एव=इसके बाद ही अर्थात् फिर कभी नहीं अर्थ है।—स्कन्दस्वामी, भाग १, पृ० ५७, ५६)। **नाकस्य पृष्ठे अधितिष्ठति श्रितो यः पृणाति स ह देवेषु गच्छति** (ऋ. सं. १।१२५।५)। इन दोनों के लिए हिन्दी में ही निपात है। लौकिक के उदाहरण हैं: **अयमहेदं करोत्वयमिदम्** (यही यह करे, यह यह)। **इदं ह करिष्यतीदं न करिष्यति** (वह इसे ही करेगा, इसे नहीं)।

६. उ निपात है तो उपर्युक्त अर्थ में ही, परन्तु (यास्क का कहना है कि) यह बाद वाले शब्द के पश्चात् प्रयुक्त होता है। परन्तु वैदिक भाषा में तो यह विशेषता नजर नहीं आती। अतः स्यात् यास्क के समय की लौकिक संस्कृत में इस प्रकार बोला जाता हो! **तमू अकृण्वन्त्रेधा भुवे कम्** (ऋ. सं. १०।८८।१०), **प्र यात शीभमाशुभिः सन्ति कण्वेषु वो दुवः। तत्रो षु मादयाध्वै** (ऋ. सं. १।३७।१४), **वयमु त्वा दिवा सुते, वयं नक्तं हवामहे** (ऋ. सं. ८।६४।६)—इन सब स्थलों में इसका प्रयोग अह या ह के समान ही हुआ है। यह निपात पदपूरण भी है : **इदमु त्यत्पुरुतमं ज्योतिः** (ऋ. सं. ४।५१।१), **तदु प्रयक्षतममस्य कर्म** (ऋ. सं. १।६२।६)। लौकिक भाषा में उ का प्रयोग इन अर्थों में नहीं के बराबर ही होता है।

७. हि निपात अनेक अर्थों को बतलाता है। हेतु अर्थ में वैदिक और लौकिक—दोनों—भाषाओं में प्रसिद्ध है। **इन्द्रवायू इमे सुता उप प्रयोभिरागतम्। इन्दवो वामुशन्ति हि** (ऋ. सं. १।२।४), **अमी हि वीर्यप्रभवं भवस्य जयाय सेनान्यमुशन्ति देवाः** (कुमारसम्भव ३।१५)। अनुप्रश्न (दुर्ग - प्रश्न के बाद पुनः प्रश्न; स्कन्द-प्रश्न ही)=प्रश्न की ही पुष्टि में[1] : **कथं हि करिष्यसि** (श. ब्रा. १२।६।३।७)। प्रश्न के बाद दिये जाने वाले उत्तर में पृष्ट की पुष्टि में इसका प्रयोग होता है : **तमेव त्वं पश्यसीति; तं हि** (श. ब्रा. ३।६।२।४)। **कथं हि व्याकरिष्यति** (वह कैसे व्याख्या कर देगा!) में यास्क ने हि का अर्थ असूया बतलाया है। वस्तुतः हि यहाँ भी प्रश्न को ही पुष्ट करता है। प्रश्नकर्ता के प्रश्न का आधार असूया (दोष-दृष्टि) है। प्रश्न पर बल देने से भाव उभर कर सामने आता है। इस प्रकार हि असूया अर्थ में है। अकेले कथं से तो व्याख्या का प्रकार पूछना भी अभीष्ट हो सकता है। लौकिक में हि पादपूरण के रूप में भी आता है :

> **वीज्यते स हि संसुप्तः श्वास-साधारणानिलैः।**
> **चामरैः सुरबन्दीनां बाष्पशीकरवर्षिभिः॥** कुमारसम्भव २।४२॥
> **उमा वधूर्भवान्दाता याचितार इमे वयम्।**
> **वरः शम्भुरलं ह्येष त्वत्कुलोद्भूतये विधिः॥** कु. स. ६।८२॥

८. किल निपात ज्ञान की प्रसिद्धता को बतलाता है। यह वैदिक और लौकिक—दोनों—भाषाओं में प्रसिद्धिवाचक है : **स्वादुष्किलायं मधुमाँ उतायं तीव्रः किलायं रसवाँ उतायम्** (ऋ. सं. ६।४७।१), **पूर्वैः किलायं परिवर्धितो नः** (रघुवंश १३।३)। न और ननु निपातों के साथ प्रयोग में आकर यह प्रश्न की पुष्टि को अथवा प्रश्न को ही प्रकट करता है। वस्तुतः न वाले वाक्य में काकु से प्रश्न अर्थ जब आता है, तब ही किल साथ लगने से यह अर्थ प्रकट होता है। ननु ऋग्वेद

---

१. द्र. मैक्डानल्, वे. ग्रा. स्टू., २, पृष्ठ २५३।

संहिता में केवल दो बार आया है : **मायेत्सा ते यानि युद्धान्याहुर्नाद्य शत्रुं ननु पुरा विवित्से** (१०।५४।२), **उग्रं ते पाजो नन्वा रुरुध्रे** (वहीं ८४।३) । इन दोनों में यह निषेधार्थक है । हाँ, **ब्राह्मणों** में प्रश्न अर्थ में इसका प्रयोग कतिपय बार हुआ है। अतः इस समय इसके साथ **किल** लगने से प्रश्न की पुष्टि की बात स्वाभाविक है। लौकिक भाषा में ननु प्रश्नवाचक ही है; किन्तु **किल** के साथ इसका प्रयोग नहीं होता । ब्राह्मण ग्रन्थों में भी **ननु किल** का इकट्ठा प्रयोग अभी तक तो नहीं मिला है । अतः सम्भव है कि यास्क के समय बोलचाल में इस प्रकार प्रयोग होता हो ।

९. मा और **१०. खलु** निपात वैदिक और लौकिक दोनों भाषाओं में निषेधार्थक हैं। **मा ते सखायः सदमिद्रिषाम** (४।१२।५), **उ मेति मात्रा तपसो निषिद्धा** (कुमारस. १।२६), **माधवे मा कुरु मानिनि मानमये** (गीतगोविन्द ९।१)। **खलु** ऋग्वेदसंहिता में केवल एक बार (१०।३४।१४ में) पादपूरण (स्कन्द और सायण) अथवा जोर देने वाले निपात (मैक्डानल्[1]) के रूप में आया है। निषेध अर्थ में इसका प्रयोग समूचे वैदिक वाङ्मय में नहीं हुआ है । लौकिक संस्कृत में यह निषेधार्थक के रूप में कम और पादपूरण के रूप में अधिक प्रयुक्त होता है । यास्क के समय इसका दोनों तरह प्रयोग होता था । इसलिए उन्होंने अपनी भाषा (बोलचाल) के ही उदाहरण दिये हैं : **खलु कृत्वा** (बस करो), **एवं खलु तद् बभूव** (ऐसा हुआ) । पाणिनि ने भी इसे निषेधार्थक बताया है[2] । **खलु** के प्रयोग पर दुर्गाचार्य का यह कथन बहुत महत्त्वपूर्ण है कि इस प्रकार के निपातों का प्रयोग देश-देश की भाषाओं की अपनी व्यवस्था के अनुसार समझना चाहिए । इससे प्रतीत होता है कि निषेध अर्थ में **खलु** का प्रयोग सार्वत्रिक नहीं है । देशज भाषाओं से संस्कृत में अपना लिया गया है ।

११. शश्वत् लौकिक भाषा में विचिकित्सा अर्थ में है । दुर्ग और स्कन्द विचिकित्सा का अर्थ निश्चय मानते हैं[3] । वैदिक भाषा में **शश्वत्** पद का नाम (निघण्टु ३।१३ में बहुवाचक) और निपात (अव्यय) के रूप में भी प्रयुक्त हुआ है। वैदिक भाषा में प्रयोग नित्य अर्थ में मिलते हैं। स्वरूपतः यह **शश्वच्** से मिलता-जुलता नामपद ही है । जब इस का प्रयोग क्रियाविशेषण के रूप में होता है, तब नपुंसक लिङ्ग होने के कारण यह निपात जैसा प्रतीत होता है । ऋग्वेदसंहिता में

---

१. द्र. वे. ग्रा. स्टू., पृष्ठ २२७ । २. द्र. अष्टा. ३।४।१८ : **अलङ्खल्वोः प्रतिषेधयोः प्राचां क्त्वा** । ३. द्र. वृत्ति : **विचिकित्सा नाम विवेकपूर्वको ऽवधारणाभिप्रायः** । स्कन्दभाष्य : **विचिकित्सेति यद्यपि लोके सन्देह उच्यते, ...तथाऽपोहोदाहरणेष्वसम्भवान्न सन्देहो विचिकित्सोच्यते; किन्तर्हि ? निश्चयः** । यास्क ने अवश्यार्थक **नूनम्** का अर्थनिर्देश उसे विचिकित्सार्थीय बता कर किया है; अतः लगता है यास्क के समय विचिकित्सा का अर्थ निश्चय ही था ।

शश्वत् के रूप में इसका प्रयोग कुल बाईस बार तथा अन्य विभक्तिप्रत्ययान्त नाम पदों के रूप में कुल छयालीस बार हुआ है। अतः वैदिक में इसे निपात मानना कठिन है। जो भी हो, यास्क इसे निपात ही मानते हैं। उनका कहना है कि इसका प्रयोग एक अन्य निपात **एवम्** के साथ होता है। जब **एवं** का प्रयोग **शश्वत्** से पहले (**एवं शश्वत** के रूप में) होता है, तब इस समुदाय का अर्थ अस्वयम्पृष्ट होता है; और जब **शश्वत्** के बाद **एवम्** आता है, तब अनुप्रश्न अर्थ होता है।

१२. **नूनम्** निपात लौकिक संस्कृत में निश्चय (अवश्य ही) अर्थ में है तथा वैदिक भाषा में निश्चयार्थक और पादपूरण के रूप में प्रयुक्त हुआ है। वस्तुतः वैदिक भाषा में यह इस अर्थ में प्रयुक्त नहीं हुआ है। वहां इसका अर्थ है : **अब**। निश्चय अर्थ में प्रयोग **ब्राह्मणग्रन्थों** में, या अधिक-से-अधिक **अथर्ववेदसंहिता**(४।१।६) में, मिलता है। यास्क ने भी ऋ. सं. १।१७०।१ के व्याख्यान में **नूनम्** का अनुवाद **अद्यतनम्** से ही किया है।

१३. **सीम्** निपात चारों ओर अर्थ में है, या पादपूरण है। लौकिक में इसका प्रयोग नहीं होता। वस्तुतः यह **इदमर्थक** अव्यय **ईम्** की तरह **स** (**तद्**) के अर्थ में एक अव्यय है। यास्क द्वारा चारों ओर या पादपूरण के उदाहरण के रूप में प्रस्तुत **प्र सीमादित्योऽसृजत्** (ऋ. सं. २।२८।४) में भी **सीम्** अव्यय सर्वनाम के रूप में ही प्रयुक्त हुआ है। **परि सीं नयन्ति** (ऋ.सं. १।९५।२) में परिग्रहार्थक उपसर्ग **परि** से अलग पठित **सीम्** का अर्थ भी यदि परिग्रह ही मानें, तो पुनरुक्त मात्र होता है, जब कि वस्तुतः यह अग्नि के लिए सर्वनाम के रूप में प्रयुक्त हुआ है। इसीलिए यास्क ने अपने दूसरे उदाहरण **विसीमतः** (वा. सं. १३।३) की व्याख्या में **सीम्** को नाम पद मान कर उससे **अतः** प्रत्यय की बात कही है। नाम पद के रूप में भी **सीम्** यास्क के मत में परिग्रहार्थक (सीमा का पर्याय) ही है। सम्भवतः यास्क **भागुरि** आचार्य के सिद्धान्त (हलन्त शब्दों में स्त्रीलिङ्गता लाने के लिए **आ** प्रत्यय लग जाता है[1]) का अनुसरण करते हुए **सीम** का ही परिवर्धित रूप **सीमा** मानते हैं, और इसीलिए उन्होंने इसका अर्थ परिग्रह बतलाया है।

त्व पद नाम है या निपात

त्व पद नाम है, या निपात, इस विषय पर आचार्यों में मतभेद है[2]। आचार्य यास्क का मत है कि **त्व** पद विनिग्रह अर्थ में सर्वनाम (नामपदों का एक भेद) है

---

१. तु. वष्टि भागुरिरल्लोपमवाप्योरुपसर्गयोः ।
आपं चैव हलन्तानां यथा वाचा निशा दिशा ॥

२. द्र. शौनक, बृहद्देवता २।११४। पदजातिरविज्ञाता त्वः पदे ।

एवम् अनुदात्त है[1]। आचार्य यास्क का आशय यह है कि त्व पद यदि निपात है, तो इसे व्याकरण के नियम के अनुसार उदात्त होना चाहिए[2] न कि अनुदात्त। यदि नाम है, तो भी व्याकरण के औत्सर्गिक नियम के अनुसार इसे उदात्त ही होना चाहिए[3]। अतः स्वर के आधार पर कहा जा सकता है कि औत्सर्गिक रूप से न यह निपात के स्वर से युक्त है और न नाम के स्वर से ही। किन्तु स्वरप्रतिपादक अपवादशास्त्र के अनुसार **सम** तथा **सिम** सर्वनामों के साथ त्व भी अनुदात्त के रूप में विहित है[4]। साहचर्य नियम के अनुसार सर्वनामों के साथ पठित त्व भी सर्वनाम ही होना चाहिए।

इस विषय पर आचार्य यास्क ने (१।७ में) किन्हीं अन्य आचार्य का मत उद्धृत किया है—**अर्धनामेत्येके**। अर्थात् त्व पद अर्द्ध (आधा) अर्थ में सर्वनाम है। इन आचार्य का आधार भी उपर्युक्त स्वरप्रतिपादक अपवाद शास्त्र ही प्रतीत होता है। इस सूत्र में पठित नेम, सम तथा सिम अर्द्धवाचक सर्वनाम हैं, अतः उनके साथ पठित त्व भी अर्धार्थक सर्वनाम है। यास्क ने भी एक जगह (३।२० में) इसे अर्धवाचक नाम बताया है। हमारा विचार है कि यहाँ तथा यास्क के उपर्युक्त स्थल में नाम (व्यापक शब्द) का प्रयोग किया गया है। सर्वनाम भी तो नाम ही हैं। किन्तु दुर्गाचार्य के अनुसार त्व सर्वनाम है, यह एक मत है एवं यास्क के मत में तथा एकीय मत के अनुसार त्व नाम है[5]।

कुछ लोग त्व पद को अनुदात्त होते हुए भी निपात ही मानते हैं। आचार्य यास्क इस मत में विसङ्गति देख कर इस मत से सहमत नहीं हैं।

प्रथम विसङ्गति तो यही है कि निपात अनुदात्त नहीं होते। अतः 'तत्=तस्मात् (त्व इति पदं निपात उच्यते खल्वितरेण), कथम्=केन प्रकारेण, अनुदात्तप्रकृति (अनुदात्ता प्रकृतिर्यस्य, तथाविधम्) नाम=खलु स्यात्'? यह प्रश्न किया है आचार्य यास्क ने। दुर्गसिंहोक्त इस व्याख्यान में 'नाम' शब्द वाक्यपूरण के लिए प्रयुक्त हुआ है।

परन्तु यह व्याख्यान कोई बहुत उचित नहीं प्रतीत होता। निपात सभी उदात्त होते हैं, यह तो वस्तुतः है भी नहीं। च, उ, वा, इव, घ, ह, चित्, स्म आदि

---

१. द्र. निरुक्त, १।७ : **त्व इति विनिग्रहार्थीयं सर्वनामानुदात्तम्।**

२. द्र. फिट्सूत्र ४।१२ **निपाता आद्युदात्ताः।**

३. द्र. वही १।१। **फिषोऽन्त उदात्तः।**

४. द्र. वही, ४।१९। **त्वत्त्वनेमसमसिमेत्यनुच्चानि।**

५. द्र. दुर्गटीका १।७।५। **तदेतत्करणोपपदाभ्यामवसेयं क्वार्द्धनाम, क्व सर्वनामेति।**

बहुत से निपात अनुदात्त हैं[1]। त्व भी उन्हीं की तरह अनुदात्त हो सकता है।

हमारे मत में तत्कथमनुदात्तप्रकृति नाम स्यात् पङ्क्ति को निपात इत्येके के हेतुवाक्य के रूप में निम्नलिखित प्रकार से लगाना चाहिए : तत् (कथय) अनुदात्त-प्रकृति (सदिदं पदं) नाम=नामपदं, कथं स्यात् (नामानि तूदात्तान्येव भवन्तीति) ? अर्थात् तत्=तो, अनुदात्त नामपद कैसे हो सकता है, चूंकि त्व अनुदात्त है, अतः निपात है।

इसका उत्तर देते हुए यास्क ने कहा है : दृष्टव्ययन्तु भवति। अर्थात् नामपद अनुदात्त हों या न हों, किन्तु विभक्तिवचनान्त रूपों में अवश्य मिलते हैं। नामपद की पहिचान उदात्त होना या अनुदात्त होना—स्वर—नहीं है, अपितु व्ययुक्त होना है। निपात अव्यय हैं। त्व सव्यय है। एतावता ही यह निपात नहीं हो सकता।

ऋग्वेदसंहिता में पुंल्लिङ्ग त्व (अनुदात्त) पद का प्रथमा एक वचन में प्रयोग कुल दस बार[2], द्वितीया एकवचन में कुल ग्यारह बार[3], तृतीया एकवचन में त्वा अनगिनत बार त्वेन दो बार (४।१८।२ में), चतुर्थी एकवचन में त्वस्मै एक बार (१०।७१।४), प्रथमा बहुवचन में त्वे तीन बार (१०।७१।७ और ८); नपुंसकलिङ्ग प्रथमा एकवचन में त्वत् दो बार (७।१०३।३); स्त्रीलिङ्ग चतुर्थी एकवचन में त्वस्यै एक बार (१०।५४।१) हुआ है।

यास्क ने भी जो (ऋ. सं. १०।७१।४,५,७,११,१३) उदाहरण दिये हैं, उन सब में त्व (अनुदात्त) सर्वनाम के रूप में ही प्रयुक्त है; सर्वनामेतर नाम के रूप में नहीं। अर्द्धनामेत्येके और त्वो नेमेत्यर्धस्य में नाम से सर्वनाम भी इष्ट है। अतः त्व सर्वनाम है, निपात नहीं—यास्क का सिद्धान्त यही प्रतीत होता है।

१४. त्वत् संयोजक निपात है। यास्क ने इसका उदाहरण पर्याया इव त्वदाश्विनम् (कौषीतकि ब्राह्मण १७।४) से दिया है। हमारे विचार में सप्तभिः पुत्रैरदितिरुप प्रैत्पूर्व्यं युगम्। प्रजायै मृत्यवे त्वत्पुनर्मार्ताण्डमाभरत्। (ऋ. सं. १०।७२।९) में त्वत् समुच्चयार्थक निपात ही है। ऐतिहासिक दृष्टि से यह निपात इतना पुराना है कि ऋग्वेद-काल में ही इसका प्रचलन स्वल्प हो गया था।

---

१. माधव (ऋग्वेदानुक्रमणी ३।१।११) के अनुसार बारह निपात अनुदात्त हैं।

२. द्र. त्वः (१-२) १।१४७।२, (३) १५२।२; (४) ८।१००।३, (५-६) १०।७१।४, (७-१०) ११।

३. द्र. त्वम् (१) १।११३।५, (२-५) ६; (६) ४।१३।१३; (७-८) ८।३७। ६; (९) १०।७१।५, (१०) ८, (११) ८५।२६।

एकाधिक निपातों के संयोग से कई नये निपात भी बदले हुए अर्थ में प्रचलित हो जाते हैं। समास में दो स्वतन्त्र पदों के मेल से जैसे एक नया समुच्चित अर्थ निकलता है, वैसे ही दो स्वतन्त्र निपातों के इकट्ठे प्रयोग से उनके अर्थों के मेल के कारण एक नया अर्थ निकलता है[1]। एकाधिक निपातों का यह संयोग वैदिक भाषा के बहुत प्राचीन काल में ही हो चुका था, यह बात इस तथ्य से सिद्ध होती है कि बहुत से निपातों के बारे में पदपाठकार शाकल्य के समय से भी पूर्व से ही मतभेद रहे हैं कि वे एकाधिक निपातों के संयोग से बने हुए (एक) निपात हैं, अथवा दो स्वतन्त्र निपात ही हैं। उदाहरण : नहि<न+हि है, या एक ही है—इस पर ऋग्वेदीय और यजुर्वेदीय विद्वानों में मतभेद है। ऋग्वेदीय शाकल्य इसे एक मानते हैं, अतः इसमें अवग्रह नहीं करते, पर यजुर्वेदीय इसमें दो स्वतन्त्र निपात मानते हैं। अतः संयोगज निपात के दोनों अवयवों में अवग्रह करते हैं। ब्राह्मणों में तो यह दो स्वतन्त्र निपातों के रूप में ही प्रयुक्त हुआ है[2]। यही स्थिति हिकम् की है। ननु (अन्तोदात्त) को शाकल्य और यास्क एक ही निपात मानते हैं। ब्राह्मणों में यह आद्युदात्त के रूप में प्रयुक्त हुआ है। स्वरूपतः यह न+नु<ननु लगता है। न+इत्>नेत् (नहीं तो,ऐसा न हो कि) एक निपात के रूप में है, यह शाकल्य और यास्क मानते हैं। च+इत्>चेत् (यदि), च+न>चन (भी नहीं, कालान्तर में भी) इसी प्रकार के संयोगज निपात हैं।

यास्क ने निरुक्त में सार्थक निपातों के रूप में कुल तेतीस निपात लिए हैं तथा उनके पन्द्रह अर्थ बताए हैं : १ अनुपृष्ट (न, न किल, न चेत्, ननु, ननु किल शश्वदेवम्), २ अवकुत्सित (चित्), ३ असूया (हि), ४ अस्वयम्पृष्ट (स्कन्व—अस्वयन्दृष्ट; एवं शश्वत्), ५ उपमा (इव, चित्, न, नु), ६ परिग्रह (सीम्), ७ परिभय (नेत्), ८ पूजा (चित्), ९ प्रतिषेध (खलु, न, मा), १० विचारण (वा), ११ विचिकित्सा (नूनम्, शश्वत्), १२ विद्या-प्रकर्ष (किल), १३ विनिग्रह (अह, उ, त्व, ह) १४ समुच्चय (आ, च, त्वत्, वा), और १५ हेत्वपदेश (नु, हि)।

निरर्थक अर्थात् पादपूरण निपात। अमित अक्षर वाले ग्रन्थों में अर्थात् जहाँ अक्षरों की गिनती नहीं की जाती, ऐसे गद्यबद्ध ग्रन्थों में वाक्य में स्थित (निपातातिरिक्त) पदों से ही जब प्रकृत अर्थ परिसमाप्त हो चुकता है, अर्थात् वाक्यार्थपूर्ति के लिए जहाँ नाम, आख्यात तथा उपसर्गों से अतिरिक्त पदों (निपातों)

---

१. पृथगर्था निपातेषु सङ्गतेषु प्रदर्शयेत्। ऋ. प्रा. ३।२।१ ॥
यथा समासे पदयोरैकार्थ्यमुपजायते।
नञो हेश्च तथैकार्थ्यंन्नहीत्यत्रोपजायते ॥वहीं १०॥

२. द्र. मॅक्डानल्, वे. ग्रा. स्टू., पृष्ठ २८७। ३. द्र. ऋ. प्रा. ३।२।२ ॥

की अपेक्षा नहीं रहती, वहाँ प्रयुक्त निपात अर्थ में सहायक नहीं होते। वे केवल वाक्य की पूर्ति के लिए, वाक्यालङ्कार के लिए ही प्रयुक्त होते हैं। वही निपात जब मित अक्षरों वाले अर्थात् जहाँ अक्षरों की गिनती की जाती है, इस प्रकार के छन्दोबद्ध ग्रन्थों में आते हैं, तब पाद की पूर्ति, अक्षरसङ्ख्या की पूर्ति, के लिए आते हैं। गद्यबद्ध तथा छन्दोबद्ध—दोनों ही प्रकार के—ग्रन्थों में ये वाक्यपूरण या पादपूरण निपात स्वयम् अनर्थक ही होते हैं[1]।

इस प्रकार के पादपूरण निपातों की सङ्ख्या चार है : १ कम्, २ ईम्, ३ इत् ४ उ यों, ये भी जब इनका अर्थ करना असम्भव ही हो, अर्थ सूक्ष्म हो, वाक्यार्थ में इनके अर्थ से कोई विशेष उपकार न होता हो, तभी अनर्थक होते हैं[2]। यदि सम्भव हो, तब तो अर्थवान् ही रहते हैं। अर्थ की सम्भावना न होने पर **स्थितस्य गतिश्चिन्तनीया** न्याय से पादपूर्ति ही इनका प्रयोजन माना जाता है।

यों, इव, खलु और नूनम् और सीम् भी पादपूर्ति के लिए प्रयुक्त कर दिये जाते हैं; पर ये प्रायोवृत्ति से हो सार्थक प्रयुक्त होते हैं तथा कभी-कभार ही निरर्थक, पादपूरण के रूप में प्रयुक्त होते हैं। किन्तु कम्, ईम्, इत् और उ प्रायोवृत्ति से निरर्थक हैं तथा कदाचित् ही सार्थक होते हैं।

माधवभट्ट ने (ऋग्वेदानुक्रमणी ३।१।१४ में) इनके अतिरिक्त १ अथ, २ अध, ३, आत्, ४ उत्, ५ उत, ६ किल, ७ घ, ८ च, ९ चित्, १० न, ११ नाम, १२ वै, १३ स्म, १४ ह निपात भी इसी कोटि के गिनाये हैं।

पादपूर्ति के लिए निम्नलिखित २३ निपात प्रयुक्त होते हैं : १ अथ, २ अध ३ आत्, ४ इत्*, ५ इव*, ६ ईम्*, ७ उ*, ८ उत्, ९ उत, १० कम्*, ११ किल, १२ खलु*, १३ घ, १४ च १५ चित्, १६ न, १७ नाम, १८ नु* १९ नूनम्*, २० वै, २१ सीम्*, २२ स्म २३ ह। इनमें में से ताराङ्कित नो पदपूरण निपात यास्कोक्त हैं, शेष चौदह माधवभट्टोक्त हैं।

निपात : सङ्ख्या

यास्क ने इस प्रकरण में कुल तेईस निपात गिनाये हैं : १ अह, २ आ, ३ इत्, ४ इव, ५ ईम्, ६ उ, ७ उत्, ८ कम्, ९ किल, १० खलु, ११ च, १२ चित्, १३

---

१. ऊनानां पूरणार्था वा पादानामपरे क्वचित्।
मिताक्षरेषु ग्रन्थेषु पूरणार्थास्त्वनर्थकाः॥
कमीमिद्विति विज्ञेया ये त्वनर्थकाश्च ते॥ (बृहद्देवता २।९०-९१॥

२. स्फुटत्वोद्ग्रहणाविश्च क्वचित् सूक्ष्मः क्वचित् स्फुटः।
यत्र स्फुटास्तदा सार्थाः सूक्ष्मे स्युः पूरणा इति॥ ऋ. अ. ३।१। १८॥

३. माधवभट्ट, ऋग्वेदानुक्रमणी, ३।१।२०-२६।

स्वत्, १४ न, १५ ननु, १६ नु, १७ नूनम्, १८ मा, १९ वा, २० शश्वत्, २१ सीम्, २२ ह और २३ हि । कुछ लोग स्व को भी निपात मानते हैं, पर यास्क नहीं मानते। इनके अलावा १ नेत्, २ नो, ३ चेत्—ये तीन संयुक्त निपात भी हैं।

कात्यायन ने शुक्लयजुः प्रातिशाख्य (२।१६) में चौदह अनुदात्त निपात दिये हैं; उनमें से १ समस्माद्, २ घ, ३ स्म, ४ मर्याः, ५ अरे, ६ स्विद् निपात यास्क के निपातों में नहीं है। इनमें से १ स्म का तो यास्क ने १।३ में ही प्रयोग किया है। २ स्विद् ३।१५ और ११।२८ में कि के साथ आया है, जहां उन्होंने इसका कोई अर्थ नहीं दिया है। इससे लगता है कि वे या तो इसे अनुपृष्टार्थक मानते हैं, या पादपूरण। शेष ४ निपात निरुक्त में नहीं मिलते। १ समस्माद् ऋग्वेद संहिता में एक वार—उरुष्या णो अघायतः समस्माद् (५।२४।२ में) आया है। यह पद निपात नहीं, अपितु सर्वनाम है। अन्य विभक्तियों में इसका प्रयोग चतुर्थी एकवचन में—समस्मै (वहीं ६।५१।६ में), षष्ठी एकवचन में - समस्य (वहीं ६।२७।३, ४२।४, ५३।८; ८।७५।६; ९।२९।५, ६१।३०; १०।२९।४, ५४।३ में), सप्तमी एकवचन में-समस्मिन् (ऋ. सं ८।२१।८ में)। २ मर्याः (सर्वानुदात्त) ऋ. सं. में दो बार (१।६।३ और ८।४५।३७ में) सम्बोधन बहुवचन के रूप में ही आया है। अतः इसे भी निपात मानना कठिन है। ३ घ निपात ह के ही अर्थ में या पादपूरण के रूप में ऋग्वेद-संहिता में पचहत्तर बार आया है। हां, ब्राह्मणों में कुल १८ बार ही और कल्पसूत्रों में तो और भी कम आया है। अतः यास्क इसे निपात के रूप में नहीं जानते, यह सोचना हिमाकत है! अलबत्ता, यह कहा जा सकता है कि ऋग्वेद के बाद से ही क्रमशः घटती हुई महत्ता के कारण भाषा से लुप्त होते जा रहे इस निपात को महत्त्व देना यास्क ने आवश्यक नहीं समझा हो। ४. अरे निपात अवश्य है; किन्तु शतपथ और जैमिनीय ब्राह्मणों से पहले नहीं मिलता। शतपथ के भी अपेक्षाकृत प्राचीन अंश में केवल एक बार (२।४।४।४ में) तथा अर्वाचीन अंश (बृहदारण्यक) में ३५ बार[1] तथा जैमिनीयब्राह्मण (५३) में एक वार प्रयुक्त हुआ है।

ऋग्वेदानुक्रमणी (३।१।१-१२) में माधव भट्ट ने ऋग्वेदसंहिता में प्रयुक्त निपातों की सङ्ख्या १३० बताई है :—

आद्युदात्त निपात :—१. खलु, २. कामम्, ३. वै, ४. पृथक्, ५. न, ६. अच्छा, ७. सचा, ८. पुनः, ९. शश्वत्, १०. नक्तम्*, ११. दिवा*, १२. माकिः,

---

१. ब्र. १३।५।२।१८ (दो बार); १४।५।४।४, ५ (बारह बार), १०, १२ (दो बार), १४ (दो बार), १६, ७।२, ६ (सात बार), १३ (दो बार), १५ (दो बार), २५ (दो बार)।

१३. यथा, १४. इत्, १५. इति, १६. मदम्*, १७. मुहुः, १८. आत्, १९. अथ, २०. अध, २१. मिथु[1], २२. शीभम्, २३. वृथा, २४. सम्, २५. ज्योक्[2], २६. ऋधक्[3], २७. वृथक्,[4] २८. किल, २९. हन्त, ३०. नहि, ३१. नु, ३२. अह, ३३. अथो, ३४. यदि, ३५. नमस्[5], ३६. नाम, ३७. इदा[6], ३८. श्वः, ३९. वषट्, ४०. स्वाहा, ४१. नाना, ४२. जोषम्, ४३. स्मत्, ४४. अन्तिकम्*, ४५. शनैः, ४६. सामि, ४७. हि, ४८. मा, ४९. बस्ति[7], ५०. भूयः*, ५१. तूयम्, ५२. मृषा, ५३. ह्यः, ५४. अत्, ५५. नकीम्, ५६. वस्तोः*; अन्तोदात्त निपात :—५७. ननु, ५८. नूनम्, ५९. स्वयम्, ६०. पुरा, ६१. उत, ६२. अपि, ६३. एव, ६४. मक्षु, ६५. इत्था, ६६. पश्चात्, ६७. एवम्, ६८. अमा, ६९. तिरः, ७०. प्रातः, ७१. उच्चा*, ७२. अङ्ग, ७३. सुष्ठु, ७४. अद्धा, ७५. कुवित्, ७६. सद्यः, ७७. इह, ७८. मिथः, ७९.

---

१. ऋ. प्र. ३।१।३ में मिथू है।

२. श्लोक में जोक् है, श्री कुञ्जन्नि राजा ने (परिशिष्ट १, पृ. XLVI में) ज्योक् दिया है। ऋ. सं. में भी ज्योक् ही है, जोक् नहीं।

३. मूल तथा परिशिष्ट १की टिप्पणियों में ऋयक् ही है; पर ऋ.सं. में ऋयक् नहीं मिलता, ऋधक् है। दक्षिण की लिपियों में य और ध को एक-सा ही लिखने के कारण शायद यह भ्रम रह गया है। ऋ. प्र. का पाठ टूटने से श्लोक का एक पाद नहीं मिलता तथा इसमें ५ निपात नष्ट हो गये हैं। श्री राजा ने परिशिष्ट (प्रथम में) १. हिरुक्, २. श्रोषट् (वस्तुतः श्रौषट् होना चाहिए), ३. अरम्, ४. बट् और ५. सु दे कर सङ्ख्या पूरी की है। उन्होंने इनको देने का आधार नहीं बताया।

४. मूल में यहाँ (श्लोक ३ में) और आगे (श्लोक ५ में) वषट् दिया है। इनमें से एक जगह ही उचित है। श्री राजा ने यहाँ वृथक् (ऋ. सं. ८।४३।४ में दो बार प्रयुक्त) दिया है, पर इसका हेतु नहीं दिया है।

५. मूल में नमस्ते है।

६. मूल (श्लोक ५) में यहाँ नामेदाश्वो वषट् पाठ है। श्री राजा ने टिप्पणियों में नाम, उत्, आशु, वषट् दिया है। इस अन्तर का कारण उन्हों ने नहीं बताया है, जिसके अभाव में उनका परिगणन किसी को भी स्वीकार नहीं हो सकता।

७. मूल में छपा है। ऋ. सं. के अनुरोध से पवर्गीयादि पाठ ही ठीक है। श्री राजा ने भी वहीं माना है। यहाँ भी एक पाद टूट गया है। श्री राजा ने बिना कारण बताए ही बस्ति के बाद १. माकीम्, २. आकीम्, ३. सना, ४. अति, ५. तात् भरे हैं।

साकम्, ८०. आरात्*, ८१. सह[1], ८२. चिरम्[2], ८३. अन्तर्[3], ८४. आशु, ८५. सनात्, ८६. ऋते, ८७. अन्तरा, ८८. सनुतर्, ८९. स्वस्ति, ९०. चन, ९१. आरे*, ९२. अद्य, ९३. आनुषक्[4], ९४. दोषा, ९५. सायम्, ९६. हिरुक्, ९७. सत्रा, ९८. हुरुक्, ९९. पराचैः, १००. शनकैः, १०१. मिथुया[5], १०२. सस्वः, १०३. ओषम्[6] १०४. सना[7]; स्वरित निपात :—१०५. स्वः, १०६. क्व; सर्वानुदात्त निपात :—१०७. सीम् १०८. उ, १०९. दुः ११०. स्वित्, १११. स्म, ११२. वा, ११३. ह, ११४. इव, ११५. चित्, ११६. ईम्, ११७ घ और ११८. च[8]।

१. श्री राजा : अह । ऋ. सं. में यह आद्युदात्त ही है । अतः यहाँ परिगणन अनुचित है । २. मूल (श्लोक ८) में तिरम् है । ऋ. सं. में ऐसा कोई निपात नहीं है । श्री राजा ने चिरम् दिया है ।

३. मूल (श्लोक ८) में अन्तराशु सनादृते पाठ है । श्री राजा ने अन्तरा यहाँ तथा आगे (द्र. ८७) भी दिया है । पादारम्भ (अन्तरा सनुतः स्वस्ति, श्लोक ८, तीसरा पाद) में वहाँ तो अन्तरा ही है । अतः यहाँ अन्तर् सन्धिच्छेद करना उचित है । ४. श्री राजा ने श्लोक ८, पाद ४ के पुनः को संयोजक न मान कर स्वतन्त्र निपात माना है । पर यह आद्युदात्त होने से यहाँ सङ्ग्राह्य है ही नहीं ।

५. श्री राजा ने शनकैर्मिथुया तथा (श्लोक ९, पाद ४) के तथा को संयोजक न मान कर स्वतन्त्र निपात माना है । यद्यपि यह निपात है, तथापि इसका यहाँ (अन्तोदात्तों के प्रकरण में)परिगणन अस्थाने है, क्योंकि यह ऋ. सं में सर्वत्र आद्युदात्त ही है । ६. मूल में सस्वरोषं सना (श्लोक १०, पाद १) को श्री राजा ने न जाने क्यों १. सस्वः, २. ईशात् (?) और ३. अना (?) में तोड़ा है ? सस्वः ऋ. सं. में दो बार आया है : (१) १।८८।५ में; यहाँ सायण ने इसका अर्थ अन्तर्हितम् किया है और (२) ५।३०।२ में इसे √स्वृ शब्दोपतापयोः (धा. पा. भ्वा. ९३२) के (कर्तरि) लङ्, ए. व. का रूप बताया है । अतः निश्चित रूप से नहीं कह सकते कि ऋ. सं. में यह निपात के रूप में आया है कि नहीं । ओषम् एक बार (ओषमित् पृथिवीमहं जङ्घनानीह वेह वा १०।११९।१० में) आया है ; सायण ने इसका अर्थ स्वतेजसा तापकमादित्यम् किया है । ७. सना आद्युदात्त होने से यहाँ सङ्ग्रहणीय नहीं है ।

८. नष्ट किन्तु श्री राजा के बताये (द्र. टि. ३ और ७) दस निपातों को मिला कर यह सङ्ख्या १२८ ही हो पाती है । श्री राजा ने पुनः (द्र. टि. ११) और तथा (टि. १२) को भी यहाँ माना है, जिससे उन्होंने सङ्ख्या तो पूरी कर दी, पर उचित नहीं होने से हमने उन निपातों को ऊपर नहीं जोड़ा है । अतः हमारी सङ्ख्या अधूरी रहती है । वस्तुतः सना (१०४) को भी निकाल देने (द्र. टि. १४) से यह सङ्ख्या १२७ ही रह जाती है ।

इनमें से बहुत-से (तारकाङ्कित) शब्दों को तो द्रव्यार्थक होने के कारण निपात मानना कठिन है। हां, वे पद अव्यय अथवा किसी विशिष्ट विभक्ति में ही प्रतिनियत हैं, इतना अवश्य है। अतः हम इनमें से सबको निपात नहीं मान सकते। फलतः निपातों की इयत्ता का प्रश्न अनिर्धारित ही रहता है। यों भी, यह सङ्ख्या तो माधवभट्ट ने केवल ऋग्वेदसंहिता में प्रयुक्त निपातों की बताई है। अन्य संहिताओं में, ब्राह्मणों में, तथा लौकिक संस्कृत के समस्त वाङ्मय में प्रयुक्त निपातों की बड़ी सङ्ख्या इस परिगणन से सर्वथा अछूती ही रह जाती है। अतः इस सन्दर्भ में आचार्य शौनक के स्वर में स्वर मिलाकर हम अभी तो इतना ही कहेंगे कि—

इयन्त इति सङ्ख्यानं निपातानां न विद्यते।
वशात्प्रकरणस्यैते निपात्यन्ते पदे-पदे ॥ बृहद्देवता २।९३ ॥

निपातानामर्थवशान्निपातनादनर्थकानामितरे च सार्थकाः।
नेयन्त इत्यस्ति सङ्ख्येह वाङ्मये मिताक्षरे चाप्यमिताक्षरे च ॥

ऋ. प्रा. १२।२६ ॥

दो क्लिष्ट पङ्क्तियों की व्याख्या

निपात प्रकरण के अन्त में अब हम इस प्रकरण की दो क्लिष्ट पङ्क्तियों की व्याख्या करना समुचित एवं प्रसङ्गप्राप्त समझते हैं।

प्रथम पङ्क्ति है : **अथ यस्यागमादर्थ-पृथक्त्वमह विज्ञायते, न त्वौद्देशिकमिव विग्रहेण पृथक्त्वात्, स कर्मोपसङ्ग्रहः ॥१.४॥**

यों तो **कर्मोपसङ्ग्रह** का अर्थ हम पीछे (पृष्ठ १८१ पर) बता आये हैं, पर वहां समुचित प्रसङ्ग न होने के कारण इसकी व्याख्या के सन्दर्भ में विद्यमान मतभेदों की चर्चा हम वहां नहीं कर सके हैं; अतः यहां कर रहे हैं।

आचार्य दुर्ग : साक्षात् अप्रयुक्त (अश्रूयमाणस्य) जिस निपात का अध्याहार करके (समस्त पद के) समान रूप, विभिन्न रूप, या एक शेष के कारण अर्थ की दृष्टि से (उस समस्त पद के अवयव रूप पदार्थों का) अलगाव ही जाना जाता है—**देवदत्त-यज्ञदत्तौ** (यह दो विरूप शब्दों का समास है, इसका अर्थ है) **देवदत्तश्च यज्ञदत्तश्च** (अर्थात् देवदत्त और यज्ञदत्त)। यहां देवदत्त और यज्ञदत्त—दोनों—(साक्षात्) श्रुत हैं। किन्तु, इन दोनों का पृथक्-पृथक् करके निर्देश करने से प्रतीत होने वाला अलगाव, जो कि बैलों को, घोड़ों को, पुरुषों को, पशुओं को—इस प्रकार हरेक को नाम लेकर (अलग-अलग) कहने से प्रतीत होता है, वह नहीं प्रतीत होता। यहां (समस्त पद में) तो विग्रह करके च (और) शब्द का अध्याहार करने से यह अलगाव (शब्द से प्रकट न होकर) अतिरिक्त रूप में पैदा हो जाता है। इसलिए दो या बहुत पदार्थों का अलग-अलग करके ग्रहण > विग्रह (होता है)। वह (अलग-अलग

करके ग्रहण) ही अलगाव के कारण उपलक्षित होता हुआ चूँकि दो या बहुत-से पदार्थों को लेकर एक कर्म (कार्य) में समेट (कर लगा) देता है; जैसे—**देवदत्त-यज्ञदत्तौ पचेते** (देवदत्त–यज्ञदत्त पका रहे हैं) इस रूप में (यहाँ अश्रुत किन्तु अध्याहृत **च** [और] दोनों जनों को पाकरूप एक कार्य में अन्वित कर देता है); अतः यह कर्मोपसङ्ग्रह कहलाता है। अथवा **बृहस्पतिश्च** (और बृहस्पति) कहने पर-दूसरा—**प्रजापति**—उक्त न होते हुए भी जाना जाता है : **प्रजापतिश्च** (और प्रजापति)। वह (कर्मोपसङ्ग्रह) कौन-सा है ? बतलाते हैं —**च** है। कभी-कभी यही (**च**) संयोजन अर्थ में अलग-अलग कर के कहे गये दोनों पदार्थों के ही साथ प्रयुक्त होता है—**अहं च त्वं च**....[1]।

दुर्ग के इस लम्बे व्याख्यान का सार यही है कि १. वे **कर्मोपसङ्ग्रह** निपात से केवल **संयोजक** निपात को ही लेते हैं। २. उनकी दृष्टि में (द्वन्द्वान्त) समस्त पदों में जिस **च** का अध्याहार किया जाता है, वही कर्मोपसङ्ग्रह निपात है।

हमारी दृष्टि में यह व्याख्यान उचित नहीं है। क्योंकि :—

१. **समुच्चय** अर्थ कोई ऐसा दुरूह अर्थ नहीं है कि यास्क इतना बड़ा वाक्य लिखकर उसकी व्याख्या करते। केवल **समुच्चय** शब्द ही इस के लिए पर्याप्त होता।

२. **उपमार्थीय** निपातों के बाद **कर्मोपसङ्ग्रहार्थीय** निपातों का अधिकार प्रारम्भ होता है, उसके बाद **पदपूरण** निपातों का। अतः यहाँ **च** से लेकर **त्वत्** तक कर्मोपसङ्ग्रहार्थीय निपातों का ही वर्णन प्रसङ्गप्राप्त है। कर्मोपसङ्ग्रह का केवल दुर्ग द्वारा प्रदर्शित अर्थ मान लेने पर तो केवल **च**, **वा** आदि इने-गिने निपात ही कर्मोपसङ्ग्रहार्थीय रह जायेंगे। अतः प्रकरणानुरोध से भी दुर्ग द्वारा प्रदर्शित मार्ग ठीक नहीं है।

३. यास्क की दृष्टि में **समास** इस प्रकरण में कहीं नहीं आते। उन्होंने समुच्चय (संयोजन) अर्थ के जितने भी उदाहरण दिये हैं, वे सब असमस्त पदों के

---

१. द्र. व्याख्याता उपमाऽर्थीयाः। अथ **अनन्तरं प्रतिज्ञाप्रसवतानेव कर्मोपसङ्ग्रहार्थान्वक्ष्यामः**। यस्यागमादध्याहारादश्रूयमाणस्यैव निपातस्य सरूप-विरूपैकशेषादर्थतो **वा...पृथग्भाव एव विज्ञायते**। तद्यथा—देवदत्त-यज्ञदत्तौ. देवदत्तश्च, यज्ञदत्तश्चेति। आह—द्वावप्यत्र **देवदत्त-यज्ञदत्तौ** श्रूयेते। न तु तयोरौद्देशिकमिव पृथक्त्वमिति, यथा गाः, अश्वान्, पुरुषान्, पशून् इति प्रत्येकमुद्दिश्यमानानाम्। इह तु विग्रहेण च-शब्दागमादेतत्पृथक्त्वमुपजायते। नानाग्रहणं द्वयो बहूनामर्थानां=विग्रहः। स एष पृथक्त्वाद् धेतोः पृथक्त्वेन निमित्तेन, उपलक्ष्यमाणो यस्माद् द्वावर्थौ, बहून्वा गृहीत्वैकस्मिन्कर्मण्युपसमावेष्टयति। तद् यथा—**देवदत्त–यज्ञदत्तौ पचेते** इत्येवम्। तस्मात्कर्मोपसङ्ग्रह इत्येतन्नामैव तद् भवति। अथवा **बृहस्पतिश्चेत्युक्ते प्रजापतिरनुक्तोऽपि द्वितीयो गम्यते प्रजापतिश्चेति**।

समुच्चय के ही हैं, न कि समस्त पदों के।

४. दुर्ग ने यहां अध्याहृत च को बहुत महत्त्व दिया है। समुच्चीयमान दो पदार्थों में से प्रत्येक के, या अन्यतर के साथ साक्षात् प्रयुक्त चकार को तो उन्हों ने कदाचित् (कभी-कभी) प्रयुक्त बतलाया है। वास्तव में तो च की उपस्थिति चाहे साक्षात् हो, या अध्याहार से बौद्ध रूप में, उस उपस्थिति से दो या बहुत पदार्थों का संयोजन देखने में आता है। ऐसी स्थिति में साक्षात् उपस्थिति को गौण तथा बौद्ध उपस्थिति को प्रधान मान कर वाक्य लगाना समुचित नहीं है।

स्कन्दस्वामी : सब निपात पदों में स्थित विशेषता (धर्म) को प्रतिपादित करते हैं। कोई एक पद में स्थित विशेषता को, तो कोई एकाधिक पदों में स्थित विशेषता को बतलाते हैं : **इव** जैसे निपात एक पद में स्थित उपमानता रूप विशेषता को बतलाते हैं, तो **वा** आदि निपात एकाधिक पदों में स्थित **समुच्चय** आदि विशेषता को बतलाते हैं। वह सम्मुच्चयार्थक निपात कभी समुच्चीयमान दोनों पदों के साथ साक्षात्, तो कभी बौद्ध उपस्थिति अर्थात् आक्षेप (अध्याहार) से, प्रयुक्त होता है। अतः यह दूसरा पदार्थ रूप कर्म, अर्थात् अर्थ, जिसके द्वारा सङ्गृहीत होता है, वह निपात कर्मोपसङ्ग्रह कहलाता है। अर्थात् यह निपात दूसरे आश्रय का आक्षेप करता है[1]।

इस प्रकार सङ्क्षेप में अपना मन्तव्य प्रस्तुत करके स्वामी जी इस पङ्क्ति को लगाते हुए कहते हैं :

जिस निपात का आगम अर्थात् श्रवण होने से समुच्चय आदि (विशेषता) के दूसरे आश्रय पदार्थ का किसी अन्य आश्रय से अलगाव जाना जाता है ही, अर्थात् साक्षात् प्रयोग से हो, या आक्षेप से, जिसके किसी भी तरह के आगम से एक आश्रय का दूसरे आश्रय से अलगाव जाना ही जाता है, वह निपात कर्मोपसङ्ग्रह होता है। पार्थक्य की यह प्रतीति उस तरह नहीं होती, जिस तरह अभिधेय की प्रतीति होती है।

---

१. द्र. भाग १, पृष्ठ ५२ : निपातः सर्वः पदाश्रयधर्मप्रतिपादनार्थः। स कश्चिदेकाश्रयस्य धर्मस्य प्रतिपादक इवादिरुपमानत्वादेः; कश्चिदनेकाश्रयस्य धर्मस्य प्रतिपादको वादिः समुच्चयादेः। स एकाश्रय-वचनाद् धर्मिशब्दात्परः श्रूयमाणोऽयं धर्मं समुच्चयादि प्रतिपादयति, तस्य द्वितीयेनाश्रयेण विनाऽनुपपत्तेस्तच्छ्रुतेर्बलीयस्त्वेन तमाक्षिपति। स आक्षिप्तो यद्यपि क्वचित्स्वशब्देनोपादीयते—अहं च त्वं चेति (ऋ. सं ८।६२।११), क्वचिन्न—इन्द्रश्च विष्णो....(ऋ. सं. ६।६९।८) इति, तथाऽपि उभयत्र तस्याक्षेपकत्वाविशेषान्निपातः कर्मोपसङ्ग्रह इत्युच्यते। कर्म—अर्थो=द्वितीय आश्रयः, उपसङ्गृह्यत आक्षिप्यते यः स उपसङ्ग्रहः, कर्म उपसङ्ग्रहो यस्य स कर्मोपसङ्ग्रहो द्वितीयस्याश्रयस्याक्षेपकः।

इसलिए विग्रह=रूप=शरीर के द्वारा अलग होने के कारण । क्योंकि समुच्चय जिसका अर्थ है, वह पदार्थ उस (समुच्चय) के आश्रय शरीर के रूप में अलग है; इस लिए उस आश्रय का शरीर इस (निपात) का वाच्यार्थ नहीं होता, (निपात का) अभिधेय जो समुच्चय है, वह उस (आश्रय) के शरीर के बिना बन ही नहीं सकता[1] ।

इस प्रकार व्याख्या करने के बाद स्वामी जी ने कहा है कि १ च, २ आ, ३ वा, ४ अह, ५ ह और ६ उ, निपात कर्मोपसङ्ग्रहार्थीय हैं । शेष ७—१३ हि—सीम् निपात एक पदार्थ में स्थित विशेषता को बतलाने वाले होने के कारण दूसरे कर्म, अर्थात् पदार्थ का उपसङ्ग्रहण न कर पाने से कर्मोपसङ्ग्रहार्थीय नहीं हैं । यहाँ वर्णन इसलिए किया है, क्योंकि यह सार्थक निपातों का प्रकरण है, और ये निपात भी सार्थक हैं[2] ।

डा. पाण्डुरङ्ग दामोदर गुणे : जिसके आगम (अर्थात् प्रयोग) के कारण अर्थ (तात्पर्यों-अर्थों–भावों–या विचारों) की पृथक्ता वस्तुतः जानी जाती है, परन्तु इस भाँति नहीं जैसे कि पृथक् स्थिति या स्वतन्त्र निर्देश के द्वारा साधारण परिगणना में, वह कर्मोसङ्ग्रह है, अर्थात् तात्पर्यों या (अर्थों, भावों) विचारों का योग या (उन्हें) एक साथ रखना[3] ।

---

१. द्र. वहीं, पृष्ठ ५३ : यस्य निपातस्यागमात् श्रवणादर्थपृथक्त्वम्...अस्य पृथग्भूतोऽर्थ इत्यर्थः । स कः ? समुच्चयादे द्वितीय आश्रय, आश्रयान्तरात्पृथग्भूतत्वात् । ....विज्ञायत एव यत्र च स्व-शब्देनोपादीयते..., यत्र च नोपादीयते...., उभयत्र विज्ञायत इत्यर्थः । यदि विज्ञायतेऽर्थः, एवं तर्हि कस्यासावेवं तन्निवृत्त्यर्थमाह—नत्वौद्देशिकमिवेति । उद्दिशत्यर्थमित्युद्देशः, तस्मिन्भव औद्देशिकः. यथाऽभिधेयस्तथाऽसौ न भवत्यभिधेयो न भवतीत्यर्थः । तस्माद् विग्रहेण पृथक्त्वाद, विग्रहो रूपं, शरीरमिति पर्यायाः, रूपेण पृथग्भूतत्वादित्यर्थः । समुच्चयो हि यस्यार्थः, स च तदाश्रयरूपेण पृथग्भूतः, अतस्तदाश्रयरूपं न चास्याभिधेयम, अभिधेयस्य तु समुच्चयस्य तेन विनाऽनुपपत्तेः । २. द्र. वहीं, पृष्ठ ६१ : एवमेते कर्मोपसङ्ग्रहार्थीयाः षण्निपाता उक्ताः । इदानीं हीत्यादीनां सीम्पर्यन्तानां तावत् सप्तानां निपातानामकर्मोपसङ्ग्रहार्थीयानां प्रसङ्गेनार्था उच्यन्ते ।... अनेकाश्रय-धर्म-वचनो निपातः कर्मोपसङ्ग्रहार्थीय उक्तः, न चैतेऽनेकाश्रय-धर्म-वचनाः, हेतुत्वादेरेकाश्रयत्वात् ।

३. द्र. इण्डियन ऐण्टिक्वेरी, भाग ४५, पृष्ठ १५९-१६० । हमने 'निघण्टु और निरुक्त' (पृ. ३२१) में श्री योगी जी का किया अनुवाद दिया है । मूल यों है : by कर्मोपसङ्ग्रह is known (विज्ञायते) a variety of senses (अर्थपृथक्त्वम्), but (तु) not (न) as (इव) in simple enumeration of objects (औद्देशिकं), where the very fact that they bodily (विग्रहेण) mentioned separately (पृथक्त्वात्), is a sufficient guarantee that they are distinct and separate.

डा. लक्ष्मणसरूप : वह, जिसके योग से धारणाओं (notions) की पृथक्ता वस्तुतः जानी जाती है, परन्तु इस भाँति नहीं जैसे कि परिगणना में, अर्थात् अलगाव के द्वारा पृथक्ता के कारण, कर्मोपसङ्ग्रह है[१]।

डा. लक्ष्मणसरूप का आगे (पृष्ठ ३२२ पर) कहना है कि 'कन्जङ्क्शन (conjunction) अंग्रेजी में निकटतम अनुरूप शब्द है, जो कि द्वितीय वर्ग के निपातों के द्वारा द्योतित समस्त अर्थों को सूचित करेगा'...। उन्होंने **वा** और **अह** के उदाहरण दिये हैं (पृष्ठ ३२२) तथा **किल** इत्यादि को भी कर्मोपसङ्ग्रह बतलाया है[२]। हमारे विचार में १ **किल** (विद्याप्रकर्ष—ज्ञान की उत्कृष्टता), २ **मा** और ३ **खलु** (निषेध), ४ **शश्वत्**, ५ **नूनम्** (विचिकित्सा—निश्चय, डा. लक्ष्मणसरूप : अनिश्चितता), ६ **सीम्** (परिग्रह —समग्रता) निपात उपर्युक्त व्याख्या की परिधि में नहीं आ सकते। इनके अर्थों से संयोग के लिए दूसरे आश्रय की सम्भावना ही नहीं है। दूसरे आश्रय के बिना संयोजन (conjunction) किसका होगा ? इसी कठिनाई से बचने के लिए डा. लक्ष्मणसरूप ने **वा** और **अह** के उदाहरण दे कर छुट्टी कर ली। क्लिष्ट स्थल के उदाहरणों को वे गोल कर गये। अन्यथा अपने कथन की पुष्टि में उन्हें **किल** आदि को संयोजन (conjunction) अर्थ में लगाना चाहिए था। अतः हम उनके इस कथन से पूरी तरह सहमत हैं कि उन्हें 'इस सञ्ज्ञा का अर्थ नितान्त स्पष्ट नहीं है—यह स्वीकार कर लिया जाना चाहिए'।

श्री वैजनाथ काशिनाथ राजवाडे : कर्मोपसङ्ग्रह वह निपात है, वाक्य में जिसके प्रयोग से अलग-अलग चीजें ज्ञात करा दी जाती हैं।...समास में वस्तुओं की पृथक्ता (अर्थ-पृथक्त्वम्) अभिप्रेत (औद्देशिक) होती है, न कि वस्तुतः निर्दिष्ट; समास के विश्लेषण (विग्रह) से यह ज्ञात हो जाती है[३]।

संस्कृत में अन्वय करते समय उन्होंने कुछ और बात कही है : 'जिस निपात के प्रयोग से दो या बहुत-से अर्थों का अलगाव वाच्य के रूप में जाना जाता है, न कि समास में विग्रह के द्वारा औद्देशिक (स्पष्ट निर्देश करके ?) अर्थों के अलगाव की

---

१. द्र. वहीं पृ. ३२१-३२२।

२ द्र. वहीं, पृ. ३२२ और पृ. ६१, पा. टि. १।

३. द्र. यास्कज् निरुक्त, भाग १, पृष्ठ २३६: **कर्मोपसङ्ग्रह is that particle by whose use in a sentence separate things are made known....in a compound the separateness of things (अर्थपृथक्त्वम्) is intended (औद्देशिकम्) and not acually stated; it becomes known by dissolution of the compound.**

तरह, वह (निपात) अलगाव (-रूप) कारण से कर्मोपसङ्ग्रह (होता है)[1]। यहाँ राजवाडे जी ने विग्रहेण का अन्वय औद्देशिकमिव से किया है। जब **समास** (द्वन्द्व) का **विग्रह** किया जाता है, तब तो **च** का प्रयोग होता ही है; अतः उसे प्रत्युदाहरण के रूप में कैसे रखा जा सकता है ? इस विप्रतिपत्ति से खिन्न होकर ही, सम्भवतः, उन्होंने अंग्रेजी में लिखी व्याख्या में **विग्रहेण** का अन्वय **पृथक्त्वात्** से किया है।

श्री राजवाडे जी ने अपनी डेढ़ बुद्धि से जब कोई बात बनती नहीं देखी, तब हार कर इस वाक्य को **प्रक्षेप** (पृष्ठ २३६ पर) तथा संस्कृत में यास्क को ग्राम्य, हिन्दी में बेढङ्गा, फूहड़, अनाड़ी और उनके दिमागी आकाओं की बोली में ill-contrived, without tact अर्थ वाला सद्विशेषण (clumsy) देकर उन्हें सम्बद्ध या असम्बद्ध, किसी भी, या प्रत्येक बात को अपनी झोली में डालने वाला अविवेकी गँवार बतलाया है[2]। वास्तव में विद्वज्जन लोमड़ी और खट्टे अङ्गूर वाली कहानी को भूल गये थे। श्री राजवाडे जी ने नया उदाहरण प्रस्तुत करके उसे याद दिला दिया है।

श्री राजवाडे जी मानते हैं कि यास्क के दिमाग में यहाँ **समास** है ही नहीं, फिर भी उन्होंने इस पङ्क्ति की व्याख्या में **समास** को घसीटा ही है। वास्तव में वे **विग्रह** का केवल **समास** से सम्बद्ध अर्थ जानते हैं। **शरीर** अर्थ उन्हें विचित्र (strange) लगता है[3]।

इस प्रसङ्ग में समास को घसीटने से कर्मोपसङ्ग्रह निपातों का क्षेत्र बहुत सीमित रह जायेगा। संशय, विकल्प, विनिग्रह आदि अर्थ प्रकट करने वाले **वा**, **अह** आदि निपात भी कर्मोपसङ्ग्रह नहीं रह पायेंगे। क्योंकि वे समास के विग्रह में कभी आते ही नहीं। यदि कोई आता भी है (द्र. **द्वित्राः=द्वौ वा, त्रयो वा**), तो वह केवल **वा** है। अतः **च** और **वा** का अर्थ बतलाने के लिए इतना बड़ा लक्षण लिखना तथा इस महासञ्ज्ञा का प्रयोग करना अनुचित है, यह हम श्री दुर्गाचार्य के व्याख्यान की आलोचना के सन्दर्भ में कह आये हैं। अतः श्री राजवाडे जी की व्याख्या हमारे विचार से ठीक नहीं है।

---

१. द्र. वहीं : यस्य **निपातस्य** आगमात् **प्रयोगाद्** अर्थपृथक्त्वं **द्वयोर्बहूनां** **वार्थानां पृथक्त्वम्** अह वाच्यत्वेन विज्ञायते, न तु समासे विग्रहेण औद्देशिकं **कर्मपृथक्त्वमिव** स पृथक्त्वाद् हेतोः कर्मोपसङ्ग्रहः।

२. द्र. वहीं, पृष्ठ २३७ : यास्क should have stopped with particles that have the sense of *and*; but he is clumsy and drags in anything and everything, relevent or irrelevent,...

३. द्र. वहीं, पृष्ठ २३६ : He (Dr. Gune) assigns a strange sense to विग्रहेण. डा. गुणे ने विग्रहेण का अर्थ bodily किया है।

इन सब व्याख्याओं में **श्री स्कन्दस्वामी** की व्याख्या ही हमारी तुच्छ बुद्धि के अनुसार सबसे अधिक स्पष्ट तथा सही है। डा. गुणे और **लक्ष्मणस्वरूप** की व्याख्याओं का आधार इनकी व्याख्या ही है। यास्क **न तु औद्देशिकम्...**वाक्यांश से **च** आदि कर्मोपसङ्ग्रहार्थक निपातों के आगम से प्रतीत होने वाले पार्थक्य और केवल (किसी भी निपात का प्रयोग किए बिना) परिगणन से प्रतीत होने वाले पार्थक्य में भेद दिखलाना चाहते हैं। कोशों में **गौर्ग्मा ज्मा क्ष्मा** आदि के रूप में परिगणन किया जाता है। यहाँ स्पष्ट प्रतीत हो रहा है कि ये सब एक-दूसरे से पृथक् हैं। यह पार्थक्य इन शब्दों के विग्रह अर्थात् पृथक्-पृथक् पड़े आकार से ही प्रतीत होता है। इसी प्रकार **त्वं च अहं च देवदत्तश्च** से भी प्रत्येक का एक-दूसरे से पार्थक्य ही प्रतीत होता है, किन्तु एकान्वयितारूप विशेष अर्थ भी प्रतीत होता है। इस एकान्वयितारूप विशेष की प्रतीति निपात के आगम से होने वाले पार्थक्य में ही होती है, परिगणन से होने वाले पार्थक्य में नहीं।

एतावता निपात के प्रयोग से प्रतीत होने वाला पार्थक्य है तो पार्थक्य ही, परन्तु परिगणन से प्रतीत होने वाले पार्थक्य से भिन्न प्रकार का है, यही बात यास्क कहना चाहते हैं। **कर्मोपसङ्ग्रह** शब्द भी इसी अर्थ की ओर सङ्केत कर रहा है। यदि केवल पार्थक्य बतलाना इष्ट होता, तो इसे **पृथगर्थक** या **कर्मापसङ्ग्रहार्थीय** (**कर्म**=पदार्थ, का **अपसङ्ग्रह**=अलगाव, **अर्थीय**=बतलाने वाला) निपात कहना समुचित होता। श्री राजवाडे ने **अह** को **पदपूरण** निपात मानने की बात भी कही है। पर वास्तव में यहाँ **अह** ही के अर्थ में है और बहुत आवश्यक है : **यस्य** जिस (निपात) के **आगमात्** (साक्षात् या बौद्ध) आगमन से **अर्थपृथक्त्वमह** पदार्थों का अलगाव ही **विज्ञायते** जाना जाता है, **न तु** न कि **औद्देशिकमिव** परिगणन से प्रतीत होने वाले अलगाव जैसा, **विग्रहेण पृथक्त्वात्** क्योंकि (यह औद्देशिक अलगाव) आकार अथवा रूप से अलगाव के कारण (ही जान लिया जाता है), **स** वह (निपात) **कर्मोपसङ्ग्रहः** कर्मोपसङ्ग्रह है। अतः पदार्थों में पार्थक्य बतलाने के साथ-साथ एकान्वयितारूप विशिष्टता जिस निपात के प्रयोग से आती है, वह निपात **कर्मोपसङ्ग्रह** कहलाता है—यही यास्क का आशय है। इस निपात का आगम साक्षात् (जैसे—**देवदत्तश्च विष्णुदत्तश्च गच्छतः** में) भी हो सकता है, तो अध्याहार अर्थात् बौद्ध प्रतीति के रूप में भी (जैसे—**देवदत्तो विष्णुदत्तो गच्छतः** या **देवदत्त-विष्णुदत्तौ गच्छतः** में)।

इस व्याख्या से १ समुच्चय, २ विचारणा (विकल्प, संशय), ३ विनिग्रह, ४ हेत्वपदेश—इन निरुक्तोक्त अर्थों को प्रकट करने वाले १ **च**, २ **आ**, ३ **वा**, ४ **अह**, ५ **ह**, ६ **उ**, और ७ **हि**, तथा १ पक्षव्यावृत्ति, २ आवृत्ति आदि स्कन्दोक्त (पृष्ठ ५६) अर्थों को प्रकट करने वाले **तु** आदि निपात कर्मोपसङ्ग्रहार्थीय हैं, यह निष्कर्ष निकलता है। स्कन्दस्वामी ने हेत्वपदेशार्थक (**हि**) निपात को कर्मोपसङ्ग्रहार्थीय नहीं माना है, यह हम पीछे (पृष्ठ १९६ पर) बतला चुके हैं। पर क्या—

रघुमेव निवृत्तयौवनं तममन्यन्त नवेश्वरं प्रजाः ।
स हि तस्य न केवलां श्रियं प्रतिपेदे सकलान्गुणानपि ॥रघुवंश ८।५ ॥

—इस श्लोक में हि दोनों वाक्यार्थों के अलगाव के बावजूद उनकी एकान्वयिता रूप विशिष्टता को प्रकट नहीं करता ? अतः हमारे विनम्र मत में हेत्वपदेश अर्थ भी कर्मोपसङ्ग्रह की सीमा में आता है तथा यह कर्मोपसङ्ग्रहार्थीय निपात है । हाँ, विद्याप्रकर्ष आदि अर्थ इस सीमा से बाहर हैं तथा उनको प्रकट करने वाले **किल** आदि निपात कर्मोपसङ्ग्रहार्थीय नहीं हैं, इस विषय में हम आचार्य **स्कन्दस्वामी** का पूर्णरूप से अनुगमन करते हैं ।

दूसरी पङ्क्ति है : **अपि वा सीमेत्येतदनर्थकमुपबन्धमाददीत पञ्चमीकर्माणम् । सीम्नः, सीमतः, सीमातो मर्यादातः । सीमा मर्यादा, विषीव्यति देशाविति ॥ १।७ ॥**

श्री वैजनाथ काशीनाथ राजवाडे का (पृष्ठ २४५ पर) कथन है कि **वि सीमतः सुरुचो...देशाविति** पाठ निरुक्त में प्रक्षिप्त लगता है ।

दुर्गाचार्य ने उपर्युक्त पङ्क्ति को उद्धृत किया है तथा इसके **विषीव्यति देशाविति** शब्दों की व्याख्या भी की है : **विगत-सन्तानौ देशौ करोतीति** । उद्धरण को यदि प्रामाणिक न भी मानें, तो भी इस पङ्क्ति के एक निर्वचन की दुर्ग द्वारा व्याख्या किये जाने से यह निष्कर्ष निकालना सहज होगा कि यह निर्वचन कम-से-कम दुर्ग के समय तक तो निरुक्त में प्रक्षिप्त नहीं माना जाता था । इस निर्वचन की आवश्यकता तथा अवसर तभी तक हैं, जब तक कि मूल में **सीमा मर्यादा** पाठ है । यह पाठ भी **सीमतः** का अर्थ **सीमातः** पर्यवसित होना है, अत **सीमातो मर्यादातः** पाठ के होने पर उपपन्न होता है । पञ्चम्यर्थक **तस्** प्रत्यय वाले **सीमातः** शब्द से **सीमतः** का व्याख्यान भी **अपि वा सीमेत्ये...कर्माणम्** वाक्य के होने पर ही ठीक लग पाता है । अतः हमारे विचार में यह पाठ दुर्ग के समय में निरुक्त का अभिन्न अङ्ग माना जाता था, यह निष्कर्ष समुचित है । इस पाठ के साक्ष्य में दुर्ग से प्राचीन अन्य किसी आचार्य का प्रमाण उपलब्ध नहीं है । अतः जब तक कोई प्रबलतर आधार इस पाठ को प्रक्षेप सिद्ध करने को न मिले, तब तक इसे प्रक्षिप्त कहना आदेय नहीं होगा ।

स्कन्दस्वामी ने (भाग १, पृष्ठ ७०-७१) इस पङ्क्ति को न केवल उद्धृत किया है, अपितु इसकी व्याख्या भी की है । इस से भी यही सिद्ध होता है कि स्कन्द जैसे प्रामाणिक विद्वान् भी इसे प्रामाणिक मानते हैं । अतः इसे प्रक्षेप बतलाना श्री राजवाडे जी का प्रौढिवाद मात्र है ।

इस पङ्क्ति में विचारणीय शब्द है **अनर्थकम्** । **सीम्नः, सीमतः, सीमातः** पदों के द्वारा यास्क **सीमतः** की ही व्याख्या कर रहे हैं, यह आपातस्पष्ट है । इस **सीमन्** शब्द का अर्थ है **सीमा** अर्थात् **मर्यादा** । तब यह अनर्थक कैसे है ? **उपबन्ध** (प्रत्यय)

पञ्चम्यर्थक है, यह कहने से **अनर्थकं** का अन्वय **उपबन्धं** से भी नहीं हो सकता, अर्थात् प्रत्यय (तः) भी अनर्थक नहीं हो सकता। तब **अनर्थकं** का विशेष्य कौन है ?

यह पङ्क्ति तथा व्याख्याता लोग : दुर्ग ने इस स्थल में केवल **सीमा** शब्द के निर्वचन की व्याख्या की है। अतः वे इस गुत्थी को सुलझाने में सहायक नहीं हो सकते। **आचार्य स्कदस्वामी** कहते हैं कि **सीम** प्रातिपदिक अर्थ रहित है। पञ्चमी के अर्थ वाले (प्रत्यय) को (ले सकता है) कहने के कारण पञ्चमी के इस अर्थ से (इस अर्थ की अपेक्षा) अनर्थक है—इस प्रकार इसे देखना चाहिए[1]। **स्कन्दस्वामी** के इस कथन का आशय कदाचिद् यही है कि सीम शब्द अपने अर्थ को छोड़ कर केवल प्रत्ययार्थ को ही प्रकट करता है। पर वस्तुतः **स्कदस्वामी** ने इस सन्दर्भ की व्याख्या में **मघवा मूले विडोजा टीका** वाली कहावत चरितार्थ की है।

डा. लक्ष्मणसरूप (पृष्ठ ८८) : अथवा **सीम्** शब्द के साथ पञ्चमी का प्रत्यय **तस्** बिना किसी अर्थ के लगता है; अर्थात् **सीम्नः=सीमतः=सीमा-तः** (जिसका अर्थ है) सीमा से।

यहाँ एक बात तो यह स्पष्ट है कि डा. जी ने अर्थ करते समय अपने द्वारा निर्धारित पाठ पर स्वयं ही ध्यान नहीं दिया। पाठ में उन्होंने **सीम** शब्द दिया है, तथा अनुवाद में **सीम्**। दूसरी यह बात भी स्पष्ट है कि **सीम्+तस्** से **सीमतः** कैसे बनेगा, यह डा. जी ही जानें। तीसरी यह बात भी बिल्कुल स्पष्ट है कि **तस्** जब **पञ्चमी** का **प्रत्यय** है तो वह **बिना किसी अर्थ के** कैसे है ? यदि **बिना किसी अर्थ के** है ही, तो भी यास्क ने इसकी व्याख्या में **सीमतः** आदि **तस्** प्रत्ययान्त शब्द ही क्यों दिये हैं ? क्या यास्क **तस्** प्रत्यय को सर्वत्र अनर्थक ही मानते हैं ? **सीम्नः** (सीमन्+अः, पञ्चमी, ए. व.) देने से यह सिद्ध होता है कि यास्क **तस्** को निरर्थक उपजन नहीं मानते। पञ्चमी का अर्थ पूरी तरह प्रकरण के अनुकूल है, अतः **तस्** को अनर्थक बताना उचित नहीं है।

श्री उमाशङ्कर ऋषि : अथवा **सीम** शब्द अपादान ग्रहण करने वाले [तः] प्रत्यय (उपबन्ध) को बिना किसी विशेष अर्थ के (स्वार्थ में ही) लगाता है। सीमन्—सीम—सीमा—मर्यादा से[2]।

यहाँ प्रष्टव्य यह है कि यहाँ **स्वार्थ में ही** का क्या अर्थ है ? क्या शब्द का स्वार्थ ही प्रत्यय से बतलाया गया है ? तब फिर ऋषि जी ने **मर्यादा से** में से किस

१. द्र. भाग १, पृष्ठ ७१ : अपि वा सीमेत्येतन्नामपदं, न निपात इत्याचष्टे—सीमेत्येतत् प्रातिपदिकमनर्थकं पञ्चमीकर्माणमिति वचनात् पञ्चम्यर्थादतोऽनर्थकम् इत्येवमेतद् द्रष्टव्यम्।

२. द्र. हिन्दी निरुक्त, पृष्ठ १४ (मूल तथा अनुवाद भाग)।

आधार पर दिया है ? से तो पञ्चमी का ही अर्थ है। अतः यदि स्वार्थ से पञ्चमी का अर्थ ही इष्ट है ? तो बिना किसी विशेष अर्थ के का क्या अर्थ है ? क्या तस् (पञ्चम्यास्तसिल्) का और कोई विशेष अर्थ भी होता है, जो पञ्चमी के अर्थ से भिन्न हो ?

इस लोहे की सुपारी को तोड़ने में जब इतने बड़े-बड़े महारथियों के ही दाँत खट्टे हो गये, तब हमारी तो बिसात ही क्या है ?

अध्याय १७

वैदिक साहित्य में निर्वचन

निर्वचन मनुष्य की भाषा विषयक अत्यन्त आरम्भिक तथा सामान्य जिज्ञासा का प्रतिप्रसव है। यहीं से भाषाशास्त्र का आरम्भ होता है। मनुष्य में इस प्रवृत्ति का जन्म कब हुआ ? इसका ऐतिहासिक दृष्टि से सही उत्तर दे पाना आज असम्भव है; इतना ही नहीं, निर्वचन के शैशव की लीला-गाथाएँ भी आज अत्यन्त अज्ञात अतीत की बात बन चुकी हैं। मानव की साहसपूर्ण जययात्रा के आरम्भिक युग का कोई प्रामाणिक विवरण आज हमें उपलब्ध नहीं है, जिसका मन्थन कर के हम निर्वचन के तात्कालिक स्वरूप पर इतिहास के दीपक से प्रकाश डाल सकें; अतः इस विषय के लिए हम उस प्राचीन सामग्री पर पूर्णतः निर्भर हैं, जो आज हमें वैदिक साहित्य के रूप में उपलब्ध है। इस साहित्य से प्राचीन और कोई साहित्य अथवा प्रामाणिक अभिलेख आज उपलब्ध नहीं है, अतः वैदिक साहित्य के इस युग में निर्वचन की जो स्थिति थी, उससे प्राचीन स्थिति को जान पाना हमारे लिए असम्भव है।

निरुक्तियों का प्राचीनतम उदाहरण उपलब्ध वाङ्मय में हमें ऋग्वेद संहिता में ही मिलता है। ये निरुक्तियाँ इतनी सधी, स्पष्ट, स्वाभाविक और प्रसङ्ग के अनुकूल हैं कि हमें मन्त्रों के अर्थ समझने में इनसे बहुत सहायता मिलती है। इनका प्रयोग इस सरलता और स्वाभाविकता से किया गया है कि इनसे न तो ऋषियों के भावप्रकाशन में कोई कृत्रिमता और क्लिष्टता आई है, और न काव्यसौन्दर्य में ही

कोई व्याघात हुआ है। इसके विपरीत, वल्कि, भाव के सम्प्रेषण में सहूलियत, व्यञ्जना में सुविधा तथा बहुधा ध्वनियों की सुमधुर आवृत्ति से अनुप्रास का चमत्कार ही कतिगुणित हो गया है। इनको देख कर यह सहज स्वाभाविक लगता है कि वह युग निरुक्तियों के शैशव का नहीं रहा होगा, निरुक्तियां उस समय नई-सी चीज नहीं रही होंगीं, अपितु उनके बारे में ऋषियों के कुछ निश्चित सिद्धान्त बन चुके थे, जिनके अपने वैज्ञानिक आधार थे। यह विषय बहुत विस्तृतकालभोजी अध्ययन की अपेक्षा रखता है। उसके अभाव में ऋग्वेदीय या वैदिक साहित्य में उपलब्ध सब निरुक्तियों का अध्ययन कर पाना यहाँ सम्भव नहीं है; अतः उन निरुक्तियों के सिद्धान्तों को समग्रता से निश्चित कर पाना भी अभी सम्भव नहीं है। अभी हम कुछ चुनी हुई निरुक्तियों को देकर ही अपना निष्कर्ष देने का प्रयत्न करेंगे। थोड़ी-सी सामग्री पर आधारित होने से यह निष्कर्ष किसी भी तरह से समग्र नहीं कहला सकता, अतीत की एक हल्की-सी झाँकी लेने का विनम्र प्रयास-भर है यह।

ऋग्वेद संहिता। यहाँ हमें मोटे तौर पर दो तरह के निर्वचन मिलते हैं :

१. जिनमें प्रकृति इतनी स्पष्ट-प्रत्यक्ष होती है कि बिना निर्वचन के ही वे शब्द समझ में आ जाते हैं। अर्थात् प्रत्यक्षवृत्ति नामपदों के निर्वचन इस श्रेणी में आते हैं। जैसे :—

(क) **वाय उक्थेभिर्जरन्ते त्वामच्छा जरितारः।
सुतसोमा अहर्विदः॥ १।२।२॥**

यहाँ **जरितारः** के लिए स्तुत्यर्थक अन्य किसी क्रियापद का प्रयोग न कर के **जरन्ते** देने से प्रतीत होता है कि ऋषि निर्वचन से अपना आशय पुष्ट करना चाहते हैं। **जरितारः** का **जरन्ते** आख्यात से सम्बन्ध बहुत स्पष्ट है।

(ख) **इन्द्रमिद् गाथिनो बृहदिन्द्रमर्केभिरर्किणः।
इन्द्रं वाणीरनूषत॥ १।७।१॥**

यहाँ भी **अर्किणः** के निर्वचन के लिए ही **अर्केभिः** हेतु दिया गया है।

(ग) **वसोरिन्द्रं वसुपतिं गीर्भिर्गृणन्त ऋग्मियम्।
होम गन्तारमूतये॥ १।९।९॥**

यहाँ **गीः** का सम्बन्ध **गृणाति** क्रियापद से है, यह समझाने को ही **गृणन्तः** पद दिया गया है। इसी आशय को **गीर्भिर्गृणन्तो नमसोपसेदिम** (५।८।४), **गिरा गृणीहि कामिनः** (५३।१६) तथा **गीर्भिर्गृणन्ति कारवः** (८।४६।३) में भी इसी प्रकार निर्वचन से कहा गया है।

(घ) **गायन्ति त्वा गायत्रिणः॥ १।१०।१॥**

यहाँ भी **गायत्र** शब्द की निरुक्ति के लिए उसके आधार क्रियापद **गायन्ति** को

ऋषि ने दिया है।

(ङ) तमित् सखित्व ईमहे तं राये तं सुवीर्ये।
स शक्र उत नः शकदिन्द्रो वसु दयमानः॥ १।१०।६ ॥

यहाँ शक्र का √शक् से सम्बन्ध बतलाया गया है।

(च) यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः॥ १।१६४।५० ॥

यहाँ यज्ञ शब्द में निगदव्याख्यात √यज् धातु को अयजन्त क्रियापद के प्रयोग से समझाया गया है।

(छ) स रथेन रथीतमोऽस्माकेनाभि युग्वना।
जेषि जिष्णो हितं धनम्॥ ६।४५।१५ ॥

इस मन्त्र में इन्द्र के सम्बोधन जिष्णो पद का निर्वचन करने के लिए ही ऋषि ने जेषि क्रिया साथ दी है।

(ज) प्र चित्रमर्कं गृणते तुराय मारुताय स्वतवसे भरध्वम्।
ये सहांसि सहसा सहन्ते रेजन्ते अग्ने पृथिवी मखेभ्यः॥६।६६।९॥

तृतीय चरण में दिया निर्वचन जहाँ इन शब्दों के आपाततः प्रतीत स्वाभाविक सम्बन्ध को स्पष्ट करता है, वहाँ अनुप्रास की छटा को भी उपस्थित करता है।

(झ) सोता हि सोममद्रिभिरेमेनमप्सु धावत।
गव्या वस्त्रेव वासयन्त इन्नरो निर्धुक्षन्वक्षणाभ्यः॥ ८।१।१७ ॥

सोम नाम √सु से निरुक्त है, इस बात को सोमं सोत के प्रयोग से ऋषि ने स्पष्ट किया है।

(ञ) आ वहेथे पराकात्पूर्वीरश्नन्तावश्विना।
इषो दासीरमर्त्या॥ ८।५।३१ ॥

यहाँ अश्विनौ का निर्वचन अश्नन्तौ पद से किया गया है। अन्यत्र कहा गया लगता है कि वे अश्वों वाले होने से अश्विन् हैं:

आ नः स्तोममुप द्रवत् तूयं श्येनेभिराशुभिः।
यातमश्वेभिरश्विना॥ ८।५।७ ॥

(ट) आ योनिमरुणो रुहद् गमदिन्द्रं वृषा सुतः।
ध्रुवे सदसि सीदति॥ ९।४०।२ ॥

यहाँ सदस् का निर्वचन करने को ही सीदति आख्यात का प्रयोग किया है।

(ठ) सिन्धोरिव प्रवणे निम्न आशवो वृषच्युता मदासो गातुमाशत॥९।६९।७॥

यहाँ ऋषि ने अश्ववाचक आशु का व्याख्यान आशत क्रियापद से किया है।

इन बारह शब्दों में एक भी अनवगत संस्कार शब्द नहीं है। ऋषि ने निर्वचन देने के साथ-साथ काव्य सौन्दर्य को भी पूर्णतः बनाए रखा है। एक भी

निर्वचन ऐसा नहीं है, जो हठात् दिया हुआ, या काव्यार्थ और काव्य-सौन्दर्य में व्याघात करता प्रतीत होता हो।

२. इस श्रेणी में वे निर्वचन आते हैं, जिनसे परोक्षवृत्ति शब्दों की, अर्थात् जिन शब्दों को देखते ही हम उनके आख्यात का सहज अनुमान नहीं लगा सकते, उन शब्दों की, व्याख्या की गई है। जैसे :

(क) अर्चन्त्यर्कमर्किणः ॥ १।१०।२ ॥

यहाँ अर्क शब्द परोक्षवृत्ति है। ऋषि ने इसका निर्वचन √अर्च् से किया है। इस निर्वचन से एक तरफ तो ऋषि का अभिप्राय बिल्कुल स्पष्ट हो गया है, जिससे अर्क का स्तुति किया जाने वाला तथा अर्किणः का स्तुति वाले अर्थ ही यहाँ है, अन्य सूर्य आदि नहीं, यह पाठक को प्रतीत हो गया। दूसरी तरफ अनुप्रास का चमत्कार भी उत्पन्न हो गया, जिससे यह मन्त्र गाने में भी अच्छा लगता है और याद करने में भी आसान हो गया है। इसी भाव को अन्यत्र अर्चन्तो अर्कम् १।८।५।२; अर्चन्त्यर्कम् १६६।७ तथा ५।३०।६ में भी कहा गया है। अथर्ववेद संहिता २०।१२।६ में भी अभ्यर्चन्त्यर्कम् के रूप में कहा गया है।

(ख) पूर्वीरिन्द्रस्य रातयो न वि दस्यन्त्यूतयः।
यदी वाजस्य गोमतः स्तोतृभ्यो मंहते मघम् ॥ १।११।३ ॥

यहाँ मघ में आपाततः √ मंह् के दर्शन नहीं होते। विकृत रूप में होते हैं। अतः यह परोक्षवृत्ति पद है। √मंह् से इसका निर्वचन किया गया है।

(ग) हविषा जारो अपां पिपर्ति पपुरिर्नरा।
पिता कुटस्य चर्षणिः ॥ १।४६।३ ॥

यहाँ पपुरि का निर्वचन पिपर्ति से किया गया है। इन्द्र के नाम पर्प्रिः का निर्वचन एक दूसरी धातु से यों किया गया है :

(घ) स नः पर्प्रिः पारयाति स्वस्ति नावा पुरुहूत।
इन्द्रो विश्वा अति द्विषः ॥ ८।१६।११ ॥

(ङ) इन्द्राविष्णू मदपती मदानामा सोमं यातं द्रविणो दधाना।
सं वामञ्जन्त्वक्तुभिर्मतीनां सं स्तोमासः शस्यमानास उक्थैः ॥ ६।६६।३ ॥

यहाँ परोक्षवृत्ति अक्तु का निर्वचन अञ्जन्तु आख्यात से किया गया है।

(च) स नः पुनान आ भर रयिं स्तोत्रे सुवीर्यम्।
जरितुर्वर्धया गिरः ॥ ६।४०।५ ॥

यहाँ जरितुः, गिरः शब्दों के प्रयोग से ऋषि ने इन दोनों शब्दों—जरितृ और गिर्—में कोई सम्बन्ध है, यह बताने का प्रयास किया है। अवगतसंस्कार शब्दों की निरुक्तियों के प्रसङ्ग में हमने स्तुति के अर्थ में गिर् का सम्बन्ध गृणाति से बताने वाले

मन्त्र उद्धृत किये हैं। ठीक उसी अर्थ में जरन्ते तथा जरितारः को भी उद्धृत किया है (द्र. १. क)। **जरतं च सूरीन्** (७।६७।१०) और **जरमाणः समिध्यसे** (१०।११८।५) में √जर् का भी **गृणाति** के समान अर्थ में ही प्रयोग मिलता है। अतः प्रतीत होता है कि इन दोनों में कोई ऐतिहासिक सम्बन्ध है, जिसे यहाँ ऋषि दोनों धातुओं से निष्पन्न नामपदों के युगपत् प्रयोग से प्रकाश में लाना चाहते हैं[1]।

(छ) **यत्पाकत्रा मनसा दीनदक्षा न यज्ञस्य मन्वते मर्त्यासः।**
अग्निष्टद्धोता क्रतुविद् विजानन्यजिष्ठो देवां ऋतुशो यजाति ॥१०।२।५॥

यहाँ निर्वचनीय शब्द मूल में न देकर केवल व्याख्या ही दी है। और यह व्याख्या है वैदिक काल में बहुत प्रसिद्ध अग्नि के नाम **ऋत्विज्** शब्द की। यह शब्द परोक्ष है कि नहीं, इस विषय में अपनी तरफ से कुछ न कह कर हम इसके निर्वचन के बारे में निरुक्त (३।१९) की **ऋत्विक् कस्मात्? ईरणः। ऋग्यष्टा भवतीति शाकपूणिः। ऋतुयाजी भवतीति वा।**—पङ्क्तियों में उल्लिखित मतभेदों की ओर ही सुधी जनों का ध्यान दिलाना पर्याप्त समझते हैं। ऋग्वेद के अन्य ऋषियों ने, तथा प्रकृत ऋषि ने अन्यत्र भी, **ऋत्विज्** का अर्थ इसी प्रकार किया है :

(अ) **को अग्निमीट्टे हविषा घृतेन स्रुचा यजाता ऋतुभिर्ध्रुवेभिः** ॥१।८४।१८॥

(आ) **पिप्रीहि देवां उशतो यविष्ठ विद्वां ऋतूंर्ऋतुपते यजेह** ॥१०।२।१॥

(इ) **वृषा वृष्णे दुदुहे दोहसा दिवः पयांसि यह्वो अदितेरदाभ्यः।**
विश्वं स वेद वरुणो यथा धिया स यज्ञियो यजतु यज्ञियां ऋतून् ॥१०।११।१॥

(ज) **ग्रावाणो न सूरयः सिन्धुमातर आदर्दिरासो अद्रयो न विश्वहा** ॥१०।७८।६॥

यहाँ **अद्रि** का निर्वचन **आदर्दिरासः** आख्यात से किया है।

(झ) **होत्रादहं वरुण बिभ्यदायं नेदेव मा युनजन्नत्र देवाः।**
तस्य मे तन्वो बहुधा निविष्टा एतमर्थं नचिकेताहमग्निः ॥१०।५१।४॥

नचिकेता अग्नि का एक नाम है। पर इसका कारण स्पष्ट नहीं है। इस मन्त्र में अग्नि के द्वारा ही **न चिकेत** (कोई नहीं जानता) को उसकी सञ्ज्ञा पड़ने का कारण बताया गया है। अन्यत्र भी यही निरुक्ति दी गई है :

तद्वामृतं रोदसी प्रब्रवीमि जायमानो मातरा गर्भो अत्ति।
नाहं देवस्य मर्त्यश्चिकेताग्निरङ्ग विचेताः स प्रचेताः ॥ १।७९।४ ॥

(ञ) **गिर्वणस्** शब्द का प्रयोग ऋग्वेद में स्तोताओं की **स्तुति** (**गिरः**) स्वीकार करने वाला अर्थ में इन्द्र, इन्द्र और अग्नि, अश्विनौ आदि के लिए बहुधा हुआ है। जैसे—

1. तुलना के लिए देखें : निरुक्त १।७ में **जरिता गरिता**। और डा. सिद्धेश्वर वर्मा कृत **एटिमालाजीज् आफ् यास्क**, पृष्ठ ५, में **जरितृ** पर लेख।

यदि स्तोतारः शतं यत् सहस्रं गृणन्ति गिर्वणसं शन्तदस्मै ॥६।३४।३॥

अब इसी का निर्वचन देखिये —

शृणुतं जरितुर्हवमिन्द्राग्नी वनतं गिरः ।

ईशानाः पिप्यतं धियः ॥ ७।६४।२ ॥

इमां मे मरुतो गिरमिमं स्तोममृभुक्षणः ।

इमं मे वनता हवम् ॥ ८।७।६ ॥

इन दोनों मन्त्रों में विग्रह करके तथा पिछले मन्त्र में समास करके एक ही बात कही गई है। अतः अन्तिम दो के कथन को हम **गिर्वणस्** पद के निर्वचन के रूप में ले सकते हैं।

निष्कर्ष :—ऋग्वेद संहिता में आए बहुत से निर्वचनों में से उपर्युद्धृत २१ के अध्ययन के आधार पर हम कह सकते हैं कि ऋषियों ने निम्नलिखित सिद्धान्तों को आधार मान कर निर्वचन किये हैं :

१. केवल दो को छोड़ कर शेष १६ निर्वचनों में नामपदों के आधार के रूप में धातु से निष्पन्न शब्द को ही खोजा गया है। अतः इस आधार पर कहा जा सकता है कि वे लोग नामपदों को आख्यातज मानते थे।

२. शब्द के अर्थ और धातु के अर्थ में सामञ्जस्य उन्हें इष्ट था। यही कारण है कि आदित्य के लिए प्रसिद्ध **पपुरि** (द्र. २. ग) का निर्वचन **भरना** (जल की वर्षा से) के कारण **पिपर्ति** से तथा आपत्ति से पार लगाने वाले इन्द्र के नाम **पप्रि** (द्र. २. घ) का निर्वचन **पार करना** के कारण **पारयति** से किया गया है। इससे सिद्ध होता है कि वे निर्वचन में अर्थ को ही प्रधानता देते थे। स्वर-संस्कार की दृष्टि से तो दोनों ही नाम-पदों में धातु को अभ्यास हुआ है। प्रत्ययों में भी कोई बड़ा भेद नहीं लगता। अतः वे भी **अर्थनित्यः परीक्षेत** के सिद्धान्त को ही मानते थे, तथा स्वरसंस्कार की बहुत चिन्ता नहीं करते थे।

३. प्रत्यक्षवृत्ति और परोक्षवृत्ति दोनों प्रकार के शब्दों का एक ही प्रकार से निर्वचन किये जाने से सिद्ध होता है कि वे अनवगतसंस्कार शब्दों का ही निर्वचन किया जाना चाहिए—नैरुक्तों की इस मान्यता को नहीं मानते थे।

४. धातु और उनसे बने नाम पदों में बहुधा ध्वनियों में अन्तर होता है। जैसे √**अर्च्** में च् है और उससे निरुक्त **अर्क** में क् है। √**अञ्ज्** में ञ्ज् हैं, और **अक्तु** में उनके स्थान पर क् है। **जरितुः** में आदि में जकार है तो **गिरः** में गकार है। **ऋतु+यज्** में धातु में यकार है तो **ऋत्विज्** में उस स्थान पर इकार है। √**मंह्** में ह् है तो **मघ** में घ है। इन ध्वनि-भेदों के कारण ये शब्द अपने-अपने मूल रूप से हटे हुए प्रतीत होते हैं। जब ऋषि दोनों का इकट्ठा प्रयोग करते हैं, तो इसका

अर्थ यह है कि वे इन ध्वनियों में कोई आपसी सम्बन्ध मानते हैं, तथा भाषा में ध्वनिपरिवर्तनों की स्थिति और उनके वैज्ञानिक आधार से भी भली-भाँति परिचित हैं। ऋषि भाषा-विज्ञान के **तालव्य नियम** से अर्थात् किन स्थितियों में गकार जकार में, यानी कण्ठ्य ध्वनि तालव्य वर्ण में बदल जाती है, इस नियम से, य्, व् आदि अन्तस्थ ध्वनियों के **सम्प्रसारण** के नियम से तथा महाप्राण घोप स्पर्श वर्णों और ह के आपसी सम्बन्ध के नियम से सुपरिचित हैं।

५. **अश्विनों** की दो निरुक्तियाँ देने से सिद्ध होता है कि ऋषि एक शब्द का एक निर्वचन देना ही आवश्यक नहीं मानते थे। व्याकरण में एक शब्द की व्युत्पत्ति का एक ही आधार मान्य होता है, किन्तु अर्थनिरूपणप्रधान निर्वचन में एक ही आधार मान्य नहीं होता। विभिन्न स्तरों पर एक ही शब्द के भिन्न-भिन्न आधार हो सकते हैं। समझदार लोग **अशन** क्रिया (व्यापना) के कारण √**अश्**+**विन्**> अश्विन् नाम पड़ा मान सकते हैं, और जनसाधारण **अश्वों** से इन देवों का सम्बन्ध जोड़ने वाली किसी लुप्त पुराकथा की कड़ी के आधार पर ही उन्हें **अश्व**+**इन्**> **अश्विन्** कह सकते है[1]। **यास्क** प्रथम निर्वचन के और **और्णवाभ** आचार्य दूसरे निर्वचन के समर्थक हैं (निरुक्त १२।१)।

६. **गिर्वणस्** पद और उसकी निरुक्ति को देख कर कहा जा सकता है कि ऋषि लोग एकपदों का ही निर्वचन नहीं करते थे, अपि तु समस्त पदों का निर्वचन भी करते थे। इन पदों के निर्वचन में वे पहले पूर्वपद का और फिर उत्तर पद का अर्थ इस प्रकार स्पष्ट किया करते थे कि समास वृत्ति का अर्थ भी इन्हीं में स्पष्ट हो जाता था। गिर् पद तो स्वतन्त्र पद के रूप में प्रसिद्ध है ही, **वनस्** शब्द का भी स्वतन्त्र प्रयोग निम्नलिखित मन्त्रों में मिलता है :

(क) **मा त्वा मूरा अविष्यवो मोपहस्वान आ दभन्।**
माकीं ब्रह्मद्विषो वनः ॥८।४५।२३॥

(ख) **आ याहि वनसा सह गावः सचन्ति वर्तनिं यदूधभिः ॥१०।१७२।१॥**

प्रथम मन्त्र में **वनः** सम्बोधन पद है तथा द्वितीय में तृतीयान्त पद। उत्तरपद के रूप में **गिर्वणस्** के अलावा **यज्ञवनस्** में भी मिलता है

(क) **स भ्रातरं वरुणमग्न आववृत्स्व देवाँ अच्छा सुमती यज्ञवनसं ज्येष्ठं यज्ञवनसम् ॥४।१।२॥**

(ख) **अवा नु कं ज्यायान्यज्ञवनसो महीं त ओमात्रां कृष्टयो विदुः ॥१०५०।५॥**

इस विवरण से हमारा विचार है कि डा. **सिद्धेश्वर वर्मा** का (पृष्ठ १६५ पर) यह कथन भी भ्रान्त ही सिद्ध होता है कि **वनस्** प्रातिपादिक (stem) स्तुति को स्वीकार

---

१. द्र. **सिद्धेश्वर वर्मा, दी एटिमालाजीज् आफ् यास्क**, पृ. १६५।

(या प्राप्त) करने वाला अर्थ में चालू भाषा में सुप्रचलित नहीं हो पाया था और इसी बात को दृष्टि में रख कर पदपाठकार ने इस शब्द में अवग्रहण नहीं किया।

वनस् शब्द स्वतन्त्र शब्द (Stem) के रूप में स्थिर हो चुका था। तथा इसका अर्थ था स्वीकार करने वाला एवं यह √वन् से व्युत्पन्न था। √वन् का अर्थ भी स्वीकार करना ही था, यह हम गिर्वणस् के निर्वचनों में देख चुके हैं। स्तुति रूप कर्म अर्थ गिर् (पूर्वपद) का है, वनस् का नहीं। अतः वर्माजी का (वनस्–as a stem in the sense of 'receiver of praise') कहना ही गलत है। क्योंकि वनस् का अर्थ तो receiver ही है। सकारान्त प्रकृतियाँ तपस्, पेशस्, मनस्, महस्, वचस् और वासस् आदि शब्दों के रूप में वेद में सुप्रसिद्ध हैं ही।

७. व्यक्तिवाचक नाम प्रायः यादृच्छिक होते हैं। पर कभी-कभी अनुकरण, विशेष अवस्था, आदत आदि को दृष्टि में रख कर तथा व्यङ्ग्य (परिहास) में भी पड़ जाया करते हैं। अतः व्यक्तिनामों में ये विशेष बातें भी ध्यान में रखनी चाहिएँ। अग्नि के नचिकेता नाम के निर्वचन से विदित होता है कि ऋषि इस आधार से भली-भाँति परिचित हैं।

इन निर्वचनों में से नौ निर्वचन निरुक्त में भी मिलते हैं। इन में से १ अर्क, २ गायत्र, ३ गिरः, ४ मेघ, ५ सोम के निरुक्त में दिये निर्वचन वैदिक निर्वचनों से बिल्कुल मिलते हैं[1]। ६ अश्विन् और ७ पपुरि के निर्वचन में आख्यात और उसका अर्थ तो वैदिक के समान ही हैं, किन्तु गणीय विकरण की दृष्टि से दोनों में भेद है[2]। ८ ऋत्विज् को एकाधिक निरुक्तियों में से वेद वाली निरुक्ति या कह कर दी है[3]। ९ यज्ञ का निर्वचन वेद और निरुक्ति में अर्थ तथा धातु की दृष्टि से समान ही है, किन्तु उसे निरुक्त में नैरुक्तों के नाम से दिया गया है[4]। इस के दो अर्थ हो सकते हैं :

(क) यास्क ऋषियों को भी नैरुक्त मानते हैं।

(ख) याज्ञ आदि अन्य निरुक्तियों की अपेक्षा ऋतुयाजी अधिक वैज्ञानिक और प्रामाणिक है, यह निर्वचन के प्रमाणभूत आचार्यों (नैरुक्तों) के नाम से प्रकट करना चाहते हैं।

शेष शब्दों में से भी निम्नलिखित शब्द निरुक्त में आए हैं। १ सहस् का केवल अर्थ (बल) ही एकाधिक बार दिया गया है[5]। २ अकिणः, ३ जिष्णु, ४ शक्र ५ सदस् शब्दों पर कोई टिप्पणि नहीं दी गई है[6]। ६ अक्तु शब्द का निर्वचन भी

१. द्र. क्रमशः (१) ५।४; (२) १।८, (३) १।१०, (४) १।७, (५) ११।२।

२. द्र. (६) १२।१; (७) ५।२४।

३. द्र. ३।१९।

४. द्र. ३।१९।

५. द्र. ५।२५; ११।९।

६. द्र. क्रमशः (२) ५।४; (३) १२।३; (४) ६।१६; (५) ९।२९।

नहीं किया गया है और अर्थ भी वैदिक से भिन्न (रात्री) दिया गया है[१]। ७ अद्रि का निर्वचन दोनों जगह समान-सा ही लगता है। वेद में धातु का प्राचीन रूप प्रयुक्त है, निरुक्त में लौकिक[२]। ८ वेद में जरितुर्गिरः के युगपत् प्रयोग से बतलाए गये सम्बन्ध को निरुक्त में जरिता गरिता कह कर बतलाया गया है[३]। निरुक्त में आशु पद शीघ्र, या क्षिप्रकारी अर्थ में है[४], अश्व अर्थ में नहीं। निघण्टु (१।१४) में अश्व नामों में है, किन्तु अश्वनामों की व्याख्या के प्रकरण में यास्क ने इसकी व्याख्या नहीं की है। सम्भवतः अश्व पद की व्याख्या से ही गतार्थ समझ लिया हो।

ऊपर दिये उद्धरणों में से **अर्कैभिरर्किणः** और **अर्चन्त्यर्कमर्किणः** से यह प्रकाश भी पड़ता है कि वैदिक ऋषियों को एक शब्द के अनेक अर्थ होते हैं—केवल इतना ही मालूम नहीं था, अपितु इसका भाषाशास्त्रीय आधार भी भली-भांति विदित था। **अर्क** शब्द के दो अर्थ होते हैं : एक **स्तोत्र** तथा दूसरा **स्तवनीय देव**[५]। यह भेद ऋषि ने स्तोत्र वाचक **अर्क** शब्द के साथ तृतीया लगा कर, तथा देववाचक **अर्क** में द्वितीया लगा कर स्पष्ट किया है। स्तोत्रार्थक **अर्क** शब्द करण या भाव में प्रत्यय से निष्पन्न है, तथा देवतार्थक **अर्क कर्म** में। इससे प्रतीत होता है कि इस प्रकार के विशेष अभिप्रायों से शब्दों के प्रयोग में निपुण ऋषियों की अपने समय के **पदशास्त्र** एवं **वाक्यशास्त्र** में बहुत गहरी अन्तर्दृष्टि थी। सब विषयों के हस्तामलकवत् प्रत्यक्ष उपस्थित होने से, अर्थात् उनके साक्षात्कृतधर्मा होने से, भले ही उन्होंने उन विशेषताओं को समाम्नाय का रूप न दिया हो और वह अन्तर्दृष्टि की सरस्वती उनके साथ ही काल की मरुभूमि में अन्तःसलिला हो गई हो, या वह समाम्नाय के रूप में आकर भी इन शास्त्रों के विकसित होने की प्रक्रिया में योग देकर स्वयं लुप्त हो गयी हो।

जरिता और **गरिता** पर भी हम दो शब्द कहना चाहेंगे। भारोपीय भाषा में स्तुति अर्थ में धातु थी guera। इसके g (ग्) की दो परिणतियाँ भारत-ईरानी भाषाओं में हुईं : इस ग् के पश्चात् भारोपीय में जहाँ ए था वहाँ (उस शब्द में) भारत-ईरानी में ग् को ज् हो गया तथा उसके बाद के ए के स्थान में भारतीय भाषा (वैदिक) में अ हो गया। अर्थात् वैदिक (और उनकी उत्तराधिकारिणी संस्कृत) का अ भारोपीय के अ, अ (अर्ध अकार), ए और ओ का प्रतिनिधि है। यही कारण है कि भारोपीय भाषा में गे के रूप में विद्यमान अक्षर का रूप वैदिक में ज होगया।

उदाहरण : जरन्ते, जरितृ, जरथ। किन्तु भारोपीय ए से अन्य स्वरों से

१. द्र. ५।२८; १२।२३।
२. द्र. ४।४।
३. द्र. १।७।
४. द्र. ६।१; ६।६; १०।२८।
५. द्र. निरुक्त ५।४ : **अर्को देवो भवति यदेनमर्चन्ति। अर्को मन्त्रो भवति, यदनेनार्चन्ति।** देवपरकता की पुष्टि में यास्क ने ऋ. सं. १।१०।१ को उद्धृत किया है।

पूर्व ग् में कोई परिवर्तन नहीं हुआ। जैसे—गृणाति, गिरः, गीर्णम्। ऋग्वेद संहिता में केवल एक बार मिलने वाला शब्दरूप गरन् निश्चय ही √गृ=भारोपीय guera (स्तुति) से निष्पन्न नहीं है, अपितु किसी अन्य धातु से निष्पन्न है। इसी प्रकार गर्त शब्द भी आवाज करना अर्थ वाली किसी अन्य धातु से निष्पन्न है, जिसमें गकार के बाद एकार भारोपीय में नहीं है।

उपर्युक्त तथ्य ऋग्वेद संहिता में इस अर्थ वाली √गृ और उससे व्युत्पन्न शब्दों के प्रयोग में भली-भाँति स्पष्ट है। जर् और गिर् या गृ रूप वाले शब्दों के प्रयोग की सङ्ख्या तथा बाद के साहित्य में इन दोनों की स्थिति को देख कर यह बात भी प्रतीत होती है कि भारोपीय से परिवर्तित इस जकार का क्षेत्र सीमित तो था ही, समय बीतने पर जकारवान् रूप कम पड़ता गया तथा फिर तो गरिता गरिष्यति आदि में गकार ही रह गया; जकार नष्ट हो गया। जकार की अनिवार्यता केवल अभ्यास में ही रह गई।

बाद की वैदिक संहिताओं में भी यद्यपि निर्वचन मिलते हैं, किन्तु उनमें वह ताजगी, स्वयंस्फूर्तता, स्वाभाविकता तथा विविधता नहीं है, जो हमें ऋग्वेद संहिता में मिलती है। यह विविध संहिताओं से सङ्कलित निम्नलिखित निर्वचनों से स्पष्ट हो जायेगा।

वाजसनेय संहिता : १. देवस्त्वा सविता पुनातु वसोः पवित्रेण....(१।३)। २ धूरसि धूर्व धूर्वन्तं धूर्व तं योऽस्मान्धूर्वति, तं धूर्व यं वयं धूर्वामः (१।८), ३. भृगूणामङ्गिरसां तपसा तप्यध्वम् (१।१८), ४. धान्यमसि, धिनुहि देवान् (१।२०), ५ विष्णो र्वैष्णोऽसि (१।३०), ६ अग्निरिड ईडितः (२।३), ७. मयीदमिन्द्र इन्द्रियं दधातु (२।१०), ८. यं परिधिं पर्यधत्थाः (२।१०) ९. वेदोऽसि येन त्वं देव वेद (२।२१), १०. केतपूः केतं नः पुनातु (११।१७)।

सामवेदसंहिता : ११. विप्राय गाथं गायत (सङ्ख्या ४४६), १२. सं वर्तयति वर्तनिम् सुजाता (४५१), १३. उरोर्वरीयो वरुणस्ते कृणोतु (१८७०)।

अथर्ववेद संहिता (शौनकशाखा) : १४. यत्र धामाने अनिमानि वेत्थ गुहा सतामत्रिणां जातवेदः (१।८।४), १५ अयं देवानामसुरो विराजति वशा हि सत्या वरुणस्य राज्ञः (१।१०।१), १६. नक्तं जाताऽस्योषधे रामे कृष्णे असिक्नि च इदं रजनि रजय (१।२३।१), १७. तान् वो अस्मै सत्रसदः कृणोमि (१।३०।४), १८. रणाधारिष्यन्तो दक्षमाणाः सदैव (२।४।१), १९. वृश्चामि तं कुलिशेनेव वृक्षम् (२।१२।३), २० यस्य ते वासः प्रथमवास्यं हरामः (२।१३।५), २१. विश्वम्भर विश्वेन मा भरसा पाहि (२।१६।५) २२. अग्ने यत्ते हरस्तेन तम्प्रति हर (२।१९।२), २३. अग्ने यत्तेऽर्चि... प्रत्यर्च (३), २४. अग्ने...शोचि प्रतिशोच (४), २५. प्र ते भृणामि भृङ्गे (२।३२।६), २६. यूयमुग्रा मरुत ईदृशे स्थाभि प्रेत मृणत सहध्वम्।

अमीमृणन्वसवो नाथिता इमे अग्निं ह्येषां दूतः प्रत्येतु विद्वान् (३।१।२), २७. ग्राहिर्जग्राह(३।११।१), २८. यददः सम्प्रयतीरहावनदता हते। तस्मादा नद्यो नाम स्थ ता वो नामानि सिन्धवः (३।१३।१) २९. यत्प्रेषिता वरुणेनाच्छीभं समवल्गत। तदाप्नोदिन्द्रो यतीस्तस्मादापो अनुष्ठन (२), ३०. अपकामं स्यन्दमाना अवीवरत वो हि कम्। इन्द्रो वः शक्तिभि र्देवीस्तस्माद् वार्नाम वो हितम् (३), ३१. एको वो देवोऽप्यतिष्ठत्स्यन्दमाना यथावशम्। उदानिषु र्महीरिति तस्मादुदकमुच्यते (४)।

उपर्युक्त निर्वचनीय पदों में से निम्नलिखित पद अवगत-संस्कार हैं, अर्थात् बहुत स्पष्ट हैं: १ पवित्र (उद्धरण सङ्ख्या १), २ तपस् (३), ३ विष्णु[1] (५), ४ इन्द्रिय (७), ५ परिधि (८), ६ वेद (९), ७ केतपू (१०), ८ गाथ (११), ९ वर्तनि (१२), १० रजनी (१६), ११ सत्रसदः (१७), १२ वासः (२०), १३ विश्वम्भर (२१), १४ हरस् (२१), १५ ग्राहि (२६)।

निम्नलिखित शब्दों का मूल समझने में कुछ कठिनाई आती है, अतः इनके निर्वचन विशेष ध्यान देने योग्य हैं। १. : (२) धूः √धूर्व् से निष्पन्न बतलाया है। ऋग्वेद में √धूर्व् का अर्थ हिंसा रहा है:

यो नः स्वो अरणो यश्च निष्ट्यो जिघांसति।
देवास्तं सर्वे धूर्वन्तु ब्रह्म वर्म ममान्तरम्॥ ६।७५।१९॥

प्रकृत निर्वचन में भी यही अर्थ है। पाणिनि ने भी √धूर्व्+क्विप् से इसकी व्युत्पत्ति की है[2]।

२. धान्य (४) √धिनोति (प्रसन्न करना, तृप्त करना) से बतलाया है। ऋग्वेद संहिता में √धा से माना लगता है: धत्ते धान्यं पत्यते वसव्यैः (६।१३।४)। इससे मिलता-जुलता धाना शब्द यास्क ने √धा से माना है (५।१२)। उणादि सूत्रों में ये दोनों ही शब्द √धा से व्युत्पन्न माने गये हैं[3]।

३. इळ (६) ऋग्वेद संहिता (३।४।३, १०।१७।९) में इळ भी अग्नि के नाम के रूप में आया है। यहाँ उसका निर्वचन √ईड् से दिया है। यास्क (८।८) भी इससे सहमत हैं।

४. वरीयः (१३) उरु का आपेक्षिक अर्थ में रूप है। ये दोनों ही √वृ (वरण) से निष्पन्न प्रतीत होते हैं। वरुण शब्द भी भारोपीय uer से ही निष्पन्न है। उरु का समान शब्द ग्रीक् में eurus है, अवेस्ता में उरु ही है।

---

१. कुछ लोग जिष्णु, सविष्णु, सहिष्णु की तर्ज पर वि+स्नु>विष्णु भी मानते हैं। भारतीय परम्परा विष्णु को √विष् से ही निष्पन्न मानती है।

२. द्र. अष्टा. ३।२।१७७ : भ्राज-भास-धुर्वि-द्युतोर्जि-पॄ-जु-ग्रावस्तुवः क्विप्।

३. द्र. उणादि सूत्र २९३ : धा-पॄ-वस्यज्यतिभ्यो नः (धानाः); ७३६ : दधातेर्यन्नुट् च (धान्यम्)।

५. जातवेदस् (१४) की ऋग्वेद में ही कई व्याख्याएं मिलती हैं। यह तो निस्सन्देह है कि जात+वेदस् का समस्त रूप ही जातवेदस् है तथा जात पद √जन् से सम्बन्धित है। किन्तु वेदस् के चार अर्थ दिये गये हैं :

(क) जन्मञ्जन्मन्निहितो जातवेदाः ॥ ३।१।२०-२१ ॥

(ख) विश्वा वेद जनिमा जातवेदाः ॥ ६।१५।१३ ॥

(ग) जात आपृणो भुवनानि रोदसी ॥ ३।३।१० ॥

(घ) त्वमग्ने शोचिषा शोशुचान आ रोदसी अपृणा जायमानः।
त्वं देवाँ अभिशस्तेरमुञ्चो वैश्वानर जातवेदो महित्वा ॥७।१३।२॥

(ङ) जातो यदग्ने भुवना व्यख्यः ॥ ७।१३।३ ॥

इन स्थलों में से (ख) और ऊपर उद्धृत (१४) मन्त्र में वेदस् ज्ञानार्थक √विद् से निष्पन्न बतलाया है। (क) में निहित (सत्तावान्) अर्थ में √विद् से निष्पन्न है। (ग और घ) में भरना अर्थात् लाभ वाला √विद् प्रतीत होता है। (ङ) में ज्ञान कराना अर्थात् प्रकट करना अर्थ में ज्ञानार्थक √विद् का प्रेरणार्थक रूप अभिप्राय में है। इन सब निर्वचनों में ज्ञानार्थक √विद् से किया निर्वचन ही अधिक सङ्ख्या में मिलने के कारण प्राचीनतम तथा इष्टतम प्रतीत होता है[1]। रोथ् का मत है कि लाभार्थक √विद् से निष्पन्न वेदस् (possession) ही जातवेदस् में है, तथा इसका अर्थ है सब (प्राणी जिसकी सम्पत्ति हैं, अर्थात्) प्राणिगणों का स्वामी[2]। वेदस् का सम्पत्ति अर्थ में प्रयोग ऋग्वेद संहिता (पूषा नो यथा वेदसाम् असद् वृधे ॥ १।८९।५ ॥) में हुआ अवश्य है, किन्तु जातवेदस् से सम्बद्ध स्थलों में इस अर्थ में प्रयोग स्पष्ट रूप में नहीं मिलता। अतः जब तक इस विषय में पोषक मन्त्र न मिले, इसे रोथ का प्रौढिवाद ही कहा जायेगा।

६. राजन् (१५) पद √राज् से निरुक्त है। वरुण राजा के वश में हैं—कहने से प्रतीत होता है कि ऋषि दीप्त्यर्थक √राज् से राजा नहीं मानते, अपितु शासन, ऐश्वर्य अर्थ वाली √राज् से मानते हैं। ऋग्वेद के निम्न मन्त्र से भी यही सिद्ध होता है :

विश्वस्य हि प्रचेतसा वरुण मित्र राजथः।
ईशाना पिप्यतं धियः ॥५।७१।२॥

अवेस्ता में √राज् से रास्तर (raz<rastar) नेता अर्थ में प्रयुक्त है। लैटिन में √रेगो (rego : to direct) से rex (राजा) प्रयुक्त होता है। कालिदास ने :

---

१. द्र. दी एटिमालाजीज् आफ् यास्क, पृष्ठ १३२।

२. द्र. रोथ्-सम्पादित निरुक्त, टिप्पणियां, पृ० १०७।

यथा प्रह्लादनाच्चन्द्रः प्रतापात्तपनो यथा।
तथैव सोऽभूदन्वर्थो राजा प्रकृति-रञ्जनात् ॥ रघुवंश ४।१२ ॥

में √रञ्ज् से राजा माना है। भाषाशास्त्र की दृष्टि से ऊपर दिया वैदिक निर्वचन ही ठीक है[1]।

७. रण (१८) का सम्बन्ध गत्यर्थक √ऋ से बताया है। यह धातु भारोपीय काल की है : (e) re- ; अवेस्ता में यह शब्द rana (अकार अर्धह्रस्व है, जो संस्कृत में नहीं होता) है। यास्क ने (४।८) में युद्ध अर्थ में तथा (६।२६) में दर्शन अर्थ में दोनों स्थानों में रमणीय अर्थ में √रम् से निष्पन्न माना है।

८. वृक्ष (१६) का √वृश्च् से सम्बन्ध जोड़ा है। डा. सिद्धेश्वर वर्मा का (पृष्ठ ६६ पर) मत है कि यह भारोपीय √वृक् (urk : to tear) से स् बढ़ा कर निष्पन्न धातु से व्युत्पन्न है।

६. अर्चिः (२२) को √अर्च् से माना है। वैदिक में दो √अर्च् हैं : एक स्तुति अर्थ में है, जिससे स्तोत्रार्थक तथा स्तवनीय देवार्थक अर्क शब्द निष्पन्न हुए हैं। दूसरी दीप्ति अर्थ में है : बृहदर्च विभावसो (ऋ. सं. ५।२५।७)। इससे सूर्यार्थक अर्क, ज्वालार्थक अर्चि और अर्चिष् शब्द प्रचलित हुए हैं। अग्नि के प्रसङ्ग में दोनों √अर्च् धातुओं का प्रयोग ऋग्वेद में हुआ है। दीप्त्यर्थक को अभी ऊपर दिया ही है। स्तुत्यर्थक : अर्चा देवायाग्नये (५।१६।१), अग्निं देवेद्धमभ्यर्चसे गिरा (१०।६४।३)। इसी प्रकार शोचिष् (२३) शब्द भी √अर्च् की समानार्थक √शुच् से निष्पन्न है : बृहच्छोचन्त्यर्चयः (५।१७।३)।

√अर्च् एवम् अर्क आदि के प्रसङ्ग में डा. फतहसिंह के (पृष्ठ ६३-६४ पर) इस कथन से हम सहमत नहीं हैं कि मूलतः √अर्च् का अर्थ ताप देना, जलाना, चमकना रहा होगा तथा फिर शीतप्रधान देश में अतिथि के स्वागत में अग्नि के अत्यन्त आवश्यक एवम् अपेक्षित होने से इस का प्रयोग सत्कार अर्थ में हुक्का-पानी देना, पान-तमाखू देना आदि प्रयोगों के अर्थ के समान लाक्षणिक प्रयोग होते-होते उस अर्थ में भी रूढ हो गया।

√अर्च् स्तुति, सूक्त कहना अर्थ में भारोपीय है, यह हमें वैदिक के अर्क, √अर्च् के प्रयोगों से तो विदित होता ही है, ऋच्, ऋचीष आदि शब्दों से भी यही सिद्ध होता है। भारोपीय में यह धातु एर्क् (erk) आर्मीनियन भाषा में इस से

१. तु. रघुवंश ४।१२ पर मल्लिनाथ : यद्यपि राज-शब्दो राजतेर्दीप्त्यर्थात् कनिन्प्रत्ययान्तो, न तु रञ्जेस्, तथाऽपि धातूनामनेकार्थत्वाद्रञ्जनाद्राजेत्युक्तं कविना।

मल्लिनाथ का आशय यह है कि √रञ्ज् < राजन् कह कर कवि ने राजन् शब्द का अर्थ-निर्वचन किया है, शब्दनिर्वचन नहीं। धातुओं के अनेकार्थक होने के कारण √राज् ही √रञ्ज् के अर्थ में है।

व्युत्पन्न एर्ग् (erg) शब्द गीत (song) अर्थ में है[1]। जलाना अर्थ में √अर्च्, अर्चि और अर्चिष् के ऋग्वेदीय प्रयोगों को हम ऊपर दे ही चुके हैं। अतः हमारे विचार से ये दो पृथक् अर्थ वाली पृथक् धातु हैं। अग्नि के प्रसङ्ग में दोनों ही अर्थों में √अर्च् के प्रयोग से सिद्ध होता है कि दोनों अर्थ समानकालिक तथा समान महत्त्व के हैं; एक अर्थ किसी अन्य अर्थ का विकास नहीं है।

१०. शृङ्ग (२४) को शृणामि (√शॄ) से माना है। डा. सिद्धेश्वर जी का (पृष्ठ ६२ पर) विचार है कि यह शब्द शिर, सिरा (head, top) अर्थ वाले भारोपीय √कृ (kr) या √कर (kera) से सम्बन्धित है। गाथिक भाषा में इस से हौर्न (hou'rn) बना और ग्रीक् में सिर अर्थ में केरस् (ke'ras) मिलता है। भारतीय भाषाओं में भारोपीय भाषा के कण्ठ्य ध्वनि के स्थान में बहुधा शकार मिलता है। इसलिए ग्रीक् में केरस्, तो वैदिक में शिरस्, गाथिक में कण्ठ्य हौर्न, तो, वैदिक में शृङ्ग।

हमारे विचार में यह कसरत ठीक नहीं हुई। पशुओं के शृङ्ग उनके अस्त्र हैं। उन्हें पालतू बनाने के चक्कर में ऋषियों को उनके तीखेपन का अनुभव बहुधा हुआ होगा। फलतः हिंसार्थक √शॄ से शृङ्ग का निर्वचन मुश्किल नहीं बल्कि स्वाभाविक ही है।

उद् वृह रक्षः सहमूलमिन्द्र वृश्चा मध्यं प्रत्यग्रं शृणीहि (ऋ. सं. ३।३०।१७)॥

मन्त्र में ऊपर के भाग के साथ √शॄ का प्रयोग भी इसी ओर सङ्केत देता प्रतीत होता है। यदि वर्मा जी का अनुमान ही माना जाए तो भी एक प्रश्न आता है: भारोपीय √कृ या √कर से सम्बन्धित सञ्ज्ञापद शिरस् और शृङ्ग में तो वह शिर वाला अर्थ सुरक्षित रहा, परन्तु उसी से सम्बन्द्ध धातु √शॄ में चुभना, हिंसा, अर्थ कैसे आया? इसलिए हमारा विचार तो यह है कि शब्द √शॄ से निष्पन्न है, जिसकी समान धातु उनके मत में भारोपीय kerā (to injure हिंसा) है जिससे वे शरारु शब्द को सम्बद्ध (पृष्ठ ६६ पर) मानते हैं।

११. मरुतः (२५) हिंसार्थक √मृ से निष्पन्न है। ऋग्वेद संहिता में इस अर्थ में इस धातु का प्रयोग बहुधा, किन्तु अग्नि और इन्द्र के प्रसङ्ग में (७।१०४।२२; १०।८४।३; १०।८७।१६ में) ही हुआ है। अतः यह अथर्ववेद संहिता का अपना निर्वचन है, जो आंधी-तूफान की उखाड़-पछाड़ के देवताओं पर ठीक लागू होता है।

१२. नदी (२७) √नद् से, १३. आप् (२८) √आप् से, १४. वार् (२९) √वृ से, १५. उदक (३०) उद्+√अन् से सम्बद्ध माना है। इन निर्वचनों में शैली की दृष्टि से एक विकास दृष्टि में आता है कि यहाँ हेतु के रूप में क्रिया को

१. द्र. दी एटिमॉलॉजीज् आफ् यास्क, पृ. १७, ४०, ६२, २३४।

देकर—चूँकि आप् शब्द (नदन) करती हैं, अतः नदी हैं—निर्वचन किया गया है। इस शैली में निर्वचन ब्राह्मणों में ही मिलते हैं, पूर्ववर्ती वाङ्मय में नहीं।

निष्कर्ष : इस प्रकार हम देखते हैं कि मन्त्रसंहिताओं के ये निर्वचन भाषा-शास्त्र की दृष्टि से प्राय: पूर्णतया वैज्ञानिक हैं। स्वाभाविकता तथा यों भी निर्वचनों की बहुलता ऋग्वेदसंहिता में अधिक है, उसके बाद क्रम है अथर्ववेदसंहिता का और फिर वाजसनेय संहिता का। सामवेद संहिता में जैसे स्वतन्त्र मन्त्र नगण्य से हैं, वैसे ही निर्वचन भी नगण्य ही हैं।

इन तीनों संहिताओं के निर्वचन सिद्धान्तों की दृष्टि से ऋग्वेदसंहिता के निर्वचनों के सिद्धान्तों से विकसित नहीं हैं। ब्राह्मणों के निर्वचनों की शैली का पूर्व रूप हमें अथर्ववेद संहिता के आपः, उदक, नदी और वार् की शैली के रूप में मिलता है। इससे यह भी सिद्ध होता है कि निर्वचन एक पद्धति के रूप में उभरता चला आ रहा था तथा एक विशिष्ट पद्धति के कारण जो भी मशीनी जड़ता, कृत्रिमता आनी थी, वह आरम्भ हो गई थी। निर्वचन अपनी स्वाभाविकता तथा मार्मिकता खोकर एक विधा बनने लग गये थे।

इन के बाद की संहिताओं में निर्वचन दोनों शैलियों में मिलते हैं। ऋग्वेद संहिता जैसी परोक्ष शैली के उदाहरण हैं :

(क) वह्निरसि हव्यवाहनः (तै. सं. १।३।३।१२), (ख) अर्यस्त्रिशत्तन्तवो ये वितन्विरे (१।५।१०।१३), (ग) आ जङ्घन्ति सान्वेषां जघनां उप जिघ्नते (४।६।६।१३), (घ) दूराद् दवीयो अप सेध शत्रून् (१८), (ङ) यच्च घासिं जघास (४।६।६।३)।

इन मन्त्रों में नाम तथा उससे सम्बन्ध आख्यात के इकट्ठे प्रयोग से ऋषि इन दोनों के सम्बन्ध को ध्वनित करना चाहते हैं। उनके मत में (क) वह्नि √ वह् से, (ख) तन्तु √ तन् से, (ग) जघन √ हन् के अभ्यस्त रूप वाले √ जङ्घन् से, (घ) दवीयस् दूर से, (ङ) घासि √ घस् से निरुक्त हैं। इन निर्वचनों में यह सम्बन्ध अथर्ववेद संहिता में उपलब्ध आपस्, उदक, वार् आदि के निर्वचनों की तरह हेतु-निर्देशपूर्वक प्रत्यक्ष रूप से नहीं किया गया है। अतः हम इसे परोक्ष निर्वचन कहेंगे। आपस्, उदक, वार् के निर्वचन को हम प्रत्यक्ष निर्वचन की शैली का आदिम रूप मानते हैं। इस शैली का विकसित रूप हमें संहिताओं में मिश्रित ब्राह्मण भागों में मिलता है :

(क) यदरोदीत् तद् रुद्रस्य रुद्रत्वम् ॥ तै. सं. १।५।१।१॥

(ख) वेदेन वै देवा असुराणां वित्तं वेद्यमन्वविन्दन्त, तद्वेदस्य वेदत्वम् ॥ तै. सं. १।७।४।१३॥

(ग) यन्नवमैत्, तन्नवनीतमभवत्। यदसर्पत्, तत् सर्पिरभवत्। यदध्रियत, तद्

षुतममवत् ॥ तै. सं. २।३।१०।१; काठक सं. ११।७; मैत्रा. सं. २।३।४ : ३१।१; २।३।५ : ३२।१६॥

यहाँ हम देखते हैं कि निर्वचन को हेतुपूर्वक देकर स्पष्ट शब्दों में तद् रुद्रस्य रुद्रत्वम्, तद् वेदस्य वेदत्वम् आदि उक्तियों से हेतु को पुष्ट किया गया है तथा नाम और आख्यात के सम्बन्ध को स्पष्ट रूप से कह कर बतलाया गया है।

ब्राह्मण ग्रन्थों में निर्वचन का शास्त्रीय रूप भी उभारा गया है। निर्वचनीय पदों के प्रत्यक्षवृत्ति तथा परोक्षवृत्ति भेद हमें यहाँ स्पस्ट किये गये मिलते हैं जैसे :—

(क) यदब्रुवन्मेदं प्रजापते रेतो दुषदिति तन्मादुषमभवत् तन्मादुषस्य मादुषत्वम्। मादुषं ह वै नामैतद् यन्मानुषं सन् मानुषमित्याचक्षते परोक्षेण॥ ऐ.ब्रा.३।३३॥

(ख) स वा एषोऽग्निरेव यदग्निष्टोमः। तं यदस्तुवंस्तस्मादग्निस्तोमः। तमग्निस्तोमं सन्तमग्निष्टोम इत्याचक्षते परोक्षेण॥ ऐ. ब्रा. ३।४३॥

(ग) ते यन्न्यञ्चोऽरोहंस्तस्मान्न्यङ् रोहति न्यग्रोहः। न्यग्रोहो वै नाम तत्। न्यग्रोहं सन्तं न्यग्रोध इत्याचक्षते परोक्षेण॥ ऐ. ब्रा. ७।३०॥

(घ) स होवाच इन्धो वै नामैष योऽयन्दक्षिणेऽक्षन् पुरुषः। तं वा एतमिन्धं सन्तमिन्द्र इत्याचक्षते परोक्षेणैव॥ श. ब्रा. १४।६।११।२॥

(ङ) स उ एव मखः, स विष्णुः। तत इन्द्रो मखवानभवन् मखवान् ह वै तं मघवानित्याचक्षते परोक्षम्॥ श. ब्रा. १४।१।१।२॥

इन निर्वचनों में हमें प्रत्येक शब्द की दो अवस्थाएँ दिखाई गई मिलती हैं : पहले प्रत्यक्षवृत्ति, फिर परोक्षवृत्ति। दूसरी अवस्था को स्पष्ट रूप से परोक्ष कहा भी गया है। जैसे :— मा+दुषत्>मादुष>मानुष, √स्तु>स्तोम, अग्नि+स्तोम> अग्निष्टोम। न्यञ्च्+√रुह्>न्यग्रोह>न्यग्रोध। इन्ध>इन्द्र। मख+वान्> मघवान्।

अतिपरोक्षवृत्ति की चर्चा यहाँ नहीं मिलती। परन्तु ब्राह्मणों में बहुत-से ऐसे निर्वचन भी किये मिलते हैं, जो वस्तुतः शब्द के अतिपरोक्षवृत्ति स्वरूप को ही प्रकट करते हैं। मानुष शब्द का निर्वचन इसका उदाहरण है। इसमें मा दुषत् को हम प्रत्यक्षवृत्ति तथा मादुष को परोक्षवृत्ति और मानुष को अतिपरोक्षवृत्ति शब्द कह सकते हैं। इस रूप में भेदकथन तो वस्तुतः निरुक्त में भी नहीं किया गया है। टीकाकारों ने अपने ऊह से इस अतिपरोक्षवृत्ति नामक तीसरे भेद की कल्पना की है।

संहिताओं में निर्वचनीय पद को और अधिक तथा युक्तिपूर्वक स्पष्ट करने के लिए ही ऋषि स्वतः उस पद के आख्यात अथवा उसी आख्यात से निष्पन्न अन्य नाम-पद या तद्धितान्त शब्दों में उस शब्द के मूल शब्द को देकर निर्वचन का—उन पदों तथा उनके आधारभूत आख्यातों या शब्दों के सम्बन्ध का— सङ्केत देते थे। ब्राह्मणों में बहुधा इस शब्द (से वाच्य पदार्थ) को ऐसा क्यों कहते

हैं ? इस प्रकार प्रश्न कर के शब्द के प्रकृति-विकृतिभाव सम्बन्ध को स्पष्ट किया जाने लगा : **कस्मात्तं होतेत्याचक्षते** ? इति (ऐ. ब्रा. १।२)। इस शैली का पल्लवन हमें यास्क के निरुक्त में मिलता है, जब हम वहाँ पाते हैं : **निघण्टवः कस्मात्** (१।१) ? **वज्रः कस्मात्** (३।११) ? इत्यादि। ब्राह्मण ग्रन्थों में निर्वचन तीन शैलियों में मिलते हैं :

१, नाम पड़ने के कारण को भली-भांति, कथावर्णन आदि की अपेक्षा होने पर उनके वर्णन के साथ, स्पष्ट कर के हेतुवाचक शब्द का प्रयोग करते हुए निर्वचनीय पद को देना :

(क) **देवान् ह वै यज्ञेन यजमानांस्तान् असुररक्षसानि ररक्षुर्न यक्ष्यध्व इति, तद् यदरक्षंस्तस्माद्रक्षांसि** (श. ब्रा. १।१।१।१६)।

[यज्ञ के द्वारा देवताओं का यजन करते उन लोगों को असुरों और रक्षसों ने रोका (**ररक्षुः**) कि तुम यज्ञ नहीं करोगे। सो जो रोका (**अरक्षन्**), तो उस कारण (√रक्ष् से) रक्षस् (हैं)।]

(ख) **वृत्रो ह वा इदं सर्वं वृत्वा शिश्ये यदिदमन्तरेण द्यावापृथिवी। स यदिदं सर्वं वृत्वा शिश्ये, तस्माद् वृत्रो नाम** (श. ब्रा. १।१।३।४)।

२. निर्वचनीय पद का अर्थ भली-भांति आवश्यक होने पर कथा आदि के द्वारा उसके आख्यात या आधार शब्द से स्पष्ट करके अन्त में हेतुवाचक शब्द के प्रयोग के साथ निर्वचनीय पद से भाववाचक त्व प्रत्यय लगा कर निर्वचन करना : **यदरोदीत् तद्रुद्रस्य रुद्रत्वम्** (तै. सं. १।५।१।१)।

३. निर्वचन के बाद लोकमत (लोग ऐसा कहते हैं) बताना : ऊपर दिए **मानुष**, **अग्निष्टोम**, न्यग्रोह और इन्द्र के निर्वचन उदाहरण हैं।

ब्राह्मणग्रन्थों के निर्वचन-सिद्धान्त

वैदिक निर्वचनों के सिद्धान्तों के साथ-साथ ब्राह्मणों के निर्वचनों में कुछ विशिष्ट प्रवृत्तियाँ भी दिखलाई देती हैं :

(क) शब्द के मूल अर्थ की चिन्ता न करके अपने प्रतिपाद्य के अनुकूल अर्थ में निर्वचन करना। तै. सं. से दिया **वेद** शब्द का और शतपथ से दिया **मघवान्** का निर्वचन इस का उदाहरण है।

इस सिद्धान्त के अपने लाभ-हानि हैं। लाभ तो यह है कि किसी-किसी शब्द का अर्थ अपने मूल स्थल से भिन्न स्थल या ज्ञान-शाखा में जा कर बदल जाया करता है। उस ज्ञान शाखा में उस शब्द की व्याख्या परिवर्तित अर्थ में होनी आवश्यक है। **लवण** शब्द √लू (काटना) से निष्पन्न तो अवश्य है, परन्तु अमुक रसविशेष (नमक) अर्थ में रूढ हो गया है। ऐसी स्थिति में हम उसके रूढ अर्थ की उपेक्षा नहीं कर सकते।

हानि यह है कि बहुधा तुलनात्मक दृष्टि नहीं रह पाती तथा इस सिद्धान्त के तम्बू को तान कर बहुत लम्बा कर दिया जाता है। ऊपर दिये **मानुष** और **मघवान्** शब्दों के निर्वचन इसके प्रमाण हैं। **मानुष** का **मावुष** से सम्बन्ध भाषाशास्त्र की दृष्टि से तो नहीं लगता। हां, यजमान का माल-मलीदा खा कर कोई नई बात सोचनी ही चाहिए—यह सोच कर ऊंघते आचार्य को **मावुष<मानुष** एक दिखलाई पड़ें, तो हम क्या कर सकते हैं! भाषाशास्त्री यास्काचार्य ने तभी तो ठीक सम्बन्ध बताया है: **मनुष्** <√**मन्**[1]। भले ही √**मन्+सीव्यति** में √**मन्** को ठीक खोज कर भी **मनुष्य** के **उष्य** का सम्बन्ध **सीव्यति** से खोजने में वे गलती कर गये हों[2]।

(ख) पदविशेष के निर्वचन के साथ ही साथ उसके पर्यायवाची पद का निर्वचन भी प्रस्तुत कर दिया गया है। ऐतरेयारण्यक में पठित महानाम्नी नामक खिलोक्त ६ ऋचाओं का पर्याय है **सिमा**। **महानाम्नी** पद का निर्वचन करने के बाद, अपेक्षित न होते हुए भी, ऐ. ब्रा. (५।७) में **सिमा** का निर्वचन इस का उदाहरण है। यह उस समय की एक आम प्रवृत्ति प्रतीत होती है, क्योंकि यास्क में प्रसक्त तथा प्रसक्तानुप्रसक्त शब्दों का निर्वचन करने की प्रवृत्ति बहुत बढ़ी-चढ़ी हुई है।

(ग) ब्राह्मणग्रन्थों के तीन विषय हैं: १ **अधिभूत**, २ **अध्यात्म** तथा ३ **अधिदेव**। बहुत-सी बार कोई-कोई शब्द अपने मूल अर्थ से तो ब्राह्मण में यों ही भटक जाता है, उस पर भी उस के तीन निर्वचन किये जाते हैं। जैसे **यजुः** शब्द सामान्यतः √**यज्** से निष्पन्न तथा मन्त्र के प्रकार विशेष (गद्यबद्ध मन्त्र) अर्थ में प्रसिद्ध माना जाता है। अब शतपथ ब्राह्मण के आचार्य ने (१०।।५।१–७ में) अधिभूत में **यजुः** का अर्थ किया **अन्न**, **अधिदेव** में किया **प्राण**, और इस का निर्वचन किया **यत्+**√**जु** >यत्+जू (वायु) तथा **यत्+**√**जन्+>यत्+जू** (प्राण) और **यत्+**√**जन्** अथवा **यत्+**√**जु** (अन्न)।

ब्राह्मणान्तर्गत निर्वचनों का स्तर ऋग्वेदादि संहिताओं के निर्वचनों से बहुत हल्का है। इनमें ब्राह्मणकारों की (धर्म, कर्मकाण्ड, सृष्टिविद्या आदि विषयक) रूढियां इतनी प्रबल हो गई हैं कि भाषाशास्त्रीय अंश उभर नहीं पाया। संहिताओं के, विशेषकर ऋग्वेदसंहिता के, निर्वचन बहुत स्पष्ट, स्वयंस्फूर्त भाषाशास्त्रीय दृष्टि से अधिक ठोस तथा गम्भीर हैं। ब्राह्मणगत निर्वचनों से हम वैसा भाषाशास्त्रीय तादात्म्य नहीं स्थापित कर पाते, जैसा ऋग्वेदसंहिता के निर्वचनों से सहज हो जाता है। इसमें बहुत बड़ा कारण एक तो ब्राह्मणों की शैली है, दूसरा कारण है ब्राह्मणों की रूढियों की पृष्ठभूमि से हमारा परिचित न होना। शब्द ऊपरी तौर पर (ध्वनियों

---

१. द्र. : **मनोरपत्यम्, मनुषो वा** (३।७।२)। **मनुर्मननात्** १२।३३।

२. द्र. : **मत्वा कर्माणि सीव्यन्ति** (३।७।) तथा इस पर सिद्धेश्वर जी की पृष्ठ ६७ पर टिप्पणि।

तथा अर्थ की दृष्टि से) तो वही हैं, पर उनका प्रतीकात्मक परिवेश बदला हुआ होता है :

सोऽकामयत मेध्यम्म इदं स्यादात्मन्व्यनेन स्यामिति। ततोऽश्वः समभवत्, यदश्वत् तन्मेध्यमभूदिति, तदेवाश्वमेधस्याश्वमेधत्वम् (श. ब्रा. १०।५।७)।

यहाँ **अश्व** का निर्वचन √**श्वि** (फूलना, सूजना) से किया है। यहाँ अर्थ **अश्वमेध** के प्रकरण में घोड़ा होते हुए भी निर्वचन कुछ भिन्न-सा ही है।

आरण्यकों तथा **उपनिषदों** के निर्वचनों में भी यही प्रवृत्तियाँ प्रायेण काम करतीं दिखलाई देती हैं। वस्तुतः भाषा-शास्त्र से उनका विषय बहुत भिन्न प्रकार का है। अतः भाषा-शास्त्र की दृष्टि से हमें उन पर आशा भी नहीं लगानी चाहिए। हाँ, निर्वचन से अपने प्रतिपाद्य को पुष्ट करने से यह अवश्य सिद्ध होता है कि निर्वचन प्रक्रिया का महत्त्व उस समय तक पर्याप्त बढ़ चुका था। सब क्षेत्रों में उसका महत्त्व स्वीकृत हो चुका था।

अध्याय १८

प्राचीन नैरुक्त और उनके निर्वचन-सिद्धान्त

वैदिक ऋषियों से उद्‌भूत और ब्राह्मणों के आचार्यों के द्वारा प्रवर्धित निरुक्त भागीरथी की धारा यास्क के समय तक बहुत पुष्ट हो चुकी थी, इसका परिचय हमें दो बातों से मिलता है :

(क) यास्क के ग्रन्थ में सैंकड़ों बार उद्धृत प्राचीन आचार्यों की नामावली तथा उनके मतों से।

(ख) यास्क के ग्रन्थ की गम्भीरता, वैज्ञानिकता एवं निर्वचन के सिद्धान्तों की स्थान-स्थान पर चर्चा तथा प्रयोग से।

उन प्राचीन आचार्यों के बारे में तथा निर्वचन विषयक उनके सिद्धान्तों के बारे में विस्तरेण चर्चा करने को आज हमारे पास यास्क के द्वारा किये उनके मतोद्धरणों तथा अन्य आस-पास के आचार्यों द्वारा कही गई कुछ बातों के सिवाय और कुछ नहीं है।

निर्वचनों का प्रारम्भ चाहे जिन स्थितियों में तथा चाहे जिन आवश्यकताओं के दबाव पर हुआ हो, परन्तु वेद से चल कर ज्ञान की यह शाखा आगे चल कर वेदाध्ययन के लिए इतनी उपयोगी हुई कि सदा-सदा के लिए इसे एक प्रमुख—व्याकरण के बाद दूसरे—वेदाङ्ग के रूप में अत्यधिक महत्त्व प्राप्त हुआ। यही कारण है कि निरुक्त शास्त्र के सब आचार्य, यास्क भी, वैदिक पहले हैं, नैरुक्त बाद में। इन सब में केवल नैरुक्त कोई नहीं है। इसका परिणाम यह हुआ है कि इन सब आचार्यों के निर्वचन केवल भाषाशास्त्रीय ऊह नहीं हैं। उन पर वैदिक साहित्य, वेद से सम्बद्ध विद्याओं, वैदिक कर्मकाण्ड, वैदिक पुराकथाओं, वैदिक देवशास्त्र तथा उनके समय में प्रचलित उन अन्य बहुत सी बातों का प्रभाव है, जो आज के भाषाशास्त्रियों को उन निर्वचनों में कवाब में हड्डी के समान बेमज़ा, अनुचित तथा अस्पष्ट लगती हैं। जिन्हें देख कर आज के भाषाशास्त्री ऐब्सर्ड (बेहूदा) कह कर नाक-भौं सिकोड़ने लगते हैं, वे ही बातें उस समय में बहुत महत्त्वपूर्ण समझी जाती थीं। इसमें बहुत-कुछ दोष आज के भाषाशास्त्रियों का ही है, क्योंकि वे भारतीय ज्ञान-विज्ञान की उन शाखाओं से, जो उन निर्वचनों के सङ्कल्पक आचार्यों का प्राण थीं, अपरिचित रहने में तथा केवल अन्य तथाकथित भारोपीय भाषाओं से तुलना करने में ही अपने कर्तव्य की इतिश्री मान लेते हैं। परिणाम तो सबके आगे है ही—यास्क तक एक प्रिमिटिव नैरुक्त माने जाते हैं, औरों की तो बिसात ही क्या है[1]।

भाषा कोई बेजान, जड़ वस्तु नहीं है। इस में इस के बोलने वालों की आत्मा प्रतिबिम्बित होती है। हर देश की जल-वायु, परम्पराएँ, इतिहास, दर्शन, धर्म, तथा उस देश के निवासियों की बौद्धिक उर्वरता का सीधा तथा अमिट प्रभाव भाषा पर पड़ता है। वह प्रभाव उस भाषा का अभिन्न अङ्ग हो जाता है। प्राचीन नैरुक्तों ने अपने समय के उन सब प्रभावों का पूरा अध्ययन-अनुभव करने की चेष्टा की थी, जिसे आज के भाषाशास्त्री या तो झुठलाने की चेष्टा करते हैं, या प्राय: उपेक्षा तथा हिकारत की नज़र भेंट कर के छुट्टी पा लेते हैं। हम यह नहीं कहते कि प्राचीन आचार्यों के सब निर्वचन सही ही होंगे, या उनसे भाषाशास्त्रीय त्रुटियाँ नहीं हुई होंगी। हमारा कहने का अर्थ तो केवल इतना ही है कि उन आचार्यों के जीवन दर्शन, परम्पराओं, विश्वासों आदि को पूरी तरह परखे-पहिचाने बिना हमें उन्हें उपेक्षा अर्पित नहीं करनी चाहिये। और फिर यह उपेक्षा की दृष्टि भी उन लोगों से तो बिल्कुल भी नहीं फबती, जिनकी भाषाएँ आज के इस वैज्ञानिक युग में भी प्राय: प्रत्येक शब्द की अलग-अलग तथा ध्वनिनियमविरुद्ध वर्तनी (spelling जिसे एक-एक करके याद किये बिना कोई चारा ही नहीं है) की समस्या से ग्रस्त हैं; जो

१. द्र. वै. का. राजवाडे, यास्क'ज् निरुक्त, भूमिका, *cii*, *civ*; पृ. XLI—XLII.

हास्यास्पद रूप में जड़, निराधार एवं विज्ञानविरुद्ध तथा बुद्धि की किसी भी कसौटी पर गलत सिद्ध होने वाली वर्णमाला (अल्फावेट) के धणी-धोरी हैं; तथा व्याकरण-चिन्तन के क-ख-ग के भी स्वतन्त्र ऊह से सर्वथा वञ्चित और रहित हैं। इन आधुनिक तथाकथित भाषामर्मवेत्ताओं को अपनी आँख में गड़े शहतीर की पीड़ा का तो भान भी नहीं होता; हाँ, जब-तब भारतीय भारती-पुत्रों के कल्पित दोषाणु उन्हें पर्वत के समान विशाल तथा अपरिहार्य दिखलाई देते हैं।

अस्तु, प्रकृतमनुसरामः।

वैदिक परम्पराओं के प्रभाव के कारण से ही यास्क के निरुक्त में भी विशुद्ध निर्वचन तो समूचे निरुक्त के आधे से भी कम भाग में स्थान पा सके हैं। शेष भाग में वैदिक देवशास्त्र, प्राचीन इतिहास, तथा दर्शन आदि बहुत से विषयों का विवरण हुआ है। अन्य आचार्य भी इसी प्रकार केवल नैरुक्त ही नहीं हैं, अपितु अन्य वैदिक विद्याओं के अधिकारी विद्वान् हैं। इस प्रकरण में हम उन प्राचीन नैरुक्त आचार्यों के निर्वचनविषयक सिद्धान्तों पर कुछ प्रकाश डालने का प्रयास करेंगे। उनके क्रमिक काल का निर्णय करना चूँकि कठिन है, अतः यहाँ वर्णानुक्रम से ही उनके नाम देंगे।

१. **आग्रयण**[1]। (इन्द्र) इदङ्करणादित्याग्रयणः (नि. १०।८)। ये आचार्य इदम्+कृ>इदङ्कुर>इन्द्र मानते हैं। इन के बारे में निरुक्त से इतनी ही सूचना मिली है, अतः और कुछ कह सकना कठिन है।

२. **आग्रायण**। (क) (कर्ण) ऋच्छतेरित्याग्रायणः। ऋच्छन्तीव खे उदगन्तामिति ह विज्ञायते[2] (नि० १।९)। ये ख+√ऋच्छ् से कर्ण का निर्वचन मानते हैं। डा. सिद्धेश्वर जी भारोपीय qer से मानते हैं जिसका अर्थ पकड़ (a grasp) होता है। पुरानी बल्गेरियन भाषा में क्रेन (cren) पकड़ (a grip) अर्थ में मिलता है। वर्मा जी का कहना है कि यह शब्द (कर्ण) qer से इस लिए निष्पन्न है, क्योंकि यह ध्वनि को पकड़ता है। हमारा विचार है कि √ऋच्छ् मूलतः √ऋ है तथा च्छ इसमें बाद में जुड़ा है, जैसे √ग (√गम्) से च्छ् जुड़ कर √गच्छ् हो गया है। ऐसी स्थिति में ख+√ऋ से कर्ण अनुमान भी वर्मा जी के अनुमान से तो गया बीता नहीं है।

(ख) (अक्षि) अनक्तेरित्याग्रायणः (निरुक्त १।९)। √अञ्ज् से अक्षि मानी है। वैदिक अक्त और अक्तु का सम्बन्ध ऋषियों ने √अञ्ज् से बतलाया है। यह हम पीछे (पृष्ठ २०५ पर) कह ही चुके हैं। अन्य भारोपीय भाषाओं में oqu देखना अर्थ में मिलता है। ग्रीक् में ओस्से (दोनों आँखें) शब्द इसके मूल शब्द में ककार की

---

१. डा. लक्ष्मणसरूप के और श्री शिवदत्त दाधिमथ जी के संस्करण में आग्रयण है, श्री राजवाडे के संस्करण में आग्रायण है। श्री सिद्धेश्वर जी ने भी आग्रायण ही दिया है।

२. मूल मृग्य है।

उपस्थिति का सूचक है। यास्क ने दोनों निर्वचनों की पुष्टि में ब्राह्मणवचन उद्धृत किये हैं, जिनका मूल मृग्य है।

(ग) (नासत्यौ) सत्यस्य प्रणेतारावित्याग्रायणः (६।१३)। आग्रायण नासत्य के पूर्वपद ना को नेतारौ के अर्थ में मानते हैं। अर्थ की दृष्टि से ना इस अर्थ में उत्तरपद में आना चाहिए। वुष्ट (wust) का मत है कि यह √नस् (साथ होना) से व्युत्पन्न है। वे √नस् को भारोपीय nes—लौटना (ग्रीक् नेओमइ neomai घर लौटता हूं) से सम्बद्ध मानते हैं।

इन निर्वचनों के आधार पर आग्रायण आचार्य के निरुक्तिविषयक सिद्धान्तों को सूंघना मुश्किल है।

३. औदुम्बरायण। इन्द्रियनित्यं वचनमौदुम्बरायणः (नि० १।१)। ये आचार्य शब्द को अनित्य मानते हैं। भारत में अत्यन्त प्राचीन काल से ही शब्द को नित्य माना जाता रहा है[1]। इससे इनके बारे में यही कहा जा सकता है कि ये एक पर्याप्त प्राचीन आचार्य हैं।

४. औपमन्यव। इनका नामोल्लेख यास्क ने १२ बार और बृहद्देवताकार शौनक ने १ बार यास्क के साथ किया है। यास्क ने छह बार तो १. निघण्टवः (१।१), २. दण्डः (२।२), ३. परुषे (२।६), ४. ऋषि (२।११), ५. कुत्सः (३।११) और ६. इन्द्रः (१०।८) शब्दों के निर्वचनों के प्रसङ्ग में, पांच बार १. पञ्चजनाः (३।८), २. यज्ञः (३।१९), ३. शिपिविष्ट (५।७), ४. काणः (६।३०), ५. विकटः (६।३०) शब्दों का अर्थ करने के प्रसङ्ग में और एक बार (३।१८) में काक शब्द पर निर्वचन के एक सिद्धान्त का विरोध प्रदर्शित करने के प्रसङ्ग में औपमन्यव आचार्य का मत उद्धृत किया है।

छह निर्वचनों में इनका सिद्धान्त यह प्रतीत होता है कि :

शब्दों के विकास की कुछ स्थितियां (stages) होती हैं। उच्चारणसम्बन्धी विशिष्ट आदतों से शब्द का मूल रूप, जो प्रायः स्पष्ट हुआ करता है, अर्धस्पष्ट और अन्य स्थितियों से गुजर कर अस्पष्ट बन जाया करता है। यही कारण है कि नि+√गम् से निष्पन्न निगन्तु[2] घिसते-घिसते निघण्टु हो गया, पर्वस को लोगों ने बना डाला परुष, √दम् से निष्पन्न हो गया दण्ड (दम्+दम्>दम्+द>दन्द>दण्ड), दृष्टिः का घिसा हुआ रूप रह गया ऋषि।

इनके आधार पर औपमन्यव हमें शब्दों के विकास तथा मूर्धन्यीकरण के

१. तु. : तस्मै नूनमभिद्यवे वाचा विरूपनित्यया ।
वृष्णे चोदस्व सुष्टुतिम् ॥ ऋ. सं. ८।७५।६॥

२. गन्तु पद का स्वतन्त्र प्रयोग यास्क ने भी पदि (निघण्टु ४।२।६३) की व्याख्या (५।१९ : पदिर्गन्तुर्भवति, यत्पद्यते) में किया है।

नियम के सिद्धान्तों से परिचित नजर आते हैं। साहित्य की भाषा पर बोलचाल की भाषा के (प्राकृत) प्रभाव से ये परिचित हैं।

पञ्चजनाः की अनेक व्याख्याओं में इनकी[1] समाजशास्त्रीय व्याख्या ही यास्क को तथा आज के चिन्तक को भी सबसे अधिक आदेय लगती है। काक को ध्वन्यनुकरणमूलक नाम न मान कर तथा शब्दानुकरण से नामकरण का विरोध करते हुए इन्होंने नैरुक्तों के **सर्वाणि नामान्याख्यातजानि** के सिद्धान्त से ही सहमति व्यक्त की है, यह इनकी **काकोऽपकालयितव्यो भवति** व्याख्या से भी सिद्ध होता है।

शिपिविष्ट शब्द को औपमन्यव ने निन्दित अर्थ में बताया है, यह सूचना यास्क ने (५।७ में) दी है। इस पर **भगवद्दत्त** जी ने औपमन्यवलिखित एक निरुक्त की उद्भावना की है। **डा. जी. ओपर्ट्** ने अपनी ग्रन्थसूची में औपमन्यवरचित निरुक्त का उल्लेख भी किया है[2]। **चरणव्यूह** में कृष्णयजुर्वेदी औपमन्यव चरकों की चर्चा है। प्रतीत होता है कि उन औपमन्यव चरकों के मूल आचार्य हमारे औपमन्यव ही हैं। ऐसी स्थिति में ये कृष्णयजुर्वेदाध्यायी आचार्य थे इतना और कहा जा सकता है।

५. **और्णवाभ**। निरुक्त में इनका नामोल्लेख ५ बार और बृहद्देवता में एक बार मिलता है। निरुक्त में चार बार निर्वचनों के प्रसङ्ग में तथा एक बार मन्त्र के एक भाग की व्यख्या में उनके मत के रूप में इनका उल्लेख किया गया है। उन्होंने **ऊर्वी** (निघण्टु २।२६।१ में नदी के प्रकरण में) को √**वृणोति** से माना है। **नासत्यौ** को **न+असत्यौ**, अग्नि के लिए प्रयुक्त **होतृ** को √**हु** (जुहोति) से माना है। सम्भवतः उनकी दृष्टि यह है कि लोक में प्रचलित **होतृ** शब्द ही अग्नि के लिए प्रयुक्त हुआ है, तथा लौकिक **होतृ** √**हु** से निष्पन्न है। उनकी **अश्विनौ** की निरुक्ति वैदिक निरुक्ति (**अश्वैभिरश्विना** ऋ. सं. ८।५।७) पर आधारित है।

सिद्धान्त। √**वृ** से **ऊर्वी** सम्प्रसारण के परिचय को तथा **नासत्यौ** और **अश्विनौ** के निर्वचन किसी प्राचीन रूढि के उपयोग को सूचित करते हैं। **त्रेधा निदधे पदम्** (ऋ. सं. १।२२।१७) की व्याख्या में भी अपने समय की रूढि से इनकी अभिज्ञता सूचित होती है।

श्री **विष्णुपद भट्टाचार्य** ने और्णवाभ के निर्वचनों के आधार पर 'उन्होंने

---

१. पञ्चजनाः की व्याख्या पर **आचार्य शौनक** का बृहद्देवता ७।६८—६९ में कथन है कि यास्क और औपमन्यव आचार्य मनुष्यों, पितरों, देवों, गन्धर्वों तथा उरग-राक्षसों को पञ्चजन कहते हैं एवं शाकटायन आचार्य निषादसमेत चारों वर्णों को पञ्चजन मानते हैं। यास्क ने पहले मत को एक कह कर तथा दूसरे को औपमन्यव के नाम से दिया है। इस प्रसङ्ग में उन्होंने शाकटायन की चर्चा ही नहीं की है।

२. द्र. कैटलाग् आफ् संस्कृत मैन्यूस्क्रिप्ट्स्, खण्ड २. पृ. ५१०।

कोई निरुक्त ग्रन्थ बनाया होगा,' यह माना है। श्रेधा निदधे पदम् की व्याख्या के आधार पर उनका विचार है कि औणंवाभ ने ऋ. सं. १।२२।१७ मन्त्र की व्याख्या भी की होगी[२]। बृहद्देवता (७।१२५) में इनके एकमात्र उल्लेख से भी इनके वैदिक आचार्य होने की पुष्टि होती है।

६. **कात्थक्य**। इनका निर्वचन से कोई सम्बन्ध नहीं रहा होगा, क्योंकि इनका नामस्मरण यास्क ने आठवें और नवें अध्यायों में वैदिक दैवतशास्त्र में प्रवीण आचार्य होने के नाते ही किया है[२]। हाँ तनू-नपात् का आज्य (घी) अर्थ (निरुक्त ८।६ में) करने से इनमें निर्वचन की उपस्थिति को सूँघा जा सकता है। तनू-नपात् आज्य होता है–इनकी इस उक्ति पर यास्क का कहना है कि नपात् एक पीढ़ी छोड़ कर पैदा हुए बच्चे (पोते) का नाम है। यहाँ तनू का अर्थ है गौ। उससे दूध पैदा होता है, दूध से आज्य (घी) होता है (इस प्रकार तनू=गौ का नपात्=पौत्र होने से आज्य तनू-नपात् है)। शाकपूणि आचार्य तनू=आपस् से उत्पन्न ओषधी और वनस्पतियों की सन्तान अग्नि को तनूनपात् मानते हैं। इस अर्थ में पोषक ऋचा उद्धृत करने से सिद्ध होता है कि यास्क भी शाकपूणि से सहमत हैं। बृहद्देवता के (३।१० के) उल्लेख से भी ये एक वैदिक विद्वान् ही सिद्ध होते हैं।

७. **कौत्स**। यह एक निरुक्त-विरोधी आचार्य हैं। इनका कहना है कि यदि यास्क वैदिक मन्त्रों का अर्थज्ञान कराने के लिए निरुक्त लिखना चाहते हैं, तो यह प्रयास व्यर्थ है; क्योंकि मन्त्रों का कोई अर्थ होता ही नहीं[३]। यास्क द्वारा उद्धृत कौत्सीय युक्तियों को ही जैमिनि मुनि ने पूर्वमीमांसादर्शन मेंपूर्वपक्ष के रूप में प्रस्तुत किया है; किन्तु कौत्स का नाम नहीं लिया है। इससे प्रतीत होता है कि वे मीमांसक भी नहीं थे। आपस्तम्ब ने भी कौत्स का उल्लेख हारीत के साथ किया है[४]। कह नहीं सकते हमारे कौत्स का आपस्तम्ब द्वारा उल्लिखित कौत्स तथा शतपथ ब्राह्मण (१०।५।६।६) के वंशब्राह्मण में चर्चित कौत्स से कोई सम्बन्ध है भी, कि नहीं।

८. **क्रौष्टुकि**। इनका एकमात्र उल्लेख यास्क ने ८।२ में ही किया है। **द्रविणोदा**: को इन्द्र का पर्याय बताते हुए उन्होंने उस शब्द का अर्थ-निर्वचन किया है : बल और धन (द्रविणस्) का अतिशय दाता (दाः)। उन्होंने बल के सब कार्य इन्द्र के ही बताए हैं। इन तथ्यों से दो निष्कर्ष निकलते हैं : १. ये नैरुक्त हैं, तथा २. वैदिक देवशास्त्र में परिनिष्ठित हैं।

---

१. द्र. दास्कंयु, निरुक्त एण्ड् दी साइंस् आफ् एटिमालाजी, पृ. ६५।

२. द्र. निरुक्त : ८।५; ६, ७, १०, १८; ६।४१, ४२।

३. द्र. वही : १।१५। इस विषय पर देखें पीछे अध्याय १०, पृ. ८८।

४. आपस्तम्ब धर्मसूत्र १।२८।१।

मार्कण्डेय पुराण के उल्लेख तथा नागेशभट्ट[1] के कथन के आधार पर श्री **विष्णुपद भट्टाचार्य** (पृष्ठ ६७–६८) 'क्रोष्टुकि का दूसरा नाम भागुरि तथा क्रौष्टुकि-भागुरि इस आचार्य का पूरा नाम रहा होगा,' यह मानते हैं। परन्तु हम इससे सहमत नहीं हैं। क्योंकि :

(क) बृहद्देवता में क्रोष्टुकि और भागुरि का अलग-अलग उल्लेख किया है[2]। यदि ये दोनों आचार्य वस्तुतः एक ही होते तो शौनक ने या तो क्रौष्टुकि-भागुरि के समवेत नाम से उल्लेख किया होता, या इन दोनों में से किसी एक ही नाम से।

(ख) ये दोनों ही नाम अपत्यार्थक प्रतीत होते हैं। इससे ये दोनों भिन्न-भिन्न पिताओं तथा गोत्रों में उत्पन्न (भिन्न-भिन्न) व्यक्ति हैं, यही सिद्ध होता है।

९. गार्ग्य। निरुक्त के तीन स्थलों में से दो स्थलों (१।३ और १।१२) में इनका उल्लेख **भाषा-शास्त्रीय** सन्दर्भों में तथा एक (३।१३) में एक **अलङ्कार** के लक्षण के प्रसङ्ग में हुआ है। ये उपसर्गों का स्वतन्त्र अर्थ मानते हैं तथा उपसर्गों का अस्तित्व नाम और आख्यात से पृथक् मानते हैं[3]। अपने इस सिद्धान्त का निर्वाह इन्होंने **सामवेद** संहिता के अपने **पद-पाठ** में[4] पूरी तरह से किया है, यह **विप्रासः** के **विऽप्रासः** और सूनृता के सुऽनृता पद-पाठ के निदर्शन से ही भली भाँति समझा जा सकता है। **ऋग्वेद संहिता** के पद-पाठकार **शाकल्य** ने इन पदों में उपसर्गों को अवग्रह के द्वारा पृथक् करके नहीं दर्शाया है।

इनका दूसरा महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त है : सभी नामपद धातुज नहीं होते[5]। अर्थात् नामकरण का आधार केवल क्रिया ही नहीं होता। शौनक ने भी (बृहद्देवता १।२६ में) इन्हें नामकरण के चार आधार मानने वालों में गिनाया है। **दुर्गाचार्य** और **स्कन्दस्वामी** का यह मत है कि नैरुक्तों में एक गार्ग्य ही हैं, जो नामपदों की धातुजता के सिद्धान्त के विरोधी हैं। वैयाकरणों से पृथक् नाम दिया होने से सिद्ध होता है कि ये ठेठ वैयाकरण नहीं माने जाते रहे होंगे। परन्तु जैसा कि **पाणिनि** के अनेक उल्लेखों[6] से प्रतीत होता है वैयाकरणों के खेमे में भी एक गार्ग्य अवश्य रहे होंगे। नामों

१. द्र. दुर्गासप्तशती पर प्रयोग-विधि।

२. द्र. क्रौष्टुकि : ४।१३७; भागुरि : ३।१००; ५।४०; ६।८६, १०७।

३. द्र. निरुक्त १।३ : उच्चावचाः पदार्था भवन्तीति गार्ग्यः। तद् य एषु पदार्थः, प्राहुरिमे तं नामाख्यातयोरर्थविकरणम्।

४. यास्क ने ४।४ में मेहना पद का अर्थ पहले शाकल्य के और फिर गार्ग्य के पद-पाठ के आधार पर दिया है। नामोल्लेख दोनों में से किसी का भी नहीं किया है। विशेष के लिए इस स्थल पर दुर्ग देखें।

५. द्र. निरुक्त १।१२ : न सर्वाणीति गार्ग्यो वैयाकरणानां चैके।

६. द्र. अष्टा. ७।३।९९; ८।३।२०; ८।४।६७।

की धातुजता के बारे में पाणिनि निरुक्त में ही उल्लिखित गार्ग्य के पक्षधर लगते हैं[1]।

यास्क द्वारा इनका उपमा का लक्षण उद्धृत करने[2] से सिद्ध होता है कि इन्होंने ऋग्वेद संहिता के अलङ्कारों का अध्ययन करके वैदिक अलङ्कारों पर कोई लक्षणग्रन्थ अवश्य लिखा होगा, या इस क्षेत्र में इनका कोई महत्वपूर्ण योग-दान रहा होगा।

१०. गालव। यास्क ने इनका उल्लेख निरुक्त में केवल एक बार (४।३ में) वा. सं. २१।४३ में आये शितामतः पद के अर्थ पर मतभेद रखने वाले आचार्यों में किया है। बृहद्देवता (१।२४-२५) के अनुसार ये आचार्य नामकरण के ९ आधार मानने वालों में थे। अतः ये नैरुक्तों के नामान्याख्यातजानि सिद्धान्त के विरोधी रहे होंगे।

महाभारत में[3] कहा गया है कि बाभ्रव्य गोत्र के एक गालव आचार्य ने सर्वप्रथम ऋग्वेदीय क्रमपाठ प्राप्त किया था। क्रमपाठ के अतिरिक्त इन्होंने अपनी शिक्षा का भी प्रणयन किया था। ये पञ्चाल देश के निवासी थे। ऋक्प्रातिशाख्य (११।६५) में भी बाभ्रव्य को क्रमपाठ का प्रवक्ता कहा गया है। बृहद्देवता में भी कई स्थलों पर ऋग्वेद संहिता के सूक्त-विशेष के देवता पर मत-भेद के प्रसङ्गों में गालव का मत उद्धृत किया गया है[4]।

११. चर्मशिराः। विधवा के निर्वचन (३।१५) के प्रसङ्ग में ही इनका नाम एक बार निरुक्त में आया है। ये आचार्य वि+धावा (अनियन्त्रित होने के कारण इधर-उधर दौड़ने वाली स्त्री) से विधवा मानते हैं। डा. सिद्धेश्वर वर्मा के मत (पृ. ६६,८३) में यह शब्द अलगाव अर्थ (to separate) अर्थ वाली भारोपीय वि+धे (ui+dhe) से सम्बद्ध है। लैटिन् की विडुआ (vidua), अंग्रेजी की विडो (widow) तथा अवेस्ता की वियवा (vithava) भारतीय विधवा के ही अन्ताराष्ट्रीय रूप हैं।

१२. तैटीकि। निरुक्त में इनका उल्लेख दो बार (४।३ में शितामतः की व्याख्या के सन्दर्भ में तथा ५।२८ में वीरिट के अर्थ के प्रसङ्ग में) हुआ है। शिताम का अर्थ उन्होंने श्याम माना है। श्याम √श्यै (श्या) से निरुक्त है।

वीरिटम् पर इनके मत के स्थल की दुर्ग ने व्याख्या नहीं की है। इस से उस उद्धरण की प्रामाणिकता पर सन्देह होना स्वाभाविक है[5]। डा. लक्ष्मणसरूप के ग्रन्थ (पृष्ठ १०८, टि. १)में भी इस पाठ की प्रामाणिकता सन्दिग्ध ही बताई गई है। जो हो, जो मत दिया गया है, उस के अनुसार तैटीकि वि+√ईर् से (सम्भवतः वीरित का) वीरिट रूप मानते हैं, इस निर्वचन में व् को ब और त को ट माना गया है, यह

१. द्र. अष्टा. १।२।४५ : अर्थवदधातुरप्रत्ययः प्रातिपदिकम्।

२. द्र. ३।१३ : यदतत्तत्सदृशमिति गार्ग्यः।

३. द्र. शान्तिपर्व ३४२।१०३-१०४। ४. द्र. ५।३९; ६।४३; ७।३८।

५. द्र. बिष्णुपद भट्टाचार्य, यास्क'ज् निरुक्त...., पृ. ९३, टिप्पणि १८।

स्पष्ट है। अतः मूर्धन्यीकरण तथा प्राकृतप्रभाव के तम को भेद कर तैटीकि ने बीरिट के मूल तक जाने का प्रयास किया है। ऋग्वेदसंहिता में इस शब्द का प्रयोग केवल एक बार (७।३९।२ में) ही हुआ है। अतः इस पर अधिक कुछ कहना सम्भव नहीं है।

१३. नैदानाः। दुर्ग के अनुसार निदान नामक ग्रन्थविशेष के वेत्ता आचार्य नैदान कहलाते हैं[1]। निरुक्त में इन का उल्लेख स्याल (६।९) और दूसरी बार सामन् (७।१२) के निर्वचन के प्रसङ्ग में हुआ है। स्याल (साला) सम्बन्ध (रिश्ता) होने से ही नजदीकी बनता है, अतः स्याल कहलाता है। लगता है नैदान स्याल पद का शब्द-निर्वचन न देकर अर्थनिर्वचन दे रहे हैं। शब्द निर्वचन √सि+आलः हो सकता है। √सि बन्धन अर्थ में है; अतः इसका अर्थ बन्धन में डाला हुआ अथवा बन्धन में लिया हुआ हो सकता है।

दूसरा निर्वचन है ऋक् के सम (समान) मानने से सम+√मन्>सामन् है। लगता है नैदान आचार्य यहाँ संयुक्त ध्वनियों में से एक का लोप होकर संयोग से पूर्ववर्ती स्वर को दीर्घ होने के नियम से परिचित हैं। इस प्रवृत्ति के असङ्ख्य उदाहरण नई-पुरानी भाषाओं में मिलते हैं: कर्ण=कन्न=कान, कर्म=कम्म=काम।

१४. नैरुक्ताः। निरुक्त शास्त्र के आचार्य नैरुक्त कहलाते थे। यास्क ने २२ बार नैरुक्तों का उल्लेख किया है: १३ बार निर्वचनों के प्रसङ्ग में, ७ बार वैदिक देवताओं के स्वरूपनिर्णय आदि के सन्दर्भ में[2], २ बार वैदिक शब्दों के अर्थभेद के प्रसङ्ग में[3]।

निर्वचनसम्बन्धी १३ उल्लेखों में भी एक में सब नाम पद धातुज हैं, इस सिद्धान्त को शाकटायन का मत और नैरुक्तों का सिद्धान्त बताया है[4]। शेष १२ उल्लेख विभिन्न पदों के निर्वचनों के रूप में हैं। इन १२ निर्वचनों में १. पृश्नि<प्र+√अश् से (प्राश्नुत एनं वर्णः इति) आदित्य अर्थ में (२।१४ में), २. वृत्र का मेघ अर्थ होता है, यह प्रतिज्ञा (तत्को वृत्रः ? मेघ इति नैरुक्ताः। २।१६ में), ३. नि+√षद् से निषाद (निषण्णमस्मिन्पापकम्....। ३।८ में), ४. तत्कर=तस्कर (तस्करः तत्करो भवति, करोति यत्पापकम्....। ३।१४ में), ५. √यज्=यज्ञ (यज्ञः.... प्रख्यातं यजति-कर्मेति नैरुक्ताः। ३।१९ में), ६. स्तेन<√स्त्यै से (संस्त्यानमस्मिन्पापकमिति नैरुक्ताः। ३।१९ में), ७. तायु भी √स्त्यै से ही (४।२४ में), ८. √शुच् से शुचि (पवित्र, यहाँ केवल अर्थ निर्वचन दिया है: निष्षिक्तमस्मात्पापकम् ...। ६।१ में), ९. सललूक सं+√लुभ् से ६।३ में), १०. क्रव्य (यहाँ सम्भवतः अर्थनिर्वचनमात्र है: विकृत=

१. द्र. ७।१२ पर दुर्ग: निदानमिति ग्रन्थस्, तद्विदो नैदानाः।

२. (१) ७।४, (२) ५; (३) ११।१९, (४) २९, (५) ३१; (६) १२।१०, (७) ४१।

३. द्र. (१) ५।११; (२) १३।९।

४. द्र. निरुक्त १।१२: तत्र नामान्याख्यातजानीति शाकटायनो नैरुक्तसमयश्च।

काटे हुए से हो जाता है, अर्थात् जो काटने पर मिलता है, अतः कच्चा मांस, ६।११ में), ११. त्वष्टा तूर्ण+√अश्=तू+अष्टा=त्वष्टा (८।१४ में), १२. मङ्गल √मज्जि (प्रेरणार्थ) से (६।४ में)।

इन निर्वचनों में १. पृश्नि<प्र+√अश् में सम्प्रसारण, ४. तत्कर=तस्कर में वर्णविकार, ७. √स्त्यै से निष्पन्न स्तायु के सकार का लोप होने पर तायु में आदिलोप, त्वष्टा<तू+अष्टा में दो शब्दों के मेल में पूर्वपद का घिस जाना—ये निर्वचन में आवश्यक प्रवृत्तियाँ प्रयोग में लाई गई हैं।

१५. वार्ष्यायणि। इनका नामोल्लेख केवल भावविकारों के प्रसङ्ग में एक बार (१।२ में) हुआ है। पतञ्जलि ने व्याकरणमहाभाष्य (१।३।१) में इस कथन को भगवान् वार्ष्यायणि के नाम से विशेष आदर देते हुए प्रस्तुत किया है। इस से प्रतीत होता है कि ये व्याकरण के एक बहुत प्राचीन एवं महत्त्वशाली दार्शनिक आचार्य थे।

१६. वैयाकरण। व्याकरणतन्त्र के मूर्धन्य आचार्यों का उल्लेख इस सामान्य सञ्ज्ञा-पद से तीन बार किया गया है : १. नामपदों की धातुजता के विरोध में (१।१२ में), २. मण्डूक की √मण्ड् से व्युत्पत्ति के सन्दर्भ में (६।५ में), ३. एक वेदमन्त्र की व्याकरणपरक व्याख्या के प्रसङ्ग में पदों के चार विभाग बताते हुए (१३।६ में)।

इनमें से १ और ३ की सूचनाएँ भाषाशास्त्र के इतिहास में बहुत महत्त्वपूर्ण हैं।

१७. मुद्गल गोत्र के शतबलाक्ष। इनका नामोल्लेख मृत्यु के निर्वचन (११।६) के सन्दर्भ में एक बार हुआ है। ये मृतं च्यावयति[1] (√मृ+च्यु<मृत्यु) की अपनी तुक यदि प्राकृत के मच्चु पर भिड़ाते, तो बात शायद उतनी बेतुकी न होती!

१८. शाकटायन। इन का मत निरुक्त में केवल तीन बार उद्धृत किया गया है : १. उपसर्गों की स्वतन्त्र अर्थवत्ता बनाम द्योतकता के सन्दर्भ में (१।३ में), २. नामपदों की धातुजता के सिद्धान्त की स्थापना के प्रसङ्ग में (१।१२में), ३. प्रतिपक्ष द्वारा शाकटायन के सत्य शब्द के निर्वचन की आलोचना के प्रकरण में (१।१३ में)।

युगों से शाकटायन वैयाकरण मूर्धन्य माने जाते रहे हैं[2]। उपसर्गों की द्योतकता का उनका सिद्धान्त आज भी वैयाकरणसम्प्रदाय में सिर झुका कर माना जाता है।

सब नामों का आधार क्रिया होती है— उनके इस सिद्धान्त ने न केवल नैरुक्तों का ही उत्साह बढाया है, अपितु वैयाकरणनिकाय में भी परवर्ती किसी आचार्य के उणादि सूत्र उनको 'सब नाम धातुज हैं' की मान्यता के आधार पर ही शाकटायनप्रणीत माने जाते रहे हैं।

---

१. बृहद्देवता में इस मत को मृत्यु नामक ऋषि का निर्वचन बताया है :

यस्तु प्रच्यावयन्नेति घोषेण महता मृतम्।
तेन मृत्युमिमं सन्तं स्तौति मृत्युरिति स्वयम्॥ २।६०॥

२. द्र. काशिका १।४।८६ : अनुशाकटायनं वैयाकरणाः।

सत्य शब्द के निर्वचन को लेकर श्री विष्णुपद भट्टाचार्य की (पृष्ठ ७४ पर) कल्पना है कि शाकटायन ने किसी निरुक्तग्रन्थ का भी प्रणयन किया होगा, जिसमें सत्य शब्द का गार्ग्योक्त प्रकार का निर्वचन दिया हुआ होगा । पर हमारे मत में शाकटायन वैयाकरण ही हैं, नैरुक्त नहीं । यदि वे नैरुक्त होते, तो यास्क उन्हें अन्य निर्वचनों के प्रसङ्ग में उद्धृत अवश्य करते । इतने बड़े आचार्य का निर्वचनों के मत-भेदों के सन्दर्भ में भी कहीं नाम तक नहीं दिखाई देता । दूसरे, केवल एक शब्द की धातुजतापरक व्याख्या (जिसे वैयाकरण शाकटायन भी बड़ी आसानी से दे सकते हैं) के आधार पर एक भरे-पूरे ग्रन्थ की कल्पना करना दूर की कौड़ी लाना होगा ।

जैसा कि हम अन्यत्र बृहद्देवता के साक्ष्य से कह चुके हैं, उपसर्गों की सङ्ख्या के विषय पर भी शाकटायन का अपना स्वतन्त्र योगदान था । उनके माने तीन उपसर्गों—अव्, अन्तर्, अच्छ—को उनके बाद के मूर्धन्य भाषा-शास्त्रियों—यास्क, पाणिनि और कात्यायन ने भी अधूरे या पूरे रूप में स्वीकार किया था ।

वैयाकरण होने के साथ-साथ शाकटायन वेदों के भी गम्भीर विद्वान् थे, यह बृहद्देवता में आठ वार[1] किये उनके मतोल्लेखों से भली भांति सिद्ध होता है । शौनक ने यास्क (बीस बार उल्लिखित) के बाद सबसे अधिक उल्लेख शाकटायन का ही किया है ।

श्री विष्णुपद भट्टाचार्य का (पृष्ठ ७५–७६ पर) कथन है कि बृहद्देवता में शाकटायन के नाम से उल्लिखित कई मान्यताओं को यास्क भी मानते हैं, भले ही उन्होंने स्पष्ट शब्दों में शाकटायन का उल्लेख न किया हो । इसके लिए उन्होंने बृहद्देवता के २।१ तथा निरुक्त ७।१० तथा ७।११; बृहद्देवता ३।१६५a; ४।१३७ b–१३८ a और निरुक्त ११।४७, ४८ तथा इस पर दुर्ग और स्कन्द की टीका आदि स्थलों के अध्ययन का परामर्श दिया है ।

१९. शाकपूणि । यास्क ने इनका नामोल्लेख २४ बार किया है । इनमें से ११ देवशास्त्रसम्बन्धी[2], तीन वेदमन्त्र की व्याख्या से सम्बन्धित[3], एक पदपरिचयपरक (४।१५) और निम्नलिखित ९ स्थल निर्वचनों से सम्बन्धित हैं :

१. तळित् (विद्युत्) √ताड् से (३।११), २. महान् मान + √ हा से (३।१३), ३. ऋत्विज् ऋग् + √यज् से (३।१९), ४. शिताम (योनि) विषित अर्थात् खुली हुई होने से √सि से (४।३), ऋ. सं. ९।१०७।९ और १०।८९।६ में

१. द्र. २।१, ९५; ३।१५६; ४।१३८; ६।४३; ७।६६; ८.११, ९० ।

२. द्र. निरुक्त २।८[1], ७।२३[2]; ८।२[3], ५[4], ६[5] ७[6], १०[7], १४[8], १७[9], १८[10], १२।४०[11] ।

३. द्र. ७।२८ में ऋ. सं. १०।८८।१० की[1], १२।१९ में ऋ. सं. १।२२।१७ की[2], १३।१० में ऋ. सं. १।१६४।३९ की[3] व्याख्या ।

स्थित ५ अक्षाः पद √क्षि से (५।३), अप्सराः पद में स्थित ६ अप्सः (रूप) पद √स्पश् (स्पष्टं दर्शनाय अर्थ निर्वचन है) से (५।१३), ७ अच्छ उपसर्ग √आप् से (५।२८), ८ अग्नि √इ (के विकार अ), √अञ्ज् अथवा √दह् (के विकार गकार) और (अन्त में) √नी—इन सब—से (अ-ग्-नी>) अग्नि (७।१४) माना है। और ९. नराशंस नर+√शंस् से (८।६ में [नराशंसः] अग्निरिति शाकपूणिः नरैः प्रशस्यो भवति अर्थ निर्वचन है।)

सिद्धान्त। ऋत्विज् में वर्णविकार (ग् का त्) तथा वर्णागम (व्) है। अच्छ √आप् से सम्भवतः स नामकरण (प्रत्यय) लगा कर ही (आप्स>अच्छ) बनना अभीष्ट होगा। यदि ऐसा है, तो प्राकृतप्रभाव से ये भली-भाँति परिचित हैं। तीन आख्यातों से अग्नि के निर्वचन में कल्पना अधिक है, या कण्टैमिनेशन की प्रवृत्ति से परिचय होने का सङ्केत है—कह नहीं सकते।

निरुक्त (२।८) में 'शाकपूणि ने निश्चय (व्यक्त) किया कि मैं सब देवताओं को जानता हूँ,' इस कथन से सिद्ध होता है कि शाकपूणि वैदिक देवशास्त्र में विशेष परिश्रम करने वाले विद्वान् रहे होंगे। हम अन्यत्र कह चुके हैं कि वैदिक विद्वानों में दो वर्ग थे। एक वर्ग सूर्य को तथा दूसरा वर्ग अग्नि को ही सब देवताओं में प्रधान मानता था। निरुक्त (७।२३, २८; ८।२, ५, ६, ७, १०, १४, १७ और १८) से विदित होता है कि ये दूसरे वर्ग के आचार्यों में थे। ये तो यहाँ तक मानते थे कि पृथिवी पर स्थित जिस किसी की भी देवता के रूप में स्तुति की गई है, तो वह अग्नि ही है: ये द्वारः (यज्ञशाला के द्वारों), वनस्पति (यज्ञिय यूप बनाने की लकड़ी वाला वृक्ष अथवा वृक्ष-सामान्य) को भी अग्नि ही मानते हैं (८।१०, १७, १८)।

विद्रधे और द्रुपदे (४।१५) को सप्तमी के एकवचन के रूप बताने के आधार पर यह कहा जा सकता है कि ये व्याकरणशास्त्र में भी प्रतिष्ठित थे।

ब्रह्माण्ड, विष्णु और वायु पुराणों में शाकपूणि का वैयक्तिक नाम रथीतर दिया है[१]। इससे प्रतीत होता है कि शाकपूणि इनका अपत्यार्थक नाम है तथा शकपूण इनके पिता का नाम होना चाहिए, यहीं यह भी बताया गया है कि रथीतर शाकपूणि ने तीन संहिताओं का प्रवचन तथा चौथे निरुक्त का प्रणयन किया था। यहाँ यह बात स्पष्ट नहीं होती कि तीन संहिताओं के प्रवचन की अपेक्षा से निरुक्त चौथा है, या क्रौञ्च, वैतालकि और वालाकि आचार्यों के तीन निरुक्तों की अपेक्षा से। इतना अवश्य है कि शाकपूणि ने चार ग्रन्थों का प्रणयन किया था। भट्टभास्कर ने तै. सं. के प्रसङ्ग में शाकपूणि का मत उद्धृत किया है[२]। इससे सिद्ध होता है कि शाकपूणि ने तै. सं का प्रवचन किया होगा। बृहद्देवता के उल्लेखों के आधार पर इन्हें ऋग्वेद-

१. ब्र. आ. पु., खण्ड १, ३५।३; वि. पु. ३।४।२३–२४; वा. पु. ६१।२।

२. द्र. ४।५ २–९: द्वितीयादि-नवान्तेष्वनुवाकेषु नमस्कारादि-नमस्कारान्तमेकं यजुरिति शाकपूणिः।

संहिता (शौनकशाखा) का प्रवक्ता कहना उचित है। तीसरी संहिता कौन सी थी, इस विषय में अभी कुछ नहीं कहा जा सकता।

निघण्टु तथा निरुक्त। शाकपूणि ने एक निघण्टु तथा उसकी व्याख्या में एक निरुक्त भी लिखा था, इस विषय में अन्य आचार्यों की सहमति भी है :

(क) स्कन्दस्वामी (नि. १।४ में, भाग १, पृ. ४९ पर) कहते हैं : **दाश्वानिति यजमाननाम शाकपूणिना पठितम्।** ऋ. सं. (६।६२।३) के भाष्य में भी उन्होंने दाश्वान् का शाकपूणि-सम्मत यजमान अर्थ किया है। यास्क के निघण्टु में यह शब्द नहीं है। निरुक्त (१२।४०) में उन्होंने इसका यौगिक अर्थ (दत्तवान्) ही किया है।

(ख) निरुक्त ३।१० में निघण्टु २।१८ पर स्कन्दस्वामी कहते हैं :

शाकपूणेरतिरिक्ता एते—विव्याक, विव्याच, उरुव्यचाः, विव्र।

(ग) आत्मानन्द ने ऋ. सं. १।१६४।१४ पर कहा है : **चक्रं जगच्चक्रम्। भ्रमतीति वा, चरतीति वा चक्रमिति शाकपूणिः।** ४०वें मन्त्र पर भाष्य में वे कहते हैं : **उदकम् इति सुखनामेति शाकपूणिः।** उपलब्ध निघण्टु और निरुक्त में उदक जल का ही नाम है। ५२वें मन्त्र के भाष्य में उन्होंने शाकपूणि और यास्क आदियों के निरुक्त में मन्त्रों की व्याख्याएँ भिन्न-भिन्न प्रकार से की गई हैं, यह कहा है :

स्कन्दोद्गीथभाष्याणामपि भिन्नार्थता दृष्टा। स्वामिना तु प्रत्यर्थंव व्याख्यातम्। शाकपूणियास्कादिनिरुक्तेष्वपि व्याख्यांमेव एव।

(घ) दुर्गाचार्य का (८।५ में) कथन है : **शाकपूणिस्तु पृथिवीनामन्य एवोपक्रम्य स्वयमेव सर्वत्र क्रमप्रयोजनमाह।** शाकपूणि के निघण्टु में शब्दों का अमुक क्रम ही क्यों अपनाया गया है, इसकी उपपत्ति से प्रेरणा पाकर ही दुर्गाचार्य ने यास्कीय निघण्टु में भी शब्दों के क्रम का प्रयोजन बताने की चेष्टा (विशेष कर १०।१ पर) की है। निरुक्तवार्तिककार ने भी शाकपूणि के निघण्टु की इस विशेषता को महत्त्वपूर्ण मान कर भर-स्क उनका अनुसरण करने का परामर्श निघण्टु व्याख्याताओं को निम्न श्लोक से दिया है :

क्रमप्रयोजनं नाम्नां शाकपूण्युपलक्षितम्।
प्रकल्पयेदन्यदपि न प्रज्ञामवसादयेत्[1]॥

(ङ) स्कन्दस्वामी का (ऋ. सं. ६।६१।२ में) में कथन है : **तथा च शाकपूणिना नद्यभिधायिनः सरस्वतीशब्दस्य परिगणने 'अथैषा नदी। चत्वार एव तस्या निगदा भवन्ति—**

(अ) दृषद्वत्यां मानुष आपयायां सरस्वत्यां रेवदग्ने दीदिहि॥ऋ. सं.३।२३।४॥

(आ) चित्र इद्राजा राजका इदन्यके यके सरस्वतीमनु॥८।२१।१८॥

---

१. यह श्लोक कुछ (....पूणिरु....) अन्तर से स्कन्दभाष्य (भाग ३–४, पृष्ठ १२३) में भी उदाहृत है। वहाँ उन्होंने **शौनकस्याप्ययमेवाशयः** कहा है। पर बृहद्देवता में यह श्लोक या इसका आशय उपलब्ध नहीं है।

(इ) सरस्वती सरय्वः सिन्धुरूर्मिभिः ॥ १०।६४।६ ॥

(ई) इमं मे गङ्गे यमुने सरस्वति ॥१०।७५।५ ॥

पञ्चममप्युदाहरन्ति—अम्बितमे नदीतमे (२।४१।१६)'। अत्रायं न षष्ठः परिगणित इति।

यास्क (२।२४) ने ऋ. सं. ६।६१।२ में सरस्वती को नदीवत् तथा देवतावत् माना है। स्कन्दस्वामी और दुर्गाचार्य ने इस मत की आलोचना की है।

शाकपूणि के निघण्टु और निरुक्त की विशेषताएं

(क) ऊपर के वचनों के आधार पर हमारा विचार है कि शाकपूणि ने निघण्टु का प्रणयन कर के फिर उस पर भाष्य किया, जिसे उन्होंने तथा बाद के आचार्यों ने निरुक्त नाम दिया। अर्थात् शाकपूणि ने अपने ही निघण्टु की व्याख्या की, जिसे निरुक्त कहा गया।

(ख) उनके निघण्टु में, यास्कीय निघण्टु की तरह, अदैवत तथा दैवत—दोनों प्रकार—के शब्द सङ्कलित थे।

(ग) उपलब्ध (यास्कीय) निघण्टु में न मिलने वाले शब्द भी उनके निघण्टु में थे। उपलब्ध निघण्टु में समाम्नात सब शब्द उनके निघण्टु में थे कि नहीं, इस पर कुछ नहीं कहा जा सकता।

(घ) वैदिक शब्दों के अर्थ उपलब्ध निघण्टु में दिए गये अर्थों से अलग भी दिए गये थे।

(ङ) निघण्टु में शब्दों का क्रम किसी सिद्धान्त पर आधारित था। सम्भवतः उस सिद्धान्त के आधार पर शब्दों के क्रम की व्याख्या उन्होंने अपने भाष्य (निरुक्त) में की होगी।

(च) दैवतकाण्ड के भाष्य (निरुक्त) में उन्होंने छोटे-मोटे देवताओं के मन्त्रों की इयत्ता बताने का प्रयास भी किया होगा।

(छ) उनके निघण्टु का प्रारम्भ भी पृथिवी आदि शब्दों से ही होता है। शायद उनके निघण्टु में भी नैघण्टुक आदि तीन काण्ड थे। नैघण्टुक तथा दैवत काण्ड तो अवश्य रहे होंगे—नैघण्टुक पहले और शायद दैवतकाण्ड अन्त में।

२०. शाकपूणि के पुत्र। आचार्य शाकपूणि के पुत्र भी वैदिक विद्वानों में ख्यातनामा थे, यह यास्क द्वारा एक बार किये उनके उल्लेख (कतमत्तदेतदक्षरम् ?... आदित्य इति पुत्रः शाकपूणेः। १३।११) तथा फिर उसकी व्याख्या से सिद्ध होता है। यास्क का कथन है कि अक्षर की आदित्य-परक जो व्याख्या की है, वह अधिदैवत व्याख्या है। उनके पिता ने अक्षर की व्याख्या यज्ञ में मन्त्र के प्रारम्भ में उच्चरित ओम् परक की है। इससे प्रतीत होता है कि शाकपूणि के पुत्र लकीर के फकीर न

हो कर स्वतन्त्र चेता नैरुक्त विद्वान् थे तथा वैदिक देवशास्त्र इनकी रुचि का विशेष क्षेत्र था।

श्री बिष्णुपद भट्टाचार्य का (पृष्ठ ६० पर) मत है कि बृहद्देवता में उल्लिखित राथीतर आचार्य शाकपूणि के पुत्र ही हैं। हम उनसे सहमत नहीं हैं। एक तो बृहद्देवता में रथीतर और शाकपूणि का पृथक्-पृथक् उल्लेख उनके एक होने में कुछ संशय उत्पन्न करता है। अतः हम निश्चय से नहीं कह सकते कि शौनक रथीतर को शाकपूणि भी मानते हैं। दूसरे, रथीतर का पुत्र होने से तो उन्हें राथीतरि कहा जाना चाहिए। हां, रथीतर आचार्य के दौहित्र के लिए (राथीतरी का पुत्र अर्थ में) राथीतर ठीक बैठता है। दौहित्र का अपने पिता या गोत्र के नाम से न पुकारे जाने में हेतु उनके नाना की आचार्य के रूप में बढ़ी-चढ़ी ख्याति हो सकती है। प्राचीन काल में पति के घर में स्त्री को पिता के नाम के आधार पर ही पुकारा जाता था[1]। हो सकता है कि उनकी माता राथीतरी भी नामी-गरामी विदुषी रही हों।

२१. शाकल्य। ये ऋग्वेदसंहिता की शौनक शाखा के प्रख्यात पद-पाठ के प्रवक्ता आचार्य हैं। ये वैयाकरणनिकाय के अतिशय मूर्धन्य विद्वान् हैं। यास्क ने इन के पद-पाठ का उल्लेख, इनके नामनिर्देश के बिना, अनेक बार किया है। एक स्थल (६।२८) पर यास्क ने इनके पद-पाठ की आलोचना की है। दूसरे (५।२१) स्थल में इन्होंने (शाकल्य का उल्लेख किये बिना) शाकल्य के पद-पाठ से भिन्न पद-पाठ दिया है। इन सन्दर्भों में बृहद्देवताकार शौनक (२।११२, ११४) यास्क के आलोचक हैं।

२२. स्थौलाष्ठीवि। अग्नि (७।१४) और वायु (१०।१) देवताओं के नामों के निर्वचन के प्रसङ्ग में यास्क ने दो बार इनका नामोल्लेख किया है। ये अग्नि को अ (<न) + √क्नु से निरुक्त मानते हैं तथा वायु को √इ से निष्पन्न आयु में वकार का आगम होने से निष्पन्न मानते हैं[2]। इस से सिद्ध होता है कि ये शब्दों में वर्णोपजन (आगम) के सिद्धान्त से परिचित हैं।

निष्कर्ष

इक्के-दुक्के सन्दर्भों के आधार पर प्राचीन नैरुक्त आचार्यों के व्यक्तित्व और सिद्धान्तों के बारे में हम बहुत छिटपुट बातें ही जान सकते थे, और उतना भर हम

---

१. सती के लिए शिव द्वारा प्रयुक्त दाक्षायणी नाम तथा दक्ष द्वारा यज्ञ में शिव को न बुलाये जाने पर सती द्वारा दाक्षायणी कहलाने में लज्जा, दशरथ की बड़ी रानी का कौशल्या, छोटी का कैकेयी, पाण्डवों की पत्नी तथा द्रुपद की पुत्री याज्ञसेनी का पाण्डवों के यहां परिचित द्रौपदी नाम इसके पोषक हैं।

२. निरुक्त ६।३ में ऋ. सं. १।१६२।१ की व्याख्या में मन्त्रगत 'आयुः' की व्याख्या 'आयुश्च वायुः अयनः' यास्क ने भी की है।

जान पाये हैं। इस से हमें मरुस्थल में बूँद-भर ही जानकारी मिल पायी है। पर अभावे शालि-चूर्णम् के न्याय को विद्वानों ने ही प्रचलित किया है। उसका आश्रय लेते हुए हम इतना ही कहेंगे कि कुछ भी न जानने से तो कुछ जानना अच्छा है ही।

उपर्युक्त विवरण से सिद्ध होता है कि प्राचीन आचार्य निर्वचन के विषय में निम्न सिद्धान्तों को तो दृष्टि में रखते ही थे :

१. शब्दों में ध्वनिविकास होता रहता है। इसकी निम्नलिखित विधाओं का परिचय हमें इन आचार्यों के नाम से दिये निर्वचनों में मिलता है :

(अ) कवर्ग-चवर्ग का आपसी सम्बन्ध, √अञ्ज् से अक्षि।

(आ) मूर्धन्यीकरण, वीरित>वीरिट।

(इ) मूल शब्द में संयोग से पूर्व ह्रस्व होने पर संयोग का लोप तथा ह्रस्व को दीर्घ हो जाता है। सम्मन्>सामन्।

(ई) समानस्थानीय ऊष्म और स्पर्श वर्णों के संयोग में पूर्ववर्ती ऊष्म का लोप। स्तायु>तायु।

(उ) वर्ग के प्रथम वर्ण और स के संयोग के स्थान पर छ के रूप में विकार। आप्स=अच्छ। 'आ-उ' तक की विधाएँ प्राकृत प्रवृत्ति के अन्तर्गत हैं।

(ऊ) सम्प्रसारण। √वृ से ऊर्वी।

२. नामकरण के विभिन्न आधार होते हैं।

३. कई पदों या पदांशों से मिलकर एक शब्द भी बन जाता है। त्वष्टा, अग्नि।

अध्याय १९

निर्वचन के सिद्धान्त

वैदिक निर्वचनों के प्रकरण में हम उन में निहित सिद्धान्तों का ऊह करके उन की चर्चा कर चुके हैं। यास्क ने अपनी परम्परा तथा अपने स्वयं के ऊह से भी निर्वचन के कुछ सिद्धान्त निश्चित करके निरुक्त के दूसरे अध्याय के आरम्भ में दिये हैं। उन का विश्लेषण तथा विवरण करने से पूर्व यास्क के वक्तव्य का अनुवाद देना हम उचित समझते हैं। अनुवाद में कोष्ठकान्तर्गत पाठ हमारा अपना है। उससे हमने मूल को स्पष्ट करने का प्रयास किया है।

"अब निर्वचन।

१. 'जिन शब्दों में उदात्त आदि स्वर, तथा 'व्याकरण के ग्रन्थ प्रत्यय एवम् उनके लगने से होने वाले परिवर्तन अर्थ के अनुकूल तथा उचित धातु के विकार से युक्त हों, उन शब्दों का निर्वचन उस प्रकार से कर दे'[1]। (अर्थात् अवगत-संस्कार व्युत्पन्न शब्दों में संस्कार यानी व्याकरण-प्रक्रिया के अनुसार अर्थ का निर्वचन कर देना चाहिये।)

२. 'किन्तु जब स्वर और व्याकरण की प्रक्रिया शब्द के अर्थ के अनुकूल न हो, उचित धातु का विकार भी नहीं हो, तब (शब्द के प्रचलित) अर्थ को आधार बना कर[2] उस की (जैसे भी हो कृत्, तद्धित, धातु, समास आदि) किसी भी वृत्ति[3] की समानता से परख करे'[4]।

३. 'यदि (निर्वचनीय शब्द और उसमें सम्भावित किसी भी वृत्ति के अर्थ में कोई भी) समानता न हो, तो भी उस शब्द के किसी अक्षर या वर्णमात्र की (उससे मिलते-जुलते अर्थ वाले उस अक्षर या वर्णमात्र से युक्त दूसरे शब्द से) समानता के आधार पर निर्वचन कर दे, निर्वचन तो करे ही। इसके लिए व्याकरण-प्रक्रिया का

---

१. द्र. निरुक्त २।१ : अथ निर्वचनम्। तद्येषु पदेषु स्वर-संस्कारौ समर्थौ प्रादेशिकेन गुणेनान्वितौ स्याताम्, तथा तानि निर्ब्रूयात्।

२. स्कन्द : शब्द के अवयवों के अर्थ तथा समुच्चित अर्थ को न छोड़ते हुए।

३. : स्कन्द : वर्तते तत्र शब्द इति वृत्तिरर्थः।

४. द्र. निरुक्त २।१ : अथानन्वितेऽर्थेऽप्रादेशिके विकारेऽर्थ-नित्यः परीक्षेत केनचिद् वृत्तिसामान्येन।

आदर न करे (अर्थात् अमुक शब्द का सम्बन्ध अमुक धातु से यदि निश्चित करते हैं, तो व्याकरण के नियमों के अधीन उस शब्द का यह रूप होना चाहिए, यह नहीं, इत्यादि की चिन्ता न करे)। क्यों कि (शब्द का साधुत्व प्रतिपादित करने वाली ये जितनी भी) वृत्तियाँ (हैं, वे) संशयग्रस्त ही हैं[1] (अर्थात् संशय-रहित तथा पूर्णतः वैज्ञानिक न हो कर अन्दाज भर हैं; अतः इनको बहुत महत्त्व नहीं देना चाहिए।[2]

(क) 'विभक्तियों को अर्थ के अनुसार बदल ले'। (ख) प्रत्तम्, अवत्तम् में धातु के आदि (के वर्ण अर्थात् द्) ही बचते हैं। (ग) गुण और वृद्धि की निवृत्ति (निषेध) करने वाले[3] (प्रत्यय) बाद में होने पर √अस् के आदिम वर्ण अ का लोप हो जाता है। (अस्+तस्>) स्तः। (अस्+अन्ति>) सन्ति। (घ) अन्तिम वर्ण

---

१. द्र. निरुक्त २।१ : अविद्यमाने सामान्येऽप्यक्षर-वर्ण-सामान्यान् निर्ब्रूयात्। न त्वेव न निर्ब्रूयात्। न संस्कारमाद्रियेत। विशयवत्यो हि वृत्तयो भवन्ति।

२. आचार्य स्कन्दस्वामी ने (भाग २, पृष्ठ ६—१६ में) यहाँ से ले कर आगे (ठ) तक के सन्दर्भ की व्याख्या और ढंग से की है : 'विशयवत्यो....सन्नमयेत्' वाक्य 'अक्षर-वर्ण-सामान्यान्निर्ब्रूयात्' का अपवाद है और 'हि' वाक्यालङ्कार है। अर्थों में शब्दों की वृत्तियाँ कई तरह की होती हैं : १ लोप, २ विकार, ३ अदला-बदली (विपर्यय), ४ एक वर्ण के स्थान पर दूसरा वर्ण आना (वर्णान्तरापत्ति) ५ आगम। 'प्रत्तमवत्तम् ...मरूजेति' (ख—ठ) से इन्हीं पाँच प्रवृत्तियों का विस्तार किया गया है : (ख-ङ, छ-ज) से १ लोप का, (च) से २ विकार का, (ञ) से ३ अदला-बदली का, (झ, ट) से ४ वर्णान्तरापत्ति का और (ठ) से ५ आगम का।

हमारे विचार में च, झ ञ ट को एक ही विकार श्रेणी में रखना उचित है। लगता है स्वामी जी विकार से स्वरों के मात्रिक परिवर्तन को ही लेते हैं। वे वर्णों में स्थान और प्रयत्न के विकार को वर्णान्तरीभाव मान कर स्वतन्त्र श्रेणी ही मानते हैं।

जहाँ तक हो सके किसी शब्द का निर्वचन इन से ही करना चाहिए। सम्भव न हो, तब अक्षर या वर्ण की समानता से निर्वचन करना चाहिए। ये वृत्तियाँ अनेक हैं; अतः कहाँ कौन-सी लागू होगी, इस विषय में दुविधा होने के कारण ये विशयवती अर्थात् संशयवती हैं। इन के अनुसार और अक्षर या वर्ण की समानता देख कर निर्वचन करने में अन्तर यह है कि इनमें अभिधा के प्रत्यक्ष होने के कारण मूल शब्द (प्रकृति-प्रत्यय आदि) का अधिकांश भाग रहता है। अक्षर या वर्ण की समानता वहाँ देखी जाती है, जहाँ मूल शब्द का थोड़ा-सा अंश बचा होता है।

३. स्कन्दस्वामी ने (भाग २, पृष्ठ ७ में) इसे भी 'अक्षर और वर्ण की समानता के आधार पर निर्वचन कर दे'। (द्र. पिछला अनुच्छेद, सङ्ख्या ३) का अपवाद बतलाया है। ४. पाणिनीय तन्त्र के कित्, गित् और ङित प्रत्ययों को यास्क ने निवृत्ति-स्थान कहा है।

का लोप भी (उन ही स्थितियों में) हो जाता है । (गम्+त्वा>) गत्वा । गम्+त>) गत । (ङ) उपान्त्य वर्ण का लोप हो जाता है । (जगम्+अतुस्>) जग्मतुः । जगम्+उस्<) जग्मुः । (च) उपान्त्य वर्ण में विकार आ जाता है । (राजन्>) राजा, (दण्डिन्>) दण्डी । (छ) किसी वर्ण का लोप ही हो जाता है । (तत्त्वा याचामि[1]>) तत्त्वा यामि । (ज) दो-दो वर्णों का लोप भी हो जाता है । (त्रि+ऋच>)तृच (यहाँ र्+इ का लोप हुआ है) । (झ)[2] पहला वर्ण बदल कर और कुछ हो जाता है । (द्योतिः>) ज्योतिः, (हनः>) घनः, (भिन्दुः>) बिन्दुः, (भाट्यः>) वाट्यः । (ञ) पहले और अन्तिम की अदला-बदली भी हो जाती है । (श्चोताः>)स्तोकाः, (सर्जूः>) रज्जूः, (कसिताः>) सिकताः, (कर्तु>) तर्कु । (ट)अन्तिम वर्ण भी बदल जाता है । ओघ (<ओह< √वह्), मेघ (<मेह < √मिह्), नाथ (<नाह<√नह्), गाथ (<गाह <√गाह्), वधू (<वहू <√वह्), मधु (<मदु<√मद्) । (ठ) अतिरिक्त वर्ण भी जुड़ जाता है । आस्थत् (√अस्+अत्, लुङ्, प्र. पु. ए. व., के मध्य में थ्), द्वारः (<वारः <√वृ में

---

१. आचार्य स्कन्दस्वामी (भाग २. पृष्ठ १०—११) दुर्ग के इस व्याख्यान को अप-व्याख्यान मानते हैं : (क) यदि याचामि<यामि है, तो एक वर्ण का लोप कहाँ हुआ ? इसमें तो दो वर्णों(च+आ)का लोप है । अतः यास्क को यदि ऋ. सं. १।२४। ११ का यामि ही (याचामि के विकसित रूप के रूप में) अभीष्ट होता, तो वे इसे 'अथापि द्विवर्णलोपः' का उदाहरण बनाते । (ख) प्रत्तम्, अवत्तम् आदि से लौकिक शब्दों के ही उदाहरण यास्क ने इस प्रकरण में दिये हैं, यही अकेला वैदिक उदाहण क्यों ? अतः यहाँ केवल तत्त्वा उदाहरण है : √तन्+त्वा में 'उदितो वा' (अष्टा. ७।२।५६) से विकल्प से इट् न होने पर अन्त-लोप का उदाहरण है । जिस पक्ष में इट् होना चाहिए, उस पक्ष में भी इकार का लोप हो कर तत्त्वा रह जाता है ।

लगता है स्कन्द के इस व्याख्यान का आधार निरुक्तसमुच्चय (३९वें मन्त्र ऋ. सं. १।२४।११की व्याख्या) है । स्वामी जी का यह कथन ठीक नहीं है : दो वर्णों का लोप तो उनके पक्ष में भी (नि के लोप के कारण) यथावस्थित ही रहा । यदि न् मात्र का लोप स्वामी जी कहते, तब भी वह अन्त-लोप में ही आ जाता, यास्क ने लौकिक उदाहरण ही देने की प्रतिज्ञा तो यहाँ की नहीं है कि वैदिक उदाहरण देने से प्रतिज्ञा भङ्ग होता ।

२. स्कन्दस्वामी के यहाँ वाक्यक्रम विपर्यस्त है । यह वाक्य 'अथापि....तर्कु' के बाद दिया है । हमने दुर्गव्याख्या और हस्तलेखों का क्रम ही रखा है । आदिविपर्यय के बाद आद्यन्तविपर्यय को रखना ही समुचित है ।

आदि में द्[1]), मरुज (<मर्ज <√मस्ज् के मध्य में ऊ)[2] ।

४. 'जहाँ धातु में (अकारादि) स्वरों के बिलकुल (अव्यवहित रूप से) पूर्व या पश्चात् अन्तस्था (य्, र्, ल्, व्) होते हैं, उसे दो प्रकार की प्रकृति अर्थात् स्वभाव वाले शब्दों का आश्रय बतलाते हैं। (जैसे √यज् में अकार से पूर्व य् है। इससे यज्ञ, याग, यजन, यजमान, यष्टा आदि यकारवान्; इष्ट, इष्टि, ईजे, आदि इकार [सम्प्रसारण] वाले, तथा इयाज आदि उभयवान् शब्द निष्पन्न हैं। ऐसे स्थलों में अर्थ की सिद्धि एक प्रकार से न बने, तो दूसरे प्रकार से कर लेनी चाहिये। जैसे इष्ट शब्द में √इष् इच्छार्थक का सन्देह होता है। अर्थ को देखकर यदि लगे कि शब्द इच्छा अर्थ में नहीं है, तो √यज् से निर्वचन करले।) इन (द्विस्वभाव धातुओं) में भी किसी एक प्रकृति वाले शब्द थोड़े होते हैं। जैसे (√अव् के अकारवान् रूप अल्प हैं:) ऊति, (√म्रद् का ऋकारवान्) मृदु (ही है), (√प्रथ् का) पृथु, (√प्रुष् से) पृषत्, (√क्वण् से) कुणारुम्, (अर्थात् इन धातुओं की अन्तस्थवाली प्रकृति ही अधिक प्रचलित हैं[3], सम्प्रसारण वाली कम)।

५. बोलचाल की धातुओं से वैदिक भाषा के कृदन्त रूप भी बनते हैं। (अर्थात् तिङन्त रूप तो प्रयुक्त होते हैं केवल लौकिक में और कृदन्त रूप प्रयुक्त होते हैं वैदिक में)। (√दम् से) दमूनस् और (√साध् से) क्षेत्रसाधस्[4] (का उत्तरपद)।

६. 'वेद में प्रयुक्त (तिङन्त रूपों वाले धातुओं) से बोल-चाल के (कृदन्त शब्द सम्बद्ध) हैं। √उष् दाह करना वैदिक है, पर) उष्ण (लोक में प्रचलित है)। (वैदिक √घृ बहना, प्रदीप्त करना से निष्पन्न) घृत[5] (घी लोक में भी प्रचलित है। लोक में √घृ के तिङन्त रूपों का प्रयोग नहीं होता)।

---

१. इस पर विशेष विवेचन आगे देखें।

२. द्र. निरुक्त २।१-२ : यथाऽर्थं विभक्तीः सन्नमयेत्। प्रत्तमवत्तमिति धात्वादी एव शिष्येते। अथाप्यस्ते निवृत्तिस्थानेष्वादिलोपो भवति—स्तः, सन्तीति। अथाप्यन्तलोपो भवति—गत्वा, गतमिति। अथाप्युपधाविकारो भवति—राजा, दण्डीति। अथापि वर्णलोपो भवति—तत्त्वा यामीति। अथापि द्विवर्णलोपः—तृच इति। अथाप्यादिविपर्ययो भवति—ज्योति, घनो, बिन्दु, वाट्य इति। अथाप्याद्यन्तविपर्ययो भवति—स्तोका, रज्जुः, सिकतास्, तर्क्विति। अथाप्यन्तव्यापत्ति र्भवति—ओघो, मेघो, नाधो, गाधो, वधू, मंध्विति। अथापि वर्णोपजन—आस्थद्, द्वारो, मरूजेति ॥ ३. द्र. निरुक्त २।२ : तद्यत्र स्वरादनन्तराऽन्तस्याऽन्तर्धातु भवति, तद् द्विप्रकृतीनां स्थानमिति प्रदिशन्ति। तत्र सिद्धायामनुपपद्यमानायामितरयोपपिपादयिषेत्। तत्रात्येकेऽल्पनिष्पत्तयो भवन्ति। तद्यथैतद्—ऊति, मृदुः, पृथुः, पृषतः, कुणारुमिति।

४. द्र. वहीं, अथापि भाषिकेभ्यो धातुभ्यो नैगमाः कृतो भाष्यन्ते। दमूनाः, क्षेत्रसाधा इति। ५. द्र. वहीं, अथापि नैगमेभ्यो भाषिकाः— उष्णं, घृतमिति।

७. 'कहीं केवल आख्यातों का प्रयोग होता है, तो कहीं उनसे निष्पन्न नाम पदों का। गत्यर्थक √शव् का आख्यात के रूप में प्रयोग कम्बोज (काबुल, कन्धार, बिलोचिस्तान) देश में बोलचाल में होता है। आर्य प्रदेशों में इस धातु से निष्पन्न नाम पद शव का बोलचाल में प्रयोग होता है। कटाई करना (फसल काटना) अर्थ में √दा आख्यात के रूप में पूरब में और (इससे निष्पन्न) दात्र (दरांती) उत्तर में[1] (बोली जाती है)।

८. 'इस प्रकार (इन सिद्धान्तों के प्रकाश में) एकल (असमस्त) शब्दों का निर्वचन करे[2]।

९. 'तद्धित और समास वृत्तियों से निष्पन्न अकेले या एकाधिक शब्दों के मेल से बने शब्दों में (समास में) पहले पूर्वपद का या (कृदन्त शब्दों में) प्रथम अवयव (अर्थात् प्रकृति शब्द) का और फिर (समास में) उत्तरपद या (कृदन्त शब्द में बाद के अवयव (अर्थात् कृत्प्रत्यय आदि) का विभाग कर के निर्वचन करे[3]। (जैसे—)

(क) 'दण्ड्यः पुरुषः—दण्डनीय पुरुष—दण्ड्य (का निर्वचन है) दण्ड के योग्य अथवा दण्ड से युक्त होता है। दण्ड शब्द धारणार्थक √दद् से (है)। अक्रूरो ददते मणिम् (अक्रूर मणि-स्यमन्तक-को धारण करता है में √दद् का धारण अर्थ में) बोलचाल में प्रयोग करते हैं। आचार्य औपमन्यव मानते हैं कि (इससे दुर्विनीतों का) दमन किये जाने के कारण (√दम् से दण्ड) है। 'इसे डांड दो'—यह निन्दा में[4] (कहा जाता है)।

(ख) 'कक्ष्या घोड़े की रस्सी (तंग होती है)। (क्यों कि यह) कांख (कक्ष) में पड़ी रहती है। कक्ष (कांख, यू. पी. की हिन्दी में कांख) √गाह् से। क्स प्रत्यय (शाब्दिक अर्थ [धातु को] 'नामपद बनाने वाला') है। अथवा √ख्या (के समानान्तर प्रयुक्त √क्शा) को बिना किसी प्रयोजन के द्वित्व (क्शा+क्शा>कक्शा>कक्ष) होता है। इसका अर्थ होता है : इसमें प्रकट करना क्या है? अथवा √कष् से अनर्थक द्वित्व कर के (कष्+कष्>ककष्>कक्ष>कक्ष) है। उसकी

---

१. द्र. निरुक्त २।२ : अथापि प्रकृतय एवैकेषु भाष्यन्ते, विकृतय एकेषु। शवतिर्गतिकर्मा कम्बोजेष्वेव भाष्यते, विकारमस्यार्येषु भाषन्ते शव इति। दातिर्लवनार्थे प्राच्येषु, दात्रमुदीच्येषु।

२. द्र. निरुक्त २।२ : एवमेकपदानि निर्ब्रूयात्।

३. द्र. वहीं : अथ तद्धित-समासेष्वेक-पर्वसु चानेक-पर्वसु च पूर्वं पूर्वमपरमपरं प्रविभज्य निर्ब्रूयात्।

४. द्र. वहीं : दण्ड्यः पुरुषो दण्डमर्हतीति वा, दण्डेन सम्पद्यत इति वा। दण्डो ददतेर्धारयतिकर्मणः। अक्रूरो ददते मणिमित्यभिभाषन्ते। दमनादित्यौपमन्यवः। दण्डमस्याकर्षतेति गर्हायाम्।

समानता से अर्थात् घोड़े की कक्ष (शाब्दिक अर्थ 'बाजू की जड़') की समानता के कारण मनुष्य की काख कक्ष कहलाती है[1]।

(ये दोनों उदाहरण तद्धित वृत्ति के हैं। आगे समास के उदाहरण हैं :)

(ग) राजा का आदमी (राजन्+पुरुष)=राजपुरुष। राजा √राज् (स्वामी होना) से। पुरुष पुर्+√सद्(पुर् अर्थात् शरीर में स्थित होने)से, या पुर्+√शी से, या √पूरि (भरना) से। भीतर को भर देता है; अतः पुरुष है, यह अन्तरात्मा के बारे में है।

यस्मात्परं नापरमस्ति किञ्चिद्यस्मान्नाणीयो न ज्यायोऽस्ति किञ्चित्।
वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येकस्तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम्[2]॥

यह भी वेदमन्त्र है[3]।(इसमें पुरुष से जगत् को पूर्ण बताया है। अर्थात् यह मन्त्र पुरुष का सम्बन्ध √पूर् से बताता है।)

(घ) विश्वकद्राकर्ष (यह अनेकपद समास का उदाहरण है)। वि और चकद्र कुत्ते की चाल अर्थ में बोला जाता है। √द्रा चाल की खराबी अर्थात् बुरी चाल (अर्थ में है)। क+√द्रा √द्रा के अर्थ की भी निन्दा अर्थात् बुरी से बुरी चाल अर्थ में है। √कद्रा को अनर्थक द्वित्व करने से √चकद्रा बनता है। वह चकद्रा अर्थात् बुरी-से-बुरी चाल इसमें है, इसलिए विश्वकद्र शब्द कुत्तों के साथ चलने वाले शिकारी चण्डाल के लिए प्रयुक्त होता है[4]। (दुर्ग ने एक अर्थ और दिया है : कुत्ते की चाल ही बुरी-से-बुरी चाल है, अतः उससे युक्त कुत्ता ही विश्वकद्र है। उनको काम में लाने वाला शिकारी विश्वकद्राकर्ष है। दोनों अर्थों में वि मत्वर्थीय प्रत्यय है।)

(ङ) 'कल्याणवर्णरूप—कल्याण वर्ण के समान इसका रूप है। कल्याण

---

१. द्र. निरुक्त २।२ : कक्ष्या रज्जुरश्वस्य, कक्षं सेवते। कक्षो गाहतेः क्स इति नामकरणः, ख्यातेर्वाऽनर्थकोऽभ्यासः, किमस्मिन्ख्यानमिति वा, कषतेर्वा। तत्सामान्यान् मनुष्यकक्षो बाहुमूलसामान्यादश्वस्य।

२. द्र. तैत्तिरीय आरण्यक १०।१०।२० पूना सं. पृष्ठ ३२६। जिससे बढ़कर और कुछ नहीं है। जिससे छोटा या बड़ा और कुछ नहीं है। जो अकेला वृक्ष के समान स्थिर होकर आकाश में स्थित है। यह सब (जगत्) उस पुरुष से पूर्ण-भरा हुआ है।

३. द्र. निरुक्त २।३ : राज्ञः पुरुषो राजपुरुषः। राजा राजतेः। पुरुषः पुरिषादः, पुरि शयः, पूरयतेर्वा, पूरयत्यन्तरित्यन्तरपुरुषमभिप्रेत्य - 'यस्मात्परं...सर्वम्' इत्यपि निगमो भवति।

४. द्र. निरुक्त २।३ : विश्वकद्राकर्षः। वीति चकद्र इति श्व-गतौ भाष्यते। द्रातीति गतिकुत्सना, कद्रातीति द्रातिकुत्सना, चकद्रातिं कद्रातीति सतोऽनर्थकोऽभ्यासः, तदस्मिन्नस्तीति विश्वकद्रः।

कमनीय (चाहने योग्य अतः √कम् से) है । वर्ण वृणोति (पसन्द करना अर्थ वाली √वृ) से है । रूप √रुच् (अच्छा लगना या कान्ति युक्त होना) से है[1] ।

१०. 'इस प्रकार तद्धित और समास वृत्तियों से निष्पन्न पदों का निर्वचन करें'[2]।

११. 'अकेले (प्रसङ्ग से बहिर्भूत, इक्के-दुक्के) शब्दों का निर्वचन न करें'[3]।

१२. 'व्याकरणशास्त्र न जानने वाले, विनयपूर्वक पूछने, पढने न आए हुए, इस शास्त्र को समझने की योग्यता से रहित (अथवा किसी भी शास्त्र को जो नहीं जानता—दुर्गाचार्य) पुरुष को यह शास्त्र न बतावे (अथवा उसके आगे निर्वचन न करे) ; क्योंकि जो अज्ञानी होता है वह हमेशा विज्ञान में व्यर्थ के दोष निकालता रहता है । इसलिए विनयपूर्वक आए हुए को, तथा जो ज्ञान पाने में समर्थ हो, मेधावी तथा परिश्रमी हो, उसे निर्वचन करें' (अथवा यह निर्वचन-शास्त्र पढावे)''[4]।

इस प्रकरण से आगे(२।७ में)भी उन्होंने निर्वचन का एक सिद्धान्त दिया है :

१३. 'एक शब्द विभिन्न परिस्थितियों में अनेक अर्थों में प्रयुक्त होने लगता है । उन शब्दों का निर्वचन करने के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि निर्वचन करते समय उस अर्थविशेष को ध्यान में रखा जाये । जिन शब्दों का अर्थ लगभग एक-जैसा ही होता है, उन शब्दों का निर्वचन भी एक-जैसा ही करना चाहिए । जिन शब्दों का अर्थ अलग-अलग हो, उनका निर्वचन भी अलग-अलग तरह से करना चाहिए । जैसे—निर्ऋति (निघण्टु १।१।१६) शब्द के दो अर्थ हैं : १. पृथिवी २. कृच्छ्रापत्ति अर्थात् दुर्गति । पृथिवी अर्थ में निर्वचन किया है : निरमणात् (जहाँ लोग आनन्दभोग करते हैं, अतः नि+ √रम् से)। कृच्छ्रापत्ति अर्थ में : ऋच्छतेः कृच्छ्रापत्तिरितरा । गति=ऋति का अभाव=निर्>दुर्गति, कष्ट, नरक, अतः निर्+ऋ> निर्ऋति'[1] । (लगता है, यास्क कृच्छ्र को √ऋच्छ् से निष्पन्न मानते हैं।) ख+ √ऋच्छ्>कृच्छ्र हो सकता है ।)

इन सिद्धान्तों के आधार पर इस विषय में हमारा यह कहना है कि :—

---

१. द्र. निरुक्त २।२ : कल्याण-वर्ण-रूपः; कल्याण-वर्णस्येवास्य रूपम् । कल्याणं कमनीयं भवति । वर्णो वृणोतेः । रूपं रोचतेः ।

२. द्र. वहीं : एवं तद्धित-समासान्निर्ब्रूयात् ।

३. द्र. वहीं : नैक-पदानि निर्ब्रूयात् ।

४. द्र. वहीं : नावैयाकरणाय, नानुपसन्नाय, अनिदंविदे वा, नित्यं ह्यविज्ञातुर्विज्ञानेऽसूया । उपसन्नाय तु निर्ब्रूयाद्, यो वाऽलं विज्ञातुं स्यात्, मेधाविने, तपस्विने वा ।

१. द्र. वहीं २।७ : एवमन्येषामपि सत्त्वानां सन्देहा विद्यन्ते । तानि चेत् समानकर्माणि, समान-निर्वचनानि; नाना-कर्माणि चेन्, नाना-निर्वचनानि; यथार्थं निर्वक्तव्यानि । तत्र निर्ऋति निरमणाद्, ऋच्छतेः कृच्छ्रापत्तिरितरा । सा पृथिव्या सन्दिह्यते । तयोर्विभागः ।

१. यास्क निर्वचनीय शब्दों के तीन प्रकार मानते हैं :

(क) अर्थानुकूल (समर्थ) व्याकरण की प्रक्रिया अर्थात् व्युत्पत्ति वाले शब्द, जिन्हें परवर्ती लोगों ने प्रत्यक्ष-वृत्ति नाम दिया है। (द्र. यास्क के वक्तव्य के अनुवाद का अनुच्छेद १।)

(ख) अर्थ अनुकूल न हो, व्याकरण की प्रक्रिया स्पष्ट नहीं हो, अर्थात् शब्द में उसके मूल का विकार स्पष्ट नहीं झलकता हो, ऐसे शब्द, जिन्हें लोग परोक्ष-वृत्ति कहते हैं। (द्र. अनु. २।)

(ग) जिन में शब्द की व्युत्पत्ति की ओर प्रकाश डालने वाली कोई भी बात न हो, ऐसे शब्द, जिन्हें अति-परोक्ष-वृत्ति कहा गया है। (द्र. अनुच्छेद ३।)

इन तीन प्रकार के शब्दों में से प्रत्येक प्रकार के शब्दों का निर्वचन भिन्न-भिन्न तरह से किया जाना चाहिए :

(क) का निर्वचन शब्द की व्युत्पत्ति के अनुसार अर्थात् व्याकरण के प्रकाश में करना चाहिए। प्रत्यक्षवृत्ति शब्दों में कृदन्त शब्दों की अपेक्षा तद्धित तथा समास वृत्ति से निष्पन्न शब्द अधिक क्लिष्ट होते हैं। उनके निर्वचन में यही ध्यान में रखना आवश्यक है कि शब्द की वृत्ति का निश्चय करके उस वृत्ति के अनुसार शब्द के अर्थ को स्पष्ट करके फिर उसके अवयव शब्दों का निर्वचन आगे (अनुच्छेद ६ में) बताए सिद्धान्तों के आधार पर करे।

(ख) का निर्वचन करते समय शब्द के अर्थ को देख कर व्याकरण की जो भी वृत्ति उस अर्थ के अनुकूल तथा उचित दिखाई दे, उसका आश्रय ले कर निर्वचन कर देना चाहिए।

(ग) इन शब्दों का निर्वचन करते समय अति-परोक्ष-वृत्ति शब्द के अर्थ से मिलते-जुलते तथा उसमें विद्यमान अक्षरों अथवा वर्णों से युक्त किसी अन्य शब्द से उस शब्द का निर्वचन करना चाहिए। अर्थात् इन शब्दों के निर्वचन में निर्वचनीय शब्द और उसके मूल के रूप में अन्विष्यमाण शब्द या शब्दांश के अर्थों की और ध्वनियों की समानता पर ध्यान केन्द्रित करना चाहिए। इस वर्ग के शब्दों के निर्वचन में व्याकरण-सम्मत प्रक्रिया की तरफ ध्यान नहीं देना चाहिए। (द्र. अनुच्छेद ३।)

२. इन तीनों ही प्रकार के शब्दों के निर्वचन में निम्न-लिखित दो बातों को विशेष रूप से ध्यान में रखना चाहिए :

(क) ध्वनि-प्रवृत्तियां। निर्वचनीय शब्दों में उनके आधार से ध्वनियों की दृष्टि से बहुधा अन्तर आ जाता है। कभी-कभी तो यह अन्तर इतना अधिक हो जाता है कि इन दोनों में समानता बतलाना दूर की कौड़ी लाने जैसा लगता है। ध्वनियों में अन्तर की प्रवृत्तियां प्रायः ये होती हैं :

(अ) लोप। आधार शब्द में विद्यमान ध्वनि का उस पर आधारित निर्वचनीय

शब्द में किसी भी स्थिति में न रहना लोप कहलाता है। शब्द में निवृत्तिस्थान प्रत्ययों की उपस्थिति में आधार-शब्द के अक्षर (स्वर) या वर्ण (व्यञ्जन) का लोप होने की सम्भावना अधिक होती है। यह लोप (i) **आदिशेष** (प्र+ √दा+ त>प्र +द्+त>प्रत्त), (ii) **आदिम लोप** (√अस्+तः>स्तः), (iii) **अन्तिम लोप** (√गम्+त्वा>गत्वा), तथा (iv) **उपान्त्य लोप** (जगम्+अतुः>जग्मतुः) में से किसी भी तरह का हो सकता है। नैरुक्त को इससे परिचित होना चाहिए। सम्भवतः आदि लोप की इस प्रवृत्ति से परिचित न होने के कारण ही आपिशलि आचार्य ने √अस् के स्थान पर √स् की कल्पना करके अकारवान् रूपों में अ या आ के आगम की कल्पना की थी[1]। (द्र. अनुच्छेद ३ ख—ङ।)

(v) बोलते समय अक्षरों या वर्णों को खा जाने की लोगों की आदत से भी अक्षर/वर्ण का लोप हो जाता है। यास्क द्वारा दिया **यामि** उदाहरण **याचामि> याआमि>यामि** हुआ होगा। ऋग्वेदीय शब्दों में **प्रयुग>प्रउग**, तितउ इसी प्रवृत्ति के शिकार हुए हुए शब्द हैं। प्राकृतों में व्यञ्जनलोप तो बिल्कुल आम बात है: **नदी >णई**। बुन्देलखण्डी में हमारी>हमाई हो जाता है। **मतिधा>मइधा>मेधा**[2] भी इसी प्रवृत्ति का उदाहरण है। (द्र. अनुच्छेद ३. छ।)

(vi) लगभग समान रूप से उच्चारित एकाधिक ध्वनियों के अव्यवहित रूप से प्रयुक्त होते समय कोई-सी एक ध्वनि या ध्वनियों का लोप हो जाता है। वैदिक काल में त्रि+ऋच, द्वि+ऋच से क्रमशः तृच और द्वृच शब्द बने थे। किन्तु **बहु+ ऋच** का बह्वृच ही बना। लगता है उस युग में भी ऋ का उच्चारण उत्तरभारत के आज के ऋ के उच्चारण की तरह रि जैसा हो गया था। पालि के **इसिपतन मिगदाव** (<**ऋषिपत्तन मृगदाव**), हिन्दी का **तिनका** (<तृण) रिसि (<**ऋषि**), तिस (< तृषा) रीछ (<**ऋक्ष**) आदि शब्द इस उच्चारण के मुखर साक्षी हैं। (द्र. अनुच्छेद ३. ज।)

(आ) विकार। बोलने वालों के स्वर-यन्त्र पर देश-काल-भेद आदि अनेक कारणों से प्रभाव पड़ता रहता है; फलतः वर्णों का उच्चारण बदलता रहता है, जिससे कुछ समय बीतने पर मूल ध्वनि स्थाई रूप से बदल जाती है। यह बदलाव या विकार (बिगाड़, आधुनिक भाषाशास्त्रियों के अनुसार विकास) निम्न प्रवृत्तियों के रूप में

---

१. द्र. महाभाष्य १।३।२२, पृष्ठ २५३, तथा यहीं न्यास और पदमञ्जरी।

२. द्र. निरुक्त ३।१६ : मेधा मतौ धीयते। स्वर से पूर्व ए को अय् आदेश एचोऽयवायवः (अष्टा. ६।१।७८ से) होने से यह सङ्केत मिलता है कि प्राचीन काल में ए स्वर अ+इ का सन्ध्यक्षर था; अतः इसके उच्चारण में ये दोनों स्वर संयुक्त रूप से सुनाई देते थे। अतः मेधा स्वतन्त्र अ और इ के सन्ध्यक्षर बनने से निष्पन्न हुआ है। आज का ए का उच्चारण सन्ध्यक्षर का नहीं है; अपितु समानाक्षर का ही है।

देखा जाता है :

(i) स्वर की मात्रा में विकार। उपधा के ह्रस्व स्वर को दीर्घ हो जाता है: राजन्>राजा, दण्डिन्<दण्डी। (दोनों प्रथमा, ए.व., में ही। द्र. अनुच्छेद ३ च।)

(ii) व्यञ्जन में विकार अर्थात् एक व्यञ्जन का दूसरे व्यञ्जन के रूप में बदल जाना (वर्णान्तरापत्ति)। यह दो तरह का है :

(a) आदिम व्यञ्जन का वर्णान्तरभाव : वैदिक ज्योतिष् शब्द अपने मूल रूप में द्योतिष् उसी प्रकार रहा होगा जिस प्रकार पालि का विज्जु तथा हिन्दी का बिजली शब्द संस्कृत में विद्युत् था। (द्र. अनु. ३.।)

(b) अन्तिम व्यञ्जन का वर्णान्तरभाव। ओघ, मेघ आदि इसके उदाहरण हैं। (द्र. अनुच्छेद ३ ट।)

वास्तव में यास्क के इस सिद्धान्त को हम निम्न रूप में भी देख सकते हैं।

१. तालव्य नियम। शब्द में कण्ठ, या दन्त स्थान में उच्चारित किसी वर्ण का तालु से उच्चारित वर्ण में बदल जाना तालव्य-नियम कहलाता है। जैसे मूल भारोपीय भाषा की कण्ठ्य ध्वनि संस्कृत (पहले वैदिक और उसके बाद लौकिक) में तालव्य स्पर्श या ऊष्म के रूप में मिलती है। भारोपीय √गृ वैदिक में √जृ, यूरोपीय भाषाओं की एर्ग् संस्कृत में √अर्च्, ग्रीक् का केरस् संस्कृत में शृङ्ग प्राचीन उदाहरण हैं। √कृ के परोक्षभूत में ककार<चकार, प्राचीन √क्शा से बना √चक्ष्¹ भी अन्यतम उदाहरण हैं। खड़ी बोली का क्यों व्रज में च्यों हो जाता है।

---

१. यास्क ने (२।२ में) कक्ष का निर्वचन √ख्या से भी किया है : 'ख्याते र्वाऽनर्थकोऽभ्यासः'। √ख्या से 'कख्य' तो बन सकता है, किन्तु 'कक्ष' तो तभी बन सकता, है जब इसे अर्थ-निर्वचन माना जाये तथा √ख्या की पुरानी प्रकृति √क्शा से शब्द-निर्वचन। अङ्गुल्यर्थक 'कक्ष्या' का भी यास्क ने (३।९ में) 'प्रकाशयन्ति कार्याणि' कह कर अर्थ-निर्वचन ही किया है। ध्वनि-साम्य की दृष्टि से तो √क्शा से ही 'कक्ष्या' बन सकता है, √काश् से नहीं। 'चक्षुः' शब्द का निर्वचन भी (४।३) में 'ख्याते र्वा, चष्टे र्वा' कह कर किया गया है। इससे दो बातें विदित होती हैं : १ √क्शा तो बहुत पुरानी हो ही चुकी थी, २ √ख्या और √चक्ष् का वैयाकरणों ने कालान्तर में जो सम्बन्ध स्थापित किया था, उसकी भूमिका भी प्रस्तुत हो चली थी। हमारे कहने का आशय यह है कि प्राचीन √क्शा का विकास √ख्या और √चक्ष्—इन दो रूपों में हुआ। कुछ समय ये दोनों समानान्तर चलतीं रहीं, तथा बाद में दो स्वतन्त्र धातुओं के रूप में परिणत हो गई। √क्शा, √ख्या और √चक्ष् के परस्पर सम्बन्ध के लिए देखिये : अष्टा २।४।५४ पर महाभाष्य में 'चक्षिङः क्शाञ्ख्याञौ' आदि वार्तिक और वाजसनेयि प्रातिशाख्य ४।१६५ : ख्यातेः खयौ कशौ गार्ग्यः सख्योख्य-मुख्य-वर्जम्।

तालव्य ध्वनियों के सान्निध्य में दन्त्य ध्वनियाँ भी अपना रंग बदल कर तालव्य ही हो जाती हैं। सत्य>सच, प्रत्यभिज्ञान>पच्चहिञ ण>पिछाण (हरियाणी में), पहिचान (यू. पी. की बोली में) आधुनिक उदाहरण हैं. तो सत्+चित्>सच्चित, सज्जन आदि पुराने उदाहरण हैं। ज्योतिः ऊपर दिया ही है। पाणिनि का स्तोः श्चुना श्चुः (अष्टा. ८।४।४०) नियम इसी प्रवृत्ति को अंशतः प्रदर्शित करता है

२. हकार और महाप्राण स्पर्शों में भी इसी प्रकार बदलाव की प्रवृत्ति है। प्राचीन सध का सह, √ग्रभ् का √ग्रह्, इध का इह, √भृ का √हृ पुराने उदाहरण हैं। √वह् से निष्पन्न वधू की फिर वहू में परिणति, √गाध से √गाह् और उससे गाढ, √मिह् से मेघ फिर उससे मेह, मींह आदि में यही प्रवृत्ति काम कर रही है

(ग) **सम्प्रसारण नियम**। भाषा-शास्त्र में य्, र्, ल् और व् अन्तस्था (अन्तः+√स्था, स्वरों और व्यञ्जनों के मध्य में स्थित ध्वनियाँ) और अर्ध-स्वर (semi-vowel) कहलाते हैं। इससे क्रमशः इ, उ, ऋ, और लृ से इन का घनिष्ठ सम्बन्ध प्रकट होता है। कुछ प्रकृतियाँ ऐसी हैं, जिनमें कुछ रूपों में अन्तस्थ मिलता है, तो कुछ रूपों में उनसे सम्बन्धित स्वर। √यज्+त से संस्कृत में इष्ट होता है, तो अवेस्ता में यश्त। अन्तस्थ ध्वनियाँ व्यञ्जन हैं; अतः अर्धमात्रिक हैं। इनके स्थान में जब इनसे सम्बन्धित स्वरों का प्रयोग होता है, तो काल (मात्रा) की दृष्टि से अन्तस्थाओं का फैलाव हो जाता है; क्योंकि स्वर एक, या एक से अधिक मात्रा वाले होते हैं। इसी फैलाव के कारण इन्हें यास्क से बाद के आचार्यों ने सम्प्रसारण नाम दिया है[1]। भाषा में अन्तस्थ वाले रूप प्रायेण अधिक प्रचलित होते हैं; तत्स्थानिक स्वरों वाले रूप कम चलते हैं। (द्र. अनुच्छेद ४।)

(ङ) **वर्ण-विपर्यय**। कई बार शब्दों का उच्चारण करते समय वक्ता उन शब्दों के अवयवों के क्रम में हेर-फेर कर डालते हैं। यह प्रवृत्ति जब सार्वजनिक रूप से स्वीकृत हो जाती है, तब ये परिवर्तित क्रम वाले शब्द ही लोक में चलने लग जाते हैं, तथा बहुधा सामान्य जन तो यह भूल तक जाते हैं कि इन शब्दों में ध्वनियों ने विचित्र शीर्षासन किया हुआ भी है। √कस्+त>कसिता>सिकता, √कृत्+उ>कर्तु>तर्कु किसी युग में इसी प्रकार साधारण तथा विकृत हो जाने वाले शब्द माने जाते रहे होंगे, जिस प्रकार आज लखनऊ का नखलेउ तथा पंजाबियों में चाकू का काचू माना जाता है, या जब पादरी डब्लू. ए. स्पूनर् लविङ्ग् शेफर्ड् (प्यारा गडरिया) न कह कर शविङ्ग् लेपर्ड् (धक्का देता तेंदुआ) कह जाते थे, और उनके श्रोता मुसकरा उठते थे। (द्र. अनुच्छेद ३. अ)

(ई) **आगम**। उच्चारण में सुभीते (मुख-सुख) के लिए या अन्य किन्हीं कारणों

१. द्र. अष्टा. १।१।४५ : इग् यणः सम्प्रसारणम्।

से शब्द में अतिरिक्त वर्ण जोड़ने को आगम कहते हैं। संयुक्त व्यञ्जनों के आदि या मध्य में स्वर जोड़ने की प्रवृत्ति बहुत प्रायिक है। स्थिति को इस्थिति, स्टेशन को इस्टेशन या सटेशन, जन्म को जनम (वैदिक में जन्मानि को जनिमानि), इन्द्र को इन्दर् बोलना ग्राम (प्राकृत) प्रवृत्ति है। यास्क ने भरूज (<भर्ज<भ्रज्ज<√भ्रस्ज्) उदाहरण दिया है। इसी प्रकार बहुधा व्यञ्जन भी जोड़ दिये जाते हैं। आस्थत् (√अस्+अत्, लुङ्, प्रथम पुरुष ए. व., में थ्), द्वार (<वार< √वृ के आदि में द् (द्र. अनुच्छेद ३. ठ।)

परवर्ती काल में तो विदारण, आवरण और गति अर्थों में स्वतन्त्र √द्वृ की कल्पना ही कर ली गई थी[1]; परन्तु हमारा मत है कि यास्क के समय तक यह कल्पना नहीं हो पाई थी, यह निष्कर्ष इस तथ्य से निकाला जा सकता है कि यास्क ने द्वारः के (८।९ में) ३ निर्वचन क्रमशः √जव्, (<√जु), √द्रव् (<√द्रु), और √वारय् (<√वृ) से किये गए हैं। यास्क √द्वृ से परिचित ही नहीं है। √वृ से द्वार् या द्वार के निर्वचन की पुष्टि ऋ. सं. से भी होती है :

अयमु ते सरस्वति वसिष्ठो द्वारावृतस्य सुभगे व्यावः।७।९५।६॥

इस मन्त्र में द्वारौ वि+आवः (<आ+√वृ) के युगपत् प्रयोग से इन दोनों के सम्बन्ध पर प्रकाश पड़ता है।

उषो यदद्य भानुना वि द्वारावृणवो दिवः।१।४८।१५॥

इस मन्त्र का पद-पाठ यद्यपि शाकल्य ने द्वारौ। ऋणवः किया है, तथापि हम श्री विश्वबन्धु जी की इस टिप्पणि (वहीं टि.जी.) से पूर्णतः सहमत हैं कि यहाँ द्वारा वृणवः पद-पाठ भी हो सकता है। द्वारा का प्रयोग ऋ. सं. में सात बार (१।१२८।६; ३।५।१; ४।५१।२; ८।५।२१, ३९।६, ६३।१ और ९।१०।६ में) एव द्वारौ का असन्दिग्ध प्रयोग केवल एक बार (७।९५।६ में) तथा सन्दिग्ध प्रयोग आलोच्य मन्त्र (१।४८।१५) में ही हुआ है। √वृ (नु विकरण वाली) का प्रयोग ऋ.स. में पाँच बार (१।५।४; ४।२१।८; ७।३२:१६, ८।२।६ और ८।४५।२१ में) हुआ है, हाँ, वृणवः का इस सन्दिग्ध स्थल को छोड़कर अन्यत्र नहीं मिलता। ऋणवः का असन्दिग्ध प्रयोग दो

१. द्र. माधवीया धातुवृत्ति, भ्वा. ९१६, चौखम्बा सं. पृष्ठ १७७ : अनन्तरं (स्मृधातोः) √द्वृ इति क्वचित् पठ्यते। द्वरतीत्यादि स्मरतिवत्। द्वर्यते संह्रियत इति द्वारम्। पं. विश्वबन्धु, वैदिक-पदानुक्रम-कोषः, संहिता भाग, तृतीय खण्ड, १९५६ ई. संस्करण, पृष्ठ १६८२ पा. टि. सी : द्वारार्थे √द्वृ [*विदारणे], कपाटार्थे √द्वृ [आवरणे]; पा. टि. एच् : (अन्तर्गमन-निर्गमन-मार्ग-)....√ द्वृ [*गतौ] इत्यस्य योगः द्र.। विदीर्ण-भावापेक्षया मार्ग-प्रदान-कर्मणः प्राधान्यात्। काशकृत्स्न-धातु-पाठ, कन्नड टीका, पृष्ठ ७३ में द्वृ वरणे से निष्पन्न द्वरति का अर्थ 'छिद्र बनाता है' दिया है।

वार हुआ है (ऋ. स. १।१३६।२; ७।८८।३)। द्वारा के साथ भी इस √ऋ का प्रयोग (वि के साथ) हुआ है :

विश्वस्मा इत्सुकृते वारमृण्वत्यग्निर्द्वाराव्यृण्वति ॥१।१२८।६॥

इन सब बातों को देखते हुए हमारा तो यह मत है कि √वृ (नु विकरण वाली) धातु √ऋ (नु विकरण वाली) धातु में वर्णागम (व् या उ जोड़ने) से बनी धातु है तथा द्वार् और द्वार उस √वृ से निष्पन्न शब्द हैं।

उत नो विव्या इव उत सिन्धूँरर्हविदा।

अप द्वारेव वर्षथः ॥ ऋ. सं. ८।५।२१ ॥

में **वर्षथः** क्रियापद **सायणाचार्य** और श्री **विश्वबन्धु** (वहीं पा. टि. एफ्) के मत में √**वर्ष्** से निष्पन्न है। हमारे विचार में यह √**वृ** (लेट्, मध्यम पुरुष, द्वि. व.) से उसी तरह निष्पन्न हो सकता है, जिस तरह सायण ने **देवो देवान्क्रतुना पर्यभूषत्** (ऋ. सं. २।१२।१) के **पर्यभूषत्** को परि+√**भू** से निष्पन्न बतलाया है[1]। यास्क ने भी **पर्यभूषत्** की व्याख्या परि+√**भू** से ही की है : **पर्यभवत्पर्यगृह्णात्पर्यरक्षदत्यक्रामदिति वा** (१०।१०)। √**वृ** से निष्पन्न **वार्** या **वार** के आदि में **द्** का आगम करने से **द्वार्** या **द्वार** शब्द निष्पन्न हुए हैं, यास्क की यह कल्पना बिल्कुल ठीक है।

वार का स्वतन्त्र किन्तु प्राकृत (**वार**) रूप में प्रयोग **नीचीनवार** (ऋ. सं. ५।८५।३; ८।७२।१०; १०।१०६।१०) और **जिह्मवार** (वहीं १।११६।६; ८।४०।५) पदों में मिलता है। डा. **सिद्धेश्वर वर्मा** ने (पृष्ठ १३७ पर) **नीचीनवार** की यास्ककृत **नीचीनद्वार** व्याख्या को शब्द-निर्वचन समझ कर **वार** को **द्वार** का प्राकृत रूप बताया है। परन्तु इसमें यास्क के प्रकृत कथन से विरोध आता है। अतः **नीचीनद्वार** अर्थ निर्वचन है, शब्द-निर्वचन नहीं। **मोनियर् विलियम्स्** ने भी अपने कोष में **वार** को **द्वार** अर्थ में माना है (द्र, **वार** २)। वैसे, **द्वार** के कृतसम्प्रसारण रूप **दुर्**, **दुर** (केवल उत्तरपद, **शतदुर** में) भी प्रचलित थे। अन्य भारोपीय भाषाओं में सम्प्रसारण वाले रूपों की ही प्रचुरता है : **ग्रीक्: थु'र**; **लिथुआनी : दुर्यस्** (तुलना करें : ऋग्वेदीय **दुर्य**, **दुर्या** और सम्भवतः **दुरोण**=गृह के पर्याय **दुर्योण** में स्थित **दुर्य** प्रकृति से), **गाथिक् : दौर**, **प्राचीन सैक्सन् : दोर**। प्राकृत प्रभावों से अधिक युक्त इन (प्राकृत-कल्प) भाषाओं में **द्वार** के कृत-सम्प्रसारण रूप का प्रचलित होना युक्त भी है। लौकिक संस्कृत में सम्प्रसारण वाली स्वतन्त्र प्रकृति (**दुर**) प्रयुक्त नहीं है; कुछ विभक्तियों में सम्प्रसारण वाली प्रकृति का प्रयोग होता है। **लैटिन् फोरेस** (fores द्वारः) हमारे

---

१. द्र. ऋ. सं. २।१२।१ पर सायण-भाष्य : **पर्यभूषत् रक्षकत्वेन पर्यगृहीत्। 'भूष अलङ्कारे'। भूवादिः, लङि रूपम्। यद्वा सर्वानन्यान्देवान्पर्यभूषत् पर्यभवदत्यक्रामत्। अस्मिन्पक्षे भवतेर्व्यत्ययेन क्सः।**

विचार में वार प्रकृति का पश्चिमी सम्बन्धी शब्द है। हमारे अग्रजकल्प, परम मित्र डा. भोलानाथ तिवारी का मत है कि यह द्वार के दकार का लोप और वकार का फकार में विपरिणाम होने से निष्पन्न रूप हो सकता है। स्लाव में द्विरि अपनी बहिन भाषाओं का अपवाद है तथा संस्कृत के अधिक निकट है।

ये ही नहीं, इसी प्रकार की और बहुत सी ध्वनि-परिवर्तन की प्रवृत्तियाँ लोगों के उच्चारण में काम करती हैं, जिनका विश्लेषण करके और भी नियम बनाये जा सकते हैं। यास्क ने इन प्रवृत्तियों में से आधारभूत प्रवृत्तियों का विस्तरेण प्रतिपादन करके आने वाली पीढियों का मार्ग-दर्शन भली-भाँति कर दिया है। यास्क के इस विवेचन को परवर्ती आचार्यों ने और भी सङ्क्षिप्त करके यों प्रस्तुत किया है :

वर्णागमो वर्ण-विपर्ययश्च द्वौ चापरौ वर्ण-विकार-नाशौ।
धातोस्तदर्थातिशयेन योगस्तदुच्यते पञ्च-विधं निरुक्तम्॥
आदि-मध्यान्त-लुप्तानि प्रच्छन्नापिहितानि च।
ब्रह्मणः परिगुप्त्यर्थं वेदे व्यवहितानि च॥ (मूल मृग्य है।)

यास्क के ध्वनिनियमों के बारे में जर्मन विद्वान् श्री हैनेस् स्कोल्ड् का (पृष्ठ १८१–१८२ में) कथन है कि उपधालोप तथा वर्णविपर्यय आदि की प्रवृत्ति को भाषा में खोजने तक तो यास्क ठीक हैं; किन्तु इसके आधार पर वे यह जो निष्कर्ष निकालते हैं कि कोई भी ध्वनि कभी भी लुप्त की जा सकती है तथा ध्वनियों का क्रम भी इच्छानुसार बदला जा सकता है—ठीक नहीं है। इसका अर्थ तो यह हुआ कि यास्क को अभीष्ट ध्वनिनियम का अर्थ है "किसी भी स्थिति और समय में विद्यमान कोई भी ध्वनि किसी भी अन्य ध्वनि में परिवर्तित हो सकती है।" क्यों कि 'संस्कार का आदर न करे' कथन का फलितार्थ तो यही होगा (पृष्ठ १७६)।

हम इस टिप्पणि से सहमत नहीं हैं। यास्क ने तालव्यीकरण आदि ध्वनि-नियमों को स्वच्छन्द कहीं नहीं कहा है। लोप, आगम तथा वर्णविकार की प्रवृत्ति की सामान्य परिस्थितियों का विवरण उन्होंने दिया है। यों तो कोई भी ध्वनिनियम भाषा में निरपवाद रूप से कभी भी लागू नहीं हुआ करता। अतः यास्क का काम तो ध्वनिपरिवर्तनों की अनिवार्य स्थिति पर प्रकाश डालना-भर है। उनका समग्र रूप से वर्णन करना नहीं। समग्र रूप से वर्णन करना व्याकरण (Descriptive Grammar) का विषय है, निरुक्त का नहीं।

(ख) यास्क ने भाषा की स्वच्छन्द प्रवृत्ति को भी ध्यान में रखना आवश्यक बतलाया है। शब्दों के प्रयोग के बारे में लोग बहुत स्वच्छन्दता बरतते हैं। इस स्वच्छन्दता का परिणाम यह होता है कि :—

(*i*) पुराने नामपद अप्रचलित हो जाते हैं और उनके आधारभूत धातुओं के आख्यात रूप चालू रहते हैं। (द्र. अनुच्छेद ५।)

(*ii*) पुरानी धातुओं के आख्यात रूप अप्रचलित हो जाते हैं तथा उनसे निष्पन्न नामपद चालू रह जाते हैं। (द्र. अनुच्छेद ६।)

(*iii*) लोकव्यवहार की चालू भाषा में भी देश के किसी भाग में आख्यात ही, तो दूसरे भाग में उनसे निष्पन्न नामपद ही प्रयोग में आते हैं। इतना ही नहीं, देश-भेद से भी अर्थ-भेद हो जाता है (द्र. अनुच्छेद ७।)

अतः यास्क के मत में नैरुक्त के लिए आवश्यक है कि वह शब्दों का प्रयोग करने में लोगों की इन सामान्य प्रवृत्तियों से भी परिचित रहे। उसे न केवल भाषा के देश-देशान्तरीय भेदोपभेदों से भली भाँति परिचित होना चाहिये, अपितु भाषा के कालिक विकास पर भी उसकी दृष्टि रहनी चाहिए।

३. तीसरा महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त यह है कि नैरुक्त को व्याकरण शास्त्र से अभिज्ञ होते हुए भी वैयाकरण नहीं हो जाना चाहिए। उसे व्याकरण की प्रक्रिया से अतिशय अनुराग नहीं होना चाहिए। शब्द वैयाकरण के कहे में नहीं चलते कि वे हमेशा व्याकरण के स्वरसंस्कार से लैस ही रहें। अतः निर्वचन करते समय व्याकरण की प्रक्रिया की बहुत खोजबीन न करे।

इस प्रकरण में दुर्गाचार्य का मत है कि प्रत्यक्ष-वृत्ति शब्द तो इतने स्पष्ट होते हैं कि उन्हें निर्वचन की आवश्यकता ही नहीं होती। अतः परोक्ष-वृत्ति तथा अतिपरोक्ष-वृत्ति शब्दों का ही अर्थ स्पष्ट करने को निर्वचन की ओर फलतः निरुक्त-शास्त्र की आवश्यकता होती है। उनके मत में अनवगतसंस्कार शब्दों की व्याख्या में ही निरुक्त की सार्थकता है[1]।

४. यास्क का चौथा और बहुत महत्त्व-पूर्ण सिद्धान्त है कि जब तक शब्द का अर्थ विदित न हो, तब तक इक्के-दुक्के तथा प्रसङ्ग से भ्रष्ट शब्दों का निर्वचन न करे भिन्न-भिन्न प्रकरणों में आये शब्द का अर्थ बहुधा बदल जाता है। ऐसी स्थिति में तत्तत् प्रकरण के अनुसार उस शब्द का निर्वचन भिन्न-भिन्न रीति से करना चाहिए। (द्र. अनुच्छेद ११, १३।)

डा. सिद्धेश्वर वर्मा जी ने यास्क के **न त्वेव न निर्ब्रूयात्** (२।१) और प्रकृत सिद्धान्त (**नैक-पदानि निर्ब्रूयात्** (२।३) का गलत अर्थ लेकर यास्क पर आक्षेप किया है कि "यास्क ने बड़े स्पष्ट रूप से यह कह तो दिया कि असमस्त शब्दों को छोड़ कर किसी भी शब्द का निर्वचन कभी भी छोड़ना नहीं चाहिए : **न त्वेव न**

---

१. द्र. २।१ : न च निरुक्ते कारक–हारक–लावकादि-शब्दा व्युत्पाद्यन्ते; सुबोधैव हि तेषां व्युत्पत्तिः, प्रसिद्धैव च व्याकरण इति। य एव तु दुर्बोधाः परोक्षातिपरोक्षवृत्तयो बिल्म-कृदरोर्वेरवेतस-पर्व-शब्दादयस्, त एव व्युत्पाद्य निरुच्यन्ते। तेषु हि विशेषेणार्थवत्ता निरुक्तस्य। तान्येवार्थ-सामान्येन वा, शब्द-सामान्येन वा निर्ब्रूयात्, न तेषु स्वरसंस्कारमाद्रियेत।

निर्ब्रूयात् (२।१) 'निर्वचन करने से कभी नहीं चूकना चाहिए'। नैकपदानि निर्ब्रूयात् (२।३) 'असमस्त शब्दों का निर्वचन न करे'—पर यह एक ऐसा निषेध (अपवाद) है, जिस पर यास्क स्वयं बहुत कड़ाई से पालन नहीं कर सके"[1]।

हम समझते हैं वर्मा जी ने अपनी पीलियाग्रस्त दृष्टि से यास्क को पीला दीखने पर उन्हें ही पीलिये का रोगी समझ कर उनका निदान करने की (कु-) चेष्टा की है। न त्वेव न निर्ब्रूयात्–निर्वचन अवश्य करे—कह कर यास्क ने निर्वचन के कठिन कार्य में ही छात्र को प्रोत्साहित किया है। अनुचित ढंग से निर्वचन करने के लिए ही निर्वचन करने की प्रवृत्ति को यास्क ने कहीं भी बढ़ावा नहीं दिया है। इस बात की पुष्टि उनके निरुक्त के अधिकारी के लिए आवश्यक गुणों को बतलाने के प्रकरण से भी होती है। जहाँ तक नैक-पदानि निर्ब्रूयात् (२।३) के अर्थ का सम्बन्ध है, उन्होंने इस वाक्य का बिल्कुल गलत, अप्रामाणिक, पूर्वापर-विरुद्ध एवम् असङ्गत अर्थ किया है। हमारे विचार में यहाँ वर्मा जी की सूक्ष्मेक्षिका उन्हें धोखा दे गई है। उन्होंने यास्क के ग्रन्थ का पौर्वापर्यविचार नहीं किया। ध्वनिनियमों तथा शब्दों के प्रयोग की लोक-प्रवृत्तियों का वर्णन करके यास्क कह चुके हैं : इस प्रकार (इन सिद्धान्तों के प्रकाश में) एकल शब्दों का निर्वचन करे (द्र. अनुच्छेद ८)। इस के बाद उन्होंने तद्धित एकपर्व तथा समास अनेकपर्व पदों की सविस्तर चर्चा (अनुच्छेद ९-१० में) कर के आलोच्य पङ्क्ति (अनुच्छेद ११) से एकपदों के निर्वचन का निषेध किया है। ऐसी स्थिति में प्रकरण तथा ग्रन्थ के पूर्वापर के अनुरोध पर, एवम् औचित्य की दृष्टि से यहाँ प्रसङ्ग से बहिर्भूत अलग-थलग पड़े पदों के निर्वचन का निषेध ही पर्यवसित होता है। शब्दों के निर्वचन का सिद्धान्त बता कर असमस्त शब्दों का निर्वचन न करने देने में वर्मा जी को ही कोई तुक नजर आई होगी! यास्क ने इसी प्रकरण में दसियों असमस्त शब्दों का निर्वचन किया है। आचार्य दुर्ग ने भी नैकपदानि निर्ब्रूयात्।—का अर्थ "प्रसङ्ग अथवा किसी परिचायक अन्य पद (के साहचर्य) से रहित जो हैं, उन अकेले ही, दूसरे के द्वारा दोष निकालने की गरज से पूछे जाते हुए शब्दों का निर्वचन न करे। क्यों? प्रकरण से, अथवा साथ प्रयुक्त अन्य किसी शब्द से, उन शब्दों का अर्थ

१. द्र. दी एटिमॉलॉजीज् आफ् यास्क, पृष्ठ १२४ : ...his outspoken declaration that no etymologies except those of non-compound words should ever be spared : न त्वेव० ....'one should never desist from etymogizing' : नैक-पदा० .... 'one should not derive non-compound words'—an exception, however, which Yask himself does not follow very strictly—....

निश्चित किया जा सकता है। प्रकरणानभिज्ञ पुरुष तो गलत ही निर्वचन करेगा"[1]। —किया है। **स्कन्दस्वामी** का भी यही आशय है[1]। अतः वर्मा जी की यह व्याख्या अयुक्त है तथा उसके आधार पर यास्क पर किया गया आक्षेप भी निराधार है। आश्चर्य होता है कि वर्मा जी जैसे वाणी के स्नेहपात्र पुत्र भी मंजे हुए तथा युगों से अद्भुत प्रतिष्ठाप्राप्त आचार्य का परिहास और अवमूल्यन करने से पूर्व तनिक आँख खोल कर देखने की सावधानी क्यों नहीं कर पाते !

५. शब्दों की किसी अर्थ में प्रवृत्ति व्युत्पत्ति के अनुसार सर्वत्र नहीं होती। बहुधा किसी अर्थ में शब्द के प्रचलित हो जाने पर उस अर्थ से किसी प्रकार की समानता को देख कर उस अर्थ से मिलते-जुलते अन्य अर्थ में भी वह शब्द प्रचलित हो जाता है। इसे यास्क ने **सामान्य** के नाम से प्रस्तुत किया है। **कक्ष** (काख) में उनका कथन यहाँ द्रष्टव्य है। पहले अध्याय के अन्त में **पर्व** शब्द के निर्वचन में कही बातें भी यहाँ द्रष्टव्य हैं। **पर्व** (अथवा **पर्वन्** प्रातिपदिक) प्रसन्न करना अर्थ वाली **√पृ** से निष्पन्न है, एवं देवताओं को प्रसन्न करने के लिए किये जाने वाले **दर्श-पौर्णमास** आदि अनुष्ठानों के लिए कर्मकाण्डियों में प्रचलित हुआ। दर्श और पौर्णमास का समय दो पक्षों की सन्धि अर्थात् जोड़ पर पड़ता है। अतः इस का अर्थ जोड़ हो गया। उधर, प्रसन्न करने वाले अन्य त्योहार, रीति-रिवाजों आदि के लिए भी यह शब्द प्रचलित होने लगा। जोड़ वाले **पर्व** शब्द में **त** प्रत्यय लग कर एक-एक शिला के जुड़ने से बनने वाला **पर्वत** शब्द बना। अँगुलियों के पोर भी जोड़ के कारण **पर्व** कहलाने लगे। अतः शब्द का अर्थ समझते समय **सामान्य** (analogy) के इस सिद्धान्त पर दृष्टि रखना अत्यन्त आवश्यक है। वास्तव में आलङ्कारिक रूप से होने वाले सब प्रयोग **सामान्य** के इस सिद्धान्त के अधीन आ जाते हैं।

---

१. द्र. २।३ : नैक-पदानि निब्रूयात् प्रकरणोपपद-रहितानि सन्ति, केवलान्येव परेणाभिद्रोह-बुद्ध्या पृच्छ्यमानानि न निब्रूयान् न निर्वक्तव्यानि। किं कारणम् ? तेषां प्रकरणाद्, उपपदाद् वाऽर्थः शक्यतेऽवधारयितुम्। सोऽसौ प्रकरणानभिज्ञोऽन्यथैव निब्रूयात्; ततश्च प्रत्यवायेन योगादपहास्यश्च स्यात्।

१. द्र. स्कन्द-भाष्य, भाग २, पृष्ठ ३५ : एक-शब्दोऽसहायवचनः, एकाग्नयः, एक-हलादौ (अष्टा. ६।३।५९) यति यथा। असहायान्यवाक्य-स्थानीत्यर्थः।... ऊहादीनि (निघण्टु ४।१।१, निरुक्त ४।१)... सन्दिह्यमानानि 'मा न एकस्मिन्नागसि' (ऋ. सं. ८।४५।३४) इति प्रकरण-सव्यपेक्षार्थ-निश्चयानि। एवमादीनां ह्यकस्मान्निर्वचनेऽज्ञानम्, अपहास्यता, मृषा-वादो, दोषाऽनुषङ्गश्च स्यात्। पूर्वेण च 'एवमेक-पदानि निब्रूयात्' इत्यनेनास्य विषय-भेदादविरोधः।

शौनक के निर्वचन-सिद्धान्त

यास्क के बाद के आचार्यों में बृहद्देवता के प्रणेता आचार्य शौनक का बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान है। इन्होंने न केवल वैदिक देवविद्या का ही गम्भीर अनुशीलन किया है, अपि तु निर्वचन के क्षेत्र में भी यास्क के काम को आगे बढ़ाया है। देवताओं का सही स्वरूप जानने में निर्वचन की उपयोगिता वे इतनी मानते हैं कि इस (निर्वचन) की सहायता से वेद के स्वरूप को जानना चाहने वाला व्यक्ति चाहे दुष्कर्म करने वाला ही क्यों न हो, परमधाम को प्राप्त कर सकता है—यह उनकी मान्यता है[1]। बृहद्देवता (१।६१–६५; २।२४–६६) में देवता नामों के उनके दिए हुए निर्वचन देवविद्या में निर्वचन की उपयोगिता की उनकी मान्यता का निदर्शन हैं।

यास्क की तरह शौनक भी शब्द को गौण एवम् उसके अर्थ को प्रधान मानते हैं[2]। नाम शब्द, उनके मत में, सब आख्यातज हैं[3]। शब्द में जितनी भी धातुओं का चिह्न (लिङ्ग) तथा अभिधेय अर्थ मिले, उतनी ही धातुओं से उस शब्द का निर्वचन किया जाना चाहिए[4]। शब्द दो या कई धातुओं से तथा उपसर्ग से भी निष्पन्न होते हैं[5]। शब्द वस्तुतः पाँच प्रकार के होते हैं : १. धातु से उत्पन्न (कृदन्त), २. धातु से उत्पन्न शब्द से बने हुए (तद्धित), ३. समस्त, ४. वाक्य से ही उत्पन्न (जैसे इति ह आस=इतिहास), ५. अनवगत[6]। तद्धित और समासों में उनका विग्रह करके निर्वचन करना चाहिए[7]।

शब्द का निर्वचन करने में इन पाँच बातों का ध्यान रखना चाहिए : १. शब्द का रूप, २. शब्द का अर्थ, ३. व्युत्पत्ति, ४. शब्द का आधार (धातु आदि), ५. शब्द के आधार में प्रत्यय आदि लगने से होने वाला विकार। किन्तु शौनक के

---

१. इति नानान्वयोपायैर्नैरुक्ते यो यतेत सः।
जिज्ञासु र्ब्रह्मणो रूपमपि दुष्कृत्परं व्रजेत् ॥ २।११६ ॥

२. प्रधानमर्थः, शब्दो हि तद्गुणायत्त इष्यते।
तस्मान्नानान्वयोपायैः शब्दानर्थवशं नयेत् ॥ २।९९ ॥

३. सर्वाण्येतानि नामानि कर्मतस्त्वाह शौनकः ॥ १।२७–३१ ॥

४. यावतामेव धातूनां लिङ्गं रूढिगतं भवेत्।
अर्थश्चाप्यभिधेयः स्यात्तावद्भिर्गुणविग्रहः ॥ २।१०२ ॥

५. धातूपसर्गावयव-गुणशब्दं द्विधातुजम्।
बह्वेकधातुजं वाऽपि पदं निर्वाच्यलक्षणम् ॥ २।१०३ ॥

६. धातुजं, धातुजाज्जातं, समस्तार्थजमेव वा।
वाक्यजं व्युतिकीर्णं च निर्वाच्यं पञ्चधा पदम् ॥ २।१०४ ॥

७. विग्रहान्निर्वचः कार्यं समासेष्वपि तद्धिते ॥२।१०६ ॥

मत में ये पाँचों बातें अनेक अर्थों को बतला सकती हैं[८]। अर्थात् केवल इन्हीं के आधार पर शब्द का सही अर्थ नहीं समझा जा सकता। जब सही अर्थ नहीं समझा जा सकता, तो सही निर्वचन कहाँ हुआ ? निर्वचन का महत्त्व तो कठिन शब्दों का अर्थ खोलने में ही है। शब्द कठिन क्यों हो जाते हैं ? इस प्रश्न पर शौनक ने दस बातें (बृहद्देवता २।१०६–११६ में) बताई है।

१. शब्द आम तौर पर दो तरह के होते हैं— (क) सामान्यवाचक तथा (ख) विशेषवाचक। जैसे गति शब्द सामान्यवाचक है, दौड़ना गतिविशेषवाचक है। अमुक शब्द सामान्यवाचक है, या विशेषवाचक, इसका ज्ञान न रहने पर वह शब्द अनवगत हो जाता है। **मृग** वैदिक भाषा में जंगली-पशु-सामान्य-वाचक है, लौकिक में हरिण (पशु-विशेष) वाचक हो गया है। ऐसी स्थिति में हमारे लिए वैदिक **मृग** अनवगत है।

(ख) विशेषवाचक शब्द को सामान्यवाचक समझने से भी शब्द कठिन हो जाता है। जैसे—**हिम** जमे हुए जल को कहते हैं; **उदक** सामान्य जल को। अब यदि कोई **हिम** का अर्थ जल करता है, तो इसका यह अर्थ हुआ कि उसे वह शब्द अनवगत है। जब यह प्रवृत्ति सामूहिक बन जाती है, तो वह शब्द सब के लिए अनवगत हो जाता है।

२. शब्द की इकाई को ठीक न समझना भी शब्द के अनवगम में हेतु है। यह दो तरह से होता है—(क) प्रथम तो एक शब्द को एक से अधिक शब्दों का योग समझ कर। जैसे यास्क ने (निरुक्त २।६ में) ऋ. सं. १०।२७।२२ के एक **पुरुषाद** की व्याख्या इसे दो शब्दों का योग समझ कर(**पुरुषान् अदनाय**) की है।

(ख) ४. दूसरा, एकाधिक शब्दों को एक इकाई समझ कर। जैसे ऋ. सं. १।१६५।१८ के **मा सकृत्** को यास्क ने निरुक्त ५।२१ में एक **मास-कृत्** इकाई समझ कर मासों तथा अर्धमासों को बनाने वाला अर्थ किया है। इससे परवर्ती लोगों को इन शब्दों के वास्तविक रूप तथा परिणामतः अर्थ के बारे में भ्रम हो सकता है।

३. व्यस्त तथा व्यवहित शब्दों को समस्त भी नहीं करना चाहिए। इससे भी अनवगम को बल मिलता है। **चकार गर्भं सनितुर्निधानम्** (ऋ. सं. ३।३१।२) में **सनितुः** से व्यवहित तथा व्यस्त (असमस्त) **गर्भं निधानम्** पदों की व्याख्या यास्क ने (**चकारैनां गर्भ-निधानीं सनितुर्हस्तग्राहस्य** ३।६) में एक शब्द बना कर की है।

४. पद को देखकर यह पद-विभाग के किस वर्ग के अन्तर्गत है, यह निश्चय न कर पाना भी शब्द को अनवगत बना देता है। जैसे निरुक्त (१।७–८) देखने से

---

८. **शब्द-रूपं, पदार्थश्च, व्युत्पत्तिः, प्रकृति, गुणः।**
सर्वमेतदनेकार्थं ....॥ २।१०८ ॥

विदित होता है कि कुछ लोगों को यह ठीक ज्ञान नहीं था कि त्व शब्द निपात है, या नाम (सर्वनाम) पद। (ऐसे बहुत से शब्द मिल जायेंगे, जो वस्तुत: हैं तो दृष्टव्यय, पर समझे जाते हैं अव्यय। गन्तुम्, गन्तवे आदि शब्द उदाहरण हैं।)

५. अर्थ अस्पष्ट होने से भी शब्द अनवगत हो जाता है। जैसे—शितामन् शब्द का मूलतः तो कोई एक अर्थ रहा होगा। परन्तु कालान्तर में यह भूल गया। परिणाम यह हुआ कि कोई इसका कुछ अर्थ करता है, कोई कुछ (द्रष्टव्य निरुक्त४।३)।

६. वैदिक शब्दों में स्वर का ज्ञान भी शब्द का सही रूप मालूम करने में सहायक होता है। वने न वायो न्यधायि चाकन् (ऋ. सं. १०।२६।१) में अधायि (आख्यात) का स्वर ठीक न समझने की बात (यास्क ने निरुक्त ६।२८ में) बतलाई है।

७. शब्दों के क्रम (अन्वय) को ठीक समझना भी शब्द को ठीक समझने में सहायक होता है। इसे ठीक न समझने से शब्द अनवगत हो जाता है। शुनःशेप, नराशंस आदि समस्त शब्दों में सही क्रम इन के अर्थ को स्पष्ट करता है। व्यस्त शब्दों में भी इसे ध्यान में रखना चाहिए कि किस शब्द का किस शब्द से किस क्रम में अन्वय अपेक्षित है। द्यावा नः पृथिवी (ऋ. सं. २।४१।२०) और नित स्वसार• मस्कृत (ऋ. सं. १०।१२७।३) में सही क्रम द्यावापृथिवी नः तथा स्वसारमु निरस्कृत है—यह इसका उदाहरण है।

८.[1] (मुख-सुख आदि के लिए) शब्दों में बहुधा एक, या एकाधिक वर्ण लुप्त हो जाते हैं। ऋ. सं. १०।७६।२ में अत्-त्राणि=अत्त्राणि के स्थान में अत्राणि प्रयुक्त है। अर्थात् यहाँ त् लुप्त हो गया है। कपि (वृषाकपि ?) वस्तुत: कम्पि का अवशेष है। नामा, दनः (निरुक्त ६।३१ में दानमनसः अर्थ है), यामि (याचामि) तथा अघासु (मघासु, ऋ. सं. १०।८५।१३ में अघासु है तथा अथर्व. सं. १४।१।१३ में मघासु) अन्य उदाहरण हैं। निर्वचन करते समय इन प्रवृत्तियों को ध्यान में रखना चाहिए[2]।

---

१. शौनक के दूसरे हेतु को हमने १ हेतु के (ख भाग) के रूप में और चौथे हेतु को २ के (ख भाग) के रूप में व्यवस्थित किया है; अतः यहाँ बृहद्देवता की दस सङ्ख्या ८ के रूप में परिणत हो गई है। तत्त्वतः कोई फर्क नहीं पड़ा है।

२. दुर्गवृत्ति (४।३) में भी इन कारणों पर विचार किया गया है।

अध्याय २०

देवभावना : उद्भव और विकास

निघण्टु के पांच अध्यायों में से एक अध्याय और तीन काण्डों में से एक काण्ड में देवताओं के नामों का सङ्कलन है। यास्क ने अपने ग्रन्थ में आधे से अधिक भाग में इन देवताभिधानों की ही व्याख्या की है। देवतापदों के निर्वचन में देवता के नाम का शब्द-निर्वचन या अर्थ-निर्वचन दे देना ही पर्याप्त नहीं है, यही समझ कर आचार्य यास्क ने वैदिक देवताओं के स्वरूप तथा चरित्र को स्पष्ट करने के लिए आवश्यक सामग्री का सञ्चय निरुक्त के उत्तरषट्क के आदि में तथा समूचे उत्तरषट्क में किया है। उस सामग्री को छूने से पूर्व हम उचित समझते हैं कि सामान्य रूप से देवभावना के उद्भव और विकास को स्पष्ट करके विशेष रूप से वैदिक देवशास्त्र की व्याख्या करना अधिक सुविधाजनक तथा अपेक्षित होगा।

जय-पराजय, हर्ष-शोक आदि विविध द्वन्द्वों से व्याकुल मानव अपने चारों ओर विद्यमान जगत् में जब भी, जहां भी कुछ असाधारण शक्ति का साक्षात्कार करता है, तब वहीं उसकी श्रद्धा हो जाती है और एक देवता का आविर्भाव हो जाता है। उस अपने श्रद्धास्पद देवता से वह अपनी विपत्तियों को दूर करने की प्रार्थना करता है और किन्हीं कारणों से अपने को अपराधी पा कर अपने देवता से उसे भय होता है। इस प्रकार चमत्कार तथा भय की भावना से मनुष्य के हृदय में देवभावना का उद्भव होता है।

आदिकालिक मनुष्य प्रकृति की खुली गोद में विचरण करता था। उसे चमत्कृत या भयाक्रान्त करने वाली वस्तुएँ भी प्रकृति में ही विद्यमान थीं। फलतः, यह विशाल धरित्री उसे माता, द्यौः पिता प्रतीत हुए। अग्नि, सूर्य, चन्द्र आदि पिण्ड उसे साधारण पिण्ड नहीं, अपितु उसके ऊपर करुणा या क्रोध करने तथा वर या दण्ड देने में समर्थ देव, प्रभु प्रतीत हुए।

प्रो. रुडोल्फ आटो का कथन है कि एक साधक का भगवान् दार्शनिकों के ब्रह्म से और अफलातू के विचार अर्थात् आइडिये से मूलतः भिन्न प्रकार का होता है। वह एक दारुण शक्ति होती है, जो परमात्मा के क्रोध में, उसके भय में, विकसित हुई है—क्यों कि हर साधक उस पावन शक्ति के आगे थर्राता और उसकी महनीयता से दहशत खाता है[1]।

---

१. द्र. डा. सूर्यकान्त, वैदिक देवशास्त्र, भूमिका, पृष्ठ ११।

प्राकृतिक पिण्डों में श्रद्धा या भय की भावना के अनन्तर मननशील मानव का मन ऊहापोह करता है उन समस्याओं पर जो उसे गगन के सततविहारी ज्योतिष्पिण्डों, बादलों के गर्जन, झञ्झावातों के तर्जन और सुदूर स्थित इन पिण्डों के उद्भव एवम् जगत् की रचना के बारे में सोचने से उत्पन्न होती हैं। इस सारे चिन्तन-मन्थन के परिणाम-स्वरूप उसके कल्पित देवताओं का दायरा बढ़ता जाता है तथा मनुष्य की सशक्तता का क्षेत्र घटता जाता है। अन्ततः मनुष्य इन देवताओं पर इतना निर्भर करने लगता है कि जीवन में आवश्यक प्रत्येक वस्तु के लिए वह देवताओं का मुखापेक्षी हो जाता है। वह कभी उन देवों से वीर पुत्रों की, रयि की, धन-सम्पत्ति की प्रार्थना करता है, तो अपराध होने पर क्षमा प्रार्थना करके, बेजार हो कर रोता हुआ देवता के कठोर हृदय[1] को पिघलाने की चेष्टा करता है।

इतना ही नहीं, इन देवताओं से प्रार्थना करके भी जब उसका इष्ट सिद्ध नहीं होता, या उसका मन एक देवता से भर जाता है, तब वह एक और देवता का उद्भव उसी तरह कर लेता है, जिस तरह उसने पिछले देवताओं का उद्भव किया था। तब पिछले देवता बेचारे समय की अन्धेरी चादर में लिपट कर अज्ञात हो जाते हैं, या अपना ऊंचा आसन नवाविष्कृत देवता को दे कर एक कोने में दुबक कर पड़ रहते हैं।

जगत् में आने पर मनुष्य को चाहिए अपनी परम्परा की निरन्तरता अर्थात् अच्छी सन्तान, आराम से जीवन बिताने को धनसम्पत्ति तथा उसके विघ्नाविहत उपभोग के लिए जीवन में यौवन, स्वास्थ्य तथा अन्य मनोरमता। इनकी पूर्ति में अदृश्य शक्तियों का आशीर्वाद तथा रक्षण पाने को वह उर्वरता, धनसम्पत्ति एवं जीवन में मनोरमता के देवताओं की सृष्टि करके उनका आश्रय लेने लगता है।

मनुष्य की इस प्रवृत्ति का सार्वभौम निदर्शन हमें विश्व के देवताओं के उद्भव और विकास, उनके उत्थान और पतन से भली भांति लगता है। किसी समय में विश्वभर में द्यौस् का बोलबाला था। कहीं वह ज्योयस् था, तो कहीं जुपिटर्, तो कहीं द्यौष्पिता। वह जगती का एकमात्र देवता था। कालान्तर में बहुत पुराने युग में उसका स्थान लिया वरुण अर्थात् ओउरनस् और पर्जन्य अर्थात् पेर्कुनास् ने। इन दोनों को पीछे धकेल दिया इन्द्र और अग्नि ने। इन्हें भी गद्दी से उतारा अर्थात् यजुर्वेद—कर्मकाण्ड—के देवता प्रजापति ने। अन्ततः सब के ऊपर आसीन हुए पौराणिक विष्णु, जो वैदिक काल में आदित्य की एक अवस्था (दुपहर के सूर्य) भर थे।

मनुष्य हमेशा से ही वर्तमान से सदा असन्तुष्ट तथा अतीत की मोहकता से अभिभूत रहा है। अपने वर्तमान से ऊबकर अपनी कल्पना के सुनहरी पङ्खों वाले

---

१. वैदिक काल में देवता पत्थर के तो थे नहीं, अतः वे संग-दिल न हो कर केवल कठोर-हृदय ही थे।

घोड़े पर सवार हो कर अतीत के जादुई खण्डहरों की ओर चलता-चलता मनुष्य उसके उस सुदूर शिखर पर जा पहुँचता है, जहां से सर्गरचना का आरम्भ हुआ था और जो यथार्थ जगत् के देश काल की परिधि से बाहर है। यही शिखर है उसके देवताओं की रम्य विहारस्थली तथा उसकी कल्पनाओं का भव्य, दिव्य स्वर्गलोक। अपनी कल्पना के सुनहले पङ्खों पर बैठकर मनुष्य उस शिखर की सैर करता है। वहां देवताओं से साक्षात्कार करता है। और उसकी पीढ़ियों को मिलता है उन देवताओं की यशोगाथाओं से भरपूर, स्वर्ग के सुनहले-सुनहरे चित्रों से सज्जित उपासना-साहित्य तथा विशाल देवशास्त्र। इस साहित्य तथा देवशास्त्र से अनुप्राणित और प्रभावित होता है भविष्य का राष्ट्रिय जीवन।

पुरातत्त्व के साक्ष्य से विदित होता है कि सबसे पहले पृथ्वीस्थानीय देवताओं की कल्पना मनुष्य ने की। शायद **द्युस्थानीय** देवता उसकी पहुँच से बाहर थे। पृथ्वी-स्थानीय देवताओं में भी उर्वरता के कारण सब से प्रथम स्थान मिला **स्त्रीदेवी** को। कालान्तर में जनन क्रिया में पुरुष को अधिक महत्त्व मिलने पर मातृदेवी को गौणता मिली और आकाश (**द्यौष्पिता अथवा जीयस्**) को पति का तथा मातृदेवी को पत्नी के रूप में उसकी सहायिका का पद मिला।

ऋग्वेद के प्राचीनतम सर्वातिशायी देवता हैं **वरुण**। वेद में पुरुषदेवों को ही प्रधानता मिली है। पुरुष देवों में भी हमें **द्युस्थानीय** देव ही अधिक महत्त्वशाली दिखलाई पड़ते हैं। डा. सूर्यकान्त का (भूमिका पृष्ठ २७ में) मत है कि "वैदिक देवशास्त्र का अभ्युदय ऐसे काल में हुआ था, जब आर्य लोग देवी-पूजा से हट कर पुन्देवताओं की पूजा पर आ चुके थे—और निश्चय ही यह काल **मेसोपोटामिया, बेबिलोनिया** आदि देशों के देवशास्त्रीय विकास को देखते हुए ईसा से तीन सहस्र वर्ष पहले के आस-पास का ठहरता है। वैदिक देवताओं के चारित्रिक स्तर की उच्चता से भी इस बात की पुष्टि होती है। क्यों कि जहां एक ओर निकटपूर्वीय देशों के देवी-देवताओं का चरित्र आज के मानदण्ड से देखने पर कुछ ढीला-ढाला-सा प्रतीत होता है, वहां वैदिक देवताओं का चरित्र आज के मानदण्ड की दृष्टि से भी अत्यन्त उच्च कोटि का ठहरता है। हमारी समझ में वैदिक देवविकास का काल ऐसे युग में रखा जाना चाहिए, जब कि देवियों की पूजा ह्रास पर थी और पुन्देवताओं की पूजा उत्कर्ष पर।"

वैदिक देवताओं के विषय में यह निस्सङ्कोच कहा जा सकता है कि ये देवता भारोपीय जातियों में से किसी भी जाति के देवताओं की अपेक्षा प्राकृतिक दृश्यों के अधिक निकट होने से अधिक प्राकृतिक हैं। अपने सम्मुख वर्तमान प्राकृतिक शक्तियों और दृश्यों को ऋषियों के कवित्व ने देवता का रूप अर्पित कर दिया। वैदिक साहित्य में ऋग्वेदसंहिता में ही देवताओं का वर्णन प्रमुख रूप से हुआ है। अन्य

संहिताओं में तो यज्ञ का कर्मकाण्ड तथा अन्य यातुविद्या आदि विषय प्रधान हो गये हैं। "वैदिक देवशास्त्र, और उसी के साथ वैदिक भाषा, इतनी स्वच्छ और पारदर्शक है कि उसमें हमें बहुधा एक देवता का उसके भौतिक आधार वाले नाम के साथ सम्बन्ध स्पष्ट दीख जाता है"[१]। बहुधा तो प्राकृतिक शक्तियों तथा पिण्डों के मनुष्य-विध वर्णन भी इतने अपने प्राकृतिक रूप में होते हैं कि हमें उनके मानवीकरण की प्रारम्भिक स्थिति का सही ज्ञान हो जाता है। वैदिक ऋषियों की उर्वर कल्पना-शक्ति द्वारा देवभाव को पहुँचाई हुई ये शक्तियां बिल्कुल मनुष्यों के समान जन्म लेतीं, उन के आवाहन पर यज्ञ में हविष्य तथा सोम पान के लिए पधारतीं, सोम पीकर मनुष्य की ही तरह मस्ती में मचलतीं, उछल-कूद करतीं तथा अपनी शेखी स्वयं बघारती नजर आतीं हैं। पर, तब भी, यह पुरुषविध प्रस्तुतीकरण इतना झीना है कि देवता का वास्तविक स्वरूप कहीं भी तिरोहित नहीं होता है। ऋग्वेद में हमें वैदिक देवताओं का स्वरूप तीन स्थितियों में मिलता है :

(क) जब देवता का नाम उसके प्राकृतिक आधार वाला ही रहता है, तब मानवीकरण अपनी प्राथमिक अवस्था में ही रहता है। द्यौः, उषस्, सूर्य, पृथिवी, अग्नि, सोम आदि देव इसके उदाहरण हैं। इन देवताओं के नाम इनके आधार तत्तत् पदार्थों और प्राकृतिक अवस्थाओं से भिन्न नहीं हैं, तो इनके वर्णनों में पर्याप्त मानवीकरण के होते हुए भी इनका प्राकृतिक रूप तिरोहित नहीं हुआ है।

(ख) जब देवता का नाम उसके प्राकृतिक आधार से भिन्न होता है, तब वह देवता उस प्राकृतिक आधार से दूर हटा हुआ होता है। मरुद्गण इसके उदाहरण हैं। इनका प्राकृतिक आधार वायु है। किन्तु वैदिक वर्णनों में ये वायु से तनिक हट कर पुरुषविध अधिक हो गये हैं, किन्तु इतना हट कर नहीं कि उनका अपने आधार से सम्बन्ध ही नहीं ज्ञात हो सके।

(ग) यदि इस आधेय देव और आधार प्राकृतिक तत्त्व के नाम के भेद के साथ ही आधेय देवता वैदिक काल के पहले युग से चलता आया है, तब तो आधेय और आधार बिल्कुल अलग चरित्र के हो जाते हैं। उदाहरण के रूप में वरुण को ले सकते हैं। ये भारोपीय युग के अन्त के देवता हैं। वेद से इनके प्राकृतिक आधार अनुमान कर पाना सरल नहीं है। हां, वेदों की अपेक्षा अधिक प्राचीनकाल से चली आई कहानियों से इसका अनुमान-मात्र लगाया जा सकता है कि वरुण आकाश अर्थात् द्यौस् का स्थान लेने वाले (द्यौस् जैसे) देवता हैं[२]। अश्विनौ इसी प्रकार के अन्य देवता हैं।

वैदिक साहित्य में प्राकृतिक शक्तियों को मानवीय शरीर, रूप, रंग, गुण-धर्म, वस्त्र-आभूषण, वाहन एवं शस्त्रों तथा मनुष्यों की ही तरह खान पान करते, युद्ध तथा

१-२. द्र. वैदिक देवशास्त्र, भूमिका (मॅक्डानल्), पृ. ३।

प्रेम करते दिखलाया गया है। देवताओं की यह सब विशेषताएँ आलङ्कारिक रूपक जैसी हैं। इन्द्र को सोम अर्पित किया जाता है, तो इन्द्र उसे पियेंगे ही। जब पियेंगे, तो मुख उदर तथा अन्य अवयव भी होंगे ही। सोमपान के लिए इन्द्र का आवाहन होने पर इन्द्र यज्ञ में जायेंगे, तो वाहन होने ही चाहियें। इस प्रकार इन्द्र के मुख, उदर आदि अवयव और रथ आदि वाहन का आरोप सहज स्वाभाविक हो जाता है। आदित्य पूरब में रोज आता है, तो उसका चमकता मण्डल उसका रथ, सूर्योदय से पूर्व ही पहुँच जाने वाली किरणें उसके घोड़ों के रूप में स्वतः कल्पित हो जाते हैं। उषा का स्वर्णिम प्रकाश ही उसका वस्त्र बन जाता है। अरणियों को जोर लगाकर मन्थन करने से अग्नि उत्पन्न होता है। बस इसी कार्य में उसे अरणियों का बेटा, सहसस्पुत्रः (बल का बेटा), दश (अङ्गुलि) माँओं का बेटा कहलाने का औचित्य प्राप्त हो गया।

वैदिक देवताओं की एक विशेषता और उभर कर सामने आती है, जो अन्य भारोपीय जातियों के किसी भी देवता में शायद नहीं है। वैदिक देवताओं का चरित्र निर्दोष तथा प्रायः पूर्णतया नैतिक है। सभी देवता सच्चे तथा धोखे से दूर हैं। वरुण तो इस संसार के नियमों तथा व्रतों के संरक्षक और नैतिक आचरण का उल्लङ्घन करने वालों को दण्ड देने वाले शक्तिशाली (असुर) राजा ही हैं। नैतिकता का उच्च वैदिक मानदण्ड वैदिक सभ्यता की अन्य सभ्यताओं से श्रेष्ठता सिद्ध करता है, तथा इसके अद्यावधि जीवित रहने का रहस्य है। किसी भी देश या समाज के चरित्र एवं शिक्षा की श्रेष्ठता का मानदण्ड उसके अपने देवताओं का चरित्र होता है। क्योंकि देवता के चरित-चरित्र ही मानव-समाज के लिए आदर्श तथा प्रेरणास्रोत का काम किया करते हैं। अथवा यों भी कहा जा सकता है कि अपने जीवन में हम जो कुछ भी दिव्य, भव्य और उदात्त समझते हैं, उसके श्रेष्ठतम आगार के रूप में अपने देवता की ही कल्पना किया करते हैं। नैतिकता का यह ऊँचा स्तर वैदिक सभ्यता की प्राचीनता की ओर भी सङ्केत करता है (वैदिक देव-शास्त्र, पृष्ठ ३५)।

वैदिक देवताओं में वरुण और इन्द्र अन्य देवों की अपेक्षा महान्, परस्पर समानरूप से शक्तिशाली हैं। ऋग्वेद के प्राचीनतम काल में वरुण ही सर्वाधिकशक्तिशाली देवता थे; इन्द्र को तब एक गौण देवता माना जाता था। आगे चल कर वरुण का महत्त्व क्रमशः कम होता गया, तथा 'विश्व के राजा महान् असुर वरुण' पुराणों में केवल पश्चिम दिशा तथा जल के स्वामी होकर रह गये और विजयाकाङ्क्षी आर्यों के प्रिय नेता तथा राष्ट्रिय देवता इन्द्र हो गये।

इन दोनों देवताओं के पश्चात् स्थान है अग्नि और सोम (एक लता जिसका रस वैदिक आर्यों को और फलतः उनके देवताओं को अमृत के समान प्रिय था) का।

प्रकृति की शक्तियों को देवता का जामा पहिनाने-भर से ही ऋषियों को

सन्तोष नहीं हुआ। इस जगत् की अनन्त विशालता, रहस्यमयता और नियमितता को देख कर उनके मन में इस समूची सृष्टि के स्रष्टा और नियन्ता अध्यक्ष के विषय में ही जिज्ञासा नहीं हुई, अपि तु इस सृष्टि के उपादान कारण को जानने की प्रबल इच्छा भी उत्पन्न हुई। उन्होंने अपनी समाधि-भाषा में प्रश्न खड़े किये : यह विविध प्रकार की सृष्टि कहाँ से आई ? किसने, क्यों, किस के हित के लिए, किस तत्त्व से, कहां इस वैविध्यपूर्ण जगत् को बनाया ?—

नासदासीन्नो सदासीत्तदानीं नासीद्रजो नो व्योमा परो यत् ।
किमावरीवः कुह कस्य शर्मन्नम्भः किमासीद् गहनं गभीरम् ॥ ऋ. सं. १०।१२९।१ ॥

वस्तुतः यहीं से मानव-कल्याण के लिए अद्भुत दायित्व निबाहने वाली दो ज्ञान-शाखाओं का उद्भव दृष्टिगोचर होता है। इनमें प्रथम शाखा है **दर्शन** और दूसरी शाखा है **विज्ञान**। मानव जाति के इतिहास में सेश्वर दर्शन का सर्वप्रथम लिखित रूप यहीं पर दिखलाई देता है। **सूर्य, चन्द्र, द्यौस्, वरुण** आदि दृष्ट और अदृष्ट देवता व्यष्टि-देवता हैं। इनके वर्णनों को पढ़ने से लगता है कि ऋषि लोग बहु-देव-वादी थे। वे सृष्टि की प्रत्येक व्यष्टि में उसके अधिष्ठाता एक देव को उपस्थित मानते थे। अनेकों में एकता खोजना ही दर्शन है। प्रत्येक व्यष्टि को एक नियमित रूप में काम करते देख कर वैदिक ऋषि को **ऋत** का भान हुआ। पहले उसने उस **ऋत** के स्वामी के रूप में **ऋतस्पति वरुण** का दर्शन किया। हमारे विचार में **ईश्वर** का आदिम रूप (जहां तक हमारे इतिहास-ज्ञान की पहुँच है) **असुर** (शक्तिमान्), राजा (नियन्ता) **वरुण** में ही चित्रित हुआ है[1]। परन्तु **वरुण** का स्वरूप बहुत-कुछ मानवीय हो गया था। उससे ऋषियों को अपने सब प्रश्नों का समाधान नहीं मिला। फलतः उनके चिरन्तन चिन्तन-मन्थन ने इस प्रश्न का उत्तर खोजा कि सृष्टि का अध्यक्ष स्त्री, पुरुष आदि की विशेषताओं से युक्त निर्वचनीय तत्त्व नहीं हो सकता। वह तो कुछ ऐसा है, जो जागतिक नियमों को बरतवाने में कठोर होते हुए भी स्वयम् इनसे अनियन्त्रित है, अगम्य है। उसे भाषा विशेषणों से भली-भाँति प्रकट नहीं कर सकती। उसे अपनी सत्ता के लिए अन्य किसी के आश्रय की आवश्यकता नहीं है। वह जगत् के ऊपर है, जगत् के लिए अगम्य है, जगत् उससे ऊपर नहीं है। वह **कुछ** है तथा अपनी ही (अपने में निहित) शक्ति से वायु की तरह बह रहा है। बह इस लिए रहा है, क्योंकि हम वायु की तरह उस का अनुभव तो कर रहे हैं, पर कह नहीं सकते कि वह कुछ कैसा है ? उसके विशेषों का अनुभव थोड़ा-बहुत करते तो हैं, पर समग्र तो दूर—पर्याप्त रूप से भी नहीं कर पाते। इसी आशय से ऋग्वेदसंहिता के ऋषि कहते हैं :

---

१. अथर्व-वेद-संहिता का ४।१६ सूक्त इसका सुन्दर निदर्शन है।

न मृत्युरासीदमृतं न र्तीह न रात्र्या अह्न आसीत् प्रकेतः ।
आनीदवातं स्वधया तदेकं तस्माद्धान्यन्न परः किञ्चनास ।। १०।१२६।२ ।।

सृष्टि के उपादान कारण के बारे में जिज्ञासा की शान्ति के लिए जो प्रयत्न किये गये, उनका समन्वित नाम है **विज्ञान** । विज्ञान एक में अनेक की खोज करता है। उपादान कारण की खोज करते-करते, सृष्टि का तात्त्विक विश्लेषण करते-करते, मनुष्य अत्यन्त गहरे में पैंठ कर भी जिस दरवाजे पर अपने को खड़ा पाता है, वह दरवाजा है **दर्शन** का ही । विज्ञान से सृष्टि के उपादानों का विश्लेषण करते-करते मनुष्य **सत्** और **असत्**, **जीवन** और **मृत्यु** के दुरूह प्रश्नों में उलझ जाता है । जब प्रत्यक्ष सृष्टि में हम जन्म और मरण, वृद्धि और क्षय का साक्षात्कार नित्य करते हैं, तब सृष्टि का उपादान कारण ही इनसे मुक्त कैसे हो सकता है ? यदि उपादान कारण **सत्** है, तो जगत् में **असत्** के दर्शन क्यों होते हैं ? यदि उपादान कारण अमृत है, तो उस से बने जागतिक पदार्थ मरण-धर्मा क्यों हैं ? विज्ञान इन प्रश्नों का उत्तर न दे पाया है, और आगे भी दे पायेगा, इसमें भारी संशय है । तभी ऋषि कहते हैं कि सृष्टि के मूल में अन्धकार ही अन्धकार है, उसका ज्ञान दुरूह है :

तम आसीत्तमसा गूळ्हमग्रेऽप्रकेतं सलिलं सर्वमा इदम् ।। १०।१२६।३ ।।

सृष्टि के रहस्य को सुलझाने का यह प्रश्न इतना गहन-गम्भीर है कि बहुत माथा-पच्ची और मगज-मारी करने के बाद भी चित्त को पूरा समाधान मिलना कठिन ही होता है । बहुधा इस प्रकार के क्षणों में ही आस्तिकता, श्रद्धा, विश्वास डगमगा जाते हैं और मनुष्य उस अध्यक्ष की शक्तियों में भी शङ्कालु हो उठता है । इन प्रश्नों का समाधान ऐसा है कि स्वयं तो शायद हो भी जाये, परन्तु दूसरे को समझा कर उसे साक्षात्कार कराना अत्यन्त कठिन है । स्वयम् इस का समाधान करने में असमर्थ होने पर जब अपने से श्रेष्ठ और किसी से भी प्रकाश नहीं मिलता, तब मनुष्य का झल्ला जाना, या व्याकुल हो उठना, और इस सृष्टि के अध्यक्ष के बारे में जो धारणाएँ जमीं हैं, उनमें शङ्कालु तथा अश्रद्धालु हो उठना अस्वाभाविक एवम् असम्भव नहीं है, अपितु बहुत सहज-सम्भव है । बहुत प्रयास करने पर भी सृष्टि की विशालता जब मनुष्य के मस्तिष्क की परिधि में नहीं आयी, तब उन्हें शङ्का हुई : आया कि कोई जानता भी है कि यह सृष्टि कहाँ से आई है ?

को अद्धा वेद क इह प्रवोचत् कुत आजाता कुत इयं विसृष्टिः ।
अर्वाग्देवा अस्य विसर्जनेनाथा को वेद यत आबभूव ।। ऋ. सं. १०।१२६।६ ।।

ऋषि को यह सृष्टि इतनी दुरूह लगती है कि उसे शङ्का हो आती है कि यह सृष्टि जहाँ से आई है, वह है भी कि नहीं ? पर इस प्रश्न का उत्तर पाना कौन सहल है ? यह तो और भी कठिन है । अन्ततः ऋषि को यही कहना पड़ता है कि इस सृष्टि के नियामक भी इस के रहस्य को भली-भाँति जानते हैं कि नहीं, हमें तो इस में

भी सन्देह है :

इयं विसृष्टिर्यत आबभूव यदि वा दधे यदि वा न।
यो अस्याध्यक्षः परमे व्योमन्त्सो अङ्ग वेद यदि वा न वेद ॥ऋ. सं. १०।१२९।७॥

वस्तुतः यहीं से अनीश्वरवादी या नास्तिक दर्शन का प्रारम्भ दृष्टिगोचर होता है, जो उपनिषदों में बहुत मुखर पूर्वपक्ष के रूप में उभर कर सामने आया है :

येयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्येऽस्तीत्येके नायमस्तीति चैके। कठोप. १।१।२० ॥
देवैरत्रापि विचिकित्सितं पुरा नहि सुज्ञेयमणुरेष धर्मः। वहीं २१ ॥

इस प्रकार व्यष्टि देवताओं से प्रारब्ध देवभावना का चरम विकास हमें एकात्मवाद में परिणत हुआ मिलता है। एकात्मवाद की सम्यक् प्रतिष्ठा ऋग्वेदसंहिता के सूक्तों के प्रणयनकाल में ही भली-भाँति हो चुकी थी, इसका निदर्शन ऋग्वेदसंहिता के अस्य-वामीय-सूक्त (१।१६४), पुरुष-सूक्त (१०।९०), हिरण्य-गर्भ-सूक्त (१२१), वाक्सूक्त (१२५) और नासदीय-सूक्त (१२९) आदि सूक्तों के रूप में मिलता है। अथर्ववेदसंहिता में एकात्मवाद सम्यक् प्रतिष्ठित है। यहाँ व्रात्यकाण्ड (१५वाँ काण्ड जिसमें १८ सूक्तों में व्रात्य=अगम्य आत्मा का वर्णन किया गया है) तो आत्म-विद्या-परक है ही, उच्छिष्ट-सूक्त (११।७) में भी सब कुछ के बाद बच रहने वाले ब्रह्म का बहुत भव्य वर्णन किया गया है। उपनिषत् साहित्य का तो निरपवाद विषय एकात्मविद्या है ही। यास्क भी एकात्मवादी हैं, यह हम आगे देखेंगे। बहु-देव-स्तुतियों की सरिताओं के सङ्गम से एकात्मवाद का महनीय वरुणालय आपूरित हुआ है—इस प्रकरण का हमारा निष्कर्ष यही है।

अध्याय २१

देवता : निर्वचन और मन्त्र में उसकी पहचान

देव-भावना का उद्भव और विकास बतलाने के अनन्तर वैदिक देवताओं पर हम और कुछ कहने का उपक्रम करें इस से पूर्व निरुक्त और व्याकरण शास्त्रों की दृष्टि से देव शब्द का परिचय कराना प्रासङ्गिक ही होगा। यास्क ने निरुक्त (७।१५) में देव शब्द का निर्वचन यों दिया है : देवो दानाद् वा, दीपनाद् वा, द्योतनाद् वा, द्यु-स्थानो भवतीति वा। जैसा कि आचार्य सायण ने ऋ. सं. १।१।१ के भाष्य में कहा है देव शब्द व्याकरण के अनुसार √दिव् धातु से अच्[1] प्रत्यय लग कर निष्पन्न है। पाणिनीय धातु-पाठ के अनुसार √दिव् के अर्थ हैं : १ क्रीडा, २ जीतने की इच्छा, ३ आपस में सम्पर्क या लेन-देन, ४ प्रकाश, ५ प्रशंसा करना, ६ आनन्द मनाना, ७ मस्त होना, ८ सोना, ९ चाहना, और १० गति अर्थात् ज्ञान, जाना तथा पहुँचना[2]।

निरुक्त का विषय-विवेचन करते समय (पृ. ६४ में) हम कह आये हैं कि किसी भी शब्द का निर्वचन करते समय यास्क उसके अर्थ के विभिन्न पहलुओं को दृष्टि में रख लेते हैं। स्कन्द स्वामी ने भी (भाग २, पृष्ठ ६३ पर) कहा है कि अर्थ के भेद को दृष्टि में रख कर ही भिन्न-भिन्न निर्वचन किये जाते हैं : नानाकर्मत्वाच्च निर्वचनान्यत्वम्। देव शब्द के प्रकृत कई निर्वचन भी यास्क ने देवताओं के चरित्र के विभिन्न पहलुओं को दृष्टि में रख कर ही किये हैं।

'देवभावना का उद्भव और विकास' नामक पिछले अध्याय में हम देख चुके हैं कि मनुष्य में देव-भावना का उद्भव चमत्कार और भय की भावना से हुआ तथा उसका विकास मनुष्य की सुख-समृद्धि में देवता भी योग-दान करें इस कामना हुआ। मनुष्य इतना आत्मकेन्द्रित जन्तु है कि इच्छा पूर्ति की आशा के बिना वह एक कदम आगे नहीं चलता। यों भी, इच्छा जगत् का बीज है, इस बात को ऋषि ने निस्सङ्कोच घोषित किया है :

कामस्तदग्रे समवर्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्। ऋ. सं. १०।१२९।४॥

---

१. द्र. अष्टाध्यायी ३।१।१३४ : नन्दि-ग्रहि-पचादिभ्यो ल्यु-णिन्यचः ।

२. द्र. दिवादिगण १ : दिवु क्रीडा-विजिगीषा-व्यवहार-द्युति-स्तुति-मोद-मद-स्वप्न-कान्ति-गतिषु ।

अतः वह इच्छा से मुक्त हो भी कैसे सकता है ? देवता की स्तुति भी वह जागतिक वस्तुओं, सुख-सुविधा की विविध सामग्रियों की प्राप्ति की इच्छा से ही करता है। वह तो देवता से सीधे-सीधे शब्दों में कहता है : **देहि मे, ददामि ते, नि मे धेहि, नि ते दधे** (वा. सं. ३।५०)। अतः जो देवता अपने स्तोता को प्रचुर धन-सम्पत्ति प्रदान करने में समर्थ है, स्तोता भी उस देवता के गीत मुक्त-कण्ठ से गाता है। अतः स्तोता को अभीष्ट पदार्थ देना देवता के चरित्र की प्रमुख विशेषता है। देवता भी मनुष्य के इस स्वभाव को भली-भाँति जानते हैं। तभी तो वैदिक देवताओं के विशेषज्ञ **ऐतरेय महीदास** का कथन है कि मनुष्य देवताओं के लिए जैसा कुछ करता है, देवता भी मनुष्य के लिए वैसा ही कुछ करते हैं : **यादृगिव वै देवेभ्यः करोति, तादृगिवास्मै देवाः कुर्वन्ति** (ऐ. ब्रा. ३।६, पूना सं. पृष्ठ ३०१)। आचार्य यास्क का देव शब्द का पहला निर्वचन देवता के चरित्र में इसी पहलू पर प्रकाश डालता है। देवता इसलिए देवता हैं क्योंकि वे अपने यजमानों को अभीष्ट पदार्थ प्रदान करते हैं। यजमान भी उन्हें हविष्, सोम आदि उनके प्रिय विविध पदार्थ उन्हें प्रदान करते हैं। महाकवि **कालिदास** ने भी देवताओं और मनुष्यों के इस सम्बन्ध को यों प्रकट किया है :

> **दुदोह गां स यज्ञाय सस्याय मघवा दिवम् ।**
> **सम्पद्विनिमयेनोभौ दधतुर्भुवन-द्वयम् ॥** रघुवंश १।२६ ॥

ये देवता अन्य पदार्थों से अलग-से दीपित होते हैं, जगत् को प्रकाशित करते हैं, प्रकाशशील हैं तथा प्रकाशित करते हैं, इस विशिष्टता को **दीपनाद्वा, द्योतनाद्वा** से बतलाया है। ये मनुष्य की आशाओं-आकाङ्क्षाओं के लोक स्वर्ग में निवास करते हैं। अतः, अथवा रोज आकाश में विद्यमान दिखाई देते हैं, इसलिए द्युस्थानीय होने से भी **देव** कहलाते हैं।

धातु-पाठोक्त अर्थ भी देवों पर पूरी तरह लागू होते हैं। इनसे अनुप्राणित होकर, या इनकी कृपा पा कर, मनुष्य खेलते, मौज करते हैं। इनकी सहायता से मनुष्य अपने शत्रुओं पर विजय पाना चाहते हैं :

> **यं क्रन्दसी संयती वि ह्वयेते परेऽवर उभया अमित्राः** ॥ ऋ. सं. २।१२।८ ॥

देव आपस में तथा मनुष्यों से व्यवहार करते हैं। ये स्वयम्प्रकाश हैं, और अन्य पदार्थों को प्रकाशित करते हैं। लोग इनकी स्तुति करते हैं। ये स्वयम् आनन्दमय हैं और अपने भक्तों को आनन्दित करते हैं। सोम आदि का पान कर के हर्षित होते है : **मदे सोमस्य रण्यानि चक्रिरे** ॥ ऋ. सं. १।८५।१० ॥ भक्त लोगों के द्वारा चाहे जाते हैं, इस लिए **√दिव् से अन्वर्थक** होने के कारण ये देव कहलाते हैं।

सबसे पहले तो द्युतिशील अथवा दिव्य सूर्य आदि के लिए **देव** शब्द प्रचलित हुआ। उसके अनन्तर उनके लिए स्तुतियों को देख कर—स्तुत्यता की समानता से प्रत्येक स्तुत्य के लिए देव शब्द (अर्थ विस्तार के सिद्धान्त के अनुसार) रूढ हो गया।

भारत-ईरानीय (Indo-Iranian) काल के बाद किन्हीं कारणों से भारतीय आर्यों का ईरानी आर्यों से विरोध होने के कारण ईरानी लोगों में तथा साहित्य में **देव** शब्द का अर्थ बदल कर **राक्षस, जिन्न** हो गया। यह प्रक्रिया हमारे यहां भी हुई। **वेदों** में **असुर** शब्द प्राचीन सूक्तों में तो श्रेष्ठ अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। **अवेस्ता** (ईरानियों के वेद) में भी श्रेष्ठ अर्थ में ही है। किन्तु वेद के परवर्ती सूक्तों में इसका अर्थ श्रेष्ठ से विपरीत बुरा—**राक्षस** हो गया है, जो आज तक चला आया है।

मन्त्र में देवता की पहचान

ऋषियों ने वैदिक मन्त्रों में देवताओं की स्तुति की है तथा फिर उनके लिए यज्ञादि कर्मों का वितनन किया है। वेदों का ज्ञान वस्तुतः उनमें वर्णित देवताओं का ज्ञान ही है, और देवता के स्वरूप को भली-भाँति समझना ही वेदों का भली भांति समझना है। इसी लिए आचार्य शौनक ने देवता को जानने का महत्त्व बतलाते हुए ठीक ही कहा है :

> **वेदितव्यं दैवतं हि मन्त्रे मन्त्रे प्रयत्नतः।**
> **दैवतज्ञो हि मन्त्राणां तदर्थमधिगच्छति॥**
> **तद्विदां तदभिप्रायानृषीणां मन्त्रदृष्टिषु।**
> **विज्ञापयति विज्ञानं कर्माणि विविधानि च॥ बृहद्देवता १।२-३॥**

देवताओं के स्वरूप को भली प्रकार जानने के लिए सबसे पहले अमुक मन्त्र का कौन देवता है, यही जानना आवश्यक है। आचार्य यास्क ने मन्त्रों के दो विभाग किये हैं : प्रथम तो वे मन्त्र जिनमें देवता के लिङ्ग (चिह्न) स्पष्ट हैं, अर्थात् **आविष्ट-देवतलिङ्ग मन्त्र**। दूसरे वे जिनमें देवताओं के लिङ्ग स्पष्ट नहीं हैं अर्थात् **अनाविष्ट देवतलिङ्ग मन्त्र**। सर्व-प्रथम **आविष्टदेवतलिङ्ग** मन्त्रों में देवता को जानने का तरीका यास्क के शब्दों में यों है : **यत्काम ऋषिर्यस्यां देवतायामार्थपत्यमिच्छन् स्तुतिं प्रयुङ्क्ते, तद्दैवतः स मन्त्रो भवति** (७।१)।

जिस किसी पदार्थ की कामना करता हुआ ऋषि जिस किसी देवता के विषय में अपने अभीष्ट पदार्थ का अधिष्ठातृत्व—अर्थात् यह देवता मुझे अमुक अर्थ प्रदान करे, इस इच्छा से देवता को—चाहते हुए उस की स्तुति करता है, वह उस मन्त्र का देवता है[1]। जैसे—

---

१. द्र. निरुक्त ७।१ पर दुर्गाचार्य की टीका : **यद् अर्थ-वस्तु कामयमान ऋषिः यस्यां देवतायामभिष्टुतायामार्थपत्यमर्थं पतिभावमात्मन इच्छन्नमुष्या देवतायाः प्रसादेनाहममुष्यार्थस्य पतिर्भविष्यामीत्येतां बुद्धिं पुरोधाय स्तुतिं प्रयुङ्क्ते, तद्दैवत एव स मन्त्रोऽर्थाद् भवति।**

अग्ने नय सुपथा राये अस्मान्विश्वानि देव वयुनानि विद्वान्।
युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठां ते नम उक्तिं विधेम ॥ ऋ. सं. १।१९८।१ ॥

इस मन्त्र में सुमार्ग से ले जाना (सुपथा नय) रूप अपने अभीष्ट अर्थ का पतित्व—उसे करने की सामर्थ्य—अग्नि में चाहते हुए ऋषि ने अग्नि की स्तुति की है; अतः इस मन्त्र का देवता अग्नि है।

आचार्य शौनक ने भी इस विषय में बृहद्देवता में कहा है कि किसी पदार्थ को चाहता हुआ ऋषि जिस-जिस की प्रधानता से या गौण रूप से स्तुति करता हुआ कहता है 'यह हो', वह मन्त्र उस देवता का है; अर्थात् उस मन्त्र का वह देवता है :

अर्थमिच्छन्नृषि र्देवं यं यमाहायमस्त्विति।
प्राधान्येन स्तुवन्भक्त्या मन्त्रस्तद्देव एव सः ॥ १।६ ॥

यास्क के उपर्युक्त वाक्य की व्याख्या दुर्गाचार्य ने निम्नलिखित प्रकार से भी की है : "किसी देवता के बारे में इस पदार्थ को यह देवता देने में समर्थ है, यह जानते हुए जिस मन्त्र से स्तुति करता है, वह प्रधानता से प्रशंसित देवता ही उस मन्त्र का देवता है[1]" ।

हमारे विचार में ऋषि कवि है और उनका मन्त्र काव्य, इसे दृष्टि में रख कर इस पङ्क्ति की निम्नलिखित प्रकार से व्याख्या अधिक स्पष्ट होगी :

ऋषि अर्थात् कवि, यत्काम जिस किसी पदार्थ का वर्णन करना चाहता हुआ, यस्यां देवतायाम् जिस विषय में, आर्थपत्यम् अपने अभीष्ट (वर्णन के लिए प्रस्तुत) विषय का अधिष्ठातृत्व, इच्छन्=चाहता हुआ, स्तुतिम्=उस विषय का वर्णन, प्रयुङ्क्ते= करता है, स मन्त्रः=वह काव्य, तद्दैवतो भवति=उस देवता वाला होता है[2]।

इस व्याख्या के अनुसार वर्ण्यमान विषय ही देवता है। ऋषियों ने बहुत से उलूखल (ऊखल), मूसल, सिल-बट्टा (ग्रावा) आदि की इस ढङ्ग से स्तुति की है, उनसे ऐसे अर्थ का पतित्व चाहता है, जिसे वे अचेतन होने के कारण पूरा नहीं कर सकते। उपर्युक्त दुर्गाचार्य-सम्मत व्याख्याओं के अनुसार यास्क का लक्षण इन देवताओं पर नहीं घटता। किन्तु प्रकृत व्याख्या से वर्णन का विषय होने के कारण उलूखल आदि भी देवता हो जाते हैं। अतः यह व्याख्या अधिक उचित एवं स्पष्ट है।

यह व्याख्या सङ्केत रूप से सर्व-प्रथम कात्यायन ने प्रस्तुत की है : यस्य वाक्यं स ऋषिः। या तेनोच्यते सा देवता। सर्वानुक्रमणी २।४-५। और स्पष्ट रूप से

---

१. अथवा—देवतायाम् अस्यार्थस्येयं देवता दातुं समर्थेति जानानः स्तुतिं प्रयुङ्क्ते येन मन्त्रेण, सा प्राधान्य-स्तुति-भाग् देवता।

२. द्र. इस व्याख्या के लिए मैं अपने पूज्य गुरु चरणसित प्राध्यापक गुरुभिरभिहितनामधेय श्री सत्यभूषण योगी जी का आभारी हूँ।

षड्गुरुशिष्य ने दी है। तेन वाक्येन यत्प्रतिपाद्यं वस्तु, सा देवता (वेदार्थदीपिका २।५)।

यास्क की उपर्युक्त पङ्क्ति से एक निष्कर्ष निकालना अनुचित नहीं होगा। ऋषि, उनका अभीष्ट पदार्थ, उसे देवता से पाने की उनकी इच्छा—ये सब वस्तु अनित्य हैं; फलतः उनके सम्बन्ध में दृष्ट मन्त्र भी कालविशेष से परिच्छिन्न होने के कारण अनित्य होगा तथा ऋषिविशेष द्वारा दृष्ट होने से पौरुषेय भी होगा। अतः यास्क के मत में वेद पौरुषेय एवम् अनित्य, कालविशेष में निष्पन्न, हैं। वेदों को अपौरुषेय और नित्य मानने का सिद्धान्त परकालीन है।

जिन मन्त्रों में देवताज्ञान उपर्युक्त रीति से न हो पाए, उन अनादिष्टदेवतलिङ्ग मन्त्रों में किसे देवता माना जाये, इस विषय पर प्राचीन आचार्यों में मत भेद है।

अनादिष्टदेवतलिङ्ग मन्त्र दो प्रकार के हैं :

(क) जो किसी यज्ञ में अथवा यज्ञ के अङ्गभूत कर्म में विनियुक्त हैं। ऐसे मन्त्रों के बारे में नैरुक्तों और मीमांसकों में ऐकमत्य है कि इन मन्त्रों का देवता वही होता है, जो इन मन्त्रों के प्रयोग वाले यज्ञ या यज्ञ के अङ्गभूत कर्म का देवता है। जैसे अग्निष्टोम यज्ञ का देवता अग्नि होता है : आग्नेयोऽग्निष्टोमः। इस यज्ञ में विनियुक्त मन्त्र के देवता भी अग्नि ही होंगे। घी से भरे हुए स्रुव (लकड़ी के चम्मच) को जुहू नामक यज्ञ के एक पात्र के दाहिनी ओर रखना प्रधान कर्म नहीं है, अपितु प्रधान यज्ञ में अङ्गभूत कर्म है। उस कर्म में विनियुक्त मन्त्र हैं : ऋषभोऽसि शाक्वरः। घृताचीनां सूनुः, प्रियेण नाम्ना प्रिये सदसि सीद। और स्योनो मे सीद सुषदः पृथिव्याम्। प्रथयि प्रजया पशुभिः सुवर्गे लोके। दिवि सीद पृथिव्यामन्तरिक्षे। अहमुत्तरो भूयास अधरे मत्सपत्नाः[1]।— इन मन्त्रों के देवता स्पष्ट नहीं हैं। इनका निश्चय उस कर्म के देवता के आधार पर होगा, जो इस गौण कर्म के अङ्गी कर्म का अधिष्ठाता है।

(ख) उत्सन्नयज्ञ, अर्थात् जो किसी प्रधान यज्ञ या उसके अङ्गभूत कर्म में भी विनियुक्त नहीं हैं, वे मन्त्र। जैसे निम्नलिखित मन्त्र किसी भी गौण, या प्रधान कर्म में विनियुक्त नहीं है :

किं ब्राह्मणस्य पितरं पृच्छसि किन्नु मातरम्।
श्रुतविदस्मिन् वेद्यं स पितामहः ॥ मै. स. ४।८।१ ॥

कुछ मन्त्र प्रधान यज्ञ या उसके अङ्गभूत किसी कर्म में विनियुक्त न होकर उपाकरण, ब्रह्मयज्ञ, जप, प्रायश्चित्त आदि यज्ञेतर कर्म में विनियुक्त होते हैं। ऐसे मन्त्रों के देवता के बारे में यास्क ने कई मत बतलाये हैं :

(अ) मीमांसकों का मत। ये मन्त्र भी अनिरुक्त (अमुक देवता वाले हैं, इस प्रकार स्पष्ट रूप से, या यज्ञ अथवा उसके अङ्गभूत कर्म के अधिष्ठाता से युक्त के रूप में स्पष्ट रूप से प्रतिपादित नहीं) हैं, तथा प्रजापति भी (अमुक कर्म या मन्त्र के ही

---

१. द्र. तैत्तिरीय ब्राह्मण ३।७।६।१०, पूना संस्करण, भाग २, पृष्ठ १०६६।

अधिष्ठाता है, इस प्रकार अनुक्त होने के कारण) अनिरुक्त हैं। अतः अनिरुक्तता की इस समानता के कारण इन मन्त्रों के देवता प्रजापति हैं। महाशाल आचार्य शौनक का भी यही मत है :

मन्त्रेषु ह्यनिरुक्तेषु देवतां कर्मतो वदेत् ।
मन्त्रतः कर्मतश्चैव प्रजापतिरसम्भवे ॥ बृहद्देवता ७।१६ ॥

(आ) नैरुक्तों का मत। इन मन्त्रों का देवता नराशंस होता है। नराशंस के अर्थ के बारे में नैरुक्तों में मतभेद है :

(*i*) आचार्य कात्थक्य (८।७) मानते हैं कि नराशंस यज्ञ है। यज्ञ शब्द के अर्थ पर भी मत-भेद है। शतपथब्राह्मण में यज्ञ का अर्थ विष्णु किया गया है : यज्ञो वै विष्णुः (१।१।२।१३)। नैरुक्तों के मत में विष्णु आदित्य की एक अवस्था (मध्याह्न का सूर्य) ही है। अतः इन मन्त्रों के देवता आदित्य पर्यवसित होते हैं।

कुछ लोग यज्ञ का अभिधेय (क्रतु) अर्थ ही लेना उचित समझते हैं। जगत् यज्ञ से उत्पन्न हुआ है; अतः यज्ञ सर्वश्रेष्ठ अर्थात् प्रधान है। जो वस्तु किसी के नाम नहीं हो जाती, उसका स्वामी श्रेष्ठ ही होता है : अपरिग्रहं च प्रधानगामि—यह न्याय भी है। अतः इन मन्त्रों का देवता यज्ञ ही है। इन लोगों के मत में कात्थक्य का यही आशय है (—दुर्ग)।

(*ii*) शाकपूणि आचार्य के (निरुक्त ८।७ में दिये) मत में नराशंस पार्थिव अग्नि ही है। ब्राह्मणों के अनुसार भी देवताओं में अग्नि ही भूयिष्ठभाग्[1] है, तथा वस्तुतः वही सब अन्य देवताओं के रूप में है : अग्नि र्वै सर्वा देवताः (ऐ. ब्रा. १।१)। अतः शाकपूणि के मत में अनादिष्ट-देवत-लिङ्ग मन्त्रों का देवता अग्नि होता है।

कुछ लोग निरुक्त के 'नाराशंसा इति नैरुक्ताः' पाठ के नाराशंसाः विशेषण का नराः शस्यन्ते स्तूयन्त एभि :—जिससे मनुष्यों की स्तुति की जाती है—यह निर्वचन करके इन मन्त्रों का देवता मनुष्यों को मानते हैं। आचार्य दुर्गसिंह इस व्याख्यान से सहमत नहीं हैं, क्योंकि मन्त्र दुर्बोध्य हैं, और मनुष्य अल्पबुद्धि; (मन्त्रों से उनकी स्तुति क्या होगी !)।

(इ) कुछ आचार्यों का मत है कि इस प्रकार के मन्त्रों में इच्छानुसार देवता

---

१. अग्निर्हि भूयिष्ठभाग् देवतानाम् ॥ मूल मृग्य है। श. ब्रा. ४।१।३।११ (इन्द्रो ह वा ईक्षाञ्चक्रे—वायु र्वै नोऽस्य भूयिष्ठभाक्....) में वायु को भूयिष्ठभाक् तथा तै. ब्रा. ५।७।५ (पूना सं., भाग २, पृ. ४६०) में इन्द्र को देवताओं में भूयिष्ठभाक्तम बतलाया है : द्विरिन्द्रायेत्याह। तस्मादिन्द्रो देवतानां भूयिष्ठभाक्तमः। इनके अतिरिक्त अन्य किसी भूयिष्ठभाक् की चर्चा उपलब्ध ब्राह्मणों और आरण्यकों में तो है नहीं। दुर्ग ने सम्भवतः अपने समय में उपलब्ध किसी अन्य ब्राह्मण से यह सन्दर्भ उद्धृत किया होगा।

(कामदेवता) समझ लेना चाहिए दुर्गाचार्य ने यहां सा काम-देवता के दो अर्थ किये हैं :

(i) किसी देवताविशेष के लिए प्रयुक्त खास शब्द तो उनमें प्रयुक्त हैं नहीं; केवल ऐसे गुणाभिधायक पद ही होते हैं, जो किसी भी देवता पर लागू हो सकते हैं। अतः उन मन्त्रों का कोई भी देवता हो सकता है। इच्छा से देवता चुन लेना चाहिए।

(ii) जिस काम अर्थात् कामना से ऋषि ने मन्त्र कहा है, उस काम का अधिष्ठाता जो देवता हो, उसी को मन्त्र का भी देवता मानना चाहिए।

(ई) अन्य आचार्यों का मत है कि ऐसा मन्त्र प्रायोदैवत होता है। प्रायोदैवत की कई व्याख्याएं की गई हैं :

(i) 'प्रायः' शब्द का अर्थ अधिकार है। अतः जिस देवता के अधिकार अर्थात् प्रकरण में वह मन्त्र आया है, वही उस मन्त्र का भी देवता होता है (—दुर्ग)। इस विषय में मीमांसकों में एक न्याय भी है : प्रकरणाद्धि सन्दिग्धदैवतेषु देवतानियम। अर्थात् देवता का जहां सन्देह हो, उन मन्त्रों में प्रकरण के आधार पर ही देवता का निश्चय होता है।

(ii) उपर्युक्त दुर्गोक्त अर्थ यास्क के अभिप्राय को ही ठीक तरह से उपस्थित करता प्रतीत नहीं होता। उनके वास्तविक आशय को दुर्ग ने 'अथवा' से प्रस्तुत किया है : प्रायः शब्द बहुल अर्थ में है। अतः प्रायोदेवता का अर्थ है बहुलदेवता, अर्थात् अनेक देवताओं वाले। किसी के लिए निर्दिष्ट वस्तु विशेष या असाधारण कहलाती है। जो किसी के लिए निर्दिष्ट नहीं है, वह वस्तु साधारण (common) कहलाती है। उस पर किसी एक का नहीं, अपितु सब का अधिकार होता है। जैसे 'यह वस्तु पितरों के लिए है', 'यह अतिथियों के लिए', इत्यादि प्रकार से निर्दिष्ट वस्तुओं पर क्रमशः केवल पितरों और अतिथियों का ही अधिकार है। किसी अन्य का नहीं। किन्तु जो शेष वस्तु हैं, उन पर सब का अधिकार होता है। इसी प्रकार जिस मन्त्र का देवताविशेष निर्दिष्ट नहीं है, उस मन्त्र पर सभी देवताओं (विश्वे-देवों) का अधिकार होता है। अतः उनका देवता विश्वे-देव ही होते हैं।

ये सब विभिन्न मत यास्क ने अन्य आचार्यों के उद्धृत किये हैं। उनका अपना मत है :

(उ) याज्ञदैवतो मन्त्रः। दुर्ग ने इस वाक्य की भी दो व्याख्याएं की हैं : याज्ञो वा दैवतो वेति याज्ञदैवतः। अर्थात् उस मन्त्र का देवता या तो—

(i) यज्ञ होता है। यज्ञो दैवतमस्य इति याज्ञदैवतः। सम्भवतः यहां यास्क कात्थक्य के मत को मानते हैं। यज्ञ आदित्य ही है। अतः ऐसे मन्त्र का देवता आदित्य ही है।

(ii) या देवता होता है। सब देवताओं में प्रधान होने से अग्नि ही देवता है। अतः शाकपूणि की व्याख्या के अनुसार अनादिष्टदेवतलिङ्ग मन्त्रों का देवता

अग्नि ही होता है।

हमें दुर्गाचार्य की ये दो व्याख्यायें खींचतान ही प्रतीत होती हैं। क्योंकि—(१) वा से विग्रह बड़ा विचित्र है। (२) देवता शब्द का अग्नि अर्थ करना निराधार है। एक ब्राह्मण वाक्य तो आज उपलब्ध ही नहीं है। अतः उसकी प्रामाणिकता या अप्रामाणिकता पर तो हम कुछ कह नहीं सकते, पर दूसरा वाक्य भी दुर्ग ने अधूरा ही उद्धृत किया है। पूरा वाक्य यों है: **अग्निर्वै सर्वा देवता विष्णुः सर्वा देवताः।** इससे पूर्व: **अग्निर्वै देवानामवमो, विष्णुः परमः, तदन्तरेण सर्वा अन्या देवता इति।** (ऐ. ब्रा. १।१) वाक्य है। इससे अग्नि को ही सर्वप्रमुख देवता सिद्ध नहीं किया जा सकता। तै. ब्रा. ३।२।६।१० (पूना सं., भाग २, पृ. ६२६ : **ते देवा अग्नौ तनूः सन्न्यदधत। तस्मादाहुरग्निः सर्वा देवता इति।**) को दुर्ग ने उद्धृत नहीं किया है, यह दुर्ग के उद्धरण की शब्दावली में तै. ब्रा. में अनुपलब्ध **वै** से तथा इसकी दुर्ग की व्याख्या में भी **वै** मिलने से सिद्ध होता है। दूसरे, यदि इसे ही उद्धृत माना जाए, तब भी तै. ब्रा. का यह अकेला वचन ऐ. ब्रा. के दो वचनों के विरोध में **देवता** शब्द की अग्नि परकता को सब देवताओं में श्रेष्ठता के आधार पर सिद्ध नहीं कर पायेगा। **यज्ञ** शब्द का ब्राह्मणोक्त विष्णु अर्थ भी इसमें उपोद्बलक है।

दुर्ग के पक्ष मे हम केवल यह एक बात ही कह सकते हैं कि यास्क अग्नि-प्राधान्य-वादी हैं, आदित्य-प्राधान्य-वादी नहीं। अतः देवता का अर्थ **अग्नि** ही समुचित हो सकता है।

पर इसके लिए तो यही तर्क पर्याप्त है कि **यज्ञ** पृथिवी पर होता है और पृथिवी-स्थानीय अग्नि के द्वारा ही निष्पन्न होता है; अतः **यज्ञ** से पार्थिव **अग्नि** ही लिया जाना चाहिए, **विष्णु** नहीं। इस व्याख्या में **देवता** की खिंचाई करने की आवश्यकता भी नहीं पड़ती। ब्राह्मण-वचन की वैशाखी की तो सुतराम् आवश्यकता नहीं है।

अदिव्य पदार्थों में देवतात्व

दिव्य, इन्द्र, अग्नि आदि देवताओं के स्पष्ट लिङ्गों से युक्त या रहित मन्त्रों में देवता की पहिचान तो उचित है। किन्तु जिन मन्त्रों में अश्व, ओषधि, कुण्डी-दोरा, ऊखल और मूसल आदि पदार्थ भी देवताओं के समान ही प्रशंसित हैं, उन मन्त्रों में देवता की पहिचान कैसे हो? उन्हें देवता माना जाये या नहीं? अश्व आदि पदार्थ चेतना से तो युक्त हैं; किन्तु उनमें देवताओं के समान भक्तों की कामना पूरी करने की सामर्थ्य कहां? इसी प्रकार सिल-बट्टा (ग्रावन्) आदि तो चैतन्य से बिल्कुल शून्य अतः अनात्म ही हैं। वे इस वर्णन और प्रार्थना को कैसे सार्थक कर सकते हैं?

एते वदन्ति शतवत्सहस्रवदभि क्रन्दन्ति हरितेभिरासभिः।

विष्ट्वी ग्रावाणः सुकृतः सुकृत्यया होतुश्चित्पूर्वे हविरद्यमाशत ॥ ऋ. सं. १०।९४।२ ॥

अतः निघण्टु समाम्नाय में समाम्नात ऐसे अश्व से लेकर ओषधि तक के, ऊखल, मूसल, विपाश् (व्यास), शुतुद्री (सतलुज) आदि आठ द्वन्द्वपदोक्त पदार्थ यथार्थ में देवता नहीं हैं; किन्तु देवता की पहिचान के उपर्युक्त लक्षण (**यत्काम ऋषिर्यस्यां देवतायामार्थपत्यमिच्छन् स्तुतिं प्रयुङ्क्ते, तद्दैवतः स मन्त्रो भवति** ।) के अनुसार तो ये देवता सिद्ध हो जाते हैं। यदि देवताओं की पहिचान के लिए बनाया लक्षण अदेवताओं पर भी घटेगा, तब तो लक्षण में व्यभिचार और अतिव्याप्ति दोष होंगे।

यदि यह कहें कि अनित्य मनुष्यों के अनित्य ऊखल मूसल आदि उपकरण ही देवताओं के भी माने जाते हैं, अतः वही मन्त्रों में देवताओं के उपकरण होने के नाते देवताओं के रूप में ही स्तुत हैं, तो यह भी उचित नहीं है। क्योंकि तब तो मनुष्यों के उपकरण जैसे अनित्य हैं तो मनुष्य भी अनित्य हैं, वैसे ही उपकरणत्वेन देवताओं के उपकरण भी अनित्य ही होंगे; एवम् उनके उपकर्तव्य देवता भी मनुष्यों के समान अनित्य ही होने चाहिएँ। अतः इन उपकरणों के देवत्व का कुछ उपचार करना चाहिए।

इस पूर्वपक्ष का उत्तर भगवान् यास्क ने एकात्मवाद के आधार पर दिया है। एक ही देवता अपने ऐश्वर्य के कारण उपकरण, उपकर्तव्य आदि बहुत से रूपों में ऋषियों द्वारा प्रशंसित हैं। कहीं यह स्तुति किसी देवता को उस देवता से प्रकृत्या भिन्न के रूप में, तो कहीं प्रकृत्या अभिन्न—एक—के रूप में समझ कर की गई है:

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान् ।
एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः ॥ऋ. सं १।१६४।४६॥

इस मन्त्र में एक ही देवता का वर्णन इन्द्र आदि भिन्न-भिन्न रूपों में—जो एक दूसरे से प्रकृत्या भिन्न से लगते हैं—किया गया है।

रूपं रूपं मघवा बोभवीति मायाः कृण्वानस्तन्वं परि स्वाम् ।
त्रि र्यद्दिवः परि मुहूर्तमागात् स्वै र्मन्त्रैरनृतुपा ऋतावा ॥ऋ. सं. ३।५३।८॥

इस मन्त्र में मघवा प्रकृत्या अभिन्न हो कर ही विभिन्न रूपों में आये हैं।

अतः अग्नि, इन्द्र और आदित्य तथा अन्य सब जातवेदस् वायु, विष्णु, सविता आदि जो भेद वर्णित हैं, वस्तुतः उन सब में एक आत्मा ही पृथ्वी, अन्तरिक्ष और द्यु लोक स्थानों के भेद से तथा हविष् का वहन, जल की वर्षा और जल का आदान आदि कर्मों के भेद से पृथक् पृथक् वर्णित-सा लगता है। वस्तुतः भेद नहीं है। इसी लिए ऋग्वेद संहिता (१०।११४।५) में कहा गया है : **सुपर्णं विप्राः कवयो वचोभिरेकं सन्तं बहुधा कल्पयन्ति**। उन देवताओं के उपकरण के रूप में स्तुत अश्व आदि पदार्थ भी उस एक आत्मा के अङ्ग रूप इन देवताओं के उपकरण होने के कारण प्रत्यङ्ग ही

हैं। फलतः इस एक महान् आत्मा के अत्यन्त ऐश्वर्य-सम्पन्न होने से अश्व, ओषधि आदि चेतन तथा ऊखल, मूसल आदि अचेतन पदार्थ भी देवता हैं।

आचार्य कात्यायन भी इस विषय में यास्क से सहमत हैं। वे कहते हैं कि महान् आत्मा (परमात्मा) ही एक देवता है। वही सब पदार्थों में व्याप्त है। **एकैव वा महानात्मा देवता। स हि सर्वभूतात्मा। तद्विभूतयोऽन्या देवताः। सर्वानुक्रमणी ॥ २।१४, १६, १८ ॥**

यह एक आत्मा ही सब विकारों की प्रकृति है। अर्थात् जगत् के सारे विकार इसी में होते हैं : **प्रक्रियान्तेऽस्यां सर्वे विकाराः।** अथवा यह इस सारे जगत् को बनाता है : **प्रकुरुते वेदं सर्वम्।** अतः ऋषि लोग अश्व आदि का वर्णन करते समय वस्तुतः स्थावर-जङ्गम रूप विविध प्रकार के विकारों के रूप में विद्यमान इस एक आत्मा की ही स्तुति करते हैं। अर्थात् स्थावर, जङ्गम पदार्थों की स्तुति उन पदार्थों की स्तुति नहीं, अपितु उनकी प्रकृति परमात्मा की ही स्तुति है।

जगत् के सब नामरूपात्मक भेदों से भिन्न पदार्थों का मूल एक परमात्मा ही है। सब विभिन्न नाम उस परमात्मा के ही हैं। इस लिये उन सब नामों से जो स्तुति की जाती है, वह वस्तुतः परमात्मा की ही स्तुति है। यदि वह परमात्मा देव है तो उसी के विभिन्न नाम-रूपों वाले पदार्थ भी देवता ही हैं। अतः अश्व आदि की भी देवताओं की तरह, देवताओं के रूप में ही, स्तुति की गई है।

इससे पूर्व 'मनुष्यों तथा उनके उपकरणों की अनित्यता के आधार पर, उपकरणोपकर्तव्यताभाव की समानता से देवता तथा उनके उपकरण भी अनित्य ही होंगे,' यह जो कहा गया है, वह उचित नहीं है। क्योंकि देवताओं तथा मनुष्यों में स्वभाव-गत भेद है। मनुष्यों की देवताओं से समानता नहीं है। मनुष्यों में कार्य-कारण-भाव सम्बन्ध निश्चित होता है। अर्थात् प्रकृति से विकार उत्पन्न होता है, विकार से प्रकृति उत्पन्न नहीं होती, यह निश्चित है। पिता से पुत्र उत्पन्न होता है, उस पुत्र से पिता का जन्म नहीं होता। किन्तु देवताओं के वर्णनों में यह नियम अपनाया गया दिखलाई नहीं देता। वे परस्पर एक-दूसरे के कारण के रूप में वर्णित हैं। अग्नि के लिए कहा गया है कि वह देवताओं का पुत्र होते हुए (भी) उनका पिता है :

परि प्रजातः क्रत्वा बभूथ भुवो देवानां पिता पुत्रः सन्। ऋ. सं. १।६९।१॥

मनुष्यों में ऐसा कहीं नहीं होता कि राम रात को सोये तो सो कर उठने पर वह स्वयं को श्याम के रूप में पाये। किन्तु देवताओं में ऐसा होता है। रात को अग्नि होता है और सवेरे वही सूर्य हो जाता है :

मूर्धा भुवो भवति नक्तमग्निस्ततः सूर्यो जायते प्रातरुद्यन्।
मायामू तु यज्ञियानामेतामपो यत्तूर्णिश्चरति प्रजानन् ॥ ऋ. सं. १०।८८।६ ॥

एक मन्त्र में अग्नि को कहा गया है कि तू वरुण हो जाता है, समिधा से युक्त तू मित्र हो जाता है। दूसरे मन्त्र में कहा गया है कि वह वरुण साँझ को अग्नि हो जाता है और सवेरे उठते समय मित्र बन जाता है :

त्वमग्ने वरुणो जायसे यत्त्वं मित्रो भवसि यत्समिद्धः। ऋ. सं. ५।३।१॥

स वरुणः सायमग्निर्भवति स मित्रो भवति प्रातरुद्यन्। अ. सं. १३।३।१३॥

इतना ही नहीं, दो देवताओं को दोनों से—परस्पर—उत्पन्न बताया है :

अदितेर्दक्षो अजायत दक्षाद्वदितिः परि ।।ऋ. सं. १०।७२।४॥

अदितिर्ह्यजनिष्ट दक्ष या दुहिता तव। ५॥

इसी प्रकार एक अदिति को ही माँ, बाप, बेटा, सब देवता, यहाँ तक कि जो कुछ उत्पन्न हो चुका है, या जो उत्पन्न होगा—वह सब बताया है :

अदितिर्द्यौरदितिरन्तरिक्षमदितिर्माता स पिता स पुत्रः।
विश्वे देवा अदितिः पञ्चजना अदितिर्जातमदितिर्जनित्वम्॥ ऋ. सं. १।८९।१०।

अतः, अनित्य मनुष्यों के उपकरण जैसे अनित्य होते हैं, वैसे ही नित्य देवों के (अश्व आदि) उपकरण नित्य हैं और उन (उपकरणों) में देवताभाव भी है ही।

वास्तव में तो देवताओं के अश्व आदि उपकरण कोई बहिरङ्ग पदार्थ नहीं हैं, अपितु देवताओं के तेज आदि अन्तरङ्ग गुण ही वाहन, आयुध आदि विविध रूपों में वर्णित हैं। आचार्य शौनक का कहना है :

तेजस्त्वेवायुधं प्राहु र्वाहनं चैव यस्य यत्॥ बृहद्देवता १।७४॥

देवताओं की मनुष्यों से विलक्षणता एक और तरह से भी है। मनुष्यों का जन्म अपने समान जाति वाले पदार्थों से ही होता है। किन्तु देवताओं का जन्म तो कर्म के अनुसार होता है। एक ही माध्यमिक देव जब वृत्र आदि का हनन करके अपने ऐश्वर्य का प्रदर्शन करता है, तब तो इन्द्र कहलाता है, जब वर्षा के लिए मेघों को इधर उधर प्रेरित करता है, तब वायु कहलाता है, बादल की गरज, तूफान आदि को जब करता है, तब रुद्र और मरुत् कहलाता है (—वेदार्थदी. २।१३)। इसी प्रकार आधी रात्री के बाद जो प्रकाश सा दिखलायी देता है वह अश्विनो के रूप में आदित्य ही है (निरुक्त १२।१)। जब द्यु से अन्धकार नष्ट हो जाता है, रश्मियाँ चारों ओर फैल जाती हैं तब आदित्य ही सविता कहलाता है (निरुक्त १२।१२)।

दुर्गाचार्य के अनुसार अग्नि, वायु और सूर्य आदि देवता जगत् के कर्मों के फल की सिद्धि के लिए ही विविध रूप धारण करते हैं, इससे उनका ऐश्वर्य सिद्ध होता है

लोक पर अनुग्रह करने की दृष्टि से ये देवता परमात्मा से ही उसकी इच्छा के अनुसार उत्पन्न हो जाते हैं। इस रूप में भी देवता मनुष्यों से भिन्न हैं। देवता परमात्मा के सङ्कल्प को पूरा करने तथा कर्म के लिए यथासमय आत्मा से उत्पन्न

हो जाते हैं। जब कि मनुष्य कर्मफलभोग के लिए परतन्त्र होकर जन्म लेते हैं।

अतः निष्कर्ष यह है कि परमात्मा ही इन देवताओं का रथ है, वही इनका अश्व आदि वाहन है। तथा अन्य जो भी इनके आयुध आदि उपकरण हैं, वे सब आत्मा का ही प्रपञ्च हैं। देवता के बारे में जो कुछ बताया जाता है, वह सब आत्मा ही है।

अथवा यहां 'आत्मा' से देवता का अपना आपा अभिप्रेत हो सकता है। अर्थात् देवता ही रथ आदि विकारों के रूप में अपने आपको दर्शाते हैं। आचार्य शौनक भी कहते हैं कि जो लोकों के तीन स्वामी अलग-अलग पहले बतलाये हैं, उन देवताओं का अपना आपा ही वह सब है, जो-जो गौण वस्तु बतलायी जाती हैं। उनके तेज को ही आयुध बतलाते हैं और जिस देवता का जो वाहन है (वह भी उनका तेज ही है)।

पृथक् पुरस्ताद ये तूक्ता लोकादिपतयस्त्रयः।
तेषामात्मैव तत्सर्वं यद्-यद्भक्तिः प्रकीर्त्यते॥
तेजस्त्वेवायुधं प्राहु र्वाहनं चैव यस्य यत्॥ बृहद्देवता १।७३-७४॥

देवता तीन हैं—नैरुक्तों के इस सिद्धान्त के अनुसार अग्नि आदि देवताओं के महान् ऐश्वर्य से सम्पन्न होने के कारण एक-एक देवता के ही अनेक नाम हो जाते हैं, तथा अश्व आदि भी उनके उपभोग्य के रूप में, अपने स्थानों—पृथिवी आदि—में होने से तथा उन देवताओं से व्याप्त होने के कारण मन्त्रों में देवता के रूप में माने जाते हैं। शौनक ने कहा भी है :

सत्वान्यमूर्तान्यपि च देवतावन्महर्षयः।
तुष्टुवु ऋषयः शक्त्या तासु-तासु स्तुतिष्विह॥ बृहद्देवता १।८१॥

कात्यायन भी कहते हैं : तिस्र एव देवताः क्षित्यन्तरिक्षद्युस्थानाः अग्निर्वायुः सूर्य इति। तत्तत्स्थाना अन्यदेवतास्तद्विभूतयः। कर्म-पृथक्त्वाद्धि पृथगभिधान-स्तुतयो भवन्ति। सर्वानुक्रमणी २।८, १२, १३॥

अध्याय २२

देवताओं की सङ्ख्या और उनका आकार

देवताओं के स्वरूप को भली-भाँति समझने के लिए उनकी सङ्ख्या, वर्गीकरण, तथा उस के आधार को समझना बहुत आवश्यक है। ऋग्वेदसंहिता में देवताओं की सङ्ख्या ३३ बताई गई है :

पत्नीवतस्त्रिंशतं त्रींश्च देवाननुष्वधमा वह मादयस्व ॥ ३।६।६ ॥

इस विषय में १।४५।२, ८।३५।३ और ३६।३ भी उद्धृत किये जा सकते हैं। एक मन्त्र में यह सङ्ख्या ३३३६ बताई गई है :

त्रीणि शता त्री सहस्राण्यग्निं त्रिंशच्च देवा नव चासपर्यन् ॥ ३।६।६ ॥

इस विवरण में हमें तीन की सङ्ख्या किसी विशेष अभिप्राय से दी गई प्रतीत होती है। इस सङ्ख्या का आधार कोई तीन वस्तु हैं। ऋग्वेदसंहिता के अनुसार इस सङ्ख्या का विवरण यों है :

ये देवासो दिव्येकादश स्थ पृथिव्यामध्येकादश स्थ ।
अप्सु-क्षितो महिनैकादश स्थ ते देवासो यज्ञमिमं जुषध्वम् ॥१।१३६।११॥

अथर्ववेदसंहिता (१६।२७।११-१३) में भी यही भाव कुछ पाठान्तर के साथ वर्णित है। इस विवरण को देखते हुए यह निष्कर्ष सहज, सरल रूप से निकलता है कि देवताओं के वर्गीकरण में पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्यु को ही ऋषियों ने आधार बनाया है। अथर्ववेदसंहिता के निम्न मन्त्र इस आशय को बिल्कुल स्पष्ट रूप में पुष्ट करते हैं :

ये देवा दिविष्ठ ये पृथिव्यां ये अन्तरिक्षे ....। १।३०।३ ॥
ये देवा दिविषदो अन्तरिक्षसदश्च ये चेमे भूम्यामधि ॥१०।६।१२॥

उपर्युक्त ३३ या ३३३६ देवता नामतः तथा स्वरूपतः कौन-कौन हैं, यह संहिता साहित्य में कहीं नहीं बतलाया गया है। ब्राह्मणों में इस प्रश्न पर विचार किया गया है। शतपथ और ऐतरेय ब्राह्मणों के अनुसार ८ वसु+११ रुद्र+१२ आदित्य+१ द्यौ+१ पृथिवी=इस प्रकार कुल ३३ देवता हैं। प्रजापति ३४वां है[1]। शतपथ में ही एक स्थल (११।६।३।५) पर द्यौ और पृथिवी के स्थान पर इन्द्र और प्रजापति

१. श. ब्रा. ४।५।७।२ : अष्टौ वसव, एकादश रुद्रा, द्वादशादित्या, इमे एव द्यावापृथिवी त्रयस्त्रिंशयौ। त्रयस्त्रिंशद् वै देवाः। प्रजापतिश्चतुस्त्रिंशः।

को गिनाया गया है। इस स्थल के अनुसार कुल देवता ३३ ही हैं[1]। किन्तु इन देवताओं में ८ वसु शं न इन्द्रो वसुभि र्देवो अस्तु (ऋ. सं. ७।३५।६) के अनुसार इन्द्र के साथी हैं; अतः अन्तरिक्षस्थानी हैं। ११ रुद्र भी अन्तरिक्ष-स्थानी ही हैं। अतः अकेले अन्तरिक्ष के ही १९ देवता हुए। १२ आदित्य द्युस्थानी हैं, एव द्यौः स्वयम् इस प्रकार कुल द्युस्थानी देवता १३ हुए, जबकि पृथिवी-स्थानी केवल पृथिवी ही है। इसके विपरीत ऋग्वेद में प्रत्येक लोक के ११-११ देवता बताये हैं। अतः संहितोक्त और ब्राह्मणोक्त देवताओं की सङ्ख्या में सामञ्जस्य कर पाना फिलहाल तो कठिन है।

ऋग्वेद संहिता की ३३३९ सङ्ख्या के स्थान में शतपथ ब्राह्मण में ३३३३ ही बतलाई गई है : स होवाच—कति देवा याज्ञवल्क्येति ? त्रयश्च त्री च शता, त्रयश्च त्री च सहस्रेति। ओमिति (११।६।३।४)।

याज्ञवल्क्य ने इस सङ्ख्या का समाहार क्रमशः ३३, ३, २, १।। और १ में किया है। तीन में समाहार को पूछने पर वे कहते हैं : कतमे ते त्रयो देवा इति ? इम एव त्रयो लोकाः। एषु हीमे सर्वे देवा इति (११।६।३।१०)। इस विवरण से भी यही सिद्ध होता है कि देवताओं के वर्गीकरण का आधार तत्तद् देवता के आश्रय लोक ही थे।

ऋग्वेद संहिता में जो ३३ या ३३३९ देवता बताए हैं, उनके बारे में भी एक बात ध्यान में रखने योग्य है कि उनमें अग्नि की गिनती नहीं है। वे उनसे पृथक् ही बतलाये हैं। इसी लिए ऊपर उद्धृत ऋ. सं. ३।६।९ में अग्नि से प्रार्थना की गई है कि 'वह पत्नी समेत ३३ देवताओं को यज्ञस्थान में ले आवे'। इसी प्रकार ऋ. सं. ३।९।९ में '३३३९ देवता अग्नि की सपर्या करते हैं,' यह बतलाया है। इससे सिद्ध होता है कि अग्नि उनसे पृथक् (३४ वें या ३३४० वें) देवता हैं।

आचार्य यास्क ने भी अपनी परम्परा का पालन किया है। उन्होंने निघण्टु के पञ्चम अध्याय में समाम्नात १५१ देवतानामों को पृथिवी-स्थानीय, मध्य-स्थानीय और द्युस्थानीय इन तीन विभागों में (७।५ में) बांटा है। उनके पूर्ववर्ती नैरुक्तों के अनुसार प्रत्येक लोक का एक-एक देवता है, अतः कुल देवता तीन ही हैं। अन्य देवता इन एक-एक देवता के ही विभिन्न पक्ष (aspect) हैं।

(१) यास्क के अपने मत में एक ही देवता अपने ऐश्वर्य के कारण विभिन्न

---

१. स होवाच—महिमान एवैषामेते त्रयस्त्रिंशत्त्वेव देवा इति। कतमे ते त्रयस्त्रिंशदिति ? अष्टौ वसव, एकादश रुद्रा, द्वादशादित्याः, त एकत्रिंशत्। इन्द्रश्चैव प्रजापतिश्च त्रयस्त्रिंशाविति॥

रूपों में स्तुत है[1]। अतः एक ही देवता पृथिवी पर अग्नि के रूप में, अन्तरिक्ष में वायु या इन्द्र के रूप में और द्युलोक में आदित्य के रूप में वर्णित है। वस्तुतः (तात्त्विक दृष्टि से) कोई भेद नहीं है। इस लिए अग्नि जातवेदस्, वैश्वानर आदि के रूप में पृथ्वी पर मुख्य रूप से स्तुत अग्नि ही गौणरूप से इन ही नामों से अन्तरिक्ष और द्युलोक में इन्द्र और आदित्य के कर्मों से भी वर्णित है।

यास्क का यह सिद्धान्त वेदों में भी सुतराम् वर्णित है :

यस्य व्रते वरुणो यस्य सूर्यः ॥ ऋ. सं. १।१०१।३ ॥
पुरुष एवेदं सर्वं यद् भूतं यच्च भव्यम् ॥ १०।९०।२ ॥
सुपर्णं विप्राः कवयो वचोभिरेकं सन्तं बहुधा कल्पयन्ति ॥ १४।५ ॥
यो देवेष्वधि देव एक आसीत् ॥१२१।८ ॥
न यस्येन्द्रो वरुणो न मित्रो व्रतमर्यमा न मिनन्ति रुद्रः ॥ २।३८।९ ॥
एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति ॥ १।१६४।४६ ॥
एको ह देवो मनसि प्रविष्टः प्रथमो जातः स उ गर्भे अन्तः ॥ अ.सं.१०।८।२८ ॥

अन्य देवता एक ही देवता के बहुधा स्तुत रूपमात्र हैं[2], इस पर तीन मत हैं :

(क) **अग्नि वै सर्वा देवताः** (ऐ. ब्रा. १।१ तथा तै. ब्रा. ३।२।९।१०) के अनुसार अग्नि ही सब देवताओं में प्रधान है। अर्थात् सब देवता अग्नि की ही विभूति हैं। निम्न मन्त्रों में भी यही अभिप्राय व्यक्त है :

त्वमग्ने वरुणो जायसे यत् त्वं मित्रो भवसि यत् समिद्धः।
त्वे विश्वे सहसस्पुत्रा देवास्त्वमिन्द्रो दाशुषे मर्त्याय ॥ ऋ. सं. ५।३।१ ॥
तव श्रिया सुदृशो देव देवाः पुरू दधाना अमृतं सपन्त ॥ वहीं, ४ ॥
मूर्द्धा भुवो भवति नक्तमग्निस्ततः सूर्यो जायते प्रातरुद्यन्।
मायामू तु यज्ञियानामेतामपो यत्तूर्णिश्चरति प्रजानन् ॥ ऋ. सं. १०।८८।६ ॥

यास्क तथा शाकपूणि आचार्य इसी सिद्धान्त को मानते प्रतीत होते हैं (७।२७-२९)।

(ख) दूसरा मत है सूर्य को ही सब से प्रमुख मानने का। आचार्य शौनक इस पक्ष के धुरन्धर आचार्य हैं। उनके मत में जगत् का स्रष्टा और संहर्ता सूर्य ही है, तथा वही तीन रूपों में अपने आपको करके इन (तीन) लोकों में स्थित है :

भवद्-भूतस्य भव्यस्य जङ्गम-स्थावरस्य च।
अस्यैके सूर्यमेवैकं प्रभवं प्रलयं विदुः ॥ बृहद्देवता १।६१ ॥

---

१. द्र. निरुक्त ७।४ : माहाभाग्याद्देवताया एक आत्मा बहुधा स्तूयते। कात्यायन भी इस सिद्धान्त से सहमत हैं : एकैव महानात्मा देवता। स हि सर्वभूतात्मा। तद्विभूतयोऽन्या देवताः। (सर्वानुक्रमणी।)

२. द्र. वही ७।४ : एकस्यात्मनोऽन्ये देवाः प्रत्यङ्गानि भवन्ति।

असतश्च सतश्चैव योनिरेषा प्रजापतिः ।
यदक्षरं च वाच्यं च यथैतद् ब्रह्म शाश्वतम् ॥६२॥
कृत्वैष हि त्रिधाऽऽत्मानमेषु लोकेषु तिष्ठति ।
देवान्यथायथं सर्वान्निवेश्य स्वेषु रश्मिषु ॥६३॥

द्यौः को पिता मानने का सिद्धान्त सम्भवतः शौनक के इसी सिद्धान्त से सम्बद्ध है। द्यौः तथा आदित्य में गहरा सम्बन्ध भी है, एवम् ऋग्वेद में कई स्थलों पर द्यौः को अग्नि, पर्जन्य, मरुद्गण, इन्द्र, उषा, आदित्य का पिता बतलाया गया है[1]। यों पितृ शब्द का द्यौः के साथ योग (द्यौष्पितृ, जुपिटर् आदि के रूप में) भारोपीय काल से ही प्रचलित है[2]।

(ग) तीसरा मत है कि प्रजापति ही एक परमात्मा है। अग्नि, आदित्य, इन्द्र आदि देवता उसी से उत्पन्न हुए हैं। ऋग्वेद संहिता का हिरण्य-गर्भ-सूक्त (१०। १२१) इस सिद्धान्त के बीजरूप में उद्धृत किया जा सकता है। परवर्ती काल में यह अथर्व-वेद संहिता में स्कम्भ और व्रात्य के रूप में और ब्राह्मण ग्रन्थों में प्रजापति के रूप में पल्लवित और पुष्पित हुआ।

(२) नैरुक्तों के अनुसार जगत् के तीन ही प्रधान देवता हैं: पृथिवी पर अग्नि, अन्तरिक्ष में वायु अथवा इन्द्र और द्यु लोक में आदित्य।

सूर्यो नो दिवस्पातु वातो अन्तरिक्षात्।
अग्निर्नः पार्थिवेभ्यः॥ ऋ. सं. १०।१५८।१ ॥

इत्यादि अनेक मन्त्रों में ही इन देवताओं का पृथ्वी आदि स्थानों से विशेष सम्बन्ध वर्णित है। ब्राह्मण ग्रन्थों में भी स्पष्ट रूप से इस सम्बन्ध को कहा गया है:

प्रजापतिरकामयत प्रजायेय भूयान्स्यामिति। स तपोऽतप्यत। स तपस्तप्त्वेमांल् लोकानसृजत – पृथिवीमन्तरिक्षं दिवम्। तांल्लोकानभ्यतपत्। तेभ्योऽभितप्तेभ्यस् त्रीणि ज्योतींष्यजायन्त: अग्निरेव पृथिव्या अजायत, वायुरन्तरिक्षाद्, आदित्यो दिवः[3] (ऐ. ब्रा. ५।३२, पूना सं. पृष्ठ ६६७)। पृथिव्यसि जन्मना वशा। साऽग्निं गर्भमधत्थाः। द्यौरसि जन्मना वशा। साऽऽदित्यं गर्भमधत्थाः (मै. सं. २।१३।१४, १६३।१६, १६४।१)।

(क) जातवेदस्, द्रविणोदस्, वैश्वानर, रुद्र, मरुत्, वरुण, भग, अर्यमा, पूषा इत्यादि के रूप में इन तीनों लोकों में ही प्रत्येक में जो अग्नि, वायु अथवा इन्द्र और आदित्य से अतिरिक्त अन्य बहुत से देवताओं का वेदों में वर्णन आता है, वह तात्त्विक भेद नहीं है। अर्थात् पृथिवी स्थान के जातवेदस् आदि देवता अग्नि से वस्तुतः भिन्न

---

१. द्र. डा० सूर्यकान्त, वैदिक देवशास्त्र, पृष्ठ ४०। २. द्र. वही, पृष्ठ ४२। ३. दुर्ग ने अपनी टीका में प्रकृति सन्दर्भ का सार दे रक्खा है। उनका दिया पाठ उपलब्ध ब्राह्मणग्रन्थों में हमें तो नहीं मिल पाया है।

नहीं हैं, अपितु इन अग्नि आदियों के ही माहाभाग्य (ऐश्वर्य) का वे देवता परिणाम हैं। अर्थात् अग्नि आदि ही तत्तद् विभिन्न नामों तथा रूपों में वर्णित हैं। आचार्य शौनक ने भी कहा है :

अग्निरस्मिन्नथेन्द्रस्तु मध्यतो वायुरेव च।
सूर्यो दिवीति विज्ञेयास् तिस्र एवेह देवताः॥
एतासामेव माहात्म्यान्नामान्यत्वं विधीयते।
तत्तत्स्थानविभागेन तत्र-तत्रेह दृश्यते॥
तासामियं-विभूतिर्हि नामानि यदनेकशः॥ बृहद्देवता १।६९-७१॥

आचार्य कात्यायन भी यास्क का ही मत मानते हैं : तिस्र एव देवताः क्षित्यन्तरिक्षद्युस्थाना अग्नि, वायुः, सूर्य इति। तत्तत्स्थाना अन्यदेवतास्तद्विभूतयः (सर्वानुक्रमणी २।८, १२)।

(ख) अथवा अग्नि आदि ही कर्मभेद के कारण भिन्न-भिन्न नामों तथा गुणों से युक्त के रूप में वर्णित हैं। यज्ञ में प्राधान्य की दृष्टि से जहाँ वर्णन होता है, वहाँ पार्थिव देवता अग्नि (अग्रणीर्भवति) के नाम से वर्णित है। जातवेदस रूप कर्म का जब वर्णन किया जाता है, तब वही पार्थिव देवता जातवेदस् के नाम से वर्णित होते हैं। इसी प्रकार माध्यमिक और द्युस्थान देवता भी भिन्न-भिन कर्मों के कारण भिन्न-भिन्न नामों से वर्णित हैं[1]। कर्मभेद से नामभेद की यह प्रथा केवल देवताओं में ही है, ऐसी बात नहीं है। लोक में भी कर्म के भेद से अलग नाम पड़ जाता है। कुण्डपायियों के अयन में दीक्षित सात ऋत्विजों में से होता आदि छह ऋत्विज् ही यज्ञ में अपेक्षित सोलह ऋत्विजों के कर्म समय-समय पर करते हैं, तब उन्हें अपने प्रकृत नामों से नहीं पुकारा जाता; अपितु उस ऋत्विज् के नाम से ही पुकारा जाता है, जिसका कर्म वे उस समय निष्पन्न कर रहे होते हैं।

नैरुक्तों का देवतात्रयवाद ऐकात्म्यवाद से वस्तुतः भिन्न नहीं है; अपितु उसी सिद्धान्त की आगे व्याख्या करता है। इसलिए यास्क इन परस्पर सम्बद्ध पक्षों को बतला कर अब मीमांसकों के नानादेवतावाद के सिद्धान्त को प्रस्तुत करते हैं :

(३) मीमांसकों का कथन है कि (क) वेद में जितने भी देवता वर्णित हैं, वे सब वस्तुतः एक दूसरे से भिन्न हैं। अर्थात् अग्नि, जातवेदस्, वैश्वानर और द्रविणोदस् औत्पत्तिक रूप से ही परस्पर भिन्न हैं। इसका कारण यह है कि यज्ञ में स्तुति और देवता के नाम में नियम होता है। अर्थात् अग्नि के नाम से जो स्तुति

---

१. द्र. बृहद्देवता २।२४-७०। तथा सर्वानुक्रमणी (२।१३) : कर्मपृथक्त्वाद्धि पृथगभिधानस्तुतयो भवन्ति। तथा इस पर वेदार्थ दीपिका : वृत्रवध-समाश्रित-रक्षण-वर्षण-दहन-पवन-पचन-द्योतनादि-व्यापारभेदात् पृथङ्-नामानः, पृथक्-स्तवा, बहु-रूपाश्च ता एव तिस्रो देवता भवन्ति।

होती है, वह जातवेदस् के लिए प्रयुक्त नहीं होती। इसी प्रकार जातवेदस् के नाम से की जाने वाली स्तुति अग्नि के लिए नहीं हो सकती। यदि प्रमादवशात् स्तुति और नाम में यजमान से कभी व्यभिचार हो जाये, तो यजमान के लिये प्रायश्चित्त की व्यवस्था है,यदि नैरुक्त आचार्यों द्वारा सम्मत सिद्धान्त मान लिया जाये, तो स्तुति और नाम का नियम व्यर्थ ही हो जाता है। क्योंकि इस सिद्धान्त के अनुसार जिस किसी नाम से स्तुति करें, अन्ततः वह होगी अपने प्रधान देवता की ही। अतः पृथक्-पृथक् स्तुति व्यर्थ ही हो जायेगी। इस लिए नैरुक्तों का सिद्धान्त मान्य नहीं है।

(ख) जिस प्रकार स्तुति के भेद से स्तुत्य में भेद होता है, वैसे ही नाम के भेद से उस नाम से वाच्य देवता में भेद भी स्वाभाविक है। यदि अग्नि, जातवेदस्, द्रविणोदस् पर्याय-शब्द हैं, यह ऋषियों को अभिप्रेत होता, तो वे अलग-अलग नाम ही न रखते। न केवल स्तुतियों में, अपितु विधिवाक्यों में भी नामविशेष का नियम होता है। जैसे आग्नेयमष्टाकपालं निर्वपेत्—इस विधिवाक्य में अग्नि नाम का प्रयोग हुआ है, तो निर्वपण से ले कर कर्म की समाप्ति-पर्यन्त यही नाम चलेगा, अन्य जातवेदस् आदि नहीं।

(ग) ऊपर (२ ख में) 'कर्म के भेद से देवता के नाम भिन्न-भिन्न पड़ जाते हैं', जो कहा है, वह भी उचित नहीं है। बहुत से कर्ता जब बहुत से कर्मों को आपस में बांट कर करते हैं, तो उनके भी तो अलग-अलग नाम पड़ जाते हैं। अतः एक ही पुरुष जब बहुत-से कर्म करे, तब कर्म के अनुसार उसके बहुत से नाम पड़ते हैं, बहुतों के बहुत-से कर्मों को बांट कर करते समय बहुत से नाम नहीं पड़ते, यह कहां का नियम है ?

(घ) सबसे पहले (पृष्ठ २७७ में) जो एक ही आत्मा की बात कही है, वह भी कोई विशेष बात नहीं है। स्थान के एक होने (सस्थानैकत्व) से और कार्य के एक होने (सम्भोगैकत्व) से बहुधा एकता समझ ली जाती है; किन्तु यह एकता गौण ही होती है। सस्थानैकत्व का अर्थ है सह स्थान (एक ही स्थान पर निवास) के कारण अभिन्नता। जैसे—मनुष्य, पशु आदि परस्पर बिल्कुल विलक्षण हैं, तब भी पृथिवी पर साथ रहने के कारण पार्थिव कहलाने की दृष्टि से वे सब समान हैं। किन्तु तात्त्विक दृष्टि से तो वे भिन्न-भिन्न ही हैं। इसी प्रकार की एकता यदि अग्नि, जातवेदस् और वैश्वानर में अभिप्रेत है, अर्थात् यदि ये तीनों पृथिवी-स्थान-वासी होने से ही एक हैं, तो हमें कोई आपत्ति नहीं है। किन्तु यह एकता गौण ही होगी। उनमें औत्पत्तिक एकता नहीं होगी।

सम्भोगैकत्व का अर्थ है: एक-दूसरे को उपयोगी होना। ओषधी उपजाने में पृथिवी को पर्जन्य, वायु, इन्द्र, आदित्य के उपकार—सहयोग—की अपेक्षा है। उस (उपयोगिता) की दृष्टि से पृथिवी के लिए पर्जन्य आदि चारों समान हैं। किन्तु, इससे

वे तत्त्वतः तो एक नहीं हो जाते। आहुति का वहन करने के द्वारा अग्नि, जातवेदस् आदि भी द्यु लोक अथवा आदित्य आदि को उपयोगी होते हैं। अतः उस उपयोगिता की दृष्टि से द्यु या आदित्य को अग्नि, जातवेदस् आदि समान ही हैं। किन्तु वास्तव में तो अग्नि और जातवेदस् अलग-अलग ही रहेंगे।

(ङ) नराः और राष्ट्रम् (लोग और राष्ट्र) कहने से एक ही वस्तु का भेद भी प्रकट होता है और अभेद भी। नराः कहने से राष्ट्र में रहने वाले पशु, पक्षी, ग्राम, नगर, वन, पर्वत आदि से भिन्न नर रूप वस्तु का ही ज्ञान होता है। किन्तु राष्ट्रम् कहने से राष्ट्र में निवास करने वाली उपर्युक्त सब वस्तुओं तथा मनुष्यों (नरों) का एक साथ समानरूप से ज्ञान होता है। ठीक उसी प्रकार दार्ष्टान्तिक में पृथिवी-स्थानीय देवता कहने से अग्नि, जातवेदस् आदि सब का अभेदेन बोध होगा। किन्तु अग्नि, जातवेदस् आदि विशिष्ट रूप में कहने पर केवल तत्तद् देवताविशेष का ही। इससे सिद्ध होता है कि एक स्थान में रहने के कारण समान होते हुए भी नाम तथा अभिधेय की दृष्टि से सब देवता एक दूसरे से बिल्कुल पृथक् हैं। उनमें एकता बिल्कुल नहीं है। ये देवतात्वेन एक हैं; स्थानविशेषवासित्वेन तीन हैं; तथा व्यक्तित्व की दृष्टि से अनेक हैं, एक या तीन नहीं।

इन मतों के निष्कर्ष के रूप में हमारा यही कहना है कि देवभावना के उद्भव और विकास के इतिहास को देखते हुए नाना-देव-वाद सब से प्राचीन अवश्य है, किन्तु अन्तिम नहीं है। यह विषय वस्तुतः धर्म का अङ्ग जहां रहेगा, वहां तो नाना-देव-वाद को ही प्रश्रय मिलेगा; किन्तु दर्शन का क्षेत्र बनने पर अनेकता से एकता की ओर जाना होता है। यास्क से बहुत-बहुत पहले ही भारतीय मनीषी एकात्मवाद की सम्यक् प्रतिष्ठा कर चुके थे, यह हम पीछे देख ही चुके हैं। इसके अतिरिक्त व्यावहारिक दृष्टि से तीन स्थानों के आधार पर देवताओं के ठोस वर्गीकरण को भी हम देख चुके हैं। अतः उस विचारधारा के चरम विकास के रूप में परिणत एकात्मवाद और देवतात्रयवाद में या नानादेवतावाद में भी कहीं कोई विरोध नहीं है। अपितु ये सब वाद दृष्टि की विशालता के ही परिचायक हैं। यों, नैरुक्तों का यास्क द्वारा पल्लवित सिद्धान्त ही हमें इतिहास-सिद्ध, अधिक पुष्ट, और हृदय तथा बुद्धि—दोनों—को ग्राह्य लगता है। मीमांसकों का सिद्धान्त कर्मकाण्ड की सङ्कुचित चहार-दीवारी से बिल्कुल घिरा होने के कारण घुटा-घुटा-सा लगता है। उसमें धार्मिक दृष्टि से साधारण लोगों के लिए कालजयिता भले ही हो; किन्तु दार्शनिक दृष्टि से विचक्षण लोगों के लिए काल-जयिता नहीं है।

वैदिक मन्त्रों में ऋषियों ने विभिन्न दृष्टियों (अभिप्रायों, कामनाओं) से देवताओं की स्तुति तीन प्रकार से की है :

(१) परोक्ष रूप में, नामपदों में सब विभक्तियों का और आख्यातपदों में

प्रथम-पुरुष का प्रयोग किया गया गया है।

(२) प्रत्यक्ष रूप में, अर्थात् देवता को अपने सामने स्थित समझ कर उसे सम्बोधन करते हुए। इन स्तुतियों में देवताओं के नामपद सम्बोधन विभक्ति में प्रयुक्त होते हैं, या देवता को त्वम् (मध्यम पुरुष के) सर्वनाम से व्यक्त किया जाता है। आख्यात-पदों में नियमतः मध्यम-पुरुष का प्रयोग होता है।

इस श्रेणी के मन्त्रों में कहीं-कहीं मध्यम-पुरुष से देवताओं को सम्बोधित न कर के स्तोताओं को ही सम्बोधित किया जाता है। देवता तो परोक्षरूप में ही वर्णित रहते हैं।

(३) आध्यात्मिक रूप में, इन मन्त्रों में ऋषि अपना ही वर्णन करता है। अतः इन मन्त्रों में ऋषि और देवता एक ही होते हैं। स्तोता के नाम-पद या तो प्रयुक्त होते ही नहीं, यदि प्रयुक्त होते हैं भी, तो अहम् (उत्तम-पुरुष-वाचक सर्वनाम) का प्रयोग करते हैं। आख्यात पद में नियमतः उत्तम-पुरुष का ही प्रयोग होता है।

उपर्युक्त तीन श्रेणियों में से प्रथम और द्वितीय श्रेणी के मन्त्र अधिक हैं, एवं तृतीय श्रेणी के थोड़े ही हैं[1]।

देवताओं का आकार

उपर्युक्त विवरण से एक बात स्पष्ट है कि ऋषि देवता को अपने व्यवहार की वस्तु के रूप में देखते हैं। जगत् के अन्य व्यवहार्य वस्तुओं के समान उनका भी एक निश्चित गुण-धर्म से युक्त आकार है, जिसे वे उसी प्रकार मूर्त्त समझते हैं, जिस प्रकार अपने आसपास के सांसारिक पदार्थों को। फलतः देवताओं को भली भाँति समझने के लिए उनका आकार क्या है? तथा उस आकार-वर्णन का आधार क्या है? इन दो बातों को समझना बहुत आवश्यक है। वस्तुतः यह आकारचिन्तन मीमांसक आदि दार्शनिक आचार्यों के अभिप्राय से ही आवश्यक हो सकता है; यास्क या नैरुक्तों के अभिप्राय से उतना नहीं। क्योंकि :

(क) यास्क के ऐकात्म्यवाद की दृष्टि से तो एक ही आत्मा सृष्टि से पूर्व सन्मात्र रूप में था। उसका कोई आकार नहीं था। सृष्टि होने पर यह सारा जगत् उसका प्रपञ्च ही है, कोई वास्तविक आकार नहीं है। प्रलय अवस्था में वह इस सारे

---

१. निरुक्त ७।१ : तास्त्रिविधा ऋचः—परोक्षकृताः, प्रत्यक्षकृता, आध्यात्मिक्यश्च। तत्र परोक्षकृताः सर्वाभिर्नामविभक्तिभिर्युज्यन्ते, प्रथम-पुरुषैश्चाख्यातस्य।... अथ प्रत्यक्षकृता मध्यम-पुरुष-योगास्त्वमिति चैतेन सर्वनाम्ना।.... अथापि प्रत्यक्षकृताः स्तोतारो भवन्ति। परोक्षकृतानि स्तोतव्यानि।... अथाध्यात्मिक्य उत्तम-पुरुष-योगा अहमिति चैतेन सर्वनाम्ना।.... परोक्षकृताः, प्रत्यक्षकृताश्च मन्त्रा भूयिष्ठा, अल्पश आध्यात्मिकाः।

प्रपञ्च अथवा आकारों का समाहार अपने अन्दर ही कर लेता है। अतः उस एक महान् आत्मा की क्या आकृति है? यह प्रश्न इस सिद्धान्त में नहीं उठता।

(ख) नैरुक्तों के देवतात्रयवाद में ऋषियों द्वारा देवरूप में वर्णित अग्नि आदि प्राकृतिक पदार्थ प्रत्यक्ष ही दिखायी देते हैं। अतः उनका भीआकार जिन्हें नहीं दिखलाई देता, उन (प्रत्यक्ष को भी न देख पाने वालों) को कोई इनका आकार क्या दिखला पाएगा?

हाँ, याज्ञिकों के सिद्धान्त में अग्नि, सूर्य आदि का आकार यद्यपि स्पष्ट है, तब भी जातवेदस्, वैश्वानर, वरुण, पूषा, भग, इन्द्र आदि का आकार प्रत्यक्ष दिखलायी नहीं देता; किन्तु उनका वर्णन आकारवान् पदार्थों के रूप में ही वेदों में उपलब्ध होता है। अतः उनका कोई-न-कोई आकार अवश्य है। इसी प्रकार अग्नि आदि प्रत्यक्षदृश्य देवताओं का भी वर्णन मन्त्रों में उसी रूप में नहीं हुआ है, जिस रूप में वे दिखलाई देते हैं; अपितु विविध प्रकार के आकारों से युक्त के रूप में ही हुआ है। अतः वस्तुतः देवता आकारवान् हैं, या नहीं, यदि आकारवान् हैं, तो क्या मनुष्य की तरह का ही आकार है उनका, या कोई अन्य, यह विचार करना बहुत आवश्यक हो जाता है[1]।

स्कन्दस्वामी का कथन है कि उपर्युक्त ऐकात्म्यवाद और देवतात्रयवाद के अनुसार भी देवताओं में देवता के माहाभाग्य से या कर्मभेद के कारण भेद—गौण ही सही—वर्णित तो है। प्रकृतिरूप देवता में और विकाररूप देवता में गुणधर्म की दृष्टि से बहुत भेद भी बताया गया है। अतः उक्त दोनों पक्षों के अनुसार देवताओं का आकार क्या है, यह विचार करना बहुत उचित है[2]।

यास्क ने (७।६ में) देवताओं के आकार के बारे में चार पक्ष प्रस्तुत किये हैं:

१. **पुरुषविधाः स्युरित्येकम्**। अर्थात् देवता आकार की दृष्टि से मनुष्यों जैसे ही होते हैं। यहाँ पुरुष का अर्थ केवल पुँल्लिङ्ग मनुष्य ही नहीं है। क्यों कि तब वाक्, गौरी, उषा आदि स्त्रीलिङ्गों की व्याख्या कैसे हो सकेगी? अतः पुरुष से तात्पर्य मनुष्य-मात्र है। इस पक्ष के समर्थन में यास्क ने ये युक्तियाँ दी हैं:

(क) **चेतनावद्वद्धि स्तुतयो भवन्ति**। अर्थात् मन्त्रों में देवताओं के जो वर्णन हैं, वे उसी प्रकार के हैं, जिस प्रकार के वर्णन चेतना वाले पदार्थों के होते हैं।

यहाँ आचार्य ने चेतना शब्द का प्रयोग सामान्य चेतना अर्थ में नहीं किया है; अपितु विशिष्ट चेतना अर्थ में किया है। सामान्यतः चेतना तो पशु, पक्षी, सरीसृप, दंश, मशक, वृक्ष, तृण, क्षुप और गुल्म आदि में भी होती है[3]। किन्तु इनकी

---

१. द्र. निरुक्त ७।६ पर दुर्गाचार्य की टीका।

२. द्र. निरुक्त ७।६: इतरयोरपि विकारधर्मत्वाद् भाक्तस्य भेदस्याभ्युपगमात् प्रकृतिभूतस्य च विकारभूतस्य च देवताऽऽत्मनोऽत्यन्तपाराध्यविधमाकारचिन्तनं युक्तम्।

३. द्र. मनुस्मृति १।४२–४६।

चेतना भीतर छिपी हुई होती है। पुरुषविधत्व के विधेय होने से वही चेतना अभिप्रेत है, जो मनुष्यों में होती है। मनुष्यों में स्पष्ट चेतना होती है, उसी तरह देवता भी स्पष्ट रूप से चेतन हैं।

(ख) तथाऽभिधानानि। इन देवताओं के नाम भी पुरुषों जैसे ही होते हैं। यम-यमी सूक्त, कयाशुभीय सूक्त आदि संवादसूक्तों में इन नामों का उपयोग भी ठीक उसी प्रकार से हुआ है, जिस प्रकार मनुष्य आपसी संवादों में किया करते हैं।

(ग) अथापि पौरुषविधिकैरङ्गैः संस्तूयन्ते। जिस प्रकार पुरुषों के वर्णन में उनके हाथ, पैर आदि अङ्गों की चर्चा होती है, उसी प्रकार देवताओं का वर्णन भी पुरुषों जैसे ही हाथ, पैर, मुख आदि अङ्गों से युक्त के रूप में हुआ है। जैसे :—

ऋष्वा त इन्द्र स्थविरस्य बाहू उपस्थेयाम शरणा बृहन्ता ॥ ऋ. सं. ६।४६।८॥

इमे चिदिन्द्र रोदसी अपारे यत् सङ्गृभ्णा मघवन् काशिरित् ते ॥ऋ. सं. ३।३०।५ ॥

(घ) अथापि पौरुषविधिकैर्द्रव्यसंयोगैः। इनका वर्णन उन ही द्रव्यों—पदार्थों—अश्व, रथ, गृह, पत्नी आदि—से हुआ है, जिनसे मनुष्यों का हुआ करता है। अर्थात् देवताओं के भी वही सब उपकरण हैं, जो मनुष्यों के होते हैं। जैसे:—

आ द्वाभ्यां हरिभ्यामिन्द्र याहि ॥ ऋ. सं. २।१८।४ ॥ तथा :—

अपाः सोममस्तमिन्द्र प्रयाहि कल्याणीर्जाया सुरणं गृहे ते।

यत्रा रथस्य बृहतो निधानं विमोचनं वाजिनो दक्षिणावत् ॥ ३।५३।६ ॥

(ङ) अथापि पौरुषविधिकैः कर्मभिः। पुरुषों जैसे ही खाना, पीना, सुनना आदि कर्मों से देवताओं की स्तुति की गई है। अर्थात् देवताओं के कार्य भी वही सब हैं, जो पुरुषों के होते हैं। जैसे :—

इदं हविर्मघवन्तुभ्यं रातं प्रति सम्राळहृणानो गृभाय।

तुभ्यं सुतो मघवन्तुभ्यं पक्वोऽद्धीन्द्र पिब च प्रस्थितस्य ॥ऋ. सं. १०।११६।७॥

आश्रुत्कर्ण श्रुधी हवं नू चिद्दधिष्व मे गिरः ॥ ऋ. सं. १।१०।९ ॥

(२) अपुरुषविधाः स्युरित्यपरम् (७।७) दूसरा पक्ष है कि देवताओं का आकार मनुष्यों जैसा नहीं है। मनुष्यों की तरह वर्णन तो तत्तत् प्राकृतिक घटनाओं को ही रूपक शैली में प्रस्तुत करने के कारण है। इस मत की पुष्टि में आचार्य यास्क ने निम्नलिखित युक्तियाँ दी हैं :

(क) अपि तु यद् दृश्यतेऽपुरुषविधम्। तद्यथाऽग्निर्वायुरादित्यः पृथिवी चन्द्रमा इति। अर्थात् देवता मनुष्यों जैसे आकार वाले नहीं हैं; अपितु जो देवता जैसा दिखाई देता है, वैसा ही है। देखने में ये सब देवता मनुष्यों जैसे नहीं हैं। जैसे अग्नि, वायु, आदित्य, पृथिवी और चन्द्रमा। ये पुरुषविधि आकार वाले कथमपि नहीं हैं।

इस मत का आशय यह है कि प्रत्यक्ष प्रमाण से जब ये पुरुषविध नहीं दिखाई

देते हैं, तब इन्हें पुरुषविध किस प्रमाण के आधार पर मान लें ! अनुमान प्रमाण प्रत्यक्ष पर ही आधारित होता है; अतः जब प्रत्यक्ष में ही वे पुरुषविध नहीं हैं, तब अनुमान से पुरुषविध कैसे हो सकते हैं ? शब्द-प्रमाण प्रत्यक्ष पर अनाधारित भी हो सकता है। प्रथम मत में मन्त्रों के शब्दों के प्रमाण पर देवताओं को पुरुषविध बतलाया गया है, अतः वह मत शब्द-प्रमाण पर आधारित है। इस लिए इससे आगे प्रथम मत की पुष्टि में दी गयी एक-एक युक्ति का खण्डन प्रस्तुत किया गया है।

(ख) ऊपर (१ क में) दी गई युक्ति के विषय में उत्तर यह है कि प्रत्यक्ष में चेतना से सर्वथा रहित अक्ष, ग्रावन्, सोम, स्वधिति (छुरा, उस्तरा) आदि पदार्थ भी मन्त्रों में चेतनावान् पदार्थों की तरह ही वर्णित हैं। जैसे— **ओषधे त्रायस्वैनम्** (वा. सं. ४।१)। क्या ओषधि कोई चेतन वस्तु है, जो यजमान की इस प्रार्थना को सुन कर उसके द्वारा अभीष्ट जन की रक्षा करेगी ? इसी प्रकार छुरे के प्रति कहा गया है—**स्वधिते मैनं हिंसीः** (वा. सं. ४।१)। यदि चेतनावान् पदार्थों की तरह स्तुत ये प्रत्यक्ष में अपुरुषविध **ओषधि और स्वधिति** पुरुषविध नहीं हैं, तो प्रत्यक्ष में ही अपुरुषविध अग्नि, सूर्य, चन्द्र आदि देवता भी पुरुषविध क्यों कर हो सकते हैं ?

(ग) ऊपर (१ ग) की युक्ति का उत्तर यह है कि अचेतन ग्राव आदियों के भी पुरुषविध मुख आदि अङ्गों का वर्णन मिलता है। जैसे—

एते वदन्ति शतवत्सहस्रवदभिक्रन्दन्ति हरितेभिरासभिः।
विष्ट्वी ग्रावाणः सुकृतः सुकृत्यया होतुश्चित्पूर्वे हविरद्यमाशत ॥ऋ. सं. १०।९४।२ ॥

तो, क्या आप इन पत्थरों को भी पुरुषविध मानेंगे ? इनके भी तो पुरुषविध मुख आदि अङ्गों का वर्णन मन्त्र में किया गया है। जैसे सिल-बट्टा सिल-बट्टा है, पुरुषविध नहीं, वैसे ही अग्नि, सूर्य आदि तत्त्व अग्नि, सूर्य आदि ही हैं, पुरुषविध नहीं। जैसे सिल-बट्टे के मुख नहीं होते हुए भी वर्णित हैं, वैसे ही अग्नि आदि के भी हाथ पैर आदि पुरुषों के अङ्गों का वर्णन अवास्तविक है।

(घ) इससे अगले तर्क के बारे में यास्क का कहना है कि जिस प्रकार पत्थरों के मुख आदि अङ्ग अवास्तविक होते हुए भी वर्णित हैं, केवल चमत्कार उत्पन्न करने के लिए अचेतन एवम् अपुरुषविध पदार्थों में चेतना एवम् पुरुषविध हाथ, पैर आदि अङ्गों का आरोप ऋषियों ने किया है, उसी प्रकार आरोप को पूरा करने के लिए, देवताओं के अङ्गों की कल्पना को सार्थक करने के लिए, उनके अश्व, रथ, घर, जाया आदि विविध द्रव्यों की भी कल्पना की है। इन वर्णनों के आधार पर यह समझना कि अग्नि, सूर्य, ग्रावा आदि देवता रथ में चढते हैं, उनका घर है, बीवी है, बच्चे हैं, वैसा ही है जैसा कि निम्न लिखित ऋचाओं में सिन्धु नदी के वर्णन को यथार्थ समझना :

स्वश्वा सिन्धुः सुरथा सुवासा हिरण्ययी सुकृता वाजिनीवती।
ऊर्णावती युवतिः सीलमावत्युताधि वस्ते सुभगा मधुवृधम् ॥ १०।७५।८॥

सुखं रथं युयुजे सिन्धुरश्विनं तेन वाजं सनिषदस्मिन्नाजौ ।
महान्ह्यस्य महिमा पनस्यतेऽदब्धस्य स्व-यशसो विरप्शिनः ॥ ६ ॥

(ङ) उपर्युक्त ग्रावन्, सिन्धु आदि को मनुष्यों की ही तरह क्रमशः हविष् खाते और रथ जोड़ते जो बताया गया है, इससे, तथा उसकी यथार्थता क्या है, इससे ही अगली युक्ति (१ ङ) की निस्सारता सिद्ध हो जाती है। जिस प्रकार ये अपुरुष-विध देवता पुरुषविध के रूप में, पुरुषविध अङ्गों और द्रव्यों से युक्त के रूप में, वर्णित हैं, वैसे ही इनके कर्म भी अयथाभूत ही हैं। उनसे ये पुरुषविध सिद्ध नहीं किये जा सकते। जैसे ऊपर उद्धृत होता से पूर्व ही वे पत्थर भक्षणीय हविष् को खा जाते हैं (ऋ. सं. १०।९४।२)—यह पत्थरों का हविष् खाना क्या उसी प्रकार का खाना है, जैसे मनुष्यों का होता है? यहाँ तो सोम कूटते समय सिल-बट्टे पर जो सोमरस लग जाता है, उसे ही सिल-बट्टे का हविष् (सोमरस) को खाना बताने का अलङ्कारिक रूप दिया है।

प्रथम मत की युक्तियों के खण्डन के क्रम में आचार्य यास्क ने (१ ख) 'मनुष्यों जैसे ही नाम देवताओं के भी हैं (तथाऽभिधानानि)' युक्ति को छोड़ दिया है। सम्भवतः प्रधानमल्लनिबर्हण करने पर छोटे मल्लों से जोर-आजमाई जैसे आवश्यक नहीं होती, वैसे ही अन्य प्रबल युक्तियों का खण्डन करने पर इस साधारण सी युक्ति का खण्डन करना आवश्यक नहीं समझा है। नाम तो कुत्तों के भी शेरू, मोती, जैक आदि रख दिए जाते हैं। पर इतने से उनका मनुष्यविध होने का दावा नहीं कायम हो जाता।

(३) अपि वोभयविधाः स्युः। अथवा देवता पुरुषविध और अपुरुषविध दोनों प्रकार के हो सकते हैं। जिस प्रकार देवताओं की सङ्ख्या की चर्चा करते समय अग्नि आदि के माहाभाग्य (ऐश्वर्य) से जातवेदस् आदि विविध नाम और रूप हो जाते हैं, वैसे ही देवता अपने ऐश्वर्य से पुरुषविध और अपुरुषविध, दोनों प्रकार के, आकार धारण कर लेते हैं। अतः ग्रावन्, सिन्धु आदि भले ही अपुरुषविध हों तथा आलङ्कारिक रूप से पुरुषविध के रूप में वर्णित हों, अग्नि, सूर्य आदि कर्तुम्, अकर्तुम्, अन्यथा कर्तुम् समर्थ देवता तो देखने में अपुरुषविध होते हुए भी पुरुषविध ही होते हैं।

इस सिद्धान्त का आधार यह है कि जगत् के प्रत्येक पदार्थ की एक अधिष्ठाता शक्ति होती है। दृश्यमान रूप तो स्थूल एवं जड़ है। जिस प्रकार जड़ शरीर एवम् उसके अधिष्ठाता जीवात्मा का समन्वित नाम ही मनुष्य है, वैसे ही अधिष्ठाता चैतन्य से युक्त जड़ अग्नि आदि ही अग्नि आदि देवता के रूप में वर्णित हैं।

इन तीन मतों को दे कर अब यास्क अपना सिद्धान्तपक्ष प्रस्तुत करते हैं :

(४) अपि वा पुरुषविधानामेव सतां कर्मात्मान एते स्युः। यथा यज्ञो यज-

मानस्य। इस पङ्क्ति की व्याख्या दो प्रकार से हो सकती है :

(क) **अपि वाऽपुरुषविधानामेव सतां कर्मात्मान एते स्युः। यथा यज्ञो यजमानस्य।** अर्थात् अग्नि, आदित्य, पृथिवी आदि देवता प्रत्यक्ष रूप में तो अपुरुषविध ही हैं; किन्तु मन्त्रों में बताए तत्तत् कर्म की सिद्धि के लिए आत्मा अर्थात् स्वरूप जिनका हो जाता है, ऐसे (इस प्रकार **कर्मात्मानः**) हैं। तत्तद् देवता में ऋषि द्वारा वर्णित कर्म जिन अङ्गों और द्रव्यों से सम्पादित किया जा सके, वे-वे अङ्ग और द्रव्य उन अपुरुषविध देवताओं में कल्पित कर लिए जाते हैं।

इस पक्ष के अनुसार भी प्रत्येक वस्तु के एक तरह से दो भाग हैं। एक अधिष्ठान और दूसरा अधिष्ठाता। प्रत्यक्ष में जो दिखलाई पड़ता है, वह अंश अधिष्ठान है। अर्थात् अग्नि, सूर्य आदि दिखायी देते हुए भौतिक तत्त्व अधिष्ठान हैं। और जिसकी स्तुति होती है, वह उनका अधिष्ठाता अंश है। कर्म की सिद्धि के लिए तत्तद् अङ्गों और द्रव्यों से इस अधिष्ठाता का ही संयोग वर्णित होता है[1]।

यह व्यवहार लोक में भी होता है। यजमान यज्ञ के कर्म का अनुष्ठान स्वयं नहीं करता, अपितु दक्षिणा आदि से परिक्रीत याजक ऋत्विज् लोग ही यज्ञ की तत्तत् क्रियाएँ सम्पादित करते हैं। यजमान तो सङ्कल्प से और दक्षिणा आदि देकर ही यज्ञ की प्रत्येक क्रिया का, अधिष्ठाता होने के नाते, कर्ता बन जाता है। और वह यज्ञ यजमान का ही कहलाता है। इसी प्रकार अधिष्ठाता देवता भी ऋषि के सङ्कल्प के अनुसार विविध अङ्गों द्रव्यों और कर्मों से युक्त हो जाते हैं।

यहाँ दृष्टान्त में यज्ञ अपुरुषविध है, अतः दार्ष्टान्तिक देवता भी अपुरुषविध ही होने चाहिएँ। इसीलिए हमने निरुक्त के वाक्य में **वाऽपुरुषविधानामेव** सन्धिच्छेद किया है। यास्क ने अग्नि आदि का तत्तत् स्थानों में जो वर्णन किया है, उससे भी अपुरुषविध होते हुए ही पौरुषविध्य का आरोप कर्म की सिद्धि के लिए उन्हें इष्ट है, यही सिद्ध होता है।

(ख) दुर्गाचार्य उपर्युक्त पदच्छेद नहीं मानते, उनके अनुसार वाक्य की पदयोजना निम्न प्रकार से है : **अपि वा पुरुषविधानामेव सतां कर्मात्मान एते स्युः। यथा यज्ञो यजमानस्य।** उनके अनुसार क्षिति, जल आदि पदार्थ अपुरुषविध हैं, किन्तु उनके अधिष्ठाता देवता पुरुषविग्रहधारी हैं। अधिष्ठातव्य क्षिति, जल, पावक आदि प्रत्यक्ष प्रमाण से अपुरुषविध हैं, किन्तु उनके अधिष्ठाता देवता शब्द प्रमाण से

१. इसी आधार पर बहुत-से पण्डित चन्द्र के शरीर पर तो श्री नीलआर्मस्ट्राँग के चरण पड़ गये हैं, पर पण्डितों द्वारा नवग्रह-पूजा में वन्दित चन्द्र देवता अविजित ही है, यह मानते हैं।

पुरुषविध हैं' ।

(ग) एष च आख्यानसमयः । पुराण और इतिहास आदि शास्त्रों का भी यही सिद्धान्त है । पृथिवी प्रत्यक्ष में तथा इतिहास आदि में भी अपुरुषविध ही दिखलाई देती है, और वैसे ही बताई गई है । किन्तु पापियों का भार बढ़ने पर उस भार से मुक्ति की प्रार्थना करने के लिए स्त्री, पशु आदि के रूप धारण करती इतिहासग्रन्थ में बतलाई गई है । खाण्डव-वन को जलाना चाहते हुए अपुरुषविध अग्नि' ने ही पुरुष रूप में कृष्ण और अर्जुन से प्रार्थना की थी' ।

अध्याय २३

पृथिवी-स्थानीय देवता

वैदिक पृथिवीस्थानीय देवताओं में अग्नि प्रमुख है, मध्यस्थानीयों में वायु (अथवा इन्द्र) और द्युस्थानीय देवताओं में सूर्य : तिस्र एव देवताः । अग्निः पृथिवी-स्थानः, वायुर्वेन्द्रो वाऽन्तरिक्ष-स्थानः, सूर्यो द्युस्थानः (निरुक्त ७।५) ।

शौनक ने भी कहा है :

अग्निरस्मिन्नथेन्द्रस्तु मध्यतो वायुरेव च' ।

सूर्यो दिवीति विज्ञेयास् तिस्र एवेह देवताः ॥ बृह. १।६९ ॥

जिस देवता के लिए यज्ञकर्म में हवि का विधान है, अथवा किसी सूक्त में जिसकी स्तुति की गई है, उसी देवता को प्रधान कहते हैं । गौण रूप से जिसकी स्तुति की गई है, वह देवता प्रधान नहीं होता :

निरुप्यते हविर्यस्यै सूक्तं च भजते च या ।

सैव तत्र प्रधानं स्यान्न निपातेन या स्तुता ॥ बृह. १।७८ ॥

अग्नि पृथिवीस्थानीय देवताओं में हविर्भाक् भी है और सूक्तों में भी इसकी स्तुति की गई है । अग्नि का पृथिवी लोक, प्रातः सवन नामक कर्मविशेष, वसन्तऋतु, गायत्री छन्द, त्रिवृत्, नामक स्तोम, रथन्तर नामक साम से विशेष सम्बन्ध है ।

---

१. द्र. नि. ७।७ दुर्ग : 'अपि वा पुरुषविधानामेव सताम्' पृथिव्यादीनां 'कर्मात्मान एते स्यु'रपुरुषविधाः क्षितिजलादयः; परे तु अधिष्ठातारः पुरुषविग्रहाः । एवमुभयोः प्रत्यक्षागमयोरप्यनुग्रहः कृतो भविष्यति । २. द्र. ७।७ पर दुर्गाचार्य ।

३. 'तिस्र एव' से सिद्ध होता है कि 'च' विकल्पार्थक है, समुच्चयार्थक नहीं ।

निघण्टु के पृथिवी-स्थानीय देवताओं में समाम्नात देवगण अग्नि के साथी देवगण हैं। अग्नायी, पृथिवी और इळा ये तीन अग्नि की साथी स्त्रियां अर्थात् स्त्री देवता हैं। अग्नि के दो कर्म प्रधान हैं : १ हवि को देवताओं के पास पहुँचाना तथा २ देवताओं को यज्ञवेदि पर लाना। इसके अतिरिक्त आँख का विषय बनने वाला चमकना, दमकना, प्रकाश करना आदि जो कार्य है, वह अग्नि का ही कार्य है। अग्नि के साथ जिनकी स्तुति की गई है, वे देवता हैं : इन्द्र, सोम, वरुण, पर्जन्य और ऋतुएँ (निरुक्त ७।८)। शौनक ने (बृहद्देवता १।११७ में) मरुद्गण भी इन ही में बताये हैं।

मन्त्रों के द्वारा या तो १ देवताओं की स्तुति की जाती है, या २ देवताओं को हवि प्रदान की जाती है। स्तुति के होते हुए भी यदि देवता को आहुति देने में मन्त्र का विनियोग शास्त्र में बतलाया है, तो वह मन्त्र स्तुति-मन्त्र न कहला कर हविर्मन्त्र ही कहलाता है। समूची ऋग्वेद संहिता (दशतयी) में अग्नि और विष्णु के लिए इकट्ठे हवि देने वाले मन्त्र तो हैं; किन्तु इन दोनों की इकट्ठे केवल स्तुति करने वाला कोई मन्त्र दशों मण्डलों में नहीं है[1]। इसी प्रकार अग्नि तथा पूषा को इकट्ठे हवि देने में विनियुक्त मन्त्र हैं; किन्तु उनकी सह-स्तुति नहीं की गई है। हाँ, एक ही मन्त्र में अलग-अलग अग्नि और पूषा की स्तुति करने वाली तो निम्नलिखित ऋचा है[2] :

पूषा त्वेतश्च्यावयतु प्र विद्वाननष्टपशुर्भुवनस्य गोपाः।
स त्वैतेभ्यः परिददत् पितृभ्योऽग्निर्देवेभ्यः सुविदत्रियेभ्यः॥ १०।१७।३ ॥

इन्द्र के साथ जिनका सम्बन्ध है, वे ये चीजें हैं :

अन्तरिक्ष लोक, दुपहर को किया जाने वाला माध्यन्दिन सवन, ग्रीष्म ऋतु, त्रिष्टुप् छन्द, पञ्चदश स्तोम, बृहत् नामक साम, अन्तरिक्षस्थानीय देवताओं में समाम्नात देवगण तथा स्त्री देवताएँ। इन्द्र का कर्म है जल बरसाना, वृत्र को मारना तथा अन्य जो कुछ बल का कार्य हो, वह[3]। इसके साथ स्तुत देवता हैं : अग्नि, सोम, वरुण, पूषा, बृहस्पति, ब्रह्मणस्पति, पर्वत, कुत्स (नामक ऋषि), विष्णु और वायु। (इस वर्ग के देवताओं में) वरुण के साथ मित्र की स्तुति भी की जाती है। पूषा तथा रुद्र के साथ सोम की, वायु के साथ पूषा की, वात के साथ पर्जन्य की भी स्तुति की जाती है।

द्यु स्थान के प्रमुख देवता आदित्य से सम्बन्धित हैं : वह अर्थात् तीसरा (द्यु) लोक, सायं काल किया जाने वाला तृतीय सवन, वर्षा ऋतु, जगती नामक छन्द,

---

१. द्र. निरुक्त ७।८ : आग्नावैष्णवं हवि, र्नत्वृक्संस्तविकी दशतयीषु विद्यते। शौनक ने बृहद्देवता (१।११७) में विष्णुना चास्य संस्तवः लिखा है, जो चिन्त्य है।

२. द्र. निरुक्त ७।८ : अथाप्याग्नापौष्णं हवि, र्न तु संस्तवः। तत्रैतां विभक्त-स्तुतिमृचमुदाहरन्ति।

३. शौनक ने सब की स्तुतियों का स्वामी होना भी इसका कार्य बताया है : स्तुतेः प्रभुत्वं सर्वस्य। बृहद्देवता २।६ ॥

सप्तदश नामक स्तोम, वैरूप नामक साम और अन्तिम अर्थात् तीसरे स्थान में पठित देवगण तथा स्त्री देवताएँ। आदित्य का कर्म है जल खेंचना तथा उसे अपनी किरणों से रोके रखना। जो कुछ महत्ता[1] से सम्बन्ध रखता है, वह कार्य भी आदित्य का ही है। इसकी स्तुति चन्द्रमा, वायु तथा संवत्सर के साथ हुई है।

ऊपर दिये विवरण में यास्क ने तीन ऋतुओं, गायत्री, त्रिष्टुप् और जगती नामक तीन छन्दों, त्रिवृत्, पञ्चदश और सप्तदश नामक तीन स्तोमों, रथन्तर, बृहत् और वैरूप नामक तीन सामों का तीनों देवताओं के लिए आरोह क्रम में बँटवारा किया है। तीन ही ऋतु, तीन ही छन्द, तीन ही स्तोम तथा तीन ही साम बचते हैं। उनके बारे में यास्क कहते हैं कि उन सब का बँटवारा भी उपर्युक्त स्थानों के क्रम से ही कर ले। अर्थात् शरद ऋतु, अनुष्टुप् छन्द, एकविंश स्तोम तथा वैराज नामक साम पृथिवी स्थान तथा उसके देवता अग्नि से सम्बन्धित हैं। हेमन्त ऋतु, पङ्क्ति छन्द, त्रिणव स्तोम और शाक्वर साम अन्तरिक्ष से सम्बन्धित हैं। शिशिर ऋतु, अतिच्छन्दस्[2]

१. मूल में 'यत् किं च प्रवह्लितम्' शब्द हैं, जो अस्पष्ट हैं। दुर्ग ने इनकी व्याख्या नहीं की है। बृहद्देवता के इस प्रकरण से भी अर्थ स्पष्ट नहीं होता। पं. सीताराम जी शास्त्री ने कोई वचन उद्धृत किया है : अनभिव्यक्तिविशिष्टो वाक्यार्थः प्रवह्लितम्। मोनियर् विलियम् ने प्रहेलिका के समान (दुर्बोध) तथा रोथ् ने गूढ (रहस्यपूर्ण) अर्थ किया है। ऊपर डा. लक्ष्मणस्वरूप का किया अर्थ दिया है।

२. वैदिक छन्दों के दो वर्ग हैं। प्रथम वर्ग है : १ गायत्री, २ उष्णिक्, ३ अनुष्टुभ्, ४ बृहती, ५ पङ्क्ति, ६ त्रिष्टुप् और ७ जगती। प्रथम और तृतीय छन्द के पाद अष्टाक्षर होते हैं। गायत्री में तीन पाद होते हैं और अनुष्टुप् में चार। इन छन्दों से निबद्ध पद्यों की समन्वित अक्षर-सङ्ख्या क्रमशः २४, २८, ३२, ३६, ४०, ४४ और ४८ होती है। द्वितीय वर्ग है : १ अति-जगती, २ शक्वरी, ३ अति-शक्वरी, ४ अष्टि, ५ अत्यष्टि, ६ धृति, और ७ अतिधृति। ये छन्द अतिच्छन्दस् कहलाते हैं। इनमें जगती की अक्षर-सङ्ख्या से उत्तरोत्तर चार-चार अक्षर बढ़ते जाते हैं। अतः इन से निबद्ध पद्य की अक्षर-सङ्ख्या क्रमशः ५२, ५६, ६०, ६४, ६८, ७२ और ७६ होती है। इनके अतिरिक्त अतिच्छन्दस् का एक वर्ग और है, जो ऋग्वेदसंहिता में प्रयुक्त नहीं होने के कारण कात्यायन की ऋक्सर्वानुक्रमणी में वर्णित नहीं है : १ कृति (८० अक्षर), २ प्रकृति (८४), ३ आकृति (८८), ४ विकृति (९२) ५ सङ्कृति (९६), ६ अभिकृति (१००) और ७ उत्कृति (१०४ अक्षर)। इस विषय के लिए द्र. ऋ. प्रा. का १६ वाँ पटल, अतिच्छन्दों के लिए विशेष रूप से १६ ७९-९२। छन्दों के सामग्र्येण ज्ञान के लिए वेदाङ्गों के महनीय विद्वान् पं. युधिष्ठिर मीमांसक जी की सुन्दर कृति वैदिक छन्दोमीमांसा (प्रकाशक-रामलाल कपूर ट्रस्ट, गुरुबाजार, अमृतसर, कार्तिक २०२६ वि.) अत्यन्त उपयोगी है।

छन्द, त्रयस्त्रिंश नामक स्तोम तथा रैवत नामक साम द्यु लोक से सम्बन्धित हैं।

दैवतकाण्ड की देवतानामावली में से कुछ देवताओं की तो सूक्तों में स्तुति की गई है, कुछ को हवि प्रदान किया गया है। बहुत से देवता ऋचाओं में (ही) स्तुति को प्राप्त करने वाले हैं, तो कोई किसी अन्य देवता के साथ गौण रूप में मन्त्रों में वर्णित हैं। बहुत से देवताओं के तो गुणों के कारण पड़े नामपदों से भी (ऋत्विज्) हवि प्रदान करता है: **इन्द्रायांहोमुचे, इन्द्राय वृत्रघ्ने** (मैत्रा. सं. २।२।१०, ११)। कई निघण्टुकारों ने (अपने निघण्टुओं में) इस प्रकार के गुणपदों का भी (दैवतकाण्ड में) समाम्नान किया है। इस प्रकार समाम्नान करने से तो नामपद बहुत हो जाते हैं[1]। मैं (यास्क अपने निघण्टु में) तो देवता के उसी नाम का समाम्नान करता हूँ, जो (उस देवता के लिए) रूढ है तथा जिससे प्रधान रूप में स्तुति की गई है। ऋषि ने (अलग-अलग) कर्मों से भी देवों की स्तुति की है: **वृत्रहा, पुरन्दर**। कई निघण्टुकार उन नामपदों का भी (दैवतकाण्ड में) समाम्नान करते हैं। किन्तु इस प्रकार सङ्कलन करने से तो सङ्ख्या बहुत हो जायेगी। वस्तुतः तो वह कर्म के कारण पड़ा नामपद उस प्रमुख देवता की विशेषता को बताने वाला (विशेषण) ही है, (वह प्रमुख सञ्ज्ञापद का स्थान नहीं ले सकता)। जैसे—भूखे ब्राह्मण को भात दो, स्नान कर चुके को चन्दन आदि लेप, प्यासे को जल[2]। (यहाँ भूखा, स्नान तथा प्यासा शब्द विशेषण मात्र हैं। ये सञ्ज्ञापदों में स्थान नहीं पा सकते। अतः मैंने अपने निघण्टु में उन विशेषण पदों का सङ्कलन नहीं किया है[3]।)

---

१. तु.: नैपातिकानां नाम्नां तु प्रागुक्तं नामलक्षणैः।
सम्पन्नानां पृथक्त्वेन परिसङ्ख्या न विद्यते ॥ बृहद्दे. २।७१ ॥

२. द्र. निरुक्त ७।१३: अथोताभिधानैः संयुज्य हविश्चोदयति—इन्द्राय वृत्रघ्ने, इन्द्रायांहोमुच इति। तान्यप्येके समामनन्ति। भूयांसि तु समाम्नात्। यत्तु संविज्ञान-भूतं स्यात् प्राधान्यस्तुति, तत्समामने। अथोत कर्मभिर्ऋषिर्देवताः स्तौति—वृत्रहा पुरन्दर इति। तान्यप्येके समामनन्ति। भूयांसि तु समाम्नानात्। व्यञ्जन-मात्रं तु तत्तस्याभिधानस्य भवति; यथा—ब्राह्मणाय बुभुक्षितायौदनं देहि, स्नातायानु-लेपनम्, पिपासते पानीयमिति।

३. निरुक्त ७।१३ से उद्धृत इस अंश से यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि यास्क ने जिस निघण्टु की व्याख्या निरुक्त के रूप में की है, वह स्वयं यास्क द्वारा ही सङ्कलित है। निघण्टु यास्केतर आचार्य या आचार्यों का सङ्कलन है, इस मान्यता को हृदय में स्थान देने वाले व्याख्याताओं तथा अनुवादकों को अपने पूर्वाग्रह के कारण यह सन्दर्भ जैसे दिखाई ही नहीं दिया। दुर्ग ने इस निघण्टु को अन्य आचार्यों द्वारा सङ्कलित माना है, इसकी चर्चा हम पीछे (अध्याय ४ पृष्ठ २५) में कर चुके हैं। अब तनिक यहाँ की उनकी व्याख्या देखिये क्या कहती है:

यास्क के उपर्युक्त कथन की पुष्टि बहिरङ्ग प्रमाणों से भी होती है। शौनक ने बृहद्देवता के पहले अध्याय में अविकल क्रम से यास्कीय निघण्टुगत पृथिवी स्थानीय देवताओं को दिया है, यह हम पीछे (पृष्ठ १६ पर) कह ही चुके हैं। दूसरे अध्याय में अपने सम्प्रदाय में प्राधान्यस्तुति वाले देवताओं के निर्वचन में उन्होंने यास्कीय निघण्टु में अनुपलब्ध पवमान अग्नि का भी वर्णन किया है[1]। सौर देवताओं में अश्विनी का परिगणन वहाँ (२।६२–६६ में) आदित्य के सात नामों में किया ही नहीं गया है, जब कि यास्क उन्हें प्रथमागामी मानते हैं[2]। बृहद्देवता (२।६२–६६) में सौर देवताओं के ७ प्रमुख नामों में त्वष्टा तथा सूर्य हैं ही नहीं।

यास्क ने पृथिवीस्थानीय देवताओं में कुल ३+१३+३६=५२ नाम दिये हैं। इनमें से अग्नि पृथिवी के प्रमुख देवता का नाम है। जातवेदस् आदि तीन नाम अग्नि की, तथा परस्पर की अपेक्षा कम प्रसिद्ध हैं; अतः वे एक निश्चित क्रम में अग्नि

एके नैरुक्तास्तान्यपि गुणपदानि वृत्रहांहोमुक्प्रभृतीनि अग्न्यादौ देवतापदसमाम्नाये पृथक्पृथक् समामनन्ति। अहं तु न समामने। कस्मात्? यानि तेषु गुणपदानि वृत्रहांहोमुक्प्रभृतीनि, ततोऽन्यान्यपि भूयांसि बहुतराणि सन्त्येव। माहाभाग्याद् देवताया गुणानामियत्ता नास्तीति तेषां तु सर्वेषां समाम्नाने समाम्नायस्यापरिनिष्ठैव स्यात्। तथा च सति तेषां शास्त्रेऽसमाप्तिः; तन्ममापि मा भूदित्यतः।

यहां 'अहं तु न समामने' और 'तन्ममापि मा भूदित्यतः' की सार्थकता क्या होगी, यदि निघण्टु की रचना यास्क ने नहीं की है?

इसी पूर्वाग्रह के कारण 'तत्समामने' के स्थान पर डा. लक्ष्मणसरूप का (स्कन्दभाष्य, भाग ३, पृष्ठ ७१, पा. टि. १५ में) सुझाव है : अत्र 'समामने' इत्यस्य स्थाने 'समामनेत्' इति पाठः स्यात्। इतना ही नहीं, उन्होंने भाष्य में भी 'तत्समामनेत् =पठेदित्यर्थः', पाठ दिया है। हो सकता है यह पाठ उन्हें हस्तलेखों में ही मिला हो; किन्तु यह पाठ स्कन्द के निम्न स्पष्ट वचन से विरुद्ध है : अपीत—उत शब्दस्यार्थमनन्तरं च परेषामतिप्रसङ्गमात्मनश्च व्युदासं दर्शयितुमिदमुच्यते। यहां यदि इस क्रियापद में उत्तम पुरुष है ही नहीं तो 'परेषामतिप्रसङ्गम्, आत्मनश्च व्युदासं दर्शयितुम्' की क्या सार्थकता है? 'समामनेत्', (प्रथम पुरुष) यदि है, तो आत्मनः का इलहाम स्कन्दस्वामी को, या उनके भाष्य के प्रतिसंस्कर्ता महेश्वर को कैसे हुआ? इससे यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि यहां समामने ही है, समामनेत् नहीं; तथा इस निघण्टु के प्रणेता यास्क ही हैं, कोई एक, या एकाधिक अन्य आचार्य नहीं।

१. पुनाति यदिदं विश्वमेवाग्निः पार्थिवोऽथ च।
वैश्वानरर्षिभिस्तेन पवमान इति स्तुतः॥ २।२९॥

२. द्र. निरुक्त १२।१ : अथातो द्युस्थाना देवताः। तासामश्विनौ प्रथमागामिनौ भवतः।

के बाद जानबूझ कर दिये गये हैं। उसके बाद इध्म यद्यपि साक्षात् ऋचा में प्रयुक्त नाम नहीं है, तथा तनूनपात् आदि की अपेक्षा अग्नि के लिए कम प्रसिद्ध नाम भी है, तब भी उसे पहले इस लिए दिया है कि आप्रीसूक्तों (ऋग्वेदसंहिता १।१३ तथा १०। ११०) में उसी का मन्त्र पहले है। तनूनपात् से स्वाहाकृतयः तक का क्रम भी ऋ. सं. १।१३ के आधार पर ही है। अश्व आदि तीन पद उपर्युक्त देवताओं के बाद केवल पृथिवीस्थानीयत्वेन अग्नि से सम्बद्ध होने के कारण तथा चक्षुरादि प्रमाणों से बर्ताव करने वाले चेतन देवता होने से अचेतन अक्ष आदि से पूर्व दिये हैं। अन्त में देवताद्वन्द्व पद अलग प्रकार की श्रेणी होने से दिये हैं[1]।

ऋग्वेदसंहिता के अनुसार ही अग्नि सब देवताओं में श्रेष्ठ है : अग्निर्देवानाम-भवत्पुरोगाः (१०।११०।११)। सूक्तों की सङ्ख्या की दृष्टि से ऋग्वेद में अग्नि इन्द्र के ही बाद आते हैं—२०० सूक्तों में अग्नि की स्तुति की गई है। अनेक सूक्तों में अन्य देवताओं के साथ भी उनकी स्तुति की गई है।

अग्नि शब्द मूलतः भौतिक अग्नि (आग) का बोधक है। धर्म की भावना के साथ यज्ञ का सम्बन्ध समस्त भारोपीय जातियों में ही प्रचलित था। भारत-ईरानी युग में तो यज्ञिय कर्मकाण्ड बहुत विकसित भी हो चुका था। वैदिक आर्यों के भी

---

१. दुर्गवृत्ति ८।४ : तत्रैतद् भवति—इमान्यग्नि-जातवेदो-वैश्वानर-प्रभृतीनि किं विवक्षितक्रमाणि? उत युगपदभिधानासम्भवादर्थत एव क्रमः? इति। तत्र विवक्षितक्रमाणीति केचित्। कथमिति? १. इह तावत्स्थानानि भूर्भुवः स्वरिति पाठानुपूर्व्येव नियतानीति तत्स्थानिनामप्यग्न्यादीनां स एव क्रमो गृह्यते – स गृह्यमाणो न न्याय्य उत्स्रष्टुमिति। २. अपि च सति क्रम-प्रयोजनेऽग्निः पृथिवीस्थानो यस्मादतस्तं प्रथमं व्याख्यास्याम इति हेतु-वचनमुपपद्यते। उत्तरत्र च तासामिध्मः प्रथमागामी भवतीति, तेषामश्वः प्रथमागामी भवतीति, तेषां रथः प्रथमागामी भवतीति तत्र-तत्र प्रथमागामी भवतीति वचनं यथा-प्रधानमभिधानं पूर्वं समाम्नातमित्यस्य न्यायस्योप-प्रदर्शनार्थमिति लक्ष्यते। इतरथा ह्यविवक्षितक्रमेषु प्रथमागामिवचनमकृत्वैव यत्किंचित् पदमुपादध्यात्।

तदेतत् पृथिवी-स्थाने सर्वत्र क्रमप्रयोजनमुच्यते : पार्थिवस्य ज्योतिषो यथा-ऽग्निशब्देन प्रसिद्धतमः सम्बन्धो, न तथा जातवेदः-शब्देन; यथा जातवेदः-शब्देन, न तथा वैश्वानर-शब्देन; यथा च वैश्वानर-शब्देन, न तथा द्रविणोदः-शब्देन। तान्येतानि गुण-विप्रकर्षात्, प्रसिद्धि-विप्रकर्षाच्चाग्निशब्दाद्विप्रकृष्यन्ते। इध्मादीनां तु व्यवधा-नेनाग्न्यभिधानत्वमित्यतितरां विप्रकर्षः। अश्व-प्रभृतयस्तु स्थानमात्रमग्ने भंजन्त इति इध्म-प्रभृतिभ्योऽपि विप्रकृष्यन्ते। तेषामपि च उदित-प्राण-वृत्तयोऽश्व-शकुनि-मण्डूका इति प्रथमम्; अनुदित-प्राण-वृत्तयस्तु अक्षादयः; ते पश्चाद्द्वन्द्वेभ्यः। इत्येवं सर्वत्र क्रम-प्रयोजनमुपेक्ष्यम्।

धार्मिक जीवन का एकमात्र आधार यज्ञ ही आदिकाल से रहा है। अतः यज्ञ के सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण देवता के रूप में भौतिक अग्नि को स्थान मिलना बहुत स्वाभाविक है। क्योंकि अग्नि यजमान और देवता के बीच सम्बन्ध स्थापित करने की एकमात्र कड़ी थी। ऐसी स्थिति में अग्नि को सामान्य भौतिक तत्त्व मानते रह जाना सम्भव ही नहीं होता। फलतः भौतिक अग्नि में पहले देवत्व का आरोप हुआ, फिर देवताओं का आवाहन और उन्हें आहुतियाँ पहुँचाने का कर्म निष्पन्न करने को उसके आकार तथा अन्य रथ, अश्व आदि उपकरणों की कल्पना की गई। इन कल्पनाओं में भी भौतिक विशेषताओं को ही अधिक स्थान मिला। लपटें उसकी जिह्वाएँ बनी, धूम उसका केतु हुआ। इसी प्रकार अन्य कल्पनाएँ चलीं।

अन्य देशों में भौतिक अग्नि का देवता के रूप में आकारसङ्कल्पन उतना स्पष्ट तथा पुष्ट नहीं हो पाया था। भारत में अग्नि के भौतिक रूप, गुण, धर्म तथा कार्य देवता अग्नि में इतने स्पष्ट रूप में वर्णित हैं कि इन दोनों के बारे में किसी प्रकार का भ्रम नहीं हो पाता। वैदिक काल के बाद पौराणिक युग के अन्धकार में देवता अग्नि का भौतिक अग्नि से सम्बन्ध इतना धूमिल हो गया है कि ऋग्वेदीय अग्नि और पौराणिक अग्नि में कोई खास सामञ्जस्य नहीं हो पाता।

अग्नि : निर्वचन। यास्क ने अग्नि के पाँच निर्वचन किये हैं : तीन निज के तथा दो अन्य दो आचार्यों के नाम से। जैसे—

१. अग्रणी र्भवति। यहाँ ध्यान देने की बात यही है कि अग्र+ √नी से अग्नि यास्क को इष्ट है, यह बात नहीं है। अपितु इसमें दो अंश हैं अग् और नि। अग् उसी धातु से उसी अर्थ में है, जिससे अग्र शब्द का अग् है। अग् गत्यर्थक है—सम्भवतः लौकिक का √अज् इसी का विकसित रूप हो। अतः अग्+नी>अग्नि यास्क को इष्ट है। अग्र शब्द से अग्नि का सम्बन्ध वैदिक ऋषि को इष्ट है, यह हम 'निरुक्त-शास्त्र का उद्भव और विकास' नामक अध्याय में कह आए हैं। ब्राह्मणों में अग्नि को देवताओं का नेता (सेनानी) कहा गया है[1]। यास्क ने उसी भाव को प्रकट करने के लिए यह निर्वचन दिया है।

२. अग्रं प्रणीयते। यज्ञ में सब से पहले जिसका प्रणयन किया जाता है। यहाँ भी यास्क अग्र+ √नी से ही अग्नि मानते हैं, परन्तु भाव तथा कारक का अन्तर है।

३. अङ्गं नयति सन्नममानः। (पदार्थ पर) झुकता हुआ यह उसे अपना अङ्ग बना लेता है। अतः अङ्ग+ √नी>अग्नि। ये ही निर्वचन शौनक ने दिये हैं :

जातो यदग्रे भूतानामग्रणीरध्वरे च यत्।
नाम्ना सन्नयते वाङ्गं स्तुतोऽग्निरिति सूरिभिः॥ बृहद्देवता २।२४॥

---

१. श. ब्रा. ५।३।१।१ : अग्निर्वै देवतानामनीकं, सेनाया वै सेनानीरनीकम्। तस्मादग्नयेऽनीकवते।....

४. आचार्य स्थौलाष्ठीवि का मत है कि सब कुछ को स्नेह रहित बना देता है; अतः अक्नोपन होने से अग्नि अ (<न) √क्नु से निरुक्त है। यहाँ भी अग्नि के एक विशिष्ट व्यापार (सुखाना) को ही ध्यान में रखा गया है।

५. आचार्य शाकपूणि मानते हैं कि अग्नि शब्द एकाध आख्यात से नहीं, बल्कि तीन-तीन आख्यातों से बना है। अग्नि के अ+ग्+नि—इन तीन अवयवों में से प्रत्येक अवयव अपने अन्दर एक-एक आख्यात के अर्थ को छुपाये हुए है : अ √इ (गति) का विकार है, ग् √अञ्ज् (प्रकाशित करना) का अथवा √दह् (जलाना) का विकार है और नि √नी (ले जाना) का ह्रस्व रूप है। शाकपूणि ने ऐसा निर्वचन आग में एक साथ तीन कार्य देख कर किया है : यह गतिशील है (√इ जाना), प्रकाशशील (√अञ्ज् व्यक्त करना) या दहनशील है (√दह जलाना), तथा हविष् देवताओं तक ले जाता है (√नी ले जाना)।

भारोपीय भाषाओं में यह लैटिन् में इग्नि-स्, स्लाव् में ओग्नि है। अतः डा. सिद्धेश्वर जी ने (पृष्ठ ९४ में) एग्नि को इसका भारोपीय रूप माना है। अंग्रेजी में √इग्नाइट् इसी का नामधातु है। ऋग्वेदसंहिता का प्रारम्भ ही अग्नि के वर्णन से हुआ है :

अग्निमीळे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम्। होतारं रत्नधातमम् ॥ १।१।१ ॥

यास्क का कथन है कि यह तो हमने प्रधान अग्नि की बात कही है। अन्यथा यह नहीं समझना चाहिए कि अग्नि केवल पार्थिव ही है। पृथिवी से ऊपर के दोनों ज्योति भी अग्नि कहलाते हैं। जैसे निम्नलिखित मन्त्र में मध्यम अर्थात् वैद्युत ज्योति अग्नि नाम से वर्णित हैं :

अभि प्रवन्त समनेव योषा कल्याण्यः स्मयमानासो अग्निम्।
घृतस्य धाराः समिधो नसन्त ता जुषाणो हर्यति जातवेदाः ॥ ऋ. सं. ४।५८।८ ॥

यहाँ घृत उदक का पर्याय है। क्योंकि अग्नि में तो घृत की एक ही धार एक बार पड़ती है। यहाँ कई धारें इकट्ठे पड़तीं बताई हैं, जो जल की धारों के रूप में मध्यम देवता के साथ सङ्गत हो सकतीं हैं। अतः यहाँ अग्नि शब्द प्रधान (पार्थिव अग्नि) के अर्थ में नहीं है, अपितु मध्यम (वैद्युत ज्योति) के अर्थ में है। निम्न ऋचा में आदित्य को वर्णित माना है :

समुद्रादूर्मिर्मधुमाँ उदारदुपांशुना सममृतत्वमानट्।
घृतस्य नाम गुह्यं यदस्ति जिह्वा देवानाममृतस्य नाभिः ॥ ४।५८।१ ॥

इस सूक्त के देवता के विषय में प्राचीन काल में ही मतभेद हो गया था। शौनक ने (बृहद्देवता ५।१०-११ में) इस पर ७ मत दिये हैं : १ कुछ लोग इसे मध्यम देवता की स्तुति में मानते हैं। २ ब्राह्मण (कौषीतकि २५।१।९) में इस का देवता आदित्य माना है। ३ कोई अग्नि की स्तुति में, ४ कोई जल की, ५ कोई घृत

की, ६ कोई गो की, तो ७ कोई सूर्य की स्तुति में मानते हैं[1]।

इस सूक्त में अग्नि शब्द का प्रयोग केवल एक बार ऊपर उद्धृत आठवें (अभि प्रवन्त समनेव—इत्यादि)—मन्त्र में हुआ है। प्रकृत मन्त्र में अग्नि शब्द नहीं है। तब यास्क ने अग्नि उत्तम ज्योति के रूप में भी माना जाता है—कैसे कहा? इसके उत्तर में दुर्गाचार्य का कथन है कि किसी दूसरी शाखा में यहाँ इमं स्तनम्[2]—इत्यादि एक ऋचा है। उस में अपां अपीनमग्ने—में अग्नि का लिङ्ग है। अतः यास्क ने उस शाखा के पाठ के अभिप्राय से यहाँ 'अग्नि को आदित्य मानते हैं', कहा है।

इतना ही नहीं, ब्राह्मण तो यहाँ तक कहते हैं कि अग्नि सब देवता है[3]। निम्नलिखित ऋचा इसकी पुष्टि करती है :

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्।
एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः॥ १।१६४।४६॥

अतः प्रमुख रूप से पार्थिव होते हुए भी अग्नि मध्यम और उत्तम ज्योति ही नहीं, अपितु सब देवताओं के रूप में भी वर्णित है। कहाँ पार्थिव है, कहाँ अन्य है, इसका विवेक करने का प्रकार यही है कि जो अग्नि देवता समूचे सूक्त में वर्णित है, या जिसके लिए हवि का निरूपण 'यह अग्नि के लिए है' कह कर किया जाता है, वह यह पार्थिव अग्नि ही है। उत्तर ज्योति आदि के लिए अग्नि शब्द का प्रयोग गौण रूप में ही हुआ है।

अग्नि जहाँ भौतिक अग्नि के देवताकरण की पद्धति में प्रमुख नाम है, वहीं ऋषियों द्वारा कल्पित भौतिक अग्नि के गुणवाचक नामों में जातवेदस् नाम प्रमुख है।

---

१. ………… समुद्रादित्यग्नेर्मध्यमस्य॥ ५।१०॥
आदित्यं वा ब्राह्मणोक्तं प्रदिष्टमाग्नेयं वाऽप्याज्यसूक्तं* हि दृष्टम्।
अपां स्तुतिं वा यदि वा घृतस्तुतिं गव्यमेके सौर्यमेतद्वदन्ति॥ ११॥
तथा ऋक्सर्वानुक्रमणी : समुद्राद् आग्नेयम्….,सौर्यं वाऽऽपं वा, गव्यं वा, घृतस्तुतिर्वा।
* ऐ. ब्रा. ५।१६ (पूना सं. पृ. ६०१) में इस सूक्त में कोई भी देवता स्पष्ट न होने के कारण इस सूक्त को आज्य-शस्त्र बतलाया है। अतः कर्म के लिङ्ग से इस के देवता अग्नि हैं।

२. वा. सं. (१७.८७) और काठ. सं. (४०।६) में पूरा मन्त्र यों मिलता है :
इमं स्तनमूर्जस्वन्तं धयापां *अपीनमग्ने सरिरस्य मध्ये।
उत्सं जुषस्व मधुमन्तमर्वन्* समुद्रियं सदनमाविशस्व॥
* तै. सं. (५।५।१०।६) में क्रमशः 'अप्यातम' और 'ऊर्व' पाठ है। दुर्ग द्वारा उद्धृत 'अपीतम' पाठ मानव श्रौतसूत्र (६।२।६) में पाठान्तर के रूप में मिलता है।

३. द्र. अग्निर्वै सर्वा देवताः (ऐ.ब्रा. १।१), अग्निः स० (तै.ब्रा. ३।२।६।१०)।

शौनक जातवेदस् को मध्यस्थानीय देवता मानते हैं[1]। किन्तु यास्क इसे प्रमुख रूप से तो पार्थिव ही मानते हैं, पर गौण रूप से अग्नि की तरह इसका प्रयोग भी मध्यम और उत्तम ज्योतियों के रूप में होता मानते हैं। इस विषय में भी, अग्नि की तरह ही, प्रमुखता या गौणता का निर्णायक तथ्य सूक्त में स्तुति किया जाना तथा हवि का भागी होना, या न होना ही है। निम्न दो ऋचाएँ जातवेदस् के पार्थिव देवत्व का उदाहरण हैं :

जातवेदसे सुनवाम सोममरातीयतो निदहाति वेदः।
स नः पर्षदति दुर्गाणि विश्वा नावेव सिन्धुं दुरितात्यग्निः॥ १।९९।१॥
प्र नूनं जातवेदसमश्वं हिनोत वाजिनम्।
इदं नो बर्हिरासदे॥ १०।१८८।१॥
या रुचो जातवेदसो देवत्रा हव्यवाहनीः। ताभिर्नो यज्ञमिन्वतु॥ ३॥

यास्क का कथन है कि दश मण्डलों वाली ऋग्वेद संहिता में गायत्री छन्द में निबद्ध, तीन ऋचाओं से युक्त यह (१०।१८८) एक ही जातवेदस् अग्नि का सूक्त है। यज्ञ में गायत्री छन्द में निबद्ध, अग्नि देवता वाले सूक्त ही जातवेदस् अग्नि के स्थान में प्रयुक्त होते हैं। यज्ञ में चूंकि किसी एक देवता के स्थान पर दूसरे देवता के मन्त्र का विनियोग नियमविरुद्ध है, और गायत्री छन्द में निबद्ध आग्नेय मन्त्रों का विनियोग जातवेदस् के लिए अपेक्षित विधियों में होता है। इससे सिद्ध होता है कि अग्नि और जातवेदस् वस्तुतः पृथक् देवता नहीं हैं, अपि तु एक ही हैं। इस प्रकार वैदिक कर्मविधान के प्रमाण से भी दोनों देवता नाम मात्र से भिन्न हैं, वस्तुतः तो एक ही सिद्ध होते हैं।

अग्नि के नैपातिक प्रयोग के प्रसङ्ग में उद्धृत अभि प्रवन्त० (ऋ. सं. ४।५८।८) आदि मन्त्र में अग्नि के साथ जातवेदाः पद भी प्रयुक्त है। घृत की धारों से वहाँ जल की धाराएँ अभिप्रेत हैं। इस प्रकार यह मन्त्र जिस देवता की स्तुति करता है, वह वर्षकर्म से सम्बद्ध है। फलतः अग्नि और जातवेदाः दोनों पद इसमें मध्यम ज्योतिष् के लिए प्रयुक्त हुए हैं।

उदु त्यं जातवेदसं देवं वहन्ति केतवः।
दृशे विश्वाय सूर्यम्॥ ऋ. सं. १।५०।१॥

उपर्युक्त मन्त्र में स्पष्ट ही जातवेदसम् पद सूर्यम् के विशेषण के रूप में आया है। अतः यह जातवेदस् का नैपातिक (सूर्य-परक) प्रयोग है।

जातवेदस् : निर्वचन यास्क ने इस पद के भी पाँच निर्वचन किये हैं :

१. जातानि वेद। अग्नि सब उत्पत्तिशील द्रव्यों को जानता है। अर्थात्

---

१. जातवेदस्यमित्युक्ते सूक्तेऽस्मिन्मध्यमः स्मृतः॥ बृह. १।९९॥
तेनैव मध्यमागेन्द्रो जातवेदा इति स्तुतः॥ बृह. २।३१॥

जातवेदस् अग्नि। की सर्वज्ञता को बतलाता है।

२. जातानि वा एनं विदुः। आख्यात आदि तो पूर्ववत् ही हैं, व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ में कारक का अन्तर है। जिसे सब उत्पत्तिशील द्रव्य जानते हैं।

इन दोनों व्युत्पत्तियों में √विद् (जानना) धातु है।

३. जाते-जाते विद्यत इति वा। अथवा जो प्रत्येक जात अर्थात् उत्पत्तिशील द्रव्य में विद्यमान है। जात + √विद् (सत्तार्थक) से निष्पन्न है।

४. जातवित्तो वा। इसमें वित्त की यास्क ने तीन व्याख्याएँ की हैं :

(अ) लाभार्थक √विद् से निष्पन्न वित्त का अर्थ होता है धन-सम्पत्ति। सब उत्पत्तिशील द्रव्य इस अग्नि का धन हैं, यह उनका स्वामी है।

(आ) जातविद्यो वा। वित्त √विद् (जानना) से निष्पन्न है। अर्थ पूर्ववत् हैं।

(इ) जातप्रज्ञानो वा। यह सम्भवतः जातविद्यः की ही व्याख्या है। वस्तुतः जातवित्तः कह कर यास्क ने वेदस् के दो अर्थों की ओर सङ्केत किया है। निघण्टु (२।१०।४) और निरुक्त (६।३२) में धन अर्थ में वेदस् दिया है ही, विद्या अथवा ज्ञान अर्थ भी उचित है।

५. 'उसने उत्पन्न होने के साथ ही पशुओं (प्राणियों) को जो प्राप्त किया, (उससे वह जात + वेदस् कहलाया), यही जातवेदस् का जातवेदस्पना है', यह ब्राह्मण है। इसमें जात + √विद् (लाभार्थक) से जातवेदस् माना है। 'चूँकि जन्मते ही अग्नि ने पशुओं को प्राप्त किया, इस लिए सभी ऋतुओं में पशु (प्राणी) अग्नि के समीप जाते हैं,'[२] यह भी कहा है।

वस्तुतः तो अग्नि को देख कर सब पशु बिदकते हैं। अतः उपर्युक्त वाक्य का आशय ठीक समझ नहीं पड़ता। हाँ, यदि पशु का अर्थ जानवर न लेकर मनुष्य (विशेष

---

१. द्र. मै. सं. १।८।२। यहाँ 'यत्' के बाद 'तत्' नहीं है। श. ब्रा. (प्राणो वा अग्निः। तमेतद् बिभर्ति। अथ ह वै रेतः सिक्तं प्राणोऽन्ववरोहति, तद् विन्दते। तद् यज्जातं-जातं विन्दन्ते, तस्माज्जातवेदाः ॥ ९।५।१।६८ ॥), ऐ. ब्रा. (प्राणो वै जातवेदाः। स हि जातानां वेद, यावतां वै स जातानां वेद, ते भवन्ति। येषामु न वेद, किमु ते स्युः ॥ २।३९, पूना सं. पृष्ठ २७८-२७९ ॥) में जातवेदस् की वैज्ञानिक व्याख्या की गई है।

२. द्र मै. सं. १।८।२। ऐ. ब्रा. (प्रजापतिः प्रजा असृजत। ताः सृष्टाः पराच्य एवायन्; न व्यावर्तन्त। ता अग्निना पर्यगच्छत्। ता अग्निमुपावर्तन्त। तमेवाद्याप्युपावृत्ताः। सोऽब्रवीद्—जाता वै प्रजा अनेनाविदमिति। यदब्रवीज्जाता वै प्रजा अनेनाविदमिति, तज्जातवेदस्यमभवत्। तज्जातवेदसो जातवेदस्त्वम् इति ॥ ३।३६, पूना सं. पृष्ठ ३८३ ॥) में इसी से मिलती-जुलती बात कही गई है।

दर्शन अर्थात् ऐन्द्रियिक अनुभूतियों से युक्त) अर्थ लिया जाय तो वाक्य का अर्थ सङ्गत हो जाता है। शौनक ने जातवेदस् के प्रायः यही निर्वचन इन्द्र के पक्ष में किये हैं :

> भूतानि वेद यज्जातो जातवेदाश्च कथ्यते ।
> यच्चैव जातविद्योऽभूद् वित्तं जातोऽधिवेत्ति वा ॥
> विद्यते सर्वभूतैर्हि यद्वा जातः पुनः पुनः ।
> तेनैव मध्यमागेन्द्रो जातवेदा इति स्तुतः ॥ बृ० २।३०–३१ ॥

वैश्वानर देवता के विशेष गुण को बताने वाला नाम है। ऋग्वेद संहिता में यह नाम ६१ बार प्रयुक्त हुआ है तथा दो अपवादों (ऋ. सं. १०।८८।१२ और १३ ?) को छोड़ कर इसका प्रयोग सर्वत्र पार्थिव अग्नि के लिए हुआ है। पाँच मन्त्रों को छोड़ कर इस के सारे ही प्रयोग १४ सूक्तों में मिलते हैं[1]। यास्क ने इसके तीन निर्वचन दिये हैं :

१. **विश्वान् नरान् नयति**। यह देवता सब लोगों को इस लोक से उस लोक में ले जाता है[2]। अतः **विश्व+नर** से **वैश्वानर** है।

२. **विश्व एनं नरा नयन्तीति वा**। सब लोग इसे (काम में) लाते हैं। पहली और इस निरुक्ति में केवल कारक का अन्तर है, निर्वचन तो दोनों में एक ही है : **विश्व+नर=वैश्वानर**।

३. **अपि वा विश्वानर एव स्यात्, प्रत्यृतः सर्वाणि भूतानि, तस्य वैश्वानरः**। **विश्वान्+अर** से **विश्वानर** है; क्योंकि यह सब भूतों में व्याप्त है। और उस (**विश्वानर**) का **वैश्वानर** (अर्थात् स्वार्थ में प्रत्यय से **विश्वानर=वैश्वानर**) है। दुर्गाचार्य ने **विश्वानर** का अपत्य अर्थ किया है।

पद-पाठ में **विश्वानर** तथा **वैश्वानर**—दोनों पदों—में अवग्रहण नहीं किया गया है; जब कि **विश्वावसु** आदि अन्य इस प्रकार के पदों में अवग्रहण किया गया है। इससे प्रतीत होता है कि या तो पद-पाठकार इसे असमस्त पद मानते हैं। (जैसे तृतीय निर्वचन में दिखलाया है), या शाकल्य को यह पद दुरूह लगा, इस लिए उन्होंने इसे छोड़ दिया है। पाणिनि ने **विश्वानर** को **विश्व+नर** से निष्पन्न माना है[3]। किन्तु इस व्युत्पत्ति को मानने से अवग्रहण न किये जाने की कोई गुञ्जायश नहीं रहती। अतः यह व्याख्या मानना तब तक असम्भव है, जब तक कि आचार्य शाकल्य को इस सीधी सी बात से अनजान न माना जाये। श्री सिद्धेश्वर जी ने

---

१. द्र. वैदिक देवशास्त्र; पृष्ठ २५७।

२. पञ्चाग्निविद्या के हवाले से दुर्गाचार्य ने इसका अर्थ यों भी किया है: उसके होने पर मनुष्यों के सब व्यापार सफल हो जाते हैं। इसलिए हेतु भूत कर्ता हो कर सब व्यापारों (प्रवृत्तियों) में यही सब लोगों को लगाता है। अतः वैश्वानर है।

३. द्र. अष्टाध्यायी ६।३।१२९ : नरे सञ्ज्ञायाम्।

शाकल्य को इस व्याख्या से अनभिज्ञ ही माना है[1]।

वैश्वानर के भौतिक स्वरूप पर विद्वानों में मतभेद हैं। निम्न मन्त्र में वृत्रहणम् पद और वृष्टि, शम्बरभेदन आदि माध्यमिक देवताओं के कार्यों के प्रसङ्ग में वैश्वानर और अग्नि शब्द फँसे हुए हैं। अतः इन पदों से तथा कर्म के लिङ्ग से सिद्ध होता है कि वैश्वानर अग्नि माध्यमिक ही है :

प्र नू महित्वं वृषभस्य वोचं यं पूरवो वृत्रहणं सचन्ते ।
वैश्वानरो दस्युमग्निर्जघन्वानधूनोत्काष्ठा अव शम्बरं भेत् ॥ ऋ. सं. १।५९।६ ॥

प्राचीन मीमांसकों का मत है कि आदित्य ही वैश्वानर है[2] :

(क) जिस प्रकार भूमि से ऊपर अन्तरिक्ष और उससे ऊपर द्यु लोक हैं, उसी प्रकार प्रातः सवन से ऊपर (बाद) मध्याह्न (माध्यन्दिन) सवन है एवम् उससे ऊपर तृतीय सवन (सायाह्न सवन) है। यह लोकों तथा सवनों का रोह का क्रम है। रोह के क्रम से उलटा प्रत्यवरोह का क्रम है[3]। अतः लोकों तथा सवनों में एक समानता है और यह समानता देवताओं के विषय में भी है। अर्थात् पृथिवी लोक का देवता अग्नि है, तो प्रातःसवन का भी अग्नि ही देवता है। इसी प्रकार अन्तरिक्ष लोक का इन्द्र है, तो माध्यन्दिन सवन का भी देवता इन्द्र ही है। एवम् द्युलोक का आदित्य है, तो तृतीय सवन का भी आदित्य ही है। आग्निमारुत शस्त्र में अवरोहक्रम में वैश्वानर देवता के सूक्त से तृतीय सवन करने का विधान है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि उस सूक्त में वैश्वानर आदित्य ही है।

(ख) आदित्य के बारह मास ही बारह प्रकार के कर्म हैं। इसी लिए याज्ञिक

---

१. द्र. दी एटिमो. आफ् यास्क, पृ. १७३ : **Perhaps the 'agnostic' attitude of the PP could be read in its non-analysis of the word,**

२. आचार्य शौनक भी वैश्वानर को द्युस्थान देवता मानते हैं। बृहद्देवता (२।११) में उन्होने वैश्वानर को सूर्य के आश्रय में स्थित देवताओं में गिनाया है। २।१६–१७ भी देखें।

बृहद्देवता १।१०० में तो उन्होंने बिल्कुल स्पष्ट ही कहा है :

वैश्वानरीयमिति तु यत्र ब्रूमोऽथवा क्वचित् ।
सूर्यः सूक्तस्य भाक्तत्र ज्ञेयो वैश्वानरस्तुतौ ॥

परमयाज्ञिक महाशाल का यह सिद्धान्त याज्ञिक-परम्परा के अनुकूल ही है।

३. तु : एतेषामेव लोकानां त्रयाणामध्वरेऽध्वरे ॥१०१॥

रोहात्प्रत्यवरोहेण चिकीर्षन्नाग्निमारुतम् ।
शस्त्रं वैश्वानरीयेण सूक्तेन प्रतिपद्यते ॥१०२॥

ततस्तु मध्यमस्थाना देवतास्त्वनुशंसति ।
रुद्रं च मरुतश्चैव स्तोत्रियेऽग्निमिमं पुनः ॥१०३॥

लोगों में आदित्य के निमित्त बनाया जाने वाले पुरोडाश को बारह कपालों (मिट्टी के तवों) पर बनाने का विधान है। वैश्वानर के निमित्त जो पुरोडाश है, वह भी द्वादश-कपाल ही है[1]। अतः कपालों की सङ्ख्या की समानता से भी सिद्ध होता है कि वैश्वानर आदित्य ही है।

(ग) **असौ वाऽऽदित्योऽग्निर्वैश्वानरः** (मै. सं. २।१।२)—इस वाक्य में भी वैश्वानर अग्नि और आदित्य को एक ही बताया है।

(घ) **आ यो द्यां भात्या पृथिवीम्** (शाङ्खायन श्रौतसूत्र ८।२२।१)—इस निवित्[2] के देवता सूर्य और वैश्वानर बतलाये जाते हैं। उत्तम अग्नि अर्थात् आदित्य ही द्यु तथा पृथिवी लोक को प्रकाशित करते हैं। अतः वैश्वानर आदित्य ही है।

(ङ) छान्दोमिक सूक्त भी सूर्य और वैश्वानर देवता का है। उसके मन्त्र **(दिवि पृष्टो अरोचत[3])** में स्पष्ट ही वैश्वानर अग्नि को द्युलोक में प्रकाशित होता बताया है। द्यु लोक में प्रकाशित होने का कार्य आदित्य का है। अतः इसमें अभिप्रेत वैश्वानर अग्नि पार्थिव नहीं है।

(च) हविष्पान्त शब्द से प्रारम्भ हुआ हविष्पान्तमजरं स्वर्विदि (ऋ. सं. १०। ८८।१)—इत्यादि (हविष्पान्तीय) सूक्त सूर्य और वैश्वानर की स्तुति में है। इसमें वैश्वानर से आदित्य को ही लिया गया है, यह निम्न ऋचाओं से स्पष्ट होता है :—

विश्वस्मा अग्निं भुवनाय देवा वैश्वानरं केतुमह्नामकृण्वन् ।
आ यस्ततानोषसो विभातीरपो ऊर्णोति तमो अर्चिषा यन् ॥ १२ ॥
वैश्वानरं विश्वहा दीदिवांसं मन्त्रैरग्निं कविमच्छा वदामः ।
यो महिम्ना परिबभूवोर्वी उतावस्तादुत देवः परस्तात् ॥ १४ ॥

वैश्वानर पार्थिव अग्नि है।

शाकपूणि आचार्य का मत है कि पार्थिव अग्नि ही वैश्वानर है। यह विश्वानर नामक ज्योतियों से उत्पन्न होता है; अतः वैश्वानर कहलाता है। अन्तरिक्ष में स्थित

---

१. द्र. मै. सं. २।१।२ : अग्नये वैश्वानराय द्वादश-कपालं निर्वपेत् ।

२. ऋतुयाजों तथा प्रातः सवन आदि कर्मों में सोमपान के लिए देवताओं का आह्वान करते समय बोले जाने वाले पद-समूह निवित् कहलाते हैं। जैसे ऐ. ब्रा. २।३४ और ३।६ में १ अग्निर्देवेद्ध, २ अग्निर्मन्विद्ध, ३ अग्निः सुषमित्, ४ होता देवधृतः, ५ होता मनुवृतः, ६ प्रणीर्यज्ञानाम्, ७ रथीरध्वराणाम्, ८ अतूर्तो होता, ९ तूर्णि हव्यवाट्, १० आ देवो देवान्वक्षत्, ११ यक्षदग्निर्देवो देवान्, १२ सो अध्वरा करति जातवेदाः। —ये पद समूह निवित् बतलाये हैं।

३. यह किसी मन्त्र का प्रथम पाद है, जो वा. सं. ३३।९२; कौषीतकि ब्रा. २६।१७; आश्व. श्रौ. सू. ८।१०।३ और शाङ्खा. श्रौ. सू. १०।११।६ में उपलब्ध है।

वैद्युत-ज्योति तथा द्यु लोक में स्थित आदित्य-ज्योति, ये—दोनों—विश्वानर हैं। यह पार्थिव अग्नि इन दोनों से ही उत्पन्न होता है :

१. वैद्युत ज्योति बिजली है। उसका जो आश्रय है, अर्थात् बिजली जिस पदार्थ में स्थित हो सकती है, वह बिजली का वाहक (गुड कंडक्टर) शरण कहलाता है। बिजली अपने वाहक से टकराती है, अर्थात् उसका स्पर्श करती है। वह जब तक शार्ट सर्किट आदि या गाट आदि से पार्थिव अग्नि के रूप में ग्रहण नहीं कर ली जाती[1], अर्थात् पार्थिव अग्नि के रूप में जब तक नहीं बदल जाती, तब तक अन्तरिक्ष-स्थानी (माध्यमिक) ज्योति अर्थात् बिजली ही बनी रहती है। उस समय तक वह जल से दीप्त होती है; अर्थात् पानी पड़ने पर चिन्गारी छोड़ती है तथा अपने शरीर (बिजली जिसमें शीर्ण हो जाती है, अर्थात् जिसे अपना आश्रय नहीं बना पाती, वह कुचालक बॅड कन्डक्टर लकडी आदि[2]) में शान्त हो जाती है। जब उस वैद्युत अग्नि को पार्थिव के रूप में पकड़ लिया जाता है, तब यह बिल्कुल पार्थिव के रूप में बदल जाती है तथा जल से बुझती है और शरीर (बिजली के कुचालक) में प्रज्वलित हो उठती है। इस प्रकार यह पार्थिव अग्नि बिजली से उत्पन्न होती है।

२. इसी प्रकार आदित्य से भी पार्थिव अग्नि उत्पन्न होती है। जब सूर्य उत्तरायण होता है, अर्थात् सूर्य खूब प्रखर होता है, तब कांसे या आतशी शीशे को मांज-साफ करके उसे सूर्य की किरणों की सीध में सूखे गोबर यानी उपले को उससे न छुलाते हुए अर्थात् कुछ दूरी पर ही पकड़ कर रखा जाता है, तो सूखे गोबर में आग लग जाती है और पार्थिव अग्नि, इस प्रकार आदित्य से उत्पन्न हो जाता है।

अत: वैद्युत और दिव्य अग्नि आदित्य से उत्पन्न होने के कारण इसे (पार्थिव अग्नि को) वैश्वानर कहा जाता है। वैश्वानर उन दोनों अग्नियों से पृथक् पार्थिव अग्नि ही है।

वैश्वानरस्य सुमतौ स्याम राजा हि कं भुवनानामभिश्रीः।
इतो जातो विश्वमिदं विचष्टे वैश्वानरो यतते सूर्येण॥ ऋ. सं. १।९८।१॥

इस मन्त्र में वैश्वानर सूर्य से संयोग करता है,—कहा गया है। इससे सिद्ध होता है कि वैश्वानर सूर्य नहीं है। क्योंकि संयोग दो भिन्न वस्तुओं का ही हो सकता है। स्वयं का स्वयं से संयोग नहीं हो सकता। यजमान इधर तो पार्थिव अग्नि

---

१. यहाँ हम मूल के 'अनुपात्त' तथा 'उपादीयमान' शब्द को वास्तव में ठीक नहीं समझ पाये हैं। लगता है 'शरण' और 'शरीर' शब्दों की भांति 'उपा+ √दा' का प्रयोग भी बिजली के प्रसङ्ग में पारिभाषिक है। विज्ञ जन इस पर प्रकाश डालने की कृपा करेंगे।

२. द्र. दुर्ग ७।२३ : शरीरेण=काष्ठेन, अन्येन वा प्रतिहत-मूर्ति-स्वभावकेन पार्थिव धातु-बहुलेन उपशाम्यति।

को वेदि में प्रज्वलित करता है और उधर आदित्य की रश्मियां प्रकट होतीं हैं। अतः इन दोनों भासों का संयोग ही ऊपर सम्भवतः वर्णित है।

यदि वैश्वानर आदित्य हुआ होता, तो वैश्वानर का वर्णन उन ही सूक्तों या हविर्भागों के सन्दर्भ में हुआ होता, जो उत्तम लोक यानी द्युलोक से सम्बद्ध हैं और आदित्य के जो उदय होना, अस्त होना जगत् की परिक्रमा करना आदि कर्म हैं, उनका ही वर्णन भी हुआ होता। इसके विपरीत तथ्य कुछ और ही है। वैश्वानर की चर्चा केवल अग्नि देवता के सूक्तों में ही उपलब्ध होती है और अग्नि के ही वहन, पचन और दहन आदि कर्मों का वैश्वानर के कर्म के रूप में वर्णन मिलता है। अतः वैश्वानर उत्तर ज्योतिषों—वैद्युत अग्नि और आदित्य—से सर्वथा भिन्न है एवम् पार्थिव है।

प्र नू महित्वम् (ऋ. सं. १।५९।६) इत्यादि मन्त्रों में वर्षा के प्रसङ्ग में वैश्वानर का वर्णन आने से वैश्वानर माध्यमिक अग्नि है, यह जो कहा गया है, वह भी उचित नहीं है। क्योंकि वर्षा करने का वर्णन तो ऋचाओं में अग्नि और आदित्य के साथ भी मिलता है :

> कृष्णं नियानं हरयः सुपर्णा अपो वसाना दिवमुत्पतन्ति ।
> त आववृत्रन्त्सदनादृतस्यादिद् घृतेन पृथिवी व्युद्यते ।। १।१६४। ४७ ।।
> समानमेतदुदकमुच्चैत्यव चाहभिः ।
> भूमिं पर्जन्या जिन्वन्ति दिवं जिन्वन्त्यग्नयः ।। ५१ ।।

अग्नि र्वा इतो वृष्टिं समीरयति। धामच्छद् दिवि खलु भूत्वा वर्षति। मरुतः सृष्टां वृष्टिं नयन्ति। यदा खलु वाऽसावादित्योऽग्निं रश्मिभिः पर्यावर्त्तते, अथ वर्षति (काठ. सं. ११।१०)। इस वर्णन में भी अग्नि और आदित्य को वृष्टि का कर्ता बताया गया है। माध्यमिक देव (मरुतः) तो केवल उसे (पृथ्वी पर) लाने का कार्य करते ही बतलाये हैं।

अतः वैश्वानर की स्तुति में प्रयुक्त मन्त्रों में वर्षा का वर्णन है और वर्षा इन्द्र का कार्य है, इसलिये उन मन्त्रों में वैश्वानर इन्द्र है, यह निष्कर्ष उचित नहीं है।

इस प्रकार युक्तिपूर्वक माध्यमिक अग्नि को वैश्वानर मानने के सिद्धान्त का खण्डन करके आचार्य शाकपूणि ने एक-एक करके प्राचीन मीमांसकों की युक्तियों का खण्डन निम्न लिखित प्रकार से किया है :

(क) 'लोकों तथा सवनों के रोह एवम् अवरोह की समानता के आधार पर तृतीय सवन में प्रयुक्त वैश्वानरीय सूक्त में वैश्वानर से आदित्य अभिप्रेत है,'—यह जो कहा है वह उचित नहीं है। क्योंकि वस्तुतः ऐसा कोई सम्बन्ध नहीं है। वह तो अर्थवादमात्र है। अर्थवाद के आधार पर देवता का निर्णय करना उचित नहीं है।

(ख) 'आदित्य के द्वादश कपाल ही विहित हैं',—यह कहना ही गलत है। सौर्य पुरोडाश एक-कपाल भी होता है और पञ्च-कपाल भी। अतः द्वादश-कपाल होने से

ही वैश्वानर को आदित्य कहना उचित नहीं है।

(ग) जहाँ तक ब्राह्मण के कथन का अभिप्राय है, ब्राह्मणों में एक ही गुण (विशेषता) को कई वस्तुओं में भी बतला दिया जाता है। जैसे ब्राह्मणों में एक जगह पृथिवी को वैश्वानर कहा है, तो दूसरी जगह संवत्सर को, तीसरी जगह ब्राह्मण (विप्र जाति) को ही वैश्वानर बतलाया गया है[1]। अतः ब्राह्मणों में आदित्य को वैश्वानर कहना भाक्त है।

(घ) निवित् में भी वैश्वानर से पृथ्वी का अग्नि ही अभिप्रेत है। उस निवित् के **अग्नि वैश्वानरः सोमस्य मत्सत् ।....... यो विड्भ्यो मानुषीभ्यो दीदेत् ।........अग्नि वैश्वानर इह श्रवदिह सोमस्य मत्सत् । प्रेमां देवो देवहूतिमवतु देव्या धिया** (शाङ्खायन श्रौतसूत्र ८।२२।१) ।—इत्यादि स्थलों में स्पष्ट ही देवताओं को बुलाने वाले तथा मानुषी प्रजाओं के लिए दीप्त होने वाले पार्थिव अग्नि का ही वर्णन है।

(ङ) छान्दोमिक सूक्त में भी सूर्य के साथ वैश्वानर के रूप में इस पार्थिव अग्नि की ही स्तुति की गई है। **बृवा पावक दीदिहि....जमदग्निभिराहुतः** (शाङ्खायन श्रौतसूत्र १०।१०।८ तथा आश्वलायन श्रौतसूत्र ८।६।७) —इस स्थल में (जहाँ श्रौतसूत्र में छान्दोमिक सूक्त को लिया गया है) स्पष्ट रूप से पार्थिव अग्नि ही अभिप्रेत है।

(च) हविष्पान्तीय सूक्त में भी वैश्वानर अग्नि पार्थिव ही है, दिव्य नहीं। जैसे कि निम्न मन्त्र में पार्थिव अग्नि का ही वर्णन प्रारम्भ हुआ है, वही आगे (१२-१४ मन्त्रों में) वैश्वानर आदि शब्दों से चला है :

हविष्पान्तमजरं स्वर्विदि दिविस्पृश्याहुतं जुष्टमग्नौ ।
तस्य भर्मणे भुवनाय देवा धर्मणे कं स्वधया पप्रथन्त[2] ॥ ऋ. सं. १०।८८।१ ॥

निम्न मन्त्र में दिव्य विवस्वत्, अन्तरिक्षस्थ वायु (मातरिश्वा) और वैश्वानर अग्नि का पृथक्-पृथक् उल्लेख है। इस से सिद्ध होता है कि वैश्वानर अग्नि दिव्य विवस्वत् और अन्तरिक्षस्थ मातरिश्वन् से भिन्न (पार्थिव अग्नि) है :

---

१. द्र. क्रमशः श. ब्रा. १३।३।८।३ : इयं वै वैश्वानरः। ५।२।५।१५ : संवत्सरो वै वैश्वानरः। ६।६।१।५ भी देखें। तै. ब्रा. ३।७।३।२ : एष वा अग्नि वैश्वानरो यद् ब्राह्मणः।

२. पीने योग्य (पान्तम्), जीर्ण न होने वाली तथा प्रिय आहुति (अजरं जुष्टं हविः) आदित्य के पास जाने वाले (स्वर्विदि), [प्रतिदिन] द्युलोक को छूने वाले (दिविस्पृशि) अग्नि में (अग्ना) डाली है (आहुतम्)। उस के (तस्य) भरण= बहुलीकरण के लिये (भर्मणे), सत्ता के लिये (भुवनाय), और धारण के लिए (धर्मणे) अन्न से (स्वधया) देवों ने किसे (कं) प्रथित किया (पप्रथन्त) ?

अपामुपस्थे महिषा अगृभ्णत विशो राजानमुपतस्थुर्ऋग्मियम् ।
आ दूतो अग्निमभरद्विवस्वतो वैश्वानरं मातरिश्वा परावतः ।। ऋ.सं. ६।८।४।।

नीचे दिये मन्त्र में सूर्य को वैश्वानर अग्नि के उपमान के रूप में बतलाया गया है। इसे ही पर्वत, ओषधी, मनुष्य—इन पार्थिव पदार्थों में स्थित वसुओं (धनों) का राजा बताया है। इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि वैश्वानर अग्नि पार्थिव अग्नि से भिन्न और कोई माध्यमिक या दिव्य ज्योति नहीं है :

आ सूर्ये न रश्मयो ध्रुवासो वैश्वानरे दधिरेऽग्ना वसूनि ।
या पर्वतेष्वोषुधीष्वप्सु या मानुषेष्वसि तस्य राजा ।। ऋ. सं. १।५९।३ ।।

यों, निम्नलिखित ऋचाओं में पार्थिव अग्नि को ही तीनों लोकों में स्थित मान कर स्तुति की गई है। अतः यदि कहीं वैश्वानर का उन लोकों में स्थित के रूप में वर्णन आता है, तो यह अर्थ नहीं है कि वैश्वानर वहाँ अपना रूप छोड़ गया है, या वैश्वानर दिव्य या माध्यमिक ही हो गया है।

मूर्द्धा भुवो भवति नक्तमग्निस्ततः सूर्यो जायते प्रातरुद्यन् ।
मायामू तु यज्ञियानामेतामपो यत्तूर्णिश्चरति प्रजानन् ।। १०।८८।६ ।।
स्तोमेन हि दिवि देवासो अग्निमजीजनञ्छक्तिभी रोदसिप्राम् ।
तमकृण्वंस्त्रेधा भुवे कं स ओषधीः पचति विश्वरूपाः ।। १० ।।

यदस्य दिवि तृतीयं, तदसावादित्यः (मूल मृग्य है)—इस ब्राह्मणवाक्य में भी पार्थिव अग्नि को ही आदित्य बतलाया गया है[1]। अतः बहुत से मन्त्रों में आदित्य की ही अग्नि के रूप में स्तुति है। इसी प्रकार बहुत से मन्त्रों में अग्नि को आदित्य के रूप में और आदित्य को अग्नि के रूप में भी बतलाया गया है।

इस प्रकार शाकपूणि के प्रमाण से पार्थिव अग्नि ही प्रधान रूप से वैश्वानर है, यह सिद्ध करके इस प्रकरण का उपसंहार करते हुए आचार्य यास्क कहते हैं कि वैश्वानर जहाँ सूक्त के प्रधान देवता के रूप में है, या जहाँ उसके लिए हविष् प्रदान करने का विधान है, वहाँ तो पार्थिव अग्नि ही वैश्वानर है। इस नाम से जहाँ ऊपर की दो ज्योतियों—वैद्युत अग्नि और आदित्य—का वर्णन आता है, वहाँ इस नाम से उनकी स्तुति गौण अर्थ में ही है।

पार्थिव देवताओं में चौथा तथा अग्नि के गुणाभिधानों में तीसरा महत्त्वपूर्ण नाम द्रविणोदस् है। यह एक अनेकपर्व समस्त नाम पद है। द्रविणस्+दस्>द्रविणोदस्।

---

१. शौनक के मत में बहुत-से स्थलों में सूर्य, वैश्वानर और अग्नि एक के रूप में ही वर्णित हैं तथा वैश्वानर जातवेदस् और अग्नि एक दूसरे पर श्रित हैं :

सूर्यवैश्वानराग्नीनामैकात्म्यमिह दृश्यते ।। बृहद्देवता २।१८ ।।
वैश्वानरं श्रितो ह्यग्निरग्निं वैश्वानरः श्रितः ।
अनयोर्जातवेदास्तु तयते जातवेदसि ।। १।६७ ।।

ऋ. सं. १।९६; खिल ५।७।५।७–१०; तै. स ४।४।६।२, ७।१; मै. सं. २।१३।१८; ४।१०।६; काठ सं. ३६।६ में द्रविणोदा और ऋ. सं. १।५३।१, सा. सं. (कौथुम शाखा) २।२१८ आदि में द्रविणोद पद भी मिलते हैं। बृहद्देवता में आकारान्त रूप नहीं मिलता। शौनक ने द्रविणोद का प्रयोग या तो छन्द के अनुरोध से किया है (द्र. मैक्डानल्, अनुवाद, ३।६३, टि. ए), या इसे सकारान्त (परोक्षवृत्ति द्रविणोदस्) का प्रत्यक्षवृत्ति रूप समझ कर किया लगता है। द्रविण के अर्थ में द्रविणस् एक पुराना पद है। इस प्रकार की सकारान्त प्रकृतियों के प्रायः दो रूप—एक सकारान्त तथा दूसरा सकाररहित—भाषा के सभी स्तरों पर मिल जाते हैं। कालान्तर में सकारान्त रूप का स्थान सकाररहित स्वरान्त रूप वाले शब्द ले लेते हैं। हमारे पास इस प्रवृत्ति का सुपरिचित उदाहरण है मनस् का मन, जिसका हिन्दी में पुनः हलन्त रूप मन् हो गया है। चक्षुष् का चक्षु (चक्षोः सूर्यो अजायत— ऋ. सं. १०।९०।१३) भी द्रष्टव्य है।

अस्तु, द्रविणोदस् का अर्थ है द्रविणस् अर्थात् द्रविण का देने वाला[1]। द्रविणस् शब्द वैदिक भाषा में दो अर्थों में प्रसिद्ध था : १ धन एवं २ बल। यास्क ने दोनों अर्थों में इस पद का निर्वचन √ द्रु (गति) से कारक का भेद करते हुए किया है : १. द्रवन्ति यत्तद् द्रविणः। कर्मता को और स्पष्ट करने के लिए यास्क ने (यदेनदभि द्रवन्ति में) अभि उपसर्ग का प्रयोग किया है लोगों में धन के प्रति जितनी ललक है, उतनी और किसी के प्रति नहीं। धन के लिए अपनी औरस सन्तान को बेच देने वाले अजीगर्त जैसे जनक पिछले जमाने में भी थे। बुद्धि के सर्वोच्च मान को स्थापित करने वाले ऋषियों की कामना भी रयिं पिशङ्गं बहुलं वसीमहि (ऋ. सं. ६।७२।८) पर जाकर रुक जाती थी। अतः धन देने वाले अग्नि की स्तुति पृथक् नाम से करना कोई बहुत आश्चर्य की बात नहीं है। और, फिर वैदिक ऋषि तो, यों भी, कोरे आदर्शवाद से विमुख, या उदासीन तथा घोर यथार्थवादी लोग थे। वे धन की महत्ता को कैसे न स्वीकारते ? २. द्रवन्ति अनेन इति द्रविणो बलम्। बलवान् सदा से ही सफल होते आये हैं। बल से ही सब प्रकार की गतियां सम्भव हैं। धन भी बलवान् के हाथों में सुरक्षित रह कर ही सब प्रकार के सुख दे पाता है। अतः द्रविणस् का दूसरा अर्थ है बल[2]।

धन और बल देना तो प्रायः सभी देवताओं की प्रमुख विशेषता है। यदि देवता धन और बल ही नहीं देते, तो ऋषियों को क्या गर्ज पड़ी थी कि वे उनकी स्तुति करते—किं तया क्रियते धेन्वा या न सूते न दुग्धदा ? तब, द्रविणोदस् से किस देवता

१. द्र. निरुक्त ८।१। तु. शत. ब्रा. ६।३।३।१३ : द्रविणं ह्येभ्यो ददाति।

२. डा. सिद्धेश्वर जी का अभिमत (द्र.पृ. ७६ पर) है कि आरोपीय भाषा में तरु वाचक द्रौ (drou) ही रूपक पद्धति से धन और बल अर्थ में इस शब्द में प्रसिद्ध हो गया है। तु. : ग्रीक द्रून् (droon) बलवान्, मजबूत।

को प्रमुख रूप में समझा जाए ? यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है । प्राचीन आचार्यों में इस पर दो मत थे । आचार्य क्रौष्टुकि द्रविणोदस् को इन्द्र का गुणाभिधान मानते थे, तो आचार्य शाकपूणि और शौनक का (बृहद्देवता २।२५ में) कहना है कि कुत्स ऋषि इसे अग्नि का गुणपरक नाम मानते थे । यास्क और शौनक भी इसी मत के हैं ।

१. द्रविणोदा इन्द्र है । इस सिद्धान्त के उपोद्बलक हेतु ये हैं :

(क) द्रविणोदस् के निर्वचन का अर्थ इन्द्र पर ही अधिक घटता है । क्योंकि—

(अ) इन्द्र बल और धन देने वाले देवों में श्रेष्ठ हैं । अतः श्रेष्ठ का अपने श्रेष्ठ गुण से नाम पड़ना उचित है ।

(आ) बल के जितने भी कार्य हैं, वे सब इन्द्र के ही होते हैं । अतः बल को देने के कारण इन्द्र का वैसा नाम पड़ना ठीक ही है । ऋग्वेद संहिता में भी इन्द्र को ओजस् बल का बेटा कहा गया है :

अश्वादियायेति यद्वदन्त्योजसो जातमुत मन्य एनम् ।
मन्योरियाय हर्म्येषु तस्थौ यतः प्रजज्ञ इन्द्रो अस्य वेद ॥ १०।७३।१० ॥

(ख) अग्नि को द्राविणोदस (द्रविणोदस् का पुत्र) बताया जाता है[1] । निम्न ऋचा में अग्नि को इन्द्र से उत्पन्न होने वाला बतलाया गया है :

यो हत्वाहिमरिणात्सप्तसिन्धून्यो गा उदाजदपधा वलस्य ।
यो अश्मनोरन्तरग्निं जजान संवृक्समत्सु स जनास इन्द्रः ॥ २।१२।३ ॥

(ग) ऋतुयाज (वसन्त आदि ऋतुओं के यजन में प्रयुक्त ऋ. सं. २।३७ सूक्त और खिल ५।७।५।१०) मन्त्रों में द्रविणोदस् नाम कई बार आता है । उन मन्त्रों में विहित सोम-पान को करने के लिए जिस पात्र को ऋतुयाज कर्म में लाया जाता है, वह पात्र कर्मकाण्डियों में ऋतुपात्र और इन्द्रपान के नाम से प्रसिद्ध है । शतपथब्राह्मण (४।५।५।) में पांच पात्रों की चर्चा की गई है । उन में चौथा पात्र ऋतुपात्र है । वहीं ४।३।३।६ और १२ में इन्द्र के प्रसङ्ग में ऋतुपात्रों की चर्चा की गई है । तुरीयं पात्रम्

---

१. यास्क के 'अथाप्यग्निं द्राविणोदसमाह' (८।२) कथन से लगता है कि उन के सामने कोई ऐसी श्रुति थी, जिसमें अग्नि को द्राविणोदस कहा गया था । आज उपलब्ध वैदिक साहित्य में ही नहीं, अपितु दुर्गाचार्य और स्कन्दस्वामी के समय भी इस प्रकार की कोई श्रुति नहीं मिलती थी, यह उनके (क्रमशः) 'स मन्त्रो मृग्यः,' और 'उदाहरणं मृग्यम्' कहने से ही स्पष्ट है । परिणामतः इन दोनों आचार्यों ने ऋ.सं. २।३७।४ और खिलपाठ ५।७।५।१०, पूना सं. प्रः, पृ. ९८८) के प्रतीक 'द्रविणोदाः पिबतु द्राविणोदसः' की ही यहां सङ्गति करने की चेष्टा बाध्य हो कर की है । यदि यास्क को यह प्रतीक देना ही अभीष्ट होता, तो वे इसे 'अथा . . . द्राविणोदसमाह' वाक्य के ठीक बाद देते, न कि 'अथाप्याह' कह कर नये हेतु के रूप में देते । अतः हमारे विचार में इस प्रतीक को इस वाक्य के विवरण में लगाना ठीक नहीं है ।

अमृक्तममर्त्यं द्रविणोदाः पिबतु द्राविणोदसः (ऋ.सं. २।३७।४) में द्रविणोदस् के सोमपान के प्रसङ्ग में चौथे पात्र की ही बात कही गई है। इस से यह निष्कर्ष निकलता है कि ऋतुपात्र वह पात्र है, जिस से इन्द्र ऋतुयाज में सोम का पान करते हैं। शाङ्खायन ब्राह्मण (२४ ■) में इस पात्र को इन्द्रपान कहा गया है। इस से भी यही सिद्ध होता है कि ऋतुयाज कर्म का देवता द्रविणोदस् और उस कर्म में ऋतुपात्र या इन्द्रपान नामक पात्र से सोमपान करने वाले देवता इन्द्र अलग-अलग नहीं, अपितु एक ही हैं। अतः द्रविणोदस् अन्तरिक्ष के देवता इन्द्र का ही गुणाभिधान है।

(घ) सोमपान सब देवताओं के विशेष कर्मों में इन्द्र का ही विशिष्टतम कर्म है, यह तथ्य सर्वविदित है। अंशुरंशुष्टे सोमाप्यायतामिन्द्रायैकधनविदे (वा.सं.५।७) में यही तथ्य बतलाया गया है। ऋग्वेदसंहिता में भी इन्द्र का सोमपान प्रसिद्ध ही है : अर्वाङेहि, सोमकामं त्वाऽऽहुः (१।१०४।९), इन्द्र इत्सोमपा एकः (८।२।४)।

इन्द्र के अत्यन्त महत्वपूर्ण कार्यों का वर्णन प्रस्तुत करने वाले २।१२ सूक्त में भी युक्तग्राव्णो योऽविता सुतसोमस्य स जनास इन्द्रः (६), यः सोमपाः ... (१३), यः सुन्वन्तमवति, यस्य सोमः (१४) और यः सुन्वते (१५) पाँच बार सोम के साथ इन्द्र के विशेष सम्बन्ध को याद किया गया है। उसी सोम को पीने के लिए द्रविणोदस् का आवाहन ऋषि ने २।३७ सूक्त की ऋचाओं से[1] किया है। इस से सिद्ध होता है कि सोमपान के लिए प्रार्थित देवता द्रविणोदस् अन्तरिक्ष के देवता इन्द्र ही हैं।

२. द्रविणोदस् पार्थिव अग्नि ही है। आचार्य शाकपूणि मानते हैं कि द्रविणोदस् नाम का प्रयोग ऋग्वेद संहिता में उन्हीं सूक्तों में किया गया है, जिन के देवता पार्थिव अग्नि हैं। समूचे १।९६ सूक्त में अग्नि को ही द्रविणोदस् बतलाया गया है। अपनी स्थापना से आचार्य क्रौष्टुकि की स्थापना की प्रति-स्थापना करके उनकी युक्तियों का एक-एक कर के खण्डन करते हुए वे कहते हैं :

(क) 'द्रविणोदस् के निर्वचन का अर्थ इन्द्र पर ही सबसे अधिक घटता है,' यह कहना गलत है। क्योंकि :

(अ) बल और धन देने की सामर्थ्य तो सभी देवताओं में है, कोई इन्द्र में ही विशेष नहीं है। यदि देवता में यह सामर्थ्य नहीं हो, तो मनुष्य उनकी उपासना ही क्यों करने लगे ? अतः अग्नि के द्रविणोदा होने में कोई अनौचित्य नहीं है।

(आ) बल के पुत्र के रूप में तो अग्नि ही अधिक प्रसिद्ध है। जोर लगा कर

---

१. इस सूक्त के प्रथम तीन मन्त्रों में दुहराये 'सोमं द्रविणोदः पिब ऋतुभिः' पाद को उद्धृत न कर के सोम के स्पष्ट लिङ्ग से रहित चौथे मन्त्र के 'द्रविणोदाः पिबतु द्राविणोदसः' पाद को उद्धृत करने का रहस्य सम्भवतः यह है कि इस सूक्त के द्रविणोदोदेवताक मन्त्रों में यह अन्तिम मन्त्र है। अतः यास्क ने शेष मन्त्रों का प्रतिनिधित्व भी इसी मन्त्र से करवाना उचित समझा है।

अरणियों का मन्थन कर के उत्पन्न[1] होने के कारण अग्नि सहसो यहुः (१।७९।४), सहसस्पुत्रः (२।७।६), और सहसस्सूनुः (८।७५।३), ऊर्जो नपात (६।४८।२) आदि गुणाभिधानों से पुकारे जाते हैं ।

(ख) अग्नि को द्राविणोदस—द्रविणोदस् का पुत्र—ठीक कहा जाता है। पर द्रविणोदस् इन्द्र नहीं, अपितु ऋत्विज् हैं। ऋत्विज द्रविणस् अर्थात् हविष् को देने वाले होने से द्रविणोदस् हैं तथा वे इस पार्थिव यज्ञिय अग्नि को पैदा करते हैं (इस लिए यह उनका पुत्र है)। ऋत्विजों का पुत्र इसे हमने कोई अपने मन से नहीं बताया है। अथर्ववेद-संहिता (४।३९।९) तथा वाजसनेयि संहिता (५।४) में इसे ऋषियों का बेटा कहा गया है।

(ग) द्रविणोदोदेवताक ऋतुयाज मन्त्रों के पात्र की ब्राह्मणोक्त इन्द्रपान सञ्ज्ञा केवल एक गौण प्रयोग है—भिन्न भिन्न देवताओं की सम्पत्ति सभी सोमपात्रों को वायव्य (वायुदेवताक) जैसे कहते हैं, वैसे ही।

(घ) सोम पीने की प्रार्थना करते हुए स्तुति अकेले इन्द्र की ही की गई है—यह मानना ही ठीक नहीं है। अग्नि से भी सोम पीने की प्रार्थना की गई है :

अग्ने मरुद्भिः शुभयद्भिर्ऋक्वभिः सोमं पिब मन्दसानो गणश्रिभिः ।
पावकेभिर्विश्वमिन्वेभिरायुभिर्वैश्वानर प्रदिवा केतुना सजूः ॥ऋ.सं. ५।६०।८॥

क्रौष्टुकि द्वारा उद्धृत द्रविणोदाः पिबतु द्राविणोदसः (२।३७।४) में भी अग्नि (पार्थिव) के लिए ही वैसा कहा गया है। इसका स्पष्ट लिङ्ग उसी सूक्त के एक और मन्त्र (२।३७।३) में द्रष्टव्य है :

मेद्यन्तु ते वह्नयो येभिरीयसेऽरिषण्यन् वीळयस्वा वनस्पते ।
आयूया धृष्णो अभिगूर्या त्वं नेष्ट्रात् सोमं द्रविणोदः पिब ऋतुभिः ॥

अतः द्रविणोदस् पार्थिव अग्नि का गुणाभिधान है, यही सिद्धान्त है। यास्क इससे सहमत हैं। शौनक ने भी कुत्स को उद्धृत करते हुए इसी पक्ष की पुष्टि की है :

द्रविणं धनं बलं वापि प्रायच्छद्येन कर्मणा ।
तत्कर्म दृष्ट्वा कुत्सस्तु प्राहैनं द्रविणोदसम् ॥ बृ. २।२५ ॥

क्रौष्टुकि के मत को एकीय मत के रूप में बताते हुए शौनक का कहना है :

पार्थिवो द्रविणोदोऽग्निः पुरस्ताद् यस्तु कीर्तितः ।
तमाहुरिन्द्रं दातृत्वादेके तु बलवित्तयोः ॥ बृ. ३।६१ ॥

इस पक्ष की युक्तियों को उन्होंने नहीं दिया है। किन्तु उत्तर पक्ष की युक्तियों को विस्तरेण देने से सिद्ध होता है कि वे शाकपूणि और यास्क के ही अनुयायी हैं :

अयं हि द्रविणोदोऽग्निरयं दाता बलस्य हि ।
जायते च बलेनायं मथ्यमानोऽध्वरे ॥

१. सहसा यो मथितो जायते नृभिः पृथिव्या अधि सानवि ॥ ऋ.सं. ६।४८।५॥

हवींषि द्रविणं प्राहुर्हविषो यत्र जायते।
दातारश्चर्त्विजस्तेषां द्रविणोदास्ततः स्वयम् ॥
ऋषीणां पुत्र इत्येषां दृश्यते सहसो यहो।
मध्यमाद्वा यतो जज्ञे तस्माद्वा द्राविणोदसः[1] ॥
आग्नेयेष्वेव दृश्यन्ते प्रवादा द्रविणोदसः। बृ. ३।६२–६५।

अथात आप्रियः

आप्री (स्त्रीलिङ्ग) शब्द (प्रयाज) नामक विशेष प्रकार के कर्म में प्रयुक्त याज्या ऋचाओं के लिए प्रयुक्त हुआ है[2]। उन ऋचाओं से निबद्ध सूक्त आप्रीसूक्त[3] तथा उनमें वर्णित देवता आप्रीदेवता कहलाते हैं। ये देवता १२ हैं, जिनका समाम्नान यास्क ने दैवत काण्ड के दूसरे खण्ड में किया है।

आप्री ऋचाएं ऋग्वेद संहिता में निम्नलिखित ऋषियों के दस स्थानों में पठित दस सूक्तों में सङ्कलित हैं:

१. मेधातिथि काण्व की ऋ. सं. १।१३ में। इस सूक्त में १२ ऋचाएं हैं।

---

१. यास्क ने 'द्राविणोदसः' की केवल एक ही व्याख्या दी है। शौनक ने एक और व्याख्या दी है कि माध्यमिक ज्योति (विद्युत) से उत्पन्न होने के कारण भी पार्थिव अग्नि द्राविणोदस हो सकता है। लगता है इस व्याख्या का सङ्केत उन्होंने 'वैश्वानर' की शाकपूणि द्वारा प्रदत्त व्याख्या (द्र. पृष्ठ ३०२) से लिया है। शौनक के इस व्याख्यान से द्रविणोदस् का अर्थ माध्यमिक देवता पर्यवसित होता है। मैक्डानल् ने क्रौष्टुकि के पूर्वपक्ष का आश्रय लेकर इस वाक्य को लगाने की चेष्टा करते हुए (C) टिप्पणी में कहा है: That is, he is द्राविणोदस as derived from द्रविणोदस्; cp निरुक्त VIII. 2 : अथाप्यग्निं द्राविणोदसमाह : एष पुनरेतस्माज्जायते। पर इस प्रकरण में यह भली-भाँति स्पष्ट है कि शौनक क्रौष्टुकि के उपर्युक्त मत के विरोधी हैं, समर्थक नहीं। परिणामतः द्रविणोदस् को इन्द्रपरक बताने वाली यह व्याख्या शौनक के मूल सिद्धान्त के विरुद्ध होने से उपेक्ष्य है। यों भी मैक्डानल् के सम्पादन से विदित होता है कि यह श्लोकांश सब कोषों में उपलब्ध नहीं है, केवल बृहत्पाठ (B) में उपलब्ध है। अतः इस श्लोकार्ध पर हमारा निष्कर्ष तो यही है कि यह शौनकोक्त नहीं है; अपितु प्रक्षिप्त है। मैक्डानल् का ध्यान इस समस्या पर नहीं आ पाया।

२. द्र. ऐ. ब्रा. २।४ (पूना सं. पृष्ठ १५५) : आप्रीभिराप्रीणाति। तथा यहीं सायण : तेषां प्रयाजादीनां याज्याः प्रीति-हेतुत्वादाप्रीशब्देनोच्यन्ते।

३. आप्रीसूक्त यज्ञ-सम्बन्धी आह्वान हैं। जिनमें अग्नि का अनेक नामों से आह्वान किया गया है, और जिनमें पशुबलि की चर्चा की गई है। (द्र. वैदिक देवशास्त्र, पृ. २५८।)

२. **दीर्घतमस्** की १।१४२ में। इसमें १३ मन्त्र हैं, जिन में अन्तिम मन्त्र में **इन्द्र** की स्तुति है। किन्तु इन्द्र आप्रीदेवता नहीं है।

३. **अगस्त्य** ऋषि की आप्रियां १।१८८ में हैं। कुल मन्त्र ११ हैं। इस सूक्त में **नराशंस** देवता की स्तुति नहीं है।

४. **गृत्समद (शुनक)** ऋषि की २।३ में है। आगे के सभी सूक्तों में ११ ऋचाएं हैं तथा किसी में नराशंस नहीं है, तो किसी में **तनूनपात्** नहीं है। इस सूक्त में तनूनपात् नहीं है।

५. **विश्वामित्र** ऋषि की ३।४ में हैं। नराशंस की स्तुति नहीं है।

६. **वसुश्रुत आत्रेय** की **तनूनपात्** से रहित आप्रियां ५।५ में हैं।

७. **वसिष्ठ** की तनूनपात् की ऋचा से रहित आप्रियां ७।२ में हैं।

८. **काश्यप असित** या **देवल** की **नराशंस** की स्तुति से रहित आप्रियां ९।५ में सङ्कलित हैं।

९. **सुमित्र वाध्र्यश्व** की **तनूनपात्** से रहित आप्रियां १०।७० में हैं।

१०. **भार्गव जमदग्नि** या उनके पुत्र **(जामदग्न्य) राम** की आप्रियां नराशंस की स्तुति से रहित हैं तथा १०।११० में सङ्कलित हैं।

इन के अतिरिक्त ऋग्वेद के परिशिष्ट (खिलपाठ ५।७।१) में **प्रैषाध्याय, प्रैषसूक्त** या **प्रयाजप्रैष** के नाम से भी १३ आप्रियां एक सूक्त में सङ्कलित हैं। इन में तेरहवें मन्त्र का देवता इन्द्र है। अतः न वह ऋचा आप्री है, तथा न इन्द्र ही आप्री देवता हैं। शेष १२ आप्रियों में १२ आप्री देवताओं की स्तुति की गई है।

आप्रीदेवता। सब आप्रीसूक्तों में स्तूयमान देवताओं का क्रम समान ही है। इन सब सूक्तों में **इध्म** नामक किसी देवता का इस नाम से साक्षात् श्रवण नहीं है। **सम्**+√**इध्** के प्रयोगों के लिङ्ग से वैदिक कर्मकाण्डियों ने इन सूक्तों के प्रथम देवता का नाम **इध्म** रखा है। ऋग्वेदीय दस स्थलों में से नौ में **अग्नि** या उसके किसी पर्याय (**पावक, पवमान, जातवेदस्**) नाम का साक्षात् श्रवण, तथा हविष् का आवहन, पृथ्वी पर स्थिति, देवताओं का वहन, देवताओं का यजन तथा अग्नि के लिए ही प्रयुक्त दूत आदि विशेषण इत्यादि लिङ्गों में से अन्यतम लिङ्ग साक्षात् श्रुत हैं। केवल १।१८८ में **अग्नि** के किसी नाम का प्रयोग नहीं किया गया है। पर वहां भी दूतः विशेषण तथा हव्या वह लिङ्ग साक्षात् श्रुत है। इससे प्रतीत होता है कि किसी एक नाम का प्रयोग न होने के कारण तथा **समिध्** लिङ्ग के प्रयोग को सर्वत्र देख कर **इध्म** नाम की कल्पना याज्ञिक आचार्यों ने की थी।

इळ पद का साक्षात् श्रवण ऋग्वेदीय सूक्तों में केवल ३।४ में ही है। **प्रैष** सूक्त में **ईळ** पद है। अन्य सूक्तों में चौथे मन्त्रों में √**ईड्** के प्रयोग ही उपलब्ध हैं। प्रतीत होता है कि **इळ** प्राचीन नाम है तथा उससे √**ईड्** का सम्बन्ध परवर्ती काल में

प्रैष सूक्त से पूर्व ही जोड़ा गया और प्रैष सूक्त में इळ को सम्भवतः अशुद्ध समझ कर याज्ञिकों ने √ईड् से निष्पन्न ईळ का प्रयोग किया।

इन १२ नामों में १ तनूनपात्, २ नराशंस, ३ इळ, ४ उषासानक्ता, ५ तिस्रो देवीः, ६ त्वष्टा तो स्पष्ट ही देवताओं के वाचक पद हैं। इध्म प्रसिद्धि के आधार पर यज्ञकाष्ठपरक प्रतीत होता है। १ इध्म २ बर्हिः, ३ देवीः द्वारः, ४ दैव्या होतारा तथा ५ वनस्पति यज्ञ के उपकरण लगते हैं। स्वाहाकृतियाँ यज्ञिय स्वाहाकारपरक हैं।

परन्तु प्राचीन आचार्यों में इस विषय में मतभेद था। कात्थक्य आचार्य मानते थे कि १ इध्म, २ तनूनपात् (घृत), ३ देवीर्द्वारः (यज्ञशाला के दरवाजे), ४ वनस्पति (यज्ञिय स्तम्भ=यूप) यज्ञिय उपकरण ही आप्रियों में स्तुत हैं। तथा ५ नराशंस साक्षात् यज्ञ ही है।

शाकपूणि आचार्य इन सब से पार्थिव अग्नि को ही अभिप्रेत मानते हैं। यास्क का भी यही सिद्धान्त है। स्पष्ट रूप से यज्ञीय उपकरण के रूप में प्रतीत होने वाले नामों की अग्निपरकता पर उपपत्ति देते हुए दुर्गाचार्य ने कहा है कि इन नामपदों से युक्त मन्त्रों में अग्नि, जातवेदस् आदि अग्नि देवता के पर्याय, देवों का यजन, वहन आदि अग्नि की ही क्रियाएँ, तथा धूत आदि अग्नि के विशेष विशेषण प्रयुक्त हैं। यज्ञिय उपकरणों के लिए इनका प्रयोग माना जा सकता है, पर गौण रूप में, जब कि प्रधान अर्थ में ये लिङ्ग घट नहीं पायें। पर बात ऐसी है नहीं। अतः गौणमुख्ययो र्मुख्ये कार्यसम्प्रत्ययः।—न्याय से इन सब को मुख्य पार्थिव अग्निपरक मानना ही उचित है। इन आप्री ऋचाओं का जिन प्रयाज कर्मों में विनियोग है, उन प्रयाजों का देवता अग्नि ही है—इस हेतु से भी ये इध्म आदि मुख्य अग्नि-वाचक ही हैं।

यास्क ने दशम सूक्त ही क्यों दिया ?

ऊपर आप्रीसूक्तों के विवरण में हम देख चुके हैं कि समस्त १२ आप्रीदेवताओं की स्तुति मेधातिथि के (१।१३) सूक्त, दीर्घतमस् के (१।१४२) सूक्त तथा परिशिष्ट के प्रैष सूक्त में ही की गई है। शेष सूक्तों में केवल ११ देवता ही वर्णित हैं। ऐसी स्थिति में सब देवताओं वाले सूक्त को लेना ही उचित था। तब यास्क ने जामदग्न्य (१०।११०) सूक्त को ही क्यों लिया? इस सूक्त को लेने के कारण उन्हें नराशंस देवता के उद्धरण किसी अन्य सूक्त (७।२) से देने पड़े हैं। तथा नराशंस के उद्धरण भी पहले के सूक्तों में से न देकर वसिष्ठ के (७।२) सूक्त में से ही क्यों दिये?

इन प्रश्नों का उत्तर हमें याज्ञिक कर्मकाण्ड की कुछ परम्पराओं में मिलेगा :

आप्री ऋचाओं का प्रयोग किसी कर्मविशेष में होता है, यह हम पहले कह चुके हैं। इस पर भी इतना और ध्यान में रखना अपेक्षित है कि अलग-अलग गोत्र वाले कर्मकाण्डियों के लिए अलग-अलग आप्रीसूक्तों से आप्रीदेवताओं के निमित्त यजन

का विधान है : **समिद्धो अग्नि (२।३) रिति शुनकानाम् । जुषस्व नः समिधम् (५।५) इति वसिष्ठानाम् । समिद्धो अद्य (१०।११०) ति सर्वेषाम् । यथ ऋषि वा । प्राजापत्ये तु जामदग्न्यः सर्वेषाम् । (आश्वलायन श्रौत सूत्र ३।२)**

शुनक (गृत्समद) गोत्रियों के लिए ऋ. सं. २।३ के आप्रीसूक्त का, वसिष्ठ गोत्रियों के लिए ५।५ के आप्रीसूक्त का तथा सभी गोत्र वाले कर्मकाण्डियों के लिए १०।११० जामदग्न्य सूक्त का विधान है। जो कर्मकाण्डी जिस ऋषि के गोत्र का है, वह अपने उस गोत्र के प्रवर्तक ऋषि के द्वारा दृष्ट आप्रीसूक्त से भी कर्म कर सकता है; परन्तु यह कर्म यदि प्रजापतिदेवताक है, तब सब गोत्र वालों के लिए जामदग्न्य सूक्त (१०।११०) का ही विधान है। अतः यास्क ने सब लोगों के लिए साधारण जामदग्न्य सूक्त को ही आप्रीदेवताओं के व्याख्यान में रखना उचित समझा हो सकता है[1]।

नाराशंसो ऋचा वासिष्ठ सूक्त से हो क्यों दो ?

अब यह प्रश्न रहता है कि नराशंस के व्याख्यान के लिए वासिष्ठ (७।२) सूक्त से ही ऋचा क्यों दी है ?

इसका उत्तर भी कर्म की परम्परा में ही है। जामदग्न्य सूक्त में नराशंस की स्तुति नहीं है। यह ऊपर बतलाया जा चुका है। जामदग्न्य आप्रीसूक्त (१०।११०) से होम करने वाले कर्मकाण्डियों को नराशंस की ऋचा वासिष्ठ सूक्त से ही लेने का विधान है : **होता यजत्याप्रीभिः प्रैष-सलिङ्गाभिः । (आश्वलायन श्रौत सूत्र ३।२)**

इस पर वृत्तिकार नारायण ने वासिष्ठसूक्त (७।२) गत नाराशंसी ऋचा लेना ही बतलाया है : **तत्राप्यावीनां नाराशंस्येव वासिष्ठ्याहर्तव्या, प्रैष-सलिङ्गाभिरित्युक्तत्वात्** । इस कथन से सिद्ध होता है कि जिस प्रकार जामदग्न्य सूक्त साधारण है, उसी प्रकार नराशंस के निमित्त वासिष्ठी नाराशंसी ऋचा भी साधारण है। अतः यास्क ने गोत्र-विशेष के लिये निर्धारित सूक्त से ऋचा उद्धृत नहीं की है।

त्वष्टा के निमित्त १०।११० सूक्त से ऋचा को उद्धृत करने पर भी आप्रीसूक्त से भिन्न (१।९५।५) को उद्धृत करने का कारण यह है कि आप्री ऋचा से त्वष्टा का व्याख्यान भली भाँति हो नहीं पाया। अतः स्पष्ट वर्णन करने वाली इस ऋचा को उद्धृत करना आवश्यक हुआ।

इसी प्रकार वनस्पति की भी आप्रीसूक्तीय ऋचा से भली-भाँति व्याख्या न होने पर— वनस्पति यूप है या अग्नि, इस विषय में कुछ भी निर्णायक प्रकाश न पड़ने पर—इसे स्पष्ट करने को ऋ. सं. ३।८।१ की ऋचा और काठक सं. १८।२१ (मैत्रा. सं. ४।१३।७ : २०८।१० तथा २०९।१) से दो मन्त्र उद्धृत किये हैं। इनमें ऋचा से

१. द्र. पं. सीताराम शास्त्री, हिन्दीनिरुक्त, दैवतकाण्ड, पृ. १८९-१९९ ।

यूप का तथा काठकीय मन्त्रों से अग्नि का बोध वनस्पति पद से होता है।

'इतीमान्याप्रीसूक्तानि' पर विचार

आठवें अध्याय में द्रविणोदस् के अनन्तर यास्क ने 'अथात आप्रियः (८।४)' —कह कर आप्रीदेवताओं का उपक्रम किया है। उसके अनन्तर 'इतीमा आप्रीदेवता अनुक्रान्ताः (८।२१)'—कह कर प्रकरण का उपसंहार किया है। फिर आप्रीसूक्तों के विनियोग वाले प्रयाज और अनुयाज नामक होमों के देवता पर विचार का उपक्रम 'अथ किन्देवताः प्रयाजानुयाजाः (८।२२) ?' से करके उसका उपसंहार 'आग्नेया इति तु स्थितिः (८।२२)' से किया है। यहां तक तो ग्रन्थ में कोई विसंवाद नहीं है। पर उसके आगे (२२ वें खण्ड में ही) 'इतीमान्येकादशाप्रीसूक्तानि।' लिखा है। यह पङ्क्ति अस्थाने पतित-सी है। क्यों कि इससे पूर्व कहीं भी सब आप्रीसूक्त नहीं गिनाये-बताये गये हैं। केवल एक जामदग्न्य सूक्त (१०।११०) समूचा तथा वासिष्ठ सूक्त से एक मन्त्र (७।२।२) ही आप्रीसूक्तों में से चर्चित-वर्णित है। आप्रीदेवताओं के वर्णन के प्रसङ्ग में सब आप्रीसूक्तों की चर्चा प्रासङ्गिक भी नहीं है।

लगता तो यह है कि यहां निरुक्त का पाठ भ्रष्ट हो गया है। पं. श्री सीताराम शास्त्री जी ने (वहीं पृष्ठ २०० पर) दो सम्भावनाएं प्रकट की हैं : या तो यहां से वह ग्रन्थ त्रुटित हो गया (जसमें यास्क ने ११ आप्रीसूक्तों का उपप्रदर्शन किया हो); या किसी ने भ्रान्तिवश 'इत्यादीनि' पद के स्थान पर 'इतीमानि' कर दिया। दोनों ही सम्भव हैं, तथापि द्वितीय पक्ष का अधिक सम्भव है। कारण प्रथम पक्ष में एक प्रकरण का लोप प्राप्त होता है, जिसका द्वितीय पक्ष की अपेक्षा होना बहुत कठिन है।

पृथ्वी-स्थानीय सत्त्व देवता के रूप में

देव या देवता शब्द से किसी अलौकिक, आदरणीय, श्रद्धेय एवं पूज्य व्यक्तित्व का बोध हमें होता है। यही कारण है कि अग्नि, जातवेदस् वैश्वानर आदि शब्दों के साथ देव शब्द का सम्बन्ध होते ही ये शब्द अपने भौतिक पदार्थ वाले अर्थ को पीछे छोड़ कर दिव्य शक्ति से सम्पन्न, लोकोत्तर व्यक्तित्व को ही प्रमुख रूप से प्रकाशित करते हैं। किन्तु इस भावना को तब ठेस लगती है, जब हमें घोड़ा, कोड़ा, रथ, धनुष, उस की डोरी आदि के साथ भी देव शब्द का प्रयोग देखने–सुनने को मिलता है। जब उनमें किसी भी प्रकार की दिव्यता, श्रद्धेयता श्रद्धेयता नहीं है, तब वे देव कैसे हैं ? यह प्रश्न सहज रूप से सिर उठा कर खड़ा हो जाता है। इस प्रश्न के समाधान के लिये मन्त्र में देवता की पहचान प्रकरण में (पृष्ठ २६७ पर) देव शब्द का अर्थ स्पष्ट करते हुए हम कह आये हैं कि देव शब्द अन्यत्र चाहे जो अर्थ रखता हो, इस शास्त्र में तो मन्त्र के वर्णन के विषय को ही देवता कहते हैं।

आचार्य यास्क ने पृथिवी स्थान के ऐसे ही ३५ 'देवताओं' का सङ्कलन निघण्टु

के अन्तिम काण्ड के तीसरे खण्ड में किया है। पहले दो खण्डों में सङ्कलित देवताओं से इस खण्ड के देवता भिन्न प्रकार के हैं। अतः इन के लिए निघण्टु में एक पृथक् खण्ड और उस की व्याख्या के लिए एक पृथक अध्याय (९वें) की रचना यास्क ने की है। इस खण्ड में तीन प्रकार के शब्द समाम्नात हैं: १. चेतन पदार्थ। जैसे (क) घोड़ा, (१) (ख) पक्षी (२) (ग) मेंढक (३) (घ) खागड़ (सांड वृषभ, ७)। २. चैतन्य रहित पदार्थ। जैसे (क) पाँसे (४), (ख) सिल-लोढ़ा(ग्रावाणः, ५) आदि। इन में (क) मनुष्य की स्तुति (६), (ख) रात (२३), (ग) श्रद्धा (२५), (घ) रोग या भय (२७) अमूर्त पदार्थ हैं तथा (क) अग्नायी (२८) अग्नि की पत्नी हैं। ३. द्वन्द्वसमास में निबद्ध आठे जोड़े। इन में (क) धरती–आकाश (३,७,८), (ख) वायु–सूर्य (६) देवता हैं। शेष चार अचेतन पदार्थ हैं।

प्रमुख देवताओं के द्वन्द्वपदों का सङ्कलन इनके अपने उचित स्थान में न कर के यहाँ करने का कारण यह है कि इन देवताओं में अधिकांश देवता इतने अप्रधान हैं कि अकेले उन की तो कहीं स्तुति भी नहीं मिलती। अकेली पृथिवी की स्तुति मिलती है, पर अकेली दिव् की नहीं। हाँ, पृथिवी के साथ खूब मिलती है। इसी प्रकार अकेले शुन और सीर की स्तुति नहीं मिलती, पर दोनों की इकट्ठी स्तुति मिलती है। अतः इन देवताओं को द्वन्द्वपदों के रूप में तो रखना ही है। इन के बहुत गौण होने के कारण, अन्य द्वन्द्वपदों के साथ इनकी द्वन्द्वता की समानता से तथा पृथिवी स्थान के लिए उपयोगी होने के कारण इन्हें यास्क ने यहाँ रखना उचित समझा होगा। कुछ देवताद्वन्द्व अन्यत्र भी समाम्नात हैं। पर वे इतने गौण नहीं हैं, जितने ये हैं। अतः उन्हें यहाँ नहीं रखा गया है। १. उषासा-नक्ता (निघण्टु ५।२।८), २ दैव्या होतारा (९), ३. अश्विनौ (।६।१) इसी लिए द्वन्द्वपदता की समानता के होते हुए भी यहाँ समाम्नात नहीं हैं; अपितु अपने उचित स्थान में—आप्रीत्व-सामान्य से पहले दो को आप्री देवताओं में तथा दिव्य देवताओं में प्रथमागामिता के कारण अश्विनौ को दिव्य देवताओं के प्रकरण के आरम्भ में—रखा गया है[1]।

स्तुति प्राप्त करने वाले इन ३६ पृथ्वी-स्थानीय देवताओं में अश्व सब से प्रमुख है; अतः इसे प्रथम रखा गया है। मैत्रायणी संहिता (१।८।१) में कहा गया है कि प्रजापति ने अग्नि में पहली आहुति दी, तो पुरुष पैदा हुआ। दूसरी दी, तो अश्व उत्पन्न हुआ[2]। लगता है यास्क इसी आधार पर अश्व को प्रथमागामी मानते हैं[3]। हमारा विचार है कि पृथ्वी पर अग्नि का सब से प्रधान कर्म अश्वमेध यज्ञ है और

१. इस पर विचार के लिए दुर्गटीका ६।३५ देखिये।

२. द्र. प्रजापतिः....अग्नेऽग्ना आहुतिरहूयत। तस्या आहुत्याः पुरुषोऽसृज्यत। द्वितीयामजुहोत्, ततोऽश्वोऽसृज्यत।

३. दुर्गाचार्य और स्कन्दस्वामी ने यही उपपत्ति दी है।

अश्वमेध यज्ञ का प्रमुख उपकरण अश्व है। यास्क ने अश्व के उदाहरण के रूप में जो ऋचा दी है, वह अश्वमेध के ही अश्व का वर्णन करने वाले सूक्त में से है। अतः गौण पार्थिव वस्तुओं में अश्व अग्रभागामी है।

अश्व के २६ पर्याय शब्द निघण्टु (१।१४) में सङ्कलित हैं, जिनकी व्याख्या यास्क ने निरुक्त (२।२७-२८) में की है। वहाँ अश्व का निर्वचन किया गया है: १ वह मार्ग को व्यापता है, २ वह बहुत खाता है। निरुक्त (१।१२) में अश्व को परोक्षवृत्ति शब्दों में गिनाया है, तथा अगले खण्ड में √अश् से इसका सम्बन्ध बताया है। √अश् के अर्थ होते हैं: व्यापना, पाना और भोगना। अश्व १ मार्ग को तय करता है, २ लक्ष्य को अन्य वाहनों की अपेक्षा शीघ्र पाता है (हम आज के यान्त्रिक युग की बात नहीं कर रहे हैं), और ३ मालिक से अन्य पशुओं की अपेक्षा अच्छे भोग अर्थात् सेवा को पाता-भोगता है।

निरुक्त (४।१३) में अश्व की उत्पत्ति आदित्य से भी बतलायी है। हमारा विचार है कि आदित्य से उत्पन्न वह अश्व आतिशी शीशे (सूर्यकान्त मणि) के द्वारा सूर्य से उत्पन्न अग्नि ही है। किन्तु इस प्रकरण में तो पशु अश्व ही अभिप्रेत है।

इस खण्ड का छठा शब्द (नाराशंसः) किसी देवता का नाम नहीं है। इस में तो स्तुत्य नर ही देवता (वर्ण्य) है। नर (मनुष्य) नर होने के कारण ही स्तुत्य नहीं हो जाता। उसमें स्तुति के लिए आधार बनने वाले कुछ गुण भी होने चाहिएँ। अतः गुणवान् पुरुष ही यहाँ देवता के रूप में अभीष्ट हैं। गुणवान् पुरुष के गुण उसके व्यवहार (कर्म) में प्रकट होते हैं। जब हमारे साथ कोई अच्छा व्यवहार करता है, तो हम उसे प्रशंसा के योग्य समझते हैं; तथा स्वतः उसकी प्रशंसा मुँह से निकल भी पड़ती है। ऋषियों ने भी ऐसे ही कई अवसरों पर अपने उपकारी मनुष्यों की, विशेषकर राजाओं की, प्रशंसा की थी। ऐसे मन्त्र नाराशंस मन्त्र या नाराशंसी ऋचा कहलाते हैं[1]। ऋग्वेद संहिता के १।१२५ और १२६ सूक्त इसके उदाहरण हैं। इन मन्त्रों में पार्थिव मनुष्यों की स्तुति की गई है। अतः इनके देवता (विषय) को यहाँ रखना उचित ही है।

नाम देने वाले दान-दक्षिणा आदि कार्य यज्ञ आदि के अवसरों पर विशेष रूप से किये जाते हैं तथा बड़े-बड़े यज्ञ उस युग में भी ऐरे-गैरे लोगों के बस के नहीं थे; कोई राजा-महाराजा ही उन्हें कर सकते थे। अतः उस प्रसङ्ग से भाव्य राजा की स्तुति का (नाराशंस) मन्त्र उद्धृत करके यास्क का कथन है कि यज्ञ से सम्बन्ध होने से राजा की स्तुति होती है, तो राजा के साथ सम्बन्ध से राजाओं के प्रमुख काम (युद्ध) में काम आने वाले उपकरणों की ओर भी कवियों का ध्यान जाना

१. कर्माणि यानिः कथितानि राज्ञां दानानि चोच्चावचमध्यमानि।
नाराशंसीरित्यृचस्ताः प्रतीयात्ताभिः स्तुतिर्वाशतयीषु राज्ञाम्॥बृ.३।१५४॥

स्वाभाविक है। इनमें रथ सब से प्रमुख है। प्राचीन सैन्य-तन्त्र में रथ और रथी का बहुत, अथवा सर्वाधिक महत्त्व होता था। पत्ति, (पैदल), अश्वारूढ (घुड़सवार) और गजारूढ (हाथीसवार) योद्धा की अपेक्षा रथी योद्धा अधिक महत्त्व पाता था। सैनिक के शौर्य के मानदण्ड के रूप में महारथी, अतिरथी शब्द ही प्रचलित थे, महाश्वी या महागजी आदि नहीं। अतः रथ सैनिक के लिए प्रतिष्ठा का चिह्न समझा जाता था। कई घोड़ों के द्वारा खींचा जाने के कारण इसकी चाल तो तेज होती ही है: **रथो रंहते र्गतिकर्मणः**, अन्य वाहनों की अपेक्षा इसमें स्थिरता भी होती है: **स्थिरतेर्वा स्याद्विपरीतस्य**। इन से भी बढ़ कर यह विशेषता है कि यह सब से आरामदेह सवारी होती है: **रममाणोऽस्मिंस्तिष्ठतीति वा**।

युद्धोपकरणों में सैनिकों में शौर्य का सञ्चार करने की दृष्टि से विजय की घोषणा और अन्य सङ्केत आदि देने में आवश्यक होने से **दुन्दुभि** (तुरही या दमामा, नगाड़ा, ८) भी बहुत महत्त्वपूर्ण है।

युद्धोपकरणों में, इसके बाद, यास्क ने क्रमशः **इषुधि** (तरकस, तूण, तूणीर), **हस्तघ्न** (दस्ताना[1], १०), **अभीशु** (बागडोर, लगाम, ११), **धनुष्** (१२), **ज्या** (धनुष् की डोरी, १३), **बाण** (१४), **अश्वाजनी** (<अश्व+अजनी, कशा, सांटा, चाबुक, १५) को लिया है। इन पर उदाहृत मन्त्रों में कुछ तो कवित्व की दृष्टि से बड़े भावुक और कल्पना से प्रवण तथा मनोहर हैं। खिंच कर योद्धा के कान तक आ जाने वाली, बाण की पूँछ से चिपकने वाली तथा सीत्कार करती धनुष की डोरी का वर्णन निम्न ऋचा में देखने योग्य ही है:

वक्ष्यन्तीवेदा गनीगन्ति कर्णं प्रियं सखायं परिषस्वजाना।
योषेव शिङ्क्ते वितताऽधि धन्वञ्ज्या इयं समने पारयन्ती॥ ६।७५।३॥

[**वक्ष्यन्ती इत् इव** मानों कुछ कहेगी ही **कर्णं** कान के पास **आगनीगन्ति** आती है। **प्रियम्** अपने प्यारे **सखायं** प्रेमी से **परिषस्वजाना** लिपटती हुई यह **योषा** [redacted] सम्भोग सुख में मग्न स्त्री की तरह **शिङ्क्ते** अव्यक्त ध्वनि (सी-सी) करती है **वितता** तनी हुई **अधि धन्वन्** धनुष् पर **ज्या इयं** यह डोरी **समने** युद्ध में **पारयन्ती** पार लगाती हुई।]

घरेलु उपकरणों या वस्तुओं में **पवि** (४), सिल-बट्टे के पत्थर (५), **ऊखल** (१६), **ऊखल-मूसल** (२६) **द्रुघण** (मुद्गर, १८), **अन्न** (१६), **जल** (२१),

---

१. दुर्गाचार्य ने कलापी, पट्टकः, गोधा ये दस्ताने के पर्याय दिये हैं। हस्तघ्न शब्द का निर्वचन है: हस्ते हन्यते। दुर्ग और स्कन्द ने इसका अर्थ किया है: हाथ में स्थित यह ज्या से पीटा जाता है। इन्होंने √हन् को हिंसा अर्थ में ही माना है। हमारा विचार है कि यहां √हन् गति अर्थ में है: हाथ में प्राप्त कराया जाता है, अर्थात् बांधा जाता है। निघण्टु (२।१४।७२, १०६) में गत्यर्थक धातुओं में √हन् है।

ओषधियाँ (२२) और सोमरस रखने के लकड़ी से बने २ पात्र (३०) सङ्कलित हैं। प्राकृतिक पदार्थों में नदियां (२०), व्यास और शतलुज (३२) रात (२२), घना जंगल (२४), धरती (२६), आकाश और धरती (३१) वर्णित हैं।

इस खण्ड के शब्दों की व्याख्या में यास्क ने कोई विशेष श्रम नहीं किया है। यत्र-तत्र निर्वचन देकर मन्त्र उद्धृत कर दिया है। इस व्याख्या से ऐसा कुछ नहीं लगता कि ये शब्द किसी भी दृष्टि से इतने महत्त्वपूर्ण हैं कि इनका निघण्टु में सङ्कलन आवश्यक है। लगता है कि यास्क ने इन शब्दों को केवल परम्परा के निर्वाह के लिये ही यहाँ स्थान दिया है तथा इन पर अपने भाष्य में पृथक् से एक अध्याय लिखा है। हमारे विचार से तो आठवें अध्याय के अन्त में ही यास्क यदि इतना मात्र कह कर समाहार कर देते कि इन प्रमुख और गौण देवताओं के अलावा कुछ पृथ्वी-स्थानीय सत्त्व ऐसे भी हैं, जिनकी मन्त्रों में स्तुति मिलती है, तो पर्याप्त होता। केवल यज्ञिय कर्मकाण्ड के प्रैष कर्म में श्रुत देवी ओम्द्री (३५) और देवी ऊर्जाहुती (३६) को तो यहाँ देने की कोई आवश्यकता भी हमें तो नहीं लगती। बाकी, इस विषय पर हम इतना ही कह सकते हैं कि हो सकता है यास्क के समय इन सब का निरुक्त शास्त्र में तथा कर्मकाण्ड में बहुत महत्त्व रहा हो। अपनी परम्परा के दबाव में ही यास्क को ये शब्द अपने निघण्टु में दे कर उन पर पृथक् से अध्याय लिख कर भाष्य करना पड़ा हो।

नदियों (२०) के वर्णन में यास्क ने महत्त्वपूर्ण सामग्री हमें दी है। यह सामग्री इन नदियों के नामों के निर्वचन और उनके प्राचीन नामों को बताने के माध्यम से प्राप्त होती है। श्री आर्येन्द्र शर्मा जी का कहना है कि वैदिक नदियों के नाम प्रायः तेज गति की ओर सङ्केत करते हैं[1]। यास्क के इस स्थल से हमें विदित होता है कि इन नदियों के बहने का अपना-अपना ढंग है[2]। १. गङ्गा का बहाव सामान्य है, न तेज है, न मन्दा : गङ्गा गमनात्। दुर्ग ने इसका आशय यह लिया है कि विशिष्ट स्थान को जाने अथवा प्राणियों को वहाँ पहुँचाने के कारण गङ्गा गङ्गा कहलाती है। इसके पीछे धार्मिक श्रद्धा की भावना निहित प्रतीत होती है। २. यमुना के २ निर्वचन किये हैं : १ अन्य नदियों से मिलती चलती है; २ धीर-मन्थर गति से बहती है : यमुना प्रयुवती गच्छति; प्रवियुतं गच्छतीति वा। ३. शुतुद्री (सतलुज) तेज बहाव वाली नदी है : शुतुद्री शु द्राविणी=क्षिप्रद्राविणी, आशुतुन्नेव द्रवतीति वा। ४. परुष्णी नदी टेढ़ी-मेढ़ी बहती है, दूर से या इस के मार्ग का नक्शा बना कर देखने

१. द्र॰ अखिल-भारतीय-प्राच्यविद्या-परिषद् (A.I.O.C.) के १९४१ ई. के अधिवेशन में पठित निबन्धों को सार पुस्तक, पृष्ठ १७५।

२. दु. स्कन्दभाष्य ९।२६ : एवं समस्तार्थवचनानन्तरमेकैकस्य पदस्य निर्वचनं विशिष्टं गमनमङ्गीकृत्याह।

से लगता है जैसे इसमें स्थान-स्थान पर जोड़ हों : **पर्ववती कुटिलगामिनी ।** ५. **आर्जीकीया** (व्यास) का बहाव सरल है : **ऋजुगामिनी वा** । लगता है **व्यास** का उपयोग लक्कड़ आदि को पहाड़ से मैदानों में पहुँचाने में अधिक होता था : **विपाड् विप्रापणाद्वा** । ६. **सुषोमा** (सिन्धु) का बहाव बड़ा कोमल रहा होगा, उखाड़-पछाड़ वाला नहीं। और बहुत-सी सतलुज, रावी, चनाब और झेलम नदियाँ इसकी ओर दौड़ती हैं : **सुषोमा सिन्धुर्यदेनामभिप्रसुवन्ति नद्यः । सिन्धुः स्यन्दनात्** । ध्यान रहे अपनी कोमल सुखदायक चाल के कारण ही रथ **स्यन्दन** कहलाता था। ७. **सरस्वती** नाम इसके जल की श्रेष्ठता को प्रकट करता है कि जल है, तो बस सरस्वती का ही है। सरस्वती के जल की श्रेष्ठता का प्रमाण **मैत्रायणी संहिता** (४।३।६) में भी मिलता है। वहाँ **राजसूय** यज्ञ में दीक्षित के अभिषेक के लिए सरस्वती नदी के जल के उपयोग की बड़ी प्रशंसा की गई है। ८. **असिक्नी** । जल काला होने के कारण इसका नाम ही काली नदी पड़ गया था : **असिक्न्यशुक्ला** । ९. **वितस्ता** जेहलम नदी प्राचीन समय में **अवितस्ता** रही होगी। चौड़ा पाट होने के कारण यह नाम पड़ा था। **वितस्ताऽविदग्धा[1] । विवृद्धा महाकूला ।**

१. स्कन्दस्वामी ने अवितस्ता पाठ की ही व्याख्या की है। अविदग्धा दुर्ग के अनुसार तथा कोषों के अनुसार है। श. ब्रा. (१।४।१।१०-२०) में एक कथा दी है कि वैश्वानर अग्नि सरस्वती से पूर्व की ओर चला तो रास्ते की सब नदियों को जलाकर शुद्ध करता चला। किन्तु उत्तरगिरि (हिमालय) से निकलने वाली सदानीरा नदी को उसने नहीं जलाया। दुर्ग ने इस सदानीरा को ही वितस्ता मानकर अविदग्धा की व्याख्या की है। हम इससे सहमत नहीं हैं। क्योंकि १. सदानीरा का यह प्रदेश पूरब में बतलाया है, वितस्ता पश्चिम में है। २. सदानीरा का क्षेत्र अग्नि से दग्ध न होने से अपवित्र होने के कारण ब्राह्मणों से परित्यक्त था। वितस्ता का क्षेत्र वर्जित नहीं है। ३. सदानीरा नदी कोसल-विदेह जनपदों की सीमा पर है। वितस्ता कोसल-विदेह जनपद से बहुत पश्चिम में है।

शतपथ ब्राह्मण (१।४।१।१४–१७) के निम्न वाक्यांश हमारे इस निष्कर्ष का आधार हैं : तर्हि विदेघो माथव आस सरस्वत्याम् । स तत एव प्राङ् दहन्नभीयाय....स सर्वा नदीरतिददाह । सदानीरेत्युत्तराद् गिरेर्निर्धावति, तां हैव नाति ददाह। तां ह स्म तां पुरा ब्राह्मणा न तरन्त्यनतिदग्धाऽग्निना वैश्वानरेणेति । तत एतर्हि प्राच्यो ....तद्ध क्षेत्रतरमिवास....स्रस्वदितमग्निना वैश्वानरेणेति । तदु हैतर्हि क्षेत्रतरमिव ब्राह्मणा उ हि नूनमेनद् यज्ञैरसिष्वदन् । साऽपि जघन्ये नैदाघे समिवैव कोपयति तावच्छीताऽनतिदग्धा ह्यग्निना वैश्वानरेण ।....सैषाप्येतर्हि कोसलविदेहानां मर्यादा; ते हि माथवाः ।

निरुक्त के प्रकृत वाक्य का स्वारस्य भी दुर्ग की व्याख्या के विरुद्ध है। यदि वितस्ता की व्याख्या 'अविदग्धा' है, तो 'विवृद्धा' किस की व्याख्या है ? यह यदि किसी पदान्तर की व्याख्या नहीं है, तो यास्क ने 'अथवा' या 'वा' आदि कुछ भी दिये बिना इसे क्यों दिया ? 'वितस्ता' से 'विदग्धा' का क्या ध्वनिसाम्य या अर्थसाम्य है ?

परुष्णी इरावती (रावी) का प्राचीन नाम था : इरावतीं परुष्णीत्याहुः । आर्जीकीया विपाश् (व्यास) का पुराना नाम था। इसका एक और भी नाम था : उरुञ्जिरा। सिन्धु पहले सुषोमा कहलाती थी। यह सुषोमा नाम इसमें और बहुत-सी नदियों के मिलने के आधार पर पड़ा था : सुषोमा सिन्धुर्यदेनामभिप्रसुवन्ति नद्यः । सिन्धु नाम इसके बहाव की गति के आधार पर पड़ा था : सिन्धुः स्यन्दनात् । व्यास नदी के उद्‌गम स्थल का नाम ऋजीक था : ऋजीकप्रभवा। वसिष्ठ ने अपघात के लिए अपने आपको बांध-बूंध कर इस नदी में डाल दिया। पर नदी में पड़ते ही उनके बन्धन खुल गये । इस चमत्कार के कारण ही आर्जीकीया, जो उस समय उरुञ्जिरा कहलाती थी, उसके बाद विपाश् कहलाने लगी :

पाशा अस्यां व्यपाश्यन्त वसिष्ठस्य मुमूर्षतः ।
तस्माद् विपाडुच्यते पूर्वमासीदुरुञ्जिरा ॥

व्युत्पत्ति की दृष्टि से आर्जीकीया का सम्बन्ध आर्जीक से और आर्जीक का ऋजीक से है। आर्जीकीय का प्रयोग ऋग्वेदसंहिता की आज उपलब्ध शाकल शाखा में दो बार हुआ है—एक बार पुंल्लिङ्ग के सप्तमी, ए. व. में (८।६४।११ में) और एक बार स्त्रीलिङ्ग के सम्बोधन ए. व. में (१०।७५।५) में। प्रथम प्रयोग में इसका अर्थ कोई स्थान-विशेष है। हो सकता है यह कोई देश (जनपद) हो। सायण ने यही माना है। दूसरी बार यह स्थान-विशेष के आधार पर पड़े प्रकृत नदी-विशेष के नाम के लिए आया है, जिसका अर्थ यास्क ने विपाश् (व्यास) नामक नदी बतलाया है।

आर्जीक का प्रयोग ऋग्वेदसंहिता में कुल तीन बार हुआ है : (क) ८।७।२९ में सप्तमी, ए. व. में, (ख) ९।६५।२३ में सप्तमी, ब. व. में और (ग) ९।११३।२ में पञ्चमी, ए. व. में। ८।७।२९ पर भाष्य में सायण ने शर्यणावत (कुरुक्षेत्र में स्थित एक सर) से आर्जीक को सम्बन्धित बतलाया है। ८।६४।११ पर भाष्य में उन्होंने शर्यणावत् को आर्जीकीय देश में स्थित सुषोमा नामक नदी में (उसके अत्यन्त पास) स्थित बतलाया है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि १. सायण कुरुक्षेत्र को आर्जीकीय जनपद का एक भाग मानते हैं। २. आर्जीकीय और आर्जीक जनपद एक ही हैं। ३. आर्जीक जनपद ऋजीक नामक देश के समीप में स्थित है।

ऋजीक शब्द का प्रयोग वर्तमान शाकल शाखा में तथा ब्राह्मण ग्रन्थों में नहीं मिलता। उणादि सूत्रों में ऋजेश्च (४।२२ से) √ऋज् से ऋजीक की व्युत्पत्ति बतलायी है। इसके अर्थ पर कहीं कुछ प्रकाश नहीं डाला गया है। इसका प्रयोग सीधे रूप में कहीं नहीं मिलता। इससे लगता है यह शब्द अत्यन्त प्राचीन है।

सायण के विवरण से हम सहमत नहीं हैं। यास्क के प्रकृत कथन के अनुसार सुषोमा सिन्धु नदी का पुराना नाम है। सिन्धु नदी कुरुक्षेत्र से इतनी दूर है कि

शर्यणावत् सर को **सुषोमा** में स्थित नहीं कहा जा सकता। अतः हमारे विचार में **ऋजीक** किसी देश का नाम नहीं, अपितु किसी पर्वत का नाम है, जहाँ से **व्यास** नदी निकलती है। यास्क के **ऋजीक-प्रभवा** का भी यही आशय लगता है। उस पर्वत के नीचे का मैदानी क्षेत्र उसके नाम पर **आर्जीक** कहलाता था। **ऋजीक** पर्वत से उत्पन्न और **आर्जीक** नामक मैदानी भू-भाग में बहने वाली **व्यास** नदी **आर्जीकीया** कहलाती थी। अतः हमारे विचार से हिमालय पर्वतमाला की **शिवालिक** शृङ्खला के पश्चिमी भाग में स्थित किसी पर्वत का नाम **ऋजीक** है। अतः ३२° उत्तर से नीचे की ओर तथा ७६° पूर्व से पश्चिम, या उसके आस-पास का, अर्थात् **अमृतसर** से उत्तर-पूर्व का क्षेत्र **आर्जीक** कहलाता था। **ऋजीक** पर्वत की भौगोलिक स्थिति भी ३२° उत्तर और ७८° पूर्व के आस-पास ही कहीं होनी चाहिए।

महाभारत (वनपर्व १२५।१५–२६) में वर्णित **आर्चीक** पर्वत को **आर्जीक** समझने का भ्रम हो सकता है। क्योंकि १. वहाँ **अक्षयस्रोता यमुना** को इस पर्वत में (इह) बतलाया है, जिसका उद्गम **ऋजीक** के निकट ही है। २. इसे **सदाफल** (हमेशा फलों से लदे वृक्षों वाला, हरा-भरा) और **सदास्रोतः**, **प्रस्रवण** (सदा बहते झरनों वाला) बतलाया है। **शिवालिक** में स्थित पर्वत का यह वर्णन उचित है।

परन्तु हम इससे सहमत नहीं हैं। क्योंकि १. इस पर्वत की स्थिति **सैन्धवारण्य** (सम्भवतः नमकीन **सांभर** झील के निकट के जंगल) के निकट स्थित **पुष्कर** तीर्थ (२७° उत्तर, ७५° पूर्व) के समीप में है, जो **ऋजीक** की स्थिति से बहुत दूर है। २. सम्भवतः **आगरा** के क्षेत्र को बहुत दूर न समझ कर ही **यमुना** को यहाँ (इह) बताया है। ३. पर्वत को अर्थवाद के रूप में भी हरा-भरा और झरनों से युक्त बताया हो सकता है। अतः हमारे विचार में **आर्चीक** पर्वत **आर्जीक** से भिन्न है और **अरावली** पर्वत-माला में ही कहीं पर स्थित है।

अध्याय २४

अन्तरिक्ष-स्थानीय देवता

पृथ्वी और द्यौ के मध्य के अवकाश को अन्तरिक्ष कहते हैं : अन्तरेमे क्षियति[1] ....(निरुक्त २।१०)। इसे दोनों लोकों के मध्य में स्थित होने के कारण मध्यम लोक भी कहते हैं। इस अवकाश के जो तत्त्व देवता के रूप में वर्णित हैं, उन्हें अन्तरिक्ष-स्थानीय देवता, माध्यम या माध्यमिक देवता भी कहते हैं। प्रत्यक्षतः अन्तरिक्ष मेघों का स्थान है, जो पृथ्वी पर जल की वर्षा करते हैं। मेघ वर्षा करने में स्वतन्त्र नहीं हैं; अतः वैदिक ऋषियों ने उन्हें देवता नहीं माना है। वे तो जल को अपने अन्दर रोके रखते हैं; इस लिए जल के आवरक होने के कारण वृत्र (वारक, बाधक) हैं, इन की चर्चा हम वृत्र के प्रकरण में आगे करेंगे।

पृथ्वी-निवासी लोगों को अन्तरिक्ष की उपयोगिता सिर्फ वर्षा कराने के कारण ही है। इस लिए वर्षा कराने में जो तत्त्व जितना अधिक उपयोगी है, वह अन्तरिक्ष के सब देवताओं में उतना ही प्रधान है। अन्तरिक्ष के देवता के लिए यास्क ने यही एक कसौटी रखी है : अथास्य कर्म रसानुप्रदानम् .... (निरुक्त ७।१०)। .... मध्यम इत्याचार्याः, वर्ष-कर्मणा ह्येनं स्तौतीति (वहीं २२)।

भौतिक दृष्टि से वायु ही अन्तरिक्ष का सर्वप्रधान तत्त्व है। जैसा कि नाम से प्रकट है, वायु पाँच तत्त्वों में अन्यतम है। यों तो वायु पृथ्वी पर भी है; पर यहाँ उसकी प्रधानता नहीं है। यहाँ वह अग्नि तत्त्व के आगे गौण है। अन्तरिक्ष के देवता के जितने भी विभिन्न प्रकार के वर्णन हैं, वे सब वायु के ही विविध रूपों को, अवस्थाओं को, या कार्यकलापों को प्रकट करते हैं। अतः वायु जहाँ अन्तरिक्ष के देवता के भौतिक आधार को प्रकट करने वाला और इसीलिए भौतिक तत्त्व के देवताकरण की प्राथमिक अवस्था को [द्र.पीछे पृष्ठ २५६ पर (क) अनुच्छेद] प्रकट करने वाला शब्द है, वहीं इन्द्र, रुद्र, मरुत् आदि शब्द उस के गुणों को बतलाने वाले नाम हैं। यह

---

१. कोषों में 'क्षियति' नहीं है, किन्तु निरुक्त २।१० में 'अन्तरिक्ष' के निर्वचन की दुर्गाचार्य और स्कन्दस्वामी की टीकाओं में क्षियति को न केवल उद्धृत ही किया गया है, अपितु इस की व्याख्या भी की गई है। अर्थ की दृष्टि से भी अकेला 'अन्तरेमे' निर्वचन अधूरा है। 'अन्तरिक्ष' के 'क्ष' की व्याख्या इतने से नहीं हो पाती। अतः हमने इसे मूल पाठ का अभिन्न अङ्ग मान कर यहां दिया है।

दूसरी बात है कि वायु के आलङ्कारिक (गुणाभिधानपरक) नामों में अन्यतम नाम इन्द्र को इतनी महत्ता प्राप्त हो गयी थी कि आपाततः हमें वायु गौण और इन्द्र प्रधान देवता के रूप में ऋग्वेद संहिता में स्तुत दिखाई देते हैं। वस्तुतः ये वर्णन भारतीय देवताओं के विकास की अवस्था को ही प्रकट करते हैं। कालान्तर में चलकर तो इन्द्र ही देवराज तथा स्वर्ग के अधिपति हो गये थे, इस का पता हमें पुराणों, इतिहास–काव्यों (Epics) से भली भाँति चलता है। यास्क की सूक्ष्मेक्षिका से वैदिक देवताओं का यह विकासक्रम छिपा नहीं रह सका। नहीं तो वे अन्तरिक्षस्थानीय देवताओं में इन्द्र को प्रथमागामी कहते, न कि वायु को। ऋग्वेद संहिता में इन्द्र की स्तुति में लिखे गये सूक्त वैदिक ऋषियों के दैनिक धार्मिक कार्यकलाप के आधार और इसी लिए उन के प्रिय देवता अग्नि की स्तुति में लिखे गए (२००) सूक्तों से कहीं अधिक (२५०) तथा समूची ऋग्वेद संहिता का चतुर्थांश हैं। पर यास्क इन्द्र के इस महत्त्व से भ्रान्त नहीं हुए। उन्हों ने अन्तरिक्षस्थानीय देवताओं में प्रधानता बतलाते समय विशुद्ध वैज्ञानिक दृष्टि को ही बनाए रखा है। आचार्य शौनक यहाँ धोखा खा गये; या यों कहिये कि देवविद्या में नैरुक्त दृष्टि की अपेक्षा कर्मकाण्ड दृष्टि के अधिक प्रबल होने के कारण वायु ही अन्तरिक्ष में प्रधान तत्त्व हैं—इस बात की वे उपेक्षा कर गये। एक जगह यद्यपि उन्हों ने यास्क की तरह वायु को ही पहले गिनाया है[1], तथापि आगे (१।६८, ६६, १२१; २।७, २२, ३१) के प्रकरणों में उन्हों ने इन्द्र को ही मध्यभाग (मध्यम लोक का स्वामी) देवता कहा है।

अन्तरिक्षस्थानीय देवताओं में वायु की प्रमुखता की शास्त्रीय तथा वैज्ञानिक उपपत्ति देते हुए दुर्गाचार्य ने कहा है कि कार्तिक मास के बाद सब दिशाओं में स्थित जल को ओषधियों, वनस्पतियों (बड़े वृक्षों) और जल के आगारों (नदी, तालाब, समुद्र आदि) से उठाता हुआ वायु अन्तरिक्ष लोक में इकट्ठा करने लगता है। इस प्रकार आठ मास तक इकट्ठा कर के धारण किया हुआ जल परिपक्व हो कर वर्षा ऋतु में बरसने लगता है। इसी आशय से कहा गया है :

> वान्ति पर्णशुषो वातास्ततः पर्णमुचोऽपरे।
> ततः पर्णरुहो वान्ति ततो देवः प्रवर्षति॥ (मूल मृग्य है।)

[अर्थात् पहले पत्तों (से भी जल)को सुखाने वाली वायु चलती है; फिर पत्तों को गिराने वाली; उस के बाद वसन्त में पत्ते फिर उगाने वाली हवा चलती है; उसके बाद वरसा होने लगती है।]

निघण्टु के पाँचवें अध्याय के चौथे और पाँचवें खण्डों में यास्क ने अन्तरिक्ष के देवताओं के (६८) नाम सङ्कलित किये हैं। इनमें से चौथे खण्ड में प्रधान देवताओं

१. प्रथमो भजते त्वासां वर्गोऽग्निमिह दैवतम्।
द्वितीयो वायुमिन्द्रं वा तृतीयः सूर्यमेव च॥ बृह. १।५॥

तथा माध्यमिक के गुण. धर्म से युक्त के रूप में वर्णित अन्यस्थानीय देवताओं के कुछ नाम सङ्कलित हैं। इस खण्ड में कुल मिला कर ३२ नाम हैं। छठे खण्ड में कुछ गौण माध्यमिक देवताओं के १५ और स्त्री-देवताओं के २१, इस प्रकार कुल मिला कर ३६ नाम सङ्गृहीत हैं।

चौथे खण्ड के ३२ देवताओं में वायु से ले कर अग्नि तक के २३ देवता वैदिक देवशास्त्रियों के लिए विशेष महत्त्वशाली थे। सूक्तों के द्वारा इनकी स्तुति भी की गई है, तथा यज्ञों में इन देवताओं के निमित्त हवि भी प्रदान की जाती है। शेष ९ देवताओं में से ४ देवताओं (वेन, असुनीति, ऋत और इन्दु) को हवि का विधान नहीं है। केवल सूक्त से ही इनकी स्तुति की गई है[1]। अर्थात् ये गौण महत्त्व के देवता हैं। शेष प्रजापति, अहि, अहि बुध्न्य, सुपर्ण, और पुरुरवस् की तो बिल्कुल गौण-सी स्तुति है। न इन्हें हवि देने का विधान है, न किसी सूक्त में ही इन की स्तुति की गई है। इक्की-दुक्की ऋचाओं या बहुत करके ऋचाओं के भी एकाध पादों में इनकी स्तुति की गई है। इन का स्थान कौन सा है? इस बारे में सन्देह निवारणमात्र के लिए ही यास्क ने इन्हें यहाँ दिया है, ऐसा लगता है।

इस खण्ड के नामों की व्याख्या भाष्य के १० वें अध्याय में की गई है।

१. वायु एक भौतिक तत्त्व है। यह सदा बहता रहता है। लौकिक में, इसी लिए, इसे सदागति कहते हैं। यास्क ने भी इस की व्युत्पत्ति गत्यर्थक धातुओं से मानी है : वायुर्वातेः। वेतेर्वा स्याद् गतिकर्मणः (१०।१)।

यावतामेव धातूनां लिङ्गं रूढिगतं भवेत्।
अर्थश्चाप्यभिधेयस्थस्तावद्भिर्गुणविग्रहः॥

इस सिद्धान्त को ध्यान में रख कर वायु की व्युत्पत्ति √वा से या √वी से मानी है। दोनों धातु गत्यर्थक हैं। पहली का तो वायु से सम्बन्ध इतना प्रसिद्ध हो गया था कि √वा का व्यवहार में प्रयोग हवा चलने के लिये ही होने लगा था। वायु के एक पर्याय वात में यह प्रकृति-विकृति सम्बन्ध बिल्कुल स्पष्ट है। ऋग्वेद संहिता में भी यह सम्बन्ध स्पष्ट रूप से बतलाया गया है :

द्वाविमौ वातौ वात आ सिन्धोरा परावतः।
दक्षं ते अन्य आ वातु पराऽन्यो वातु यद्रपः॥
आ वात वाहि भेषजं वि वात वाहि यद्रपः॥ १०।१३७।२-३॥

√वी से सम्बन्ध सम्भवतः वायु के यु की व्याख्या करने के लिए माना होगा। आचार्य स्थौलाष्ठीवि इसे गत्यर्थक √इ से (निष्पन्न वायु में) व् को आदि में

---

१. द्र. निरुक्त १०।४२ : इतोमानि सप्तविंशतिर्देवतानामधेयान्यनुक्रान्तानि सूक्तभाञ्जि, हविर्भाञ्जि। तेषामेतान्यहविर्भाञ्जि—वेनोऽसुनीतिरृत, इन्दुः। और यहाँ दुर्ग।

जोड़ कर बना मानते हैं : **एतेरिति स्थौलाष्ठीविः। अनर्थको वकारः।** उनकी मान्यता का आधार निम्न ऋचाओं में वायु के अर्थ में **आयु** शब्द का प्रयोग ही लगता है।

मा नो मित्रो वरुणो अर्यमायुरिन्द्र ऋभुक्षा मरुतः परिख्यन्। १।१६२।१।।

ते नो मित्रो वरुणो अर्यमायुरिन्द्र ऋभुक्षा मरुतो जुषन्त।५।४१।२।

ककुहः सोम्यो रस इन्दुरिन्द्राय पूर्व्यः। आयुः पवत आयवे।।९।६७।८।।

तीसरी ऋचा में तो **पवते** क्रिया[1] के कारण **आयुः** का अर्थ **वायुः** ही है, यह बिल्कुल स्पष्ट है। यहाँ एक बात ध्यान में रखना उपयोगी होगा। **आयुष्, आयु**—ये दो वैदिक शब्द समान-से ही लगते हैं। पर इनमें **आयुष्** (उम्र) आद्युदात्त है और **आयु** अन्तोदात्त। अन्तोदात्त **आयु** के भी दो अर्थ हैं : १. वायु और २. मनुष्य। ऊपर उद्धृत तीसरी ऋचा में **आयुः** का अर्थ **वायुः** है और **आयवे** का **मनुष्याय** है।

शौनक ने वायु का निर्वचन और ही तरह से किया है :

अणिष्ठ एष यत्तु त्रीण्याप्यैको व्योम्नि तिष्ठति।
तेनैनमृषयोऽर्चन्तः कर्मणा वायुमब्रुवन्।। बृह २।३२।।

यास्क ने वायु पर जो ऋचा (१।२।१) उद्धृत की है, उस से **वायु** के स्वरूप पर कोई प्रकाश नहीं पड़ता। लगता है इस ऋचा को उद्धृत करके **सोमा अरङ्कृताः** (द्वितीय पाद) के लिङ्ग से **वायु** माध्यमिक देवता हैं, यास्क इतना ही कहना चाहते हैं। इसी लिए उन्होंने कहा है : **कमन्यं मध्यमादेवमवक्ष्यत्?** दूसरी (६।३७।३) ऋचा को वैदिक देव-शास्त्रियों में इस ऋचा के देवता की प्रधानता-गौणता पर मत-भेद है, इसे द्योतित करने को उद्धृत किया है : **इन्द्रप्रधानेत्येके, नैघण्टुकं वायुकर्म। उभयप्रधानेत्यपरम्।**

२. **वरुण**। ऊपर (पृष्ठ ३२४ पर) हम कह आये हैं कि कार्तिक मास के बाद वायु जल को अन्तरिक्ष लोक में इकट्ठा करने लगता है। वरुण शब्द वायु के इसी गुण को बताता है। इस अर्थ में **वरुण** शब्द का प्रयोग इस देवता के ऐतिहासिक ह्रासक्रम[2] की एक कड़ी ही है। ऋग्वेद संहिता में एक तरफ तो वरुण को मनुष्य के हृदय में कर्म, जल में अग्नि, द्यु लोक में सूर्य और पर्वत में सोम को स्थापित करने वाला (५।८५।२), सूर्य के विस्तृत मार्ग को बनाने वाला (१।२४।८), अपनी माया से विश्व को व्याप्त करने वाला (८।४१।३), सबका राजा (२।२७।१०; ५।८५।३;

---

१. **'पवते'** गति और पवित्रता अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। निघण्टु (२।१४। १०८) में यह गत्यर्थक धातुओं में सङ्कलित है। **मह्यं वातः पवतां कामे अस्मिन्** (ऋ. सं. १०।१२८।२) में वायु के लिए इसका प्रयोग गति अर्थ में ही हो सकता है।

२. पतनोन्मुखी वृत्ति वाली पाश्चात्य विचार-धारा के लोगों को भले ही यह वरुण देवता का विकासक्रम लगे; भारतीय दृष्टि से हमें तो ह्रासक्रम ही लगता है।

८।८२।१; १०।१३२।४), धृतव्रत (१।२५।१०), ऋत का रक्षक (५।८३।१), उग्र एवं हजारों आँखों से लोगों को देखने वाला (१।२५।५, ५०।६; ७।३४।७०)—और इस प्रकार सबसे अधिक शक्ति से सम्पन्न के रूप में बताया है; दूसरी तरफ सात सिन्धुओं वाला (८।६६।१२), जल का राजा (७।४६।३), मरुत् जिस प्रकार द्यु लोक में, अग्नि जैसे भूमि पर और वात जिस प्रकार अन्तरिक्ष में गति करते हैं, वैसे ही जल में गति करने वाला (१।१६१।१४) बताया है। अथर्ववेद संहिता में तो बड़ी स्पष्टता से वरुण का घर जल में बताया है (७।८३।१)।

जहाँ तक वरुण के लोक अर्थात् स्थान का सम्बन्ध है, ऋग्वेद संहिता में हमें उसके तीन स्थान मिलते हैं। जब वरुण का महत्त्व अक्षुण्ण है, तब तो वरुण का स्थान असन्दिग्ध रूप से द्यौः है। एक समय द्यौः के लिए प्रयुक्त असुर विशेषण वरुण के लिए खूब प्रयुक्त हुआ है। सूर्य को वरुण की आँख बतलाया गया है। इसके बाद इसका महत्त्व जब कुछ कम होने लगा, तब इसका जल से सम्बद्ध देवता के रूप में ह्रास प्रारम्भ होने की पूर्वावस्था के रूप में अन्तरिक्ष से सम्बन्ध स्थापित किया जाने लगा (३।६१।७; ५।८५।३-५)। इसके बाद की स्थिति में वरुण का सम्बन्ध नदियों और समुद्रों से विशेष रूप से स्थापित हुआ था (१।१६१।१४; २।२८।४; ५।८५।६; ७।६४।२, ८७।६; ८।४१।८, ६९।१२; ९।९०।२)। ऋग्वेद संहिता में ये इससे नीचे नहीं आ पाये हैं। परवर्ती संहिताओं (अ. सं. ५।२४।४) में वरुण जल के स्वामी के रूप में वर्णित हैं। यह अवस्था पौराणिक, पश्चिम दिशा के स्वामी, समुद्रवासी, तथा जल के स्वामी प्रचेता वरुण की पूर्वावस्था है।

वरुण और वृत्र दोनों ही √वृ से व्युत्पन्न हैं; पर एक देवता है, तो दूसरा देवता का शत्रु। यह भेद इन दोनों के तात्त्विक भेद के कारण हुआ है। वरुण वायु की उस अवस्था का नाम है, जिसमें जल पृथ्वी से उठाया जा कर वृष्टि के योग्य होने तक रोक कर रखा जाता है। यह अवस्था लोक के लिए शुभ है। यदि पृथ्वी से जल सङ्गृहीत ही न हो पायेगा, या वृष्टि के योग्य होने से पहले ही बहा दिया जायेगा, तो बरसात में वर्षा किस की होगी? अतः वरुण देवता हैं, किन्तु वृत्र उस अवस्था को कहते हैं जब अन्तरिक्ष में सम्भृत जल वृष्टि के योग्य हो चुकने पर भी बरस नहीं पाता है। वृत्र इसी रुकावट का आलङ्कारिक वर्णन है। यह रुकावट लोक के लिए कल्याणकारी कथमपि नहीं है। अपितु कष्टकारक ही है। अतः वृत्र बुरे अर्थ में √वृ से ही निष्पन्न है। यहाँ एक यह बात भी ध्यान में रहे कि वरुण और वृत्र—दोनों ही—असुर हैं। एक श्रेष्ठ अर्थ में है, दूसरा बुरे अर्थ में।

२. रुद्र। जब जल वृष्टि के योग्य हो जाता है, तब वह आकाश में बादल के रूप में आ जाता है। जिस प्रकार स्त्री को प्रसव से पूर्व वेदना होती है, वह हाथ-पैर पटकती है, चीखती-चिल्लाती है, रोती-धोती है, उसी प्रकार अन्तरिक्ष के गर्भ में स्थित

जल के प्रसव (बरसात) से पूर्व भी प्रकृति में मानों वेदना होती है। बादलों में गड़-गड़ाहट, बिजली की कौंध आदि के रूप में वह प्राकृतिक वेदना प्रकाशित होती है। उसी अवस्था का वैदिक नाम है: रुद्र। वह अवस्था वर्षा की शीघ्रभाविता की सूचक है। इसी लिए ऋ. सं. ७।४६।१ में रुद्र को क्षिप्रेषु कहा गया है। वा. सं. (१६। ६६) के अनुसार वर्षा ही रुद्र का इषु=बाण है।

४. इन्द्र। जल की बरसा जिस अवस्था में होने लगती है, उस प्राकृतिक अवस्था का कवित्वमय नाम है: इन्द्र। इतना गर्जन-तर्जन होता है, पर वर्षा नहीं होती। इसी अवस्था को ऋषियों ने वृत्र नाम दिया है। देवताओं में श्रेष्ठ इन्द्र उस वृत्र से युद्ध कर के अपने वज्र (बिजली) से उसका वध करते हैं, तब वर्षा होती है। इस मानसिक पृष्ठ भूमि में प्राकृतिक अवस्था का जो पराक्रममय वर्णन किया जाता है, वह इन्द्र का ही वर्णन होता है। इसी लिए इन्द्र के तीन कर्म बतलाये हैं: १. जल बरसाना। इस प्रथम कर्म की सिद्धि के लिए २. इन्द्र को वृत्र मारना पड़ता है या ३. अन्य कुछ पराक्रम के कार्य करने पड़ते हैं।

५. पर्जन्य। वृष्टि होते ही सर्वत्र आनन्द की लहर-सी दौड़ जाती है। सर्वत्र शान्ति, सन्तोष, तृप्ति अनुभव होती है। इसी अवस्था का देवविध नाम पर्जन्य है।

ये पांच नाम मध्यम देवता के गुणभिधानों में प्रधान हैं। इसके बाद वृष्टि से सम्बद्ध अन्य गुणों को प्रकट करने वाले कुछ (२७) गौण नाम हैं। हमारे विचार में इन से प्राकृतिक अवस्थाओं का किसी प्रकार का क्रम अपेक्षित नहीं है। इन में बहुत से देवता अन्तरिक्ष-स्थानीय न होने से अन्तरिक्ष-स्थानीय देवताओं में परिगणित होने योग्य नहीं हैं; तथापि उनका वर्षा से प्रत्यक्षतः या परोक्षतः सम्बन्ध होने के कारण, किसी प्रकार के बल के कार्य से या सोमपान से कोई सम्बन्ध होने से ही अन्तरिक्ष-स्थानीय देवताओं में गिना गया है। बृहस्पति आदि पति-शब्दान्त ५ नाम वस्तुतः विशेषण हैं; परन्तु वर्षा के बिना इनमें से एक का भी कार्य सम्पन्न नहीं हो सकता। ये सब वृष्टि के पश्चात् ही अपने-अपने अर्थ के अनुकूल कार्य को करने में समर्थ हो पाते हैं; इसलिए सब अन्तरिक्ष-स्थानीय देवताओं में परिगणित हैं।

प्रजापति की स्थिति कुछ भिन्न-सी है। संहिता साहित्य की दृष्टि से प्रजापति की स्थिति यह है। ऋग्वेदसंहिता में दो बार (४।५३।२; ९।५।९ में) यह शब्द क्रमशः सविता और सोम के विशेषण के रूप में आया है। दशम मण्डल में चार बार (क. ८५।४३, ख. १२१।१०, ग. १६९।४ और घ. १८४।१ में) स्वतन्त्र देवता के रूप में वर्णित है। इनमें से तीन बार—(क और घ में) सन्तान उत्पन्न करने की प्रार्थना के प्रसङ्ग में, (ग. में) गाय देने वाले के रूप में—प्रजापति की स्तुति की गई है। (ख. में) प्रजापति को सर्वोच्च देवता के रूप में माना गया है।

ऋ. सं. १०।१२१ में एक समस्या और है। १० ऋचाओं वाले इस सूक्त में

प्रजापति का नाम केवल अन्तिम ऋचा में ही आया है। अर्थ की समानता को यदि लें, तो सम्भवतः प्रथम मन्त्र के दूसरे पाद (भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्।) से भी प्रजापति का अर्थ समझा जा सकता है। ऐसी स्थिति में कुल मिला कर ऋग्वेद संहिता में प्रजापति एक नितान्त गौण देवता के रूप में आना प्रारम्भ किये हैं, यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है। इसी लिए यास्क ने प्रजापति को अहविर्भाक् और असूक्तभाक् देवताओं में रखा है (निरुक्त १०।४२), जब कि क को सूक्तभाक् और हविर्भाक् देवता के रूप में। शौनक ने (बृहद्देवता ३।७१ में), इसके विपरीत, प्रजापति और क दोनों को सूक्तभाक् देवता माना है। हमारे विचार में यास्क ऋग्वेद संहिता में क और प्रजापति की यथार्थ स्थिति से परिचित हैं, जब कि महाशाल शौनक याज्ञिक परम्परा में विद्यमान स्थिति से। परन्तु इस पर भी एक प्रश्न तो स्वाभाविक ही है कि शौनक क और प्रजापति—दोनों—को सूक्त-भाक् कैसे मानते हैं? यदि १०।१२१ के देवता प्रजापति हैं, तो क शब्द उनका सर्वनाम विशेषण ही होगा। यदि क को प्रजापति का नाम भी (ऐ. ब्रा. ३।२२, पृष्ठ ३४६ के अनुसार) माना जाये, तब भी उनमें पार्थक्य कहाँ रहा कि क और प्रजापति—दोनों—को सूक्तभाग् देवता माना जाये? एक ही सूक्त में वर्णित एक ही तत्त्व के दो नाम अलग-अलग देवता क्यों?

उपर्युक्त विवरण से यह निष्कर्ष निकालना अनुचित न होगा कि ऋग्वेद संहिता में प्रजापति दृढमूल देवता नहीं हैं। अर्थात् इन्द्र, अग्नि और वरुण आदि देवताओं जैसी प्रतिष्ठा प्रजापति के लिए अभी सुदूर भविष्य की ही बात थी। ये देवता ऋग्वेद संहिता के प्रणयन के युग के अन्त में उभरने प्रारम्भ ही हुए थे।

अन्य संहिताओं में से अथर्ववेद संहिता और यजुर्वेद संहिता (वाजसनेयि शाखा) में प्रजापति ऋग्वेद की अपेक्षा साधारणतया प्रमुख देव हो गये हैं। संहिताओं में प्रजापति इन्द्र के समकक्ष ही नहीं, अपितु उससे बढ़ कर हो गये हैं। प्रजापति का सर्वातिशायी रूप मिलता है ब्राह्मण साहित्य में। मैत्रायणी संहिता (४।२।१२) में प्रजापति को इतना महत्त्व प्राप्त हो गया है कि वे रुद्र को भी पशुपति बनाने का प्रलोभन देने की स्थिति में हैं। शतपथ ब्राह्मण में प्रजापति को ही सृष्टि से पूर्व विद्यमान बताया है (२।२।४।१)। अग्नि, इन्द्र, आदि ऋग्वेद संहिता के प्रतापी देवताओं को प्रजापति से उत्पन्न हुआ बतलाया है (११।१।६।१४)। इस प्रकार हम देखते हैं कि ऋग्वेद संहिता से उद्भूत प्रजापति ब्राह्मण साहित्य में पौराणिक परमेष्ठी प्रजापति ब्रह्मा की पूर्वावस्था में पहुँच गये थे।

यास्क ने इस देवता को अन्तरिक्ष-स्थानीय देवताओं में क्यों रखा है? इस प्रश्न का उत्तर दे पाना कठिन है। क के कृत्यों की इन्द्र के (ऋ. सं. २।१२ में वर्णित) कृत्यों से समानता होने से ही स्यात् उन्हें अन्तरिक्ष स्थान में रखा गया है।

११. अपां नपात्। व्युत्पत्ति की दृष्टि से यह शब्द स्वयं व्याख्यात है और

हमें तनू-नपात् (निरुक्त ८।५ में व्याख्यात) की याद दिलाता है। किन्तु तनू-नपात् आप्री देवताओं में एक है तथा अग्नि का गुणाभिधान है; जब कि अपां नपात् माध्यमिक देवता का गुणाभिधान है। ऋग्वेदसंहिता के १५ मन्त्रों वाले २।३५ वें सूक्त में इसकी स्तुति पूरे सूक्त से की गई है तथा अन्यत्र छुट-पुट मन्त्रों से इनकी स्तुति हुई है। ऋग्वेद संहिता में कुल ३० बार इनका नामोल्लेख हुआ है।

२।३५ वें सूक्त के १५ वें मन्त्र में इन्हें अग्ने कह कर सम्बोधित किया गया है। २।३५।४ और १०।३०।४ में इन्हें बिना इन्धन के जल में दीप्त होने वाला बताया है। इससे प्रतीत होता है कि भौतिक रूप से ये आकाशी विद्युत् ही हैं। २।३५।९ में तो स्पष्ट रूप से इन्हें विद्युतं वसानः तथा ११ वें मन्त्र में जल-रूप अन्न वाला (घृतमन्नमस्य) कहा है।

१२. यम। स्थान की दृष्टि से ऋग्वेद संहिता में यम का वर्णन दो तरह से आता है। १. द्युलोक-वासी के रूप में (१।३५।६, १०।१२३।६)। द्युलोक में भी ये वाजसनेयि संहिता (१२।६३) में उत्तम नाक (आकाश के सर्वोच्च स्थान) के निवासी बताये हैं। २. इन्द्र के प्रसङ्ग में जल के साथ (ऋ. सं. ९।११३।८)। हमारा विचार है यास्क ने इस दूसरे आधार पर ही यम को माध्यमिक देवताओं में दिया है। दुर्गाचार्य का कथन है कि यम सब भूतों को जीवन से उपरत कर देते हैं। यह बल का कार्य है, अतः यम मध्यम लोक के हैं।

१३. मित्र। मित्र प्रायः वरुण के साथी देवता के रूप में ही ऋचाओं में वर्णित हैं। अकेले मित्र की स्तुति में तो केवल एक (३।५९) सूक्त ही मिलता है। वरुण के साथी होने से ही सम्भवतः यास्क ने मित्र को भी अन्तरिक्ष-स्थानीय देवताओं में माना है। यों, ३।५९ सूक्त का वर्णन मित्र को सूर्य का एक नाम मानने की ओर सङ्केत करता है। दूसरे, तीसरे और पांचवें मन्त्रों में इन्हें आदित्य कहा भी गया है। प्रथम मन्त्र में वर्णित भाव की तुलना हम अंशतः सविता के एक मन्त्र (५।८२।९) से कर सकते हैं। एक अन्य मन्त्र (५।८१।४) में (धर्मों) की दृष्टि से सविता का तादूप्य मित्र से भी बताया गया है। एक और ऋचा (१०।८।४) में अग्नि को ही मित्र को उत्पन्न करने वाला कहा गया है। इन सब बातों से मित्र के आदित्य होने को ही बल मिलता है। इस देवता के विकास का परवर्ती इतिहास भी इसे सूर्य ही सिद्ध करता है। अतः यास्क ने किस आधार पर अन्तरिक्ष-स्थानीय देवों में मित्र को स्थान दिया है, यह हम ठीक से कह नहीं सकते।

२०. सविता। ऋग्वेद संहिता में सविता की स्तुति ११ पूर्ण सूक्तों से तथा अन्य-दैवत्य सूक्तों में आये अनेक मन्त्रों से की गई है। इस संहिता में उनका नाम लगभग १७० बार आया है।

यास्क ने सविता को सामान्यतः विशेषण[1] (गुणाभिधान) मान कर ही सम्भवतः पार्थिव (नि. ७।३१), माध्यमिक (नि. १०।३१-३२) और औत्तमिक (नि. १२।१२-१३) देवता माना है। निघण्टु में सविता का समाम्नान माध्यमिक (५।४।२०) और औत्तमिक (५।६।७) के रूप में किया गया है। पार्थिव देवता के रूप में सविता का ऋ. सं. में वर्णन सीधे तो नहीं आया है[2], हाँ, अग्नि के एक नाम अपां नपात् के विशेषण के रूप में कतिपय बार (१।२२।६ में स्पष्ट रूप से तथा ७ और ८ में सम्भवतः; १०।१४९।२) हुआ है। आश्वलायन (१।३।२३) और शाङ्खायन (१।६।२) श्रौतसूत्र में एक जप मन्त्र में सविता को स्पष्ट रूप से अग्नि कहा गया है।

माध्यमिक के रूप में भी सविता का प्रयोग गौण ही है। यों, ऋग्वेद संहिता में कुछ स्थानों में सविता के उन स्थानों तथा कर्मों का वर्णन किया गया है, जो सामान्यतः माध्यमिक के लिये प्रयुक्त होते हैं :

ये ते पन्थाः सवितः पूर्व्यासोऽरेणवः सुकृता अन्तरिक्षे ।। १।३५।११ ।।

अस्मभ्यं तद्दिवो अद्भ्यः पृथिव्यास्त्वया दत्तं काम्यं राध आगात् ।। २।३८।११ ।।

सविता यन्त्रैः पृथिवीमरम्णादस्कम्भने सविता द्यामदृंहत् ।

अश्वमिवाधुक्षद्धुनिमन्तरिक्षमतूर्ते बद्धं सविता समुद्रम् ।। १०।१४९।१ ।।

यास्क ने प्रजापति (निघण्टु ५।४।२८) को माध्यमिक देवता माना है, यह हम पीछे देख चुके हैं। ऋ. सं. ४।५३।२ में सविता को प्रजापति कहा गया है तथा ब्राह्मणों के समय तक सविता स्पष्ट रूप से प्रजापति बन ही गये थे, इसका पता हमें तैत्तिरीय (१।६।४।१) और शतपथ (१२।३।५।१) ब्राह्मणों से चलता है। अतः कदाचित् सविता को अन्तरिक्ष का देवता मानने में यास्क को इस तथ्य से भी प्रेरणा प्राप्त हुई हो!

दुर्गाचार्य का आशय है कि ऋ. सं. १०।१४९।१ में पृथिवी को स्थिर करने का कार्य सविता का बताया है। यन्त्रण बलसाध्य कार्य है, और बल का कार्य इन्द्र (माध्यमिक) का है। अथवा इस मन्त्र में वर्षा का प्रसङ्ग है, और वर्षा इन्द्र का कार्य है। अतः वर्षा के प्रेरक सविता माध्यमिक हैं।

२१. त्वष्टा। मैक्डानल् का (वैदिक देवशास्त्र, पृष्ठ ३०३ में) कहना है कि त्वष्टा नाम से अनेक बार उल्लिखित देवता महत्त्व में सविता के बाद आते हैं। इनका नामोल्लेख ऋग्वेद संहिता में ६५ बार हुआ है। एक भी पूर्ण सूक्त से त्वष्टा की स्तुति नहीं की गई है।...त्वष्टा धुंधले स्वरूप वाले वैदिक देवों की श्रेणी में हैं (पृ. ३०७)।

यास्क ने (८।१४) में त्वष्टा के बारे में कहा है कि आचार्य लोग इसे

१. द्र. नि ७।३१ और १०।३१ : सर्वस्य प्रसविता=सब का प्रेरक।

२. ऋ. सं. २।३८।१ में √वह् से निष्पन्न 'वह्निः' विशेषण है: अग्निवाचक नहीं। द्र. सायणभाष्य।

माध्यमिक बतलाते हैं; इसी लिए इसे निघण्टु में माध्यमिक देवताओं में सङ्कलित किया है। आचार्य शाकपूणि इसे पार्थिव अग्नि मानते हैं।

यास्क ने इस शब्द के (८।१३ में) तीन निर्वचन किये हैं : १. तूर्णमश्नुत इति नैरुक्ताः। २. त्विषेर्वा स्याद् दीप्तिकर्मणः। ३. त्वक्षतेर्वा स्यात् करोतिकर्मणः।

इनमें से पहले दो निर्वचन पार्थिव अग्नि पर लागू होते हैं : १. नैरुक्त कहते हैं कि यह अपने भक्ष्य पर शीघ्र ही फैल जाता है, या उसका भक्षण कर डालता है। आग एकदम फैलती है, जहाँ-जहाँ इन्धन मिलता है, उसे एकदम तेजी से खाती चलती है। २. यह दीप्त होती है, प्रकाशित, प्रज्वलित होती है।

तीसरा निर्वचन इसके वैदिक स्वरूप को प्रकाशित करता है : यह करना अर्थ वाली √त्वक्ष् से निष्पन्न है। ऋग्वेद संहिता में त्वष्टा के पुरुषविध वर्णनों में हाथ को छोड़कर और किसी अङ्ग का उल्लेख नहीं मिलता। अनेक (१।८५।९; ३।५४।१२) मन्त्रों में इन्हें सुकृत् कहा गया है। अन्यत्र (१०।५३।९ में) इन्हें अपसामपस्तमः (कर्म करने वालों में सर्वश्रेष्ठ) कहा गया है।

त्वष्टा के स्थान के बारे में निश्चय से कुछ कह पाना बहुत कठिन है। ऋग्वेद संहिता (१।२२।९; ९।५।९) में त्वष्टा को सोमपान के लिये बुलाया गया है। अथर्ववेद संहिता (९।४।६) में इन्हें सोम से भरे कलश को धारण करने वाला बताया है। मैत्रायणी संहिता (अन्तर्मही रोदसी याति साधन् ॥ ४ १४।९) में इन्हें द्यु लोक और पृथ्वी लोक के मध्य अर्थात् अन्तरिक्ष में जाता बताया है। इस विवरण के आधार पर यह कहा जा सकता है कि त्वष्टा सोमपायी इन्द्र के लोक (अन्तरिक्ष) के ही देवता हैं। सम्भवतः इसीलिए यास्क ने इन्हें माध्यमिक देवताओं में रक्खा है।

व्युत्पत्ति की दृष्टि से त्वष्टा √त्वक्ष् से निष्पन्न है। समस्त संहिता और ब्राह्मण साहित्य में इसका कोई आख्यात रूप प्रयुक्त नहीं हुआ है[1]। तकारादि कृत् प्रत्ययों से पूर्व मिलने वाला त्वष् रूप इसी का विकार है। अजादि प्रत्ययों से पूर्व त्वक्ष् ही रहता है। इस प्रकार के रूप संहिता साहित्य में १. त्वक्षण, २. त्वक्षस् ३. त्वक्षाण और ४. त्वक्षीयस् हैं। ये भी केवल ऋग्वेद संहिता में ही १. त्वक्षणः एक बार (५।३४।६ में इन्द्रः के विशेषण वि-त्वक्षणः में), २. त्वक्षस् आठ बार (१. त्वक्षसा १।१००।१५ में इन्द्र के प्रसङ्ग में, २ ४।२७।२ में श्येन-रूप-धारी इन्द्र के प्रसङ्ग में, ३. ६।१८।९ में इन्द्र के प्रसङ्ग में, ४. त्वक्षांसि ८।२०।६ में मरुतों के सन्दर्भ में, ५. प्र-त्वक्षसः मरुतों के सन्दर्भ में, १।८७।१ और ६. ५।५७ ४ में, ७. आ-त्वक्षसः १। १४३।३ में अग्नि के प्रसङ्ग में, ८. प्र-त्वक्षसम् १०।४४।३ में इन्द्र के विशेषण के रूप में), ३. त्वक्षाणः एक बार (१०।७४।१ में इन्द्रः के लिए प्र-त्वक्षाणः), ४. त्वक्षीयस्:

१. मैक्डानल् ने पृष्ठ ३०७ पर 'सञ्ज्ञा रूपों के अतिरिक्त इसका क्रिया रूप भी ऋग्वेद में एक बार मिलता है।'....लिखा है। पर हम उसे नहीं खोज पाये हैं।

एक बार (२।३३।६ में वृषभ मरुत्वान्=इन्द्र या रुद्र के प्रसङ्ग में त्वक्षीयसा) आए हैं। इन कुल ग्यारह प्रयोगों में से छह प्रयोग स्पष्ट रूप से इन्द्र के लिए, तीन माध्यमिक मरुतों के लिए, एक इन्द्र या रुद्र (दोनों माध्यमिक ही हैं) के लिये प्रयुक्त हुए हैं। केवल एक अग्नि (पार्थिव देवता) के लिए आया है। इस प्रकार भी त्वष्टा माध्यमिक ही ठहरते हैं।

यास्क ने √त्वक्ष् को √कृ के अर्थ वाला बताया है, यह हम पीछे देख चुके हैं। करना इस सामान्य रूप में प्रसिद्ध होते हुए भी इसका क्रियाविशेष अर्थ में भी प्रयोग हो जाता है। हमारे विचार में त्वष्टा शब्द में भी सम्भवतः विशेष क्रिया अर्थात् बनाना अर्थ ही है। अवेस्ता में यह √त्वक्ष् (thwaxsa, मेहनत से करना) रूप में और भारोपीय में √त्वेक् (tueq, बुनना) रूप में है (—डा. सिद्धेश्वर वर्मा, पृष्ठ ४५)। मैक्डानल् का (पृष्ठ ३०७ पर) कथन है कि अर्थ में यह √तक्ष् का समानार्थक दीख पड़ता है। अस्मा इदु त्वष्टा तक्षद् वज्रम् (ऋ. सं. १।६१।६) में √तक्ष् का प्रयोग बनाना अर्थ में हुआ है। फलतः त्वष्टा का अर्थ निर्माता, या तक्षक (तरखान) प्रतीत होता है।

हम इस निष्कर्ष से पूरी तरह सहमत नहीं हैं। ऊपर उद्धृत ग्यारह प्रयोगों में सर्वत्र बल अर्थ ही दृष्टिगोचर होता है। ऐसी स्थिति में उसे करना, या बनाना का लाक्षणिक अर्थ मानना होगा: जो करेगा, वह बलवान् होगा ही।

ऋग्वेदसंहिता में ही त्वष्टा का रूप से विशेष सम्बन्ध[२] स्थापित करके (द्र. १। १८८।९; ८।१०२।८; १०।११०।९) उन्हें विश्वरूप कहा गया है (३।५५।१९; १०। १०।५)। सन्तानोत्पत्ति के साथ भी त्वष्टा का विशेष सम्बन्ध प्रतिपादित है (३।४। ९, ५५।१९; १०।१०।५)। प्रजाओं को विभिन्न रूप प्रदान करने के कारण (१।१८८। ९; २।२६।१; १०।११०।९) ही सम्भवतः त्वष्टा विश्वरूप कहलाते हैं। ब्राह्मण-साहित्य में इस तथ्य का विकास होता दृष्टिगोचर होता है। यहाँ (श. ब्रा. २।२।३। ४) सब रूपों को त्वाष्ट्र तो बताया ही है, त्वष्टा के पुत्र का नाम भी विश्वरूप हो गया है (श ब्रा. १।६।३१) प्रजोत्पत्ति में भी त्वष्टा का विशेष कार्य है: वह गर्भ में गत शुक्र को विकृत करता है, जिसकी शान्ति के लिये पिता त्वष्टा के निमित्त यज्ञ करता है (श ब्रा १ ९।२।१०)। इसी विश्वरूप का वध जब इन्द्र ने कर दिया, तो पुत्रवध से क्रुद्ध होकर त्वष्टा ने यज्ञ के द्वारा वृत्र को उत्पन्न किया। किन्तु स्वर का उच्चारण गलत कर दिये जाने से इन्द्र ने वृत्र को मार डाला (श. ब्रा. १।६।३।१-१७)।

इस प्रकार विकासित हुई कथा को इतिहास और पुराण में और भी अलङ्कृत किया गया है। इस पर विशेष चर्चा हम आगे वृत्र के प्रसङ्ग में करेंगे।

२. हमारे विचार में त्वच् (खाल, खाल, चमड़ी) का भी इस √त्वक्ष् से सम्बन्ध है। रूप त्वचा में ही स्थित होता है; अतः त्वष्टा का रूप से सम्बन्ध है।

२८. **विश्वकर्मा**। व्युत्पत्ति की दृष्टि से **विश्वकर्मन्** एक विशेषण है : **विश्व**=सब (का), **कर्मा**=करने वाला (निरुक्त १०।२५)। ऋग्वेद संहिता में यह पद केवल आठ बार आया है। पांच बार देवताविशेष के अर्थ में तथा तीन बार (क. ८। ९८।२ में इन्द्र के लिए, ख. १०।१६६।४ में **वामन्** के लिए और ग. १०।१७०।४ में **सूर्य** के लिए)। देवताविशेषवाचक **विश्वकर्मन्** पद इस देवता के लिए कहे दो सूक्तों (१०।८१, ८२) में क्रमशः चार बार (१०।८१।२, ५-७ में) और एक बार (१०।८२। २ में) आया है। इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि यह एक ऐसा देवता है, जो ऋग्वेदीय काल के अन्तिम चरण में (यदि दशम मण्डल को अन्तिम चरण मानना उचित है, तो) उभर रहा था।

अन्य संहिताओं में यह प्रजापति के विशेषण के रूप में भी आया है (वा. सं. १२।३१)। ब्राह्मणों में भी इसका इस रूप में प्रयोग हुआ है : **प्रजापतिः प्रजाः सृष्ट्वा विश्वकर्माऽभवत्** (ऐ. ब्रा. ४।२२, पृष्ठ ५०५)। श. ब्रा. (८।२।१।१०) में तो विश्वकर्मा प्रजापति के गुणाभिधायक नाम की तरह प्रयुक्त हुआ है : **प्रजापतिर्वै विश्वकर्मा**।

ऋग्वेद संहिता में वर्णित **विश्वकर्मा** ऋषि, सब के पिता, प्रथमच्छद्, चारों तरफ आँखों और मुखों वाले, द्यौ और भूमि (जगत्) के जनक, वाणी के पति, साधुकर्मा (१०।८१), धाता, सप्त ऋषियों से भी पर, देवों और असुरों से भी उत्कृष्ट, आपों का गर्भ (तु. १०।१२१।७), अज की नाभि में स्थित (१०।८२) देवता हैं। हमारे विचार में इन्हीं गुणों का विकास हमें पौराणिक **परमेष्ठी प्रजापति ब्रह्मा** के रूप में मिलता है। वे भी वेदों के आदि ऋषि, पितामह, प्रथमोत्पन्न, चतुर्मुख, गायत्री के पति, धाता, सप्तर्षियों के भी स्रष्टा, देवों तथा असुरों के भी पूर्वज, हिरण्यगर्भ, तथा विष्णु (अज) की नाभि में स्थित हैं।

यास्क ने **विश्वकर्मा** की आधिदैविक और आध्यात्मिक व्याख्यायें की हैं। आधिभौतिक अर्थ में उन्हें **इष्** का अर्थ जल और **सप्त ऋषि** का अर्थ सात ज्योतियाँ अभीष्ट है। अतः सम्भवतः जल के लिङ्ग से वे उन्हें अन्तरिक्ष-स्थानीय मानते हैं। दूसरी उद्धृत (१०।८१।६) ऋचा में स्थित **मघवा** शब्द भी इस में पोषक है। **दुर्गाचार्य** का आशय है कि **विश्वकर्मा** भूत, वर्तमान और भविष्य जगत् के कर्ता हैं। सब चेष्टाओं का आधार वायु ही है, अतः **विश्वकर्मा** मध्यम लोक के देवता हैं।

२९. **अहि** और ३०. **अहि बुध्न्य**। यास्क ने (२।१७ में) **अहि** की व्याख्या वृत्र के अर्थ में की है। प्रायिक रूप से यह इसी रूप में आया है। क्वाचित्क रूप से ये **वृत्र** के रूप में वर्णित न होकर मध्य-स्थानीय देवता के रूप में वर्णित हुए हैं। देवता के रूप में वर्णित **अहि** के साथ ऋषियों ने बुध्न का प्रयोग अवश्य किया है। लगता है वृत्र-परक **अहि** से भेद करने के लिए ही ऐसा किया गया है, या अधिक प्रचलित **अहि बुध्न्य** नाम का ही सङ्क्षेप अकेले **अहि** के रूप में है। चाहे जो हो, ये वर्षा से

सम्बन्ध के कारण अन्तरिक्ष-स्थानीय देवता हैं। देवता के अर्थ में अज और अहि बुध्न्य के यास्ककृत निर्वचन को ही अपनाते हुए शौनक कहते हैं :

स्तोत्यजञ्जामहि तत्र मानोऽहिं बुध्न्यमेव च ॥ बृ. ५।१६५ ॥
अहिराहन्ति मेघान्स एति वा तेषु मध्यमः ... ।
योऽहिः स बुध्न्यो बुध्ने हि सोऽन्तरिक्षेऽभिजायते ॥ ५।१६६ B ॥

ब्राह्मण साहित्य में अहि बुध्न्य (या बुध्निय) गार्हपत्य नामक अग्नि को कहा गया है (ऐ. ब्रा. ३।३६, पृष्ठ ३८५)।

निघण्टु में दैवत काण्ड के छठे खण्ड में छत्तीस शब्दों का सङ्कलन भी विशेष अभिप्राय को प्रकट करता है। यहां तीन प्रकार के शब्दों का समाम्नान किया गया है :

(क) अन्तरिक्ष लोक के देवता के सन्दर्भ में आये कुछ विशिष्ट सञ्ज्ञा पद और विशेषण पद। जैसे— १ श्येन, २ सोम (और उनके सन्दर्भ से आया) ३ चन्द्रमा, ४ मृत्यु, ५ विश्वानर, ६ धाता और ७ विधाता। इनका वर्णन निरुक्त के ११ वें अध्याय के पहले बारह खण्डों में किया गया है।

(ख) माध्यमिक के रूप में वर्णित आठ गण : १ मरुतः, २ रुद्राः, ३ ऋभवः, ४ अङ्गिरसः, ५ पितरः, ६ अथर्वाणः, ७ भृगवः और ८ आप्त्याः। इन की व्याख्या निरुक्त ११।१३–२१ (नौ) खण्डों में की गई है।

(ग) स्त्री देवताएँ। ये इक्कीस हैं : १ अदिति, २ सरमा ३ सरस्वती, ४ वाक्, ५ अनुमति, ६ राका, ७ सिनीवाली, ८ कुहू, ९ यमी, १० उर्वशी, ११ पृथिवी, १२ इन्द्राणी, १३ गौरी, १४ गो, १५ धेनु, १६ अघ्न्या, १७ पथ्या, १८ स्वस्ति, १९ उषा, २० इळा और २१ रोदसी। इन का व्याख्यान २२–५० (उनतीस) खण्डों में किया गया है।

(क) कल्पनाप्रवण ऋषियों ने भौतिक तत्त्वों के वर्णन में कवि-कल्पना की उन्मुक्त उड़ान भरी है। प्राकृतिक तत्त्वों को उन्होंने पुरुषविध देवताओं के रूप में ही चित्रित नहीं किया है, अपितु अपने जीवन में दृष्टिगोचर होने वाले पशुओं और पक्षियों के रूप में भी बहुधा चित्रित किया है। इन्द्र को वृषभस्तुविष्मान् (ऋ. सं. २।१२।१२) और वृक (८।५६।१), सौर देवता को सुपर्णः गरुत्मान् (१।१६४।४६; १०।१४९।३) कहना इस प्रवृत्ति का निदर्शन है। वेदोत्तर काल के साहित्य में रुद्र शिव के नन्दी बैल, विष्णु के गरुड़ की कल्पना का मूल ये विशेषण ही प्रतीत होते हैं।

१. श्येन। वैदिक साहित्य में देवताओं के पक्षिविध वर्णनों में प्रमुख स्थान श्येन को मिला है। बहुधा वह उपमानत्वेन (ऋ. सं. १।३२।१४, १६५।२; ४।३५।८, ४०।३; ५।७४।९; ६।४६।१३; ८।३५।९, ७३।४) आया है, तो कहीं देवता के किसी विशिष्ट कार्य को सिद्ध करने वाले सहायक के रूप में (ऋ. सं. ३।४३।७; ४।१८।१३, २६।४-७) भी उसका वर्णन प्रचुर मात्रा में हुआ है। अकेली ऋग्वेद संहिता

में उसका उल्लेख ६६ बार हुआ है। इस का प्रमुख कार्य है सोम को लाना। काठक संहिता में इन्द्र ही श्येन का रूप धारण कर के सोम (अमृत) को पकड़ते बताये हैं।

श्येन का उल्लेख बहुत तेज गति के प्रसङ्ग में हुआ है। श्येनपत्वा=बाज के समान तेज चाल वाला (ऋ. सं. १।११८।१) और प्र श्येनेभ्यः श्येन आशुपत्वा (ऋ. सं. ४।२६।४) में यह भाव बिल्कुल स्पष्ट रूप में कहा गया है। तेज चाल, सोम का लाना, बल का उपमान होना - ये सब लिङ्ग इसे अन्तरिक्षस्थानीय बतलाने को पर्याप्त हैं। तत्त्वतः ये तेज गति से चलने वाली हवा, या बादलों में तेजी से कौंधने वाली बिजली हो सकते हैं।

श्येन के साथ इन्द्र के विशेष सम्बन्ध की पुष्टि अवेस्ता से भी होती है। वहाँ हमारे वृत्रहन् (इन्द्र) के समानान्तर देवता वेरेथ्रघ्न वारघ्न (पक्षियों में सबसे तेज पक्षी) का रूप धारण करते बतलाये हैं। एक जर्मन गाथा में भी ओधिन देव श्येन बन कर मधु के साथ देवलोक में उड़ते बताये हैं (—वैदिक देवशास्त्र, पृष्ठ ३१५)।

२. सोम। सोम शब्द के दो अर्थ हैं : १. सोम नामक एक लता, जिसे यास्क ने ओषधि कहा है। २. चन्द्रमा जिसका परिगणन यास्क ने यहीं किया है।

१. ओषधि के रूप में सोम पृथ्वी पर उत्पन्न होने के कारण मुख्यतः तो पार्थिव ही है, पर ऋषियों ने इसे असाधारणता प्रदान करने को इसे परम सधस्थ (उत्तम लोक अर्थात् द्यु लोक) में प्रवाहित होता (ऋ सं. १।१५४।५; ५।४५।८ में) बताया है। इसका काल्पनिक वर्णन यथार्थ से इतना हट कर हुआ है कि यास्क को कहना पड़ा कि इसका गौण प्रयोग प्रचुर मात्रा में हुआ है। प्रधान रूप में तो बिल्कुल ही कम : बहुलमस्य नैघण्टुकं वृत्तम्। आश्चर्यमिव प्राधान्येन (निरुक्त ११.२)।

सोम लता को पत्थर पर कूट-पीस कर उसका रस निकाल कर देवता, विशेष कर इन्द्र, को अर्पित किया जाता था तथा ऋत्विज् एवं यजमान स्वयं भी उसे पीते थे। यज्ञ में देवता के लिए प्रस्तुत सोम को तीन बड़े पात्रों में भरा जाता था : तिस्रश्चम्वः सुपूर्णाः (ऋ. सं. ८।२।८)। इन पात्रों को अत्युक्ति में सरस् भी कहा गया है (ऋ. सं. ५।२९।७–८; ६।१७।११)। परवर्ती काल में ये तीन सर ही सोमयाग के तीन बड़े ह्रद (जोहड़) बन गये हैं, ऐसा लगता है।

अस्तु, रस-युक्त होने से, इन्द्र के लिए विशेष रूप से अर्पित होने से तथा वर्षा कराने एवं जल के साथ इनका विशेष सम्बन्ध (ऋ. सं. ९।८।८, १५।५, ४९।१, ८६। ३३, आदि में) होने से यास्क ने इन्हें माध्यमिक देवताओं में स्थान दिया होगा।

२. ऋग्वेदसंहिता (१०।८५।१-५) से ज्ञात होता है कि उसके मन्त्रों के प्रणयन के समय में ही सोम अपने ओषधि अर्थ को थोड़ा-थोड़ा बदल कर चन्द्रमा की ओर झुकने लग गया होगा। सोम लता को एक बार कूट कर रस निकाल चुकने के बाद भी उसके पूरी तरह न कुचले गये डण्ठलों को पानी में डाल कर नर्म होने पर पुनः

कूट कर रस निकाला जाता था। कर्मकाण्ड में इसे आप्यायन कहते हैं (मै. सं. ४।५।५)। ऋग्वेद संहिता के गौतम राहुगण ऋषि ने आप्यायस्व समेतु ते विश्वतः सोम वृष्ण्यम् (६।३१।४) में स्पष्ट रूप से ओषधी सोम के लिए इस पारिभाषिक क्रिया का प्रयोग किया है। किन्तु निम्न मन्त्र में सोम ओषधी का वर्णन है, या घटने-बढ़ने वाले चन्द्रमा का, यह निश्चय से नहीं कहा जा सकता। ओषधीपरक व्याख्या में चौथे पाद की लाक्षणिक व्याख्या (द्र. सायण) करनी पड़ेगी, चन्द्रमा-परक में नहीं। प्रकरण भी बहुत सहायक नहीं है :

> यत्त्वा देव प्र पिबन्ति तत आप्यायसे पुनः।
> वायुः सोमस्य रक्षिता समानां मास आकृतिः॥ १०।८५।५॥
> अथो नक्षत्राणामेषामुपस्थे सोम आहितः॥ २॥

से लगता है कि सोम चन्द्रमा है, तो निम्न मन्त्र में सोमलता का ही वर्णन लगता है :

> आच्छद्विधानैर्गुपितो बार्हतैः सोम रक्षितः।
> ग्राव्णामिच्छृण्वन्तिष्ठसि न ते अश्नाति पार्थिवः॥ ४॥

आथर्वण वेद में तो स्पष्ट रूप से कहा है कि सोम को चन्द्रमा कहते हैं :

> सोमो मा देवो मुञ्चतु यमाहुश्चन्द्रमा इति॥ अ. सं. ११।६।७॥

पर इससे यह भी व्यक्त होता है कि सोम का अर्थ अनिवार्यतः चन्द्रमा ही नहीं रहा होगा। सोम से चन्द्रमा को समझा जाना शुरू तो हो गया होगा, परन्तु अभी इस अर्थ को वह प्रसिद्धि न मिल पाई होगी, जो इसे परवर्ती साहित्य में असन्दिग्ध रूप से प्राप्त हो गई है। सम्भवतः इसी लिए यास्क ने अपने समय की प्रसिद्धि से प्रभावित न हो कर सोम की दोनों व्याख्याएँ की हैं : अथैषाऽपरा भवति—चन्द्रमसो वैतस्य वा (निरुक्त ११।३-४)।

४. मृत्यु। शरीर से मध्यम प्राण (वायु के पाँच भेदों में से हृदय में स्थित वायु अर्थात् प्राणवायु) का बिल्कुल—अपुनर्दर्शनाय—चला जाना ही मृत्यु है। वायु से सम्बन्ध रखने के कारण वायु की यह निर्गमावस्था (मृत्यु) माध्यमिक है।

(ख) देवगण। कुछ देवताओं का वर्णन ऋग्वेद संहिता में बहुवचन में किया गया है। ऐसे वर्णनों के देवताओं को देवगण कहते हैं। इस प्रकार सामूहिक रूप में स्तुति अन्तरिक्ष और द्यु स्थानों के ही देवताओं की हुई है। यास्क ने देवगणों का सङ्कलन भी इन ही स्थानों के अधिकरणों में किया है।

मध्यम स्थान के देवता वायु हैं, यह हम इस अध्याय के प्रारम्भ में ही (पृ. ३२३ पर) कह आये हैं। अतः सामूहिक रूप से जो स्तुति की गई है, वह भी वायु की ही गण के रूप में की गई स्तुति है। वायु के गणों में सब से अधिक प्रसिद्ध गण मरुतों का ही है। ऋग्वेद संहिता में शर्धो मारुतः, मरुद्गणाः, मरुतः आदि के

२२

रूप में मरुतों की ही स्तुति की गई है। सम्भवतः इसी लिए आचार्य शौनक ने कहा है कि गण सब मरुत् ही हैं। गुणों के भेद से अलग-अलग गण बताये हैं :

मध्यमा वाक् स्त्रियः सर्वाः पुमान्सार्धं च मध्यमः।
गणाश्च सर्वे मरुतो गुणभेदात् पृथक्-पृथक्[1] ॥ बृ ५।४६ ॥

इसी लिए यास्क ने इन्हें अन्तरिक्ष के गणों में प्रथमागामी कहा है। सूक्त तथा स्तुति मन्त्रों की सङ्ख्या की दृष्टि से भी ये सब में प्रमुख हैं : इनकी स्तुति ३३ सूक्तों में अकेले, ७ में इन्द्र के साथ एक-एक में अग्नि और पूषा के साथ की गई है।

इनकी सङ्ख्या २१ (ऋ. सं. १।१३३।६, अ सं. १३।१।३) या १८० (ऋ. सं. ८।९६।८) बताई है। परवर्ती साहित्य में इनके सात-सात के सात गण अतः समन्वित सङ्ख्या ४९ बताई गई है। ज्योतिष ग्रन्थों में प्रत्येक गण का अन्तरिक्ष में अपना स्थान और कार्य पृथक्-पृथक् रूप से वर्णित है[2]।

ऋग्वेद संहिता में मरुतों का चरित्र तीन प्रकार से व्यक्त हुआ है : १. अन्धड़, तूफान के गरजते-तरजते (१।१९।७-८, ३९।५; ८।७।२६), २. बिजली की चका-चौंध से चमकते दमकते (१।८५।१, ३, ४, १६८।५; ५।५२।१३), और ३. वृष्टि से पृथ्वी को आप्यायित करते देवता के रूप में (१।३८।९, ८५।५)[3]।

प्रा. कुन्ह, बेन्फे, मेयर् और वी. श्रोडर् इन्हें प्रेतात्माओं का मानवीकरण और भूत-प्रेतों के रूप में माने जाते-जाते तूफानों के देवताओं के रूप में विकसित हुआ मानते हैं। श्री मोक्षमूलर् भट्ट और मैक्डानल् इस धारणा से सहमत नहीं हैं। मोक्षमूलर् भट्ट का तो कहना है कि विदेशों के तूफानी देवताओं के समान वैदिक मरुतों का महत्त्व भी परवर्ती काल में इतना बढ़ा कि कालान्तर में मरुत् शब्द देव शब्द का पर्याय ही बन गया। पालि में मरुत् का घिसा हुआ रूप मरु देववाचक ही है।

मरुतः भारतीय ही नहीं, अपितु अन्ताराष्ट्रिय देवता हैं। उम्ब्रियन् भाषा में तूफानी देवताओं को शेर्फो मार्तियो (cerfo Martio), पोलिनेशियाई भाषा में विनाश के (मूलतः तूफानों के) देवता को मरु और एस्तोनियाई भाषा में तूफानों के देवता

---

१. इस श्लोक के तीन पाठ मिलते हैं। दुर्ग ने इसे 'उक्तं च वार्तिके' कह कर उद्धृत किया है तथा उसमें ऊपर के तारकाङ्कित शब्दों के स्थान पर क्रमशः 'सर्वः' 'गणः' और 'कृतेः' शब्द हैं। स्कन्दभाष्य में उद्धृत श्लोक यों है :—

सर्वा स्त्री मध्यमस्थाना पुमान्वायुश्च सर्वगः।
गणाश्च सर्वे मरुत इति वृद्धानुशासनम् ॥

२. इसके लिए सूर्य-सिद्धान्त, और सिद्धान्त-शिरोमणि में तत्तत् प्रकरण देखने चाहिएँ। महाभारत (शान्तिपर्व ३२८।३१-५३) भी द्रष्टव्य है।

३. द्र. निरुक्त ११।१३ : क. मरुतो मितराविणो वा, ख. मितरोचिनो वा, ग. महद् द्रवन्तीति वा।

को मरुतु उलेव् (मरुतो रुद्राः), या मरो और बहुवचन में मरुद् कहा जाता है। ग्रीक् का मार्स् मार्तिस् (Mars Martis) भी इन्हीं से सम्बन्धित है।

९. रुद्राः। यह भी माध्यमिक देवता (वायु) की किसी प्राकृतिक अवस्था को दिया गया नाम है। घने बादल छा जाने पर बिजली की कड़क, तूफान आदि से युक्त भयानक प्राकृतिक अवस्था को ऋषियों ने रुद्र नाम दिया है। सामूहिक रूप में (बहुवचन में) भी इन की स्तुति की गई है। यही रुद्रों के गण का तत्त्वार्थ है। इन्हें ऋग्वेद संहिता में मरुतों का पिता कहा गया है, क्योंकि मरुत् तो केवल आंधी-तूफान के ही देवता विशेष रूप से हैं; जब कि रुद्र से बादलों की उमड़-घुमड़, गर्जन-तर्जन, तेज बौछार, अन्धड़ आदि भयावनी स्थिति अभिप्रेत है। वैदिक परिभाषा में पिता और पुत्र में बहुत तात्त्विक भेद नहीं होता। अतः बहुधा पिता का नाम पुत्र के लिए भी प्रयुक्त हो जाता है। यही कारण है कि रुद्रों के पुत्र मरुत् भी रुद्राः के नाम से (ऋ. सं. १।८५।२ में) वर्णित हैं।

तैत्तिरीय संहिता (१।४।११।१) में इनकी सङ्ख्या तैंतीस और ऐतरेय (१। १०; २।१८ आदि) तथा शतपथ (४।५।७।२) ब्राह्मणों में ग्यारह बताई है।

शेष गणों में से १०. ऋभवः, ११. अङ्गिरसः, १३. अथर्वाणः, १४. भृगवः और १५. आप्त्याः वस्तुतः देवगण नहीं हैं, अपितु ऋषिगण ही हैं।

इनमें महत्त्व की दृष्टि से ऋभवः सर्वातिशायी हैं। इन्होंने मरणधर्मा होते हुए भी अमरों का पद पाया था (ऋ. सं. १।११०।४-६; ४।३३।४, ३५।३, ३६।४; ऐ.ब्रा. ३।३०)। ये आङ्गिरस् गोत्री सुधन्वन् के तीन पुत्र हैं। इन में बड़े का नाम वाज है, उनसे छोटे का विभ्वन् और सब से छोटे का ऋभु (ऋ. सं. ४।३३।३, ५)। ये तीनों अलग-अलग ए. व. में भी स्तुत हैं (४।३३।९, ३६।५), और अलग-अलग गणों के रूप में ब. व. में भी। परन्तु विभ्वन् ब. व. में स्तुत नहीं है। अतः वाजाः और ऋभवः ही पृथक्-पृथक् गण के रूप में स्तुत हैं।

ऋ. सं. ४।३३।९ से प्रतीत होता है कि ऋभु का पूरा नाम ऋभुक्षन् रहा होगा। तीनों भाइयों में ये ही सब से प्रतापी हैं। इन्हें बल में नया इन्द्र कहा जाता था : ऋभुर्न इन्द्रः शवसा नवीयान् (ऋ. सं. १।११०।७)। यही कारण है कि ऋभु, ऋभुक्ष और ऋभुक्षन् के ब. व. से ही इन तीनों का बोध अधिक होता है। यों, वाज के ब. व. से भी ये तीनों जाने जाते हैं।

बहुत-से मन्त्रों में ऋभुओं को द्यु में निषण्ण (ऋ. सं. ४।३५।८) बताया है। उनके लिए तृतीय-सवन का विधान है, (ऋ. सं. ४।३४।४), जिस का सम्बन्ध आदित्य से विशेष कर है। इससे लगता है कि ये द्यु लोक के देवता हैं। पर बात ऐसी है नहीं। इन्द्र के साथ ऋभुओं का सम्बन्ध इतना निकट का है कि इन्हें इन्द्र का सूनु तक कहा गया है (ऋ. सं. ४।३७।४)। इन्द्र के सखा (ऋ. सं ४।३५।७) कहलाना तो मामूली

बात है। इन्द्र जिस प्रकार **ओजस्** के पुत्र हैं, वैसे ही ये **शवस्** के **नपात्** हैं (ऋ. सं. ४।३७।४)। इनके मदों (सोम) को इन्द्र से ही थोड़ा कम बताया है: **इन्द्रमनु वो मदासः** (ऋ. सं. ४।३५।१) ऋ. सं. १।११०।६ में इन्द्र को **ऋभुमान्** कहा गया है। इससे लगता है इन्द्र का **ऋभुक्षन्** नाम भी उन्हें इनकी मित्रता के कारण ही मिला है। अतः इन्हें मध्यम लोक में रखना उचित ही है।

ऋग्वेद संहिता में **ऋभु** लोगों का वर्णन तष्टा के रूप में बहुधा हुआ है। इन्होंने बिना अश्व के चलने वाला रथ बनाया था, जिसमें तीन पहिये लगे हुए थे (ऋ. सं. १।१११।१; ४।३६।१)। उन्होंने देवताओं के कहने पर लकड़ी के एक चमस को चार भागों में विभक्त किया था। उनके इस काम की सर्वत्र बहुत प्रशंसा हुई थी (ऋ. सं. १।२०, ११०, १६१, ४।३३, ३५, ३६ सूक्त)।

११. **अङ्गिरसः**। **अङ्गिरस्** नाम से सामान्यतः कोई गोत्र-प्रवर्तक ऋषि अभिप्रेत हैं। बहुवचनान्त **अङ्गिरस्** शब्द से उस गोत्र में उत्पन्न ऋषि लिए जाते हैं। मूलतः **अङ्गिरस्** स्वयम् और उनके गोत्रज ऋषि पार्थिव हैं। **अङ्गिरसों** के साथ पार्थिव अग्नि का सम्बन्ध ऋग्वेद संहिता में बहुधा (ऋ. सं. १०।६२।५) वर्णित है। ऋग्वेद संहिता (५।११।६) में तो बतलाया है कि वन में छुपे हुए अग्नि को अङ्गिरसों ने पाया। उन्होंने ही काष्ठों के मन्थन (रगड़ने) से अग्नि उत्पन्न होती है, इसे खोजा। यही कारण है कि बाद की पीढ़ियों ने **अङ्गिरस्** के नाम को अग्नि का नाम बना कर इन्हें अमर कर दिया। **अङ्गिरस्** गोत्र इतना प्राचीन है कि ऋग्वेद संहिता (१।१३६।६) में भी इसे **पूर्वो अङ्गिराः** कहा गया है।

उत्पत्ति की दृष्टि से यद्यपि **अङ्गिरसों** का सम्बन्ध **अग्नि** से है, तथापि कार्य की दृष्टि से इन्द्र के साथ उनका बहुत निकट का सम्बन्ध है। इन्द्र उन पर बहुत उपकार करते रहे हैं (ऋ. सं. १।५१।३; ८।१४।८, ६३।३)। **अङ्गिरस्तम** (ऋ. सं. १।१००।४, १३०।३) पद इन्द्र के साथ उनकी घनिष्ठता को ही प्रकट करता है। वृत्रवध इन्द्र का सर्वातिशायी कार्य है। यह कार्य भी इन्द्र ने अङ्गिरसों की सहायता तथा स्तुतियों से उत्साहित हो कर ही किया है (ऋ. सं. २।११।२०, १५।८; ४।१६।८; ६।१७।६; १८।५)। इन्द्र के निमित्त कहे गये सूक्तों की तुलना अङ्गिरसों के सूक्तों से की गई है (१।६२।१)। अतः इन्द्र के साथी अङ्गिरसों को अन्तरिक्ष में स्थान देना उचित ही है।

१२. **अथर्वाणः**। **अथर्वन्** भी किसी प्राचीनगोत्र का नाम है। ऋग्वेद संहिता में एकवचनान्त **अथर्वन्** कोई नौ बार, बहुवचनान्त तीन बार और सङ्ख्या के बिना दो बार, इस प्रकार कुल चौदह बार आया है। **अङ्गिरस्** और **अथर्वन्** का सम्बन्ध बहुत प्राचीन है। अग्नि की खोज से जैसे अङ्गिरसों का नाम जुड़ा है, वैसे ही अथर्वन् का भी जुड़ा हुआ है (ऋ. सं. ६।१५।१७, १६।१३)। अग्नि के प्रथम उद्भावक होने के बाद, लगता है, उन्होंने ही धार्मिक कर्मकाण्ड में अग्नि का सन्निवेश किया—उन्होंने

ही सर्वप्रथम यज्ञ का विधान किया : **यज्ञैरथर्वा प्रथमो विधारयद्** (ऋ. सं. १०।९२। १०; ८।३।५ भी देखें)। शतपथ के वंश ब्राह्मण (१४।५।५।२२) में **अथर्वन्** एक प्राचीन आचार्य बतलाये हैं।

हमारे विचार में **अथर्वन्** शब्द अग्नि को खोजने के कारण पड़ा गुणाभिधान है, जिसने कालान्तर में चल कर व्यक्तिगत नाम का स्थान ले लिया। व्युत्पत्ति की दृष्टि से **अथर्**+**वन्**<**अथर्वन्** है। **अथर्** शब्द अर्थ का लपट है। **अग्नि** का एक विशेषण (गुणाभिधान) है : **अथर्युं** (<**अथर्**+**यु**, ऋ. सं. ७।११)। इसी प्रकार मन्थन कर के **अग्नि** को जन्म देने वाली अङ्गुलियों के लिये **अथर्यः** शब्द का (ऋ. सं. ४।६।८ में) प्रयोग भी इस कल्पना को पुष्ट करता है। **अवेस्ता** से भी इस की पुष्टि होती है। उसका **आथर्**>**आतर्**=ज्वाला शब्द वैदिक **अथर्** ही है। **आथर्**+**वन्**>**आथ्रवन्** का अर्थ अवेस्ता में अग्नि-पुरोहित होता है। व्युत्पत्ति से इसका अर्थ होता है : **अग्नि** वाला। पुरोहित अर्थ रूढि से इसमें बाद में जुड़ा है।

१४. **भृगवः**। भृगु शब्द का एकवचनान्त रूप केवल दो बार ही ऋग्वेद संहिता में मिलता है : **रातिं भरद् भृगवे मातरिश्वा** (१।१६०।१), **येना यतिभ्यो भृगवे धने हिते** (८।३।९)। बहुवचन में यह २० बार तथा क्रियाविशेषण के रूप में **भृगुवत्** एक बार (८।४३।१३ में) आया है। इससे प्रतीत होता है कि **भृगु** कोई अत्यन्त प्राचीन ऋषि रहे होंगे। ऋग्वेद संहिता के समय में उनका गोत्र ही सुप्रसिद्ध था। **अथर्वन्** ने जिस समय पहले-पहल यज्ञों द्वारा कर्मकाण्ड की स्थापना की, उस समय **भृगु** देवता के रूप में ख्याति प्राप्त कर चुके थे (ऋ. सं. १०।९२।१०)।

पिछले ऋषियों के समान भृगु का भी **अग्नि** से विशिष्ट सम्बन्ध है। **अङ्गिरस्** और **अथर्वन्** ने इन्धन (लकड़ी) से जलने वाले **पार्थिव** अग्नि को प्राप्त किया था। किन्तु भृगुओं ने जल के उपस्थ में स्थित अग्नि को प्राप्त किया था (ऋ. सं. २।४।२; १०।४६।१,२,९)। जल से प्रकट किये अग्नि को उन्होंने काष्ठ में स्थापित किया। काष्ठ में रखने से लपटें ऊपर को उठने लगीं, अर्थात् इससे पूर्व जल से प्रकट हुए अग्नि से लपटें नहीं उठतीं थीं : **मित्रं न यं सुधितं भृगवो दधुर्वनस्पतावीड्यमूर्ध्वशोचिषम्** (ऋ. सं. ४।१५।२)।

असूयु लोग कदाचिद् यह न कहें कि हर आधुनिक वस्तु को पुराणपन्थी लोग वेदों में स्थित बतलाया कहा करते हैं, अतः हम उनकी असूया को समझते हुए भी यह स्थापना, इसे अनिवार्य तथ्य समझ कर, रख रहे हैं कि भृगुओं ने कदाचित् बिजली को जल से उत्पन्न किया होगा तथा उससे पार्थिव अग्नि को। यास्क ने शाकपूणि का मत उद्धृत करते समय **वैश्वानर** को बिजली से उत्पन्न होता बतलाया है। यह निर्देश भी हमारी इस स्थापना को बल देता है कि जल से उत्पन्न होने वाली बिजली वैदिक ऋषियों को अपरिचित नहीं थी। भृगु नाम भी इस ओर सङ्केत करता है। भृगु

प्रपात को कहते हैं। बिजली की शक्ति को पाने का सबसे आसान साधन कोई ऊँचा प्रपात ही होता है। अतः सम्भवतः प्रपात में अपने प्रयोगों से बिजली को खोजने में ही विज्ञान के उन साधक का नाम भृगु पड़ गया होगा। उनके परवर्ती लोगों ने अपने इन साधक को श्रद्धाञ्जलि इन्हें यज्ञ में हवि प्राप्त करने वाला (यज्ञिय) देवता बना कर की (ऋ. सं. १०।१४।६)। इतना ही नहीं, उनका नाम विश्व देवों, मरुतों, उषा और सूर्य के साथ लिया जाने लगा (ऋ. सं. ८।३५।३)।

१५. आप्त्याः। ऋग्वेद संहिता में आप्त्य शब्द का प्रयोग कुल दस बार हुआ है : नो बार एकवचन में (आप्त्यः १।१०५।९; ५।४१।९; १०।८।८; आप्त्यम् १०।१२०।६; आप्त्याय ८।४७।१४ और आप्त्ये ८।१२।१६, ४७।१३, १५, १७), एक बार बहुवचन में (आप्त्यानाम् १०।१२०।६)।

एकवचनान्त आप्त्य बहुधा (१।१०५।९, ८।१२।१६, ४७।१३-१५, १७) त्रित के विशेषण के रूप में आया है। इन प्रयोगों की शैली से लगता है कि त्रित व्यक्तिवाचक नाम है और आप्त्य उसका गोत्रनाम। यास्क ने केवल इसकी व्युत्पत्ति दी है कि यह नाम √आप् (प्राप्त करना) से निष्पन्न है। सायण ने एक स्थान (ऋ. सं. ५।४१।९ पर भाष्य में) उसका अर्थ आप्त्यः=आप्तव्यः सर्वैः किया है। तथा दूसरी जगह (ऋ. सं. ८।४७।१५ पर) आप्त्ये=अपां पुत्रे अर्थ किया है। हमारे विचार में आप्त के पुत्र होने से ही आप्त्य पद त्रित ऋषि का गोत्र-नाम है। आप्त का प्रयोग ऋग्वेद संहिता में दो बार हुआ है—एक बार (१।३०।१४ में) प्रथमा, ए. व., में और दूसरी बार (९।११३।११ में) ब. व. में :

आ घ त्वावान्त्मनाप्तः स्तोतृभ्यो धृष्णवियानः। ऋणोरक्षं न चक्र्योः॥

यत्रानन्दाश्च मोदाश्च मुदः प्रमुद आसते।

कामस्य यत्राप्ताः कामास्तत्र माममृतं कृधीन्द्रायेन्दो परिस्रव॥

आप्त्य का अर्थ चाहे जो हो, त्रित आप्त्य का उल्लेख ऋग्वेद संहिता में दो प्रकार से मिलता है :

(१) इस नाम के एक ऋषि के रूप में। इन्होंने ऋग्वेद संहिता के बहुत से सूक्तों की रचना की है। हमारे विचार में निम्न ऋचाओं में ऋषि त्रित आप्त्य का ही वर्णन है :

अमी ये सप्त रश्मयस्तत्रा मे नाभिरातता।

त्रितस्तद्वेदाप्त्यः स जामित्वाय रेभति वित्तं मे अस्य रोदसी॥ १।१०५।९॥

त्रितः कूपेऽवहितो देवान्हवत ऊतये।

तच्छुश्राव बृहस्पतिः कृण्वन्नंहूरणादुरु वित्तं....॥ १७॥

इन्द्राग्नी यमवथ उभा वाजेषु मर्त्यम्।

दृळ्हा चित्स प्रभेदति द्युम्ना वाणीरिव त्रितः॥ ५।८६।१॥

यास्क ने (निरुक्त ४।६ में) १।१०५ सूक्त को त्रित-ऋषि-परक ही माना है। नवम मण्डल में सोम-सोता के विशिष्ट रूप में वर्णित त्रित भी बहुत करके ऋषि त्रित आप्त्य ही हैं।

(२) इस नाम के अन्तरिक्ष-स्थानीय देवता के रूप में बलकृति के प्रसङ्ग में इन्द्र के साथी के रूप में (ऋ. सं. १०।८।८, १२०।६ में) आया है। निम्न ऋचा में भी मेघ-परक पर्वताः अर्थात् वृष्टि के लिङ्ग से भी आप्त्य मध्यस्थानीय ही लगते हैं :

तुजे नस्तने पर्वताः सन्तु स्वैतवो ये वसवो न वीराः।
पनित आप्त्यो यजतः सदा नो वर्धान्नः शंसं नर्यो अभीष्टौ ॥ ५।४१।६ ॥

ऋ. सं. ८।१२।१६ में आप्त्य की चर्चा सोम के प्रसङ्ग में इन्द्र के प्रकरण में आयी है। अतः ये अन्तरिक्षस्थानीय ही हैं।

ऋ.सं. ८।४१।१३-१५, १७ में इनका नाम दुःष्वप्न और दुष्कृत इन्हें पहुँचने की प्रार्थना के प्रसङ्ग में आया है। उनके इस चरित्र के दर्शन अथर्ववेद संहिता (१६।५६।४) में भी होते हैं

गण के रूप में आप्त्यों की चर्चा ऋग्वेद संहिता में केवल एक बार निम्न ऋचा (१०।१२०।६) में ही हुई है :

स्तुवेय्यं पुरुवर्पसमृभ्वमिनतममाप्त्यमाप्त्यानाम् ।
आ दर्षते शवसा सप्त दानून् प्र साक्षते प्रति मानानि भूरि ॥

ऋग्वेद संहिता में त्रित के साथ एक द्वित की चर्चा भी एक बार (८।४७।१६ में) दुःष्वप्न्य को त्रित और द्वित के पास पहुँचाने की प्रार्थना के प्रसङ्ग में उषा के मन्त्र में आई है। एक बार द्वित मुक्तवाहस् ऋषि के अग्नि देवता की स्तुति में प्रणीत मन्त्र (५।१८।२) में भी द्वित का नाम आया है। प्रथम द्वित देवता हैं तथा द्वितीय ऋषि, यह आपाततः स्पष्ट है।

ऋग्वेद संहिता में त्रित शब्द सङ्ख्या वाचक त्रि से निष्पन्न माना जाता था, इसका सन्देह इसके साथ द्वित शब्द के एक बार (८।४७।१६) के प्रयोग को देख कर होना स्वाभाविक है। ६।१०२।३ में इसके साथ स्पष्ट रूप से त्रीणि के प्रयोग से इस सन्देह की पुष्टि होती है। अ. सं. ५।१।१ में भी त्रित केसाथ सङ्ख्या-वाचक त्रि का प्रयोग हुआ है। सम्भवतः यही कारण है कि परवर्ती काल में त्रि-त और द्वि-त की कल्पना को पूर्ण करने के लिए एक-त की भी कल्पना (तै. सं. १।१।८।२ में) कर ली गई है। अवेस्ता में थ्रित और थ्रित्य तथा ग्रीक् में त्रितोस् (त्रितस्, प्रथमा, ए. व., का रूप) इसी की पुष्टि करते हैं। वैसे शाकल्य ने त्रित और द्वित के पद-पाठ में अवग्रह नहीं किया है। इससे लगता है कि ऋग्वेदाध्यायियों की परम्परा में इन दोनों शब्दों को सङ्ख्या वाचक से निष्पन्न न मान कर असमस्त एक पद माना जाता था। यास्क बीच की स्थिति में हैं : वे इसे √तॄ से या सङ्ख्यावाचक त्रि से निष्पन्न

मानते हैं (निरुक्त ४।६)। पर एक बात लगती है कि नैरुक्त के रूप में तो वे √तृ से ही निष्पन्न मानते हैं। त्रि से निष्पत्ति ब्राह्मण वाक्य के दबाव पर मानते हैं। त्रि से मानने पर भी वे इसे अधिदेवप्रधान ही मानते हैं : त्रित = तीन स्थानों में स्थित इन्द्र (निरुक्त ६।२५)।

त्रित आप्त्य की इस व्याख्या को ब्राह्मणों ने और भी आगे बढ़ाया है। यास्क ने आप्त्य को √आप् (प्राप्त करना) से निष्पन्न माना है। ब्राह्मणों ने इसे प्रातिपदिक आप् (जल) से निष्पन्न मानकर अन्ततः आप्त्य > आप्य के रूप में परिनिष्ठित माना है (श. ब्रा. १।२।३।२, तै. ब्रा. ३।२।८।१०–११) और इस प्रकार आप् से सम्बन्ध जोड़ने में त् की व्याख्या के लिए व्युत्पत्ति-सम्बन्धी जो कठिनाई थी, उसे त् को उड़ा कर मिटा दिया गया है। न रहा बाँस, न बजेगी बाँसुरी !

वैदिक व्यक्ति-विशेष-परक त्रित आप्त्य नाम अवेस्ता में आथ्व्य और थ्रित नामक दो व्यक्तियों के लिये प्रयुक्त हुआ है। इनमें वैदिक आप्त्य वर्णविपर्यय तथा वर्णविकार से अवेस्ता में आथ्व्य हो गये हैं। वैदिक आप्त्य के समान इन दोनों का ही सोम से विशेष सम्बन्ध है : आथ्व्य सोम को जीव-लोक के लिए बहाने वालों में बित्य अर्थात् द्वितीय हैं और थ्रित थ्रित्य अर्थात् तृतीय[1]। अवेस्ता (९।७, पृष्ठ ४५) में आथ्व्य के पुत्र का नाम थ्रएतओन बताया गया है। वहाँ (९।८ में) इसकी बहुत प्रशंसा की गई है। ऋग्वेद संहिता (१।१५८।५) में एक त्रैतन[2] की चर्चा की गई है, जिसे दास बताया गया है। पश्चिम के आर्यों के साथ विरोध की स्थिति में वहाँ के महापराक्रमी को भारतीय साहित्य में दास कहना अटपटा नहीं है।

थ्रितो सामनाम् सविश्तो थ्रित्यो मोम्मइयो अस्त्वइथ्याइ हुनूत गएथ्याइ[3] (९।१०)।

में सम्भवतः थ्रित में थ्रि (त्रि = तीन) को देख कर इसके थ्रित्य = तृतीय होने की कल्पना की गई है। वैदिक त्रित कालान्तर में त्रि + त से निष्पन्न समझा गया है, यह हम पीछे देख ही चुके हैं। भारतीय साहित्य में त्रित सोम के सोता हैं, उसे पृथ्वी पर लाने वाले नहीं। ऋ. सं. ५।४१।१० में त्रित के प्रसङ्ग में अपां नपात की भी चर्चा है। उधर अवेस्ता में शायुऋद्रि के पुत्र थ्रित को अपां नपात् नामक पृथ्वीस्थ स्थान-विशेष में निवास करने वाला बताया है[4]। वेद में वर्णित त्रित के अन्य कार्य

---

१. द्र. पं. राजाराम, अवेस्ता और उसका भाषानुवाद (श्रीमद्दयानन्द ऐङ्ग्लो-वैदिक कालिज, लाहौर, से प्रकाशित) हओम-यस्त, यस्न ९, मन्त्र ७, १०, पृष्ठ ४४, ४६। इस प्रकरण में अवेस्ता के उसी संस्करण का उपयोग किया गया है।

२. पं. राजाराम जी ने (पृष्ठ ४५ में) त्रैतान बताया है। पर समूचे वैदिक साहित्य में यह नाम नहीं मिल पाया है।

३. त्रितः सामानां शविष्ठस्त्रित्यो* मान्मत्यों अस्थन्वत्यै सुनुत जगत्यै।

*'तृतीयो'। संस्कृत का 'तीय' प्रत्यय अवेस्ता में 'त्य' है।

४. द्र. वैदिक देवशास्त्र, पृष्ठ १६६।

अवेस्ता में आप्व्य के पुत्र थएतओन (त्रैतन[1]) में आरोपित हैं। इस प्रकार वैदिक त्रित आप्त्य वहाँ तीन व्यक्तियों के रूप में परिणत हो गये हैं।

अस्तु, आप्त्यों का यहाँ सङ्कलन तो यास्क ने अन्तरिक्ष स्थान में स्तुत ऋषियों के गुण के नाते किया लगता है। अत्यन्त गौण होने के कारण इन्हें सब के अन्त में रखा गया है।

यास्क ने इस प्रकरण में पितरों के एक गण (१२) का भी सङ्कलन किया है। पितर् यम के अधीन हैं। यम माध्यमिक हैं; अतः ये भी माध्यमिक हैं।

वास्तव में तो जैसा हम ऊपर देख चुके हैं, ऋभु, अङ्गिरस्, भृगु, अथर्वन् और आप्त्य—सब पुरखे ऋषि ही हैं। उन्हीं का पूर्वजों के रूप में और देवताओं के रूप में वर्णन ऋग्वेद संहिता में मिलता है। अतः तत्वतः ये सब प्राचीन ऋषियों के नाम हैं। किन्तु नैरुक्त अधिदेववादी हैं। अतः वे इन को भी देवता अर्थात् प्राकृतिक शक्ति या तत्त्व के रूप में ही मानते हैं। ऐतिहासिक लोग इन्हें पितर् ही मानते हैं। ऋग्वेद संहिता के मन्त्रों के प्रमाण से हम देख चुके हैं कि मन्त्रों से कहीं-न-कहीं यह अवश्य प्रकट होता है कि ये लोग मूलतः मनुष्य थे; पर अपने विशिष्ट कर्मों से देवताओं की कोटि में पहुंच गये और देवतायों के गुण, धर्म, कार्यों का इनके सन्दर्भ में भी खूब वर्णन मिलता है। अतः हमारे विचार में ये देवगण बाद में हैं; ऋषिगण या पितर् पहले। ऋ. सं. १०।१४।६ में स्पष्ट रूप से इन्हें नाम लेकर पितरः कहा गया है। वसिष्ठ गोत्र-प्रवर्तक ऋषि ही हैं; वे देवता नहीं हैं। तब भी उनकी स्तुति देवताओं की तरह ही (ऋ. सं. ७।३३।८ में) की गई है।

इन सब गणों को इनके कार्यों के आधार पर अथवा इनके पितर् होने से तथा पितरों के यम के अधीन होने के कारण यम के अन्तरिक्ष लोक में ही माना गया है।

(ग) स्त्रीदेवता। देवगणों के बाद निघण्टु ५।५।१६-३६ में स्त्रीदेवताओं के २१ नाम समाम्नात हैं। इनमें कुछ नाम (१७–१६, २४, २५, २७, २८, ३५) माध्यमिक वाक् (मेघ के गर्जन) के हैं और कुछ (२०–२३) कर्मकाण्ड की दृष्टि से महत्वपूर्ण समयों के। कुछ (२६–३१) अन्तरिक्ष में स्तुत पार्थिव पदार्थों के नाम हैं। कुछ (३२–३३) नाम अस्पष्ट भावों के लगते हैं। ३४ वाँ नाम दिव्य उषा का ही अन्तरिक्ष में स्तुत नाम है। बृहद्देवता (२।१२९) में इस प्रकरण में सीता (हल की रेख) और लाक्षा भी सङ्कलित हैं। सम्भवतः उनका कथन किसी अन्य निरुक्त की परम्परा पर आधारित है।

स्त्रीदेवताओं में सर्वाधिक महत्त्व-शाली देवता अदिति हैं। मैक्डानल् (पृष्ठ ११४) के अनुसार ये 'विशुद्ध भाव का मानवीकरण बन कर उस वेद (ऋग्वेद) के न केवल नवीनतम भाग में, अपितु सारे ही ऋग्वेद में यत्र-तत्र प्रतिरोचमान होती हैं'।

---

१. द्र. वैदिक देव-शास्त्र, पृष्ठ १६६।

यास्क ने **अदितिः** शब्द का सङ्कलन निघण्टु ४।१।४१ में अनवगत-संस्कार शब्दों में भी किया है। निरुक्त (४।२२) में उसकी व्याख्या में उन्होंने **अदिति** को अदीना देवमाता बतलाया है। प्रथम निर्वचन के अनुसार अदिति √दो (दिवादिगण, २८) से निष्पन्न है और अक्षीण इसका अर्थ है। मैक्डानल् के विचार में यह बाँधना अर्थ वाली √दा से निष्पन्न है तथा **ति** भावार्थक प्रत्यय है। शब्द का समुचित अर्थ है अबद्धता अर्थात् स्वतन्त्रता। इस अर्थ में अन्य शब्दों में भी इस धातु का प्रयोग हुआ है। ऋ. सं. १।२५।३ में **सन्दितम्**, १२६।१ में **सन्दायि**, १६२।८ में **सन्दानम्**; ४।४।२ में **असन्दितः** (१।८३।३ में इसी अर्थ में **असंयत्तः**); ५।२।७ में **निदितः** और ८।१०३।११ में **निदिता**। वर्णन के लिहाज से भी यह अर्थ इस देवी पर ठीक घटता है : ऋ. सं. ८।६७।१४ में **अदिति** से प्रार्थना की गई है कि 'वे अपने उपासकों को बद्ध चोर की तरह बन्धनों से मुक्त कर दें'। **को नो मह्या अदितये पुनर्दात् पितरं च दृशेयं मातरं च** (ऋ. सं. १।२४।१) में भी **अदिति** स्वतन्त्रता ही लगती है। **मिमातु द्यौरदितिर्वीतये नः** (ऋ. सं. ५।५९।८) में **द्यौः** का विशेषण **अदितिः** भी **अबद्ध**= **असीम द्यौः** अर्थ ही देता है। **तदर्यमादितिः शिश्रथन्तु** (७।९३।७) में **अदिति** के प्रसङ्ग में √श्रथ् (ढीला करना) का प्रयोग भी इसी अर्थ की ओर सङ्केत करता है।

यास्क के दूसरे निर्वचन को दो दृष्टियों से लगाया जा सकता है :

१. वैदिक साहित्य में **अदिति** का वर्णन माता के रूप में विशेष रूप में मिलता है। **माता**, **शूरपुत्रा** (वीर पुत्रों वाली), **राजपुत्रा** (राजा जिसके पुत्र हैं) इत्यादि विशेषण **अदिति** के लिए बहुत आम हैं (ऋ. सं. २।२७।७; ३।४।११; अ. सं. ३।४।११, ८।२; ७।६।२; ८।९।२१; ११।१।११)। ये **मित्र**, **वरुण**, **रुद्रों**, **अर्यमा**, **भग** की माता हैं (२।२७।७; ६।१०१।१५; १०।३६।३, १३२।६)। **अदिति** के पुत्र **आदित्य** कहलाते हैं।

२. ऋग्वेद संहिता में **अदिति** का **दक्ष** से बहुत घनिष्ठ सम्बन्ध है। **दक्ष** **अदिति** के सर्वातिशायी पुत्र हैं (१०।६४।५)। परन्तु **अदिति** और **दक्ष** में तात्त्विक रूप से इतना नैकट्य या तादात्म्य है कि यह निश्चय से नहीं कहा जा सकता कि कौन किस से उत्पन्न है (१०।७२।४)। वास्तव में तो **दक्ष** और **अदिति** वैदिक सृष्टि विद्या से सम्बन्धित दार्शनिक तत्त्व हैं। लगता है **दक्ष** चेतन तत्त्व हैं और **अदिति** जड़ तत्त्व। चेतन तत्त्व अधिष्ठाता है और जड़ तत्त्व उसका अधिष्ठान। इसी लिये, सम्भवतः, **स्कन्दस्वामी** ने **अदिति** का अर्थ **प्रकृति** (अध्यात्मपक्ष में) किया है। मुर्गी पहले हुई कि अण्डा? यह प्रश्न जैसे आज अनुत्तरित है, वैसे ही दार्शनिक दृष्टि से जड़ और चेतन का उत्पत्ति क्रम निश्चित कर पाना कभी भी आसान नहीं रहा। हमारे विचार में ऋ. सं. १०।७२।२ में वर्णित **असत्** तत्त्व **दक्ष** है और उससे उत्पन्न **सत्** तत्त्व **अदिति** है। निराकार रूप में विद्यमान तत्त्व **अस्ति** (विद्यमानता) की विशेष

अवस्थाओं से युक्त न होने से अ-सत् ही है। 'है' (सत्) कहने पर विविध प्रश्न उठते हैं : कौन है ? कहाँ है ? कैसा है ? कैसे है ? ये सब प्रश्न साकार के ही हो सकते हैं। यही कारण है कि निराकार ब्रह्म को नेति, नेति कह कर निषेध-शेष=अशेष कहा जाता है : निषेध-शेषो जयतादशेषः (श्रीमद्भागवत ८।३।२४) इसी निषेध-शेष को ऋ. सं. १०।७२।२ में असत् कहा है। शक्ति, जड़ तत्त्व, माया, अथवा प्रकृति विभिन्न रूपों में प्रकाशित होती है, अतः सत् है। इसी भाव को ऋ. स. (१०।७२। २, ४) में निम्न लिखित प्रकार से प्रकट किया गया है :

देवानां पूर्व्ये युगे असतः सदजायत ।
देवानां युगे प्रथमे असतः सदजायत ।।
अदितिर्ह्यजनिष्ट दक्ष या दुहिता तव ।

निराकार तत्त्व जागतिक विशेषणों से रहित होने से असत् है। वह जब साकार होता है, तभी हमारा सत् शब्द उस पर लागू हो सकता है। इसी लिये अदितेर्दक्षो अजायत (ऋ. सं. १०।७२।४) कहा है। तात्त्विक दृष्टि से असत् दक्ष सत् अदिति या इसके विकार जगत् से बहुत उत्कृष्ट वस्तु है। चेतन तत्त्व अधिष्ठाता है, जड़ अधिष्ठान। साकार अथवा सगुण ब्रह्म अधिष्ठाता है और अदिति उसका अधिष्ठान। अतः जड़ जब सगुण ब्रह्म से भी गौण है, तब असत्, दक्ष, निर्गुण से तो सुतराम् गौण है। इसीलिये कहा गया है : दक्षाद्वदितिः परि (ऋ. सं. १०।७२।४)। शतपथ ब्राह्मण (१०।६।५।५) में अदिति को इस समस्त जगत् का अदन करने वाली बताया है। भाषा-शास्त्रीय दृष्टि से √अद्>अदिति निर्वचन ऋषियों की भावना के विरुद्ध है, यह निम्न ऋचा में अदिति से पृथक् दिति के प्रयोग से बिल्कुल स्पष्ट है : आरोहथो वरुण मित्र गर्तमतश्चक्षाथे अदितिं दितिं च (५।६२।८)। परन्तु इस व्युत्पत्ति से अदिति के ऊपर वर्णित दार्शनिक पक्ष की तो सम्यक् पुष्टि ही होती है।

यह जगत् अदिति का ही विकार है, इस तथ्य की पोषक निम्न ऋचाएँ हैं :

अदितिर्द्यौरदितिरन्तरिक्षमदितिर्माता स पिता स पुत्रः ।
विश्वे देवा अदितिः पञ्चजना अदितिर्जातमदितिर्जनित्वम् ।। १।८९।१० ।।
तां देवा अन्वजायन्त भद्रा अमृत-बन्धवः ।। १०।७२।५ ।।

३. इतिहास, पुराण आदि में अदिति कश्यप नामक एक प्रजापति ऋषि की पत्नी, देवराज इन्द्र, मरुतों, मार्तण्ड और वामन आदि देवों की माता के रूप में एक ऐतिहासिक व्यक्ति के रूप में वर्णित मिलती हैं। दुर्ग और स्कन्द ने यास्क की अदितिः ...देवमाता व्याख्या से इस ऐतिहासिक पक्ष को लिया है।

यहाँ एक बात ध्यान में रखने की है कि इस विवरण में अदिति को अन्तरिक्ष-स्थानीय देवों में रखने का कोई औचित्य नहीं दिखलाई देता है।

ऋग्वेद संहिता के कतिपय मन्त्रों (१।१५३।३,८।१०१।१५) में एवं परवर्ती

ग्रन्थों (वा. सं. १३।४३, ४९) में अदिति को गो बताया है। ऋ. सं ९।९६।३ में अदिति के ऋत की चर्चा आई है। ऋ. सं १०।६३।२–३ में स्पष्ट रूप से अदिति के सन्दर्भ में आप् (जल), पयस् (जल), पीयूष (जल) का लिङ्ग है। अतः, सम्भवतः, यास्क ने अदिति को माध्यमिक देवियों में रखा है।

१७. सरमा √सृ से निष्पन्न है। वृष्टि से पूर्व बिजली बादल में कभी यहाँ कौंधती-कड़कती है, कभी वहाँ। इसे ही, हमारी राय में प्रकृति के इस रूप को ही सरमा कहा गया है। निम्न ऋचायें इसमें प्रमाण हैं :

विदद्यदी सरमा रुग्णमद्रेर्महि पाथः पूर्व्यं सध्र्यक्कः ।
अग्रं नयत्सुपद्यक्षराणामच्छा रवं प्रथमा जानती गात् ॥ ३।३१।६ ॥
अपो यदद्रि पुरुहूत दर्दराविर्भुवत् सरमा पूर्व्यं ते ।
स नो नेता वाजमादर्षि भूरि गोत्रा रुजन्नङ्गिरोभिर्गृणानः ॥ ४।१६।८ ॥

ऋग्वेद संहिता के एक (१०।१०८) सूक्त में सरमा का मानवीकृत रूप भी दिखलायी देता है। उसी को आधार बना कर परवर्ती साहित्य में देव-शुनी सरमा की एक भव्य कथा वर्णित मिलती है।

२५. उर्वशी। ऋग्वेद संहिता में उर्वशी को अप्सरस् सीधे तो नहीं कहा गया है, पर तर्क से यही निष्कर्ष आता है कि ऋग्वेदीय उर्वशी अप्सरस् है। एक ऋचा में वसिष्ठ को उर्वशी के मन से उत्पन्न बताया है[1]; दूसरी ऋचा में उन्हें अप्सरस् से उत्पन्न बताया है : अप्सरसः परिजज्ञे वसिष्ठः (७।३३।१२),९ वां मन्त्र भी देखें। एक अन्य ऋचा (१०।९५।१७) में उसे अन्तरिक्ष को भरने वाली और रजस् को बनाने वाली कहा गया है : अन्तरिक्षप्रां रजसो विमानीम् ...उर्वशीम्। इसी सूक्त के दसवें मन्त्र में इन्हें अप्या (जल में उत्पन्न या रहने वाली) कहा गया है। इस से सिद्ध होता है कि ये अन्तरिक्ष-स्थानीय देवता हैं।

यास्क ने निघण्टु (४।२।४७) में भी उर्वशी पद दिया है। उसकी व्याख्या करते हुए निरुक्त (५।१३) में उन्हों ने लिखा है : उर्वश्यप्सरा उर्वभ्यश्नुत, ऊरुभ्यामश्नुत, उरुर्वा वशोऽस्याः। अप्सरा का निर्वचन देते हुए वे यहीं लिखते हैं : अप्सराः अप्सारिणी। अपि वाऽप्स इति रूपनाम। ....तद्रा भवति रूपवती, तदनयाऽऽत्तमिति वा, तदस्यै दत्तमिति वा। इस से निम्न दो बातें विदित होती हैं : १. उर्वशी रूपवती है। रूप √रुच् से निष्पन्न माना है (निरुक्त २।३)। √रुच् का अर्थ चमकना, दीपना है। अतः उर्वशी चमकीली है। २. खूब व्याप्त होती है। इन दोनों विशेषताओं से युक्त तत्त्व विद्युत् है। इस प्रकार निर्वचन से भी उर्वशी अन्तरिक्ष-स्थानीय देवता सिद्ध होती हैं।

ऋग्वेद संहिता में ही उर्वशी का बहुत अधिक मानवीकरण उपलब्ध होता है।

---

१. उतासि मैत्रावरुणो वसिष्ठोर्वश्या ब्रह्मन्मनसोऽधि जातः ॥ ७।३३।११ ॥

वहाँ ये पुरुरवस् ऐळ की प्रेमिका के रूप में वर्णित हैं। ऐळ पुरुरवस् का वर्णन ऋ. सं. (१०।९५) में उर्वशी के द्वारा परित्यक्त अत एव व्याकुल विरही प्रेमी के रूप में हुआ है। तथा अन्यत्र (१।३१।४) में केवल एक वार मनु विशेषण के साथ इनका प्रसङ्ग आया है। व्युत्पत्ति की दृष्टि से पुरुरवस् का अर्थ होता है बहुत शब्द वाला (पुरु+रवस्)। उर्वशी में भी वशी हमारे विचार में शब्दार्थक √वाश् ही है[1]। अर्थ की दृष्टि से दोनों शब्द एकार्थक हैं। लिङ्गभेद के कारण, सम्भवतः, इनमें कान्त-कान्ता सम्बन्ध की कल्पना ऋषि ने की होगी। पुरुरवस् को ऐळ (इळा का पुत्र) कहा जाता है। इळा को घृतहस्ता (ऋ. ७।१६।८), घृतपदी (१०।७०।८) कहा गया है। नदी–सहित उर्वशी के प्रसङ्ग में भी एक वार (५।४१।१९) इळा वर्णित है। यास्क ने भी इळा को अन्तरिक्ष-स्थानीय देवियों में ही उपान्त्य स्थान दिया है। कदाचित् इन के आधार पर ही पुरुरवस् को ऐळ कहा हो। अथवा यह भी हो सकता है कि पुरुरवस् गर्जते मेघ का नाम है। इळा ऋग्वेद में दूध और घी के हविष् का मानवीकरण है। मेघ यज्ञ के धूम से बनने के कारण ऐळ कहला सकता है।

तत्त्वतः ये दोनों चाहे जो हों, ऋग्वेदसंहिता में ही दोनों परस्पर अत्यन्त आसक्त प्रेमी और प्रेमिका के रूप में ही अधिक वर्णित हुए हैं। पुरुरवस् का पुंल्लिङ्ग के रूप में और उर्वशी का अप्सरा के रूप में वर्णन तथा अप्सरा का रूपवती प्रेमिका (योषा) के रूप में अप्सरा जारमुप सिष्मियाणा योषा बिभर्ति परमे व्योमन् (ऋ. सं. १०।१२३।५) इत्यादि में वर्णन ही इस आलङ्कारिक वर्णन में हेतु प्रतीत होता है।

३६. रोदसी। यह शब्द सामान्यतः शब्द करने वाला स्थान अर्थ में स्त्रीलिङ्ग में है। यह विशेषता अन्तरिक्ष की ही है, अतः यह माध्यमिक देवता के लिए प्रयुक्त हुआ होगा। किन्तु इस का एक वचन में प्रयोग ऋग्वेद संहिता में केवल चार वार (१।१६७।५, ५।५६।८; ६।५०।५, ६६।६ में) ही हुआ है। द्विवचन में प्रयोग तो सैंकड़ों वार ही हुआ है। अन्तरिक्षस्थानीय देवताओं में शब्द-साम्य की दृष्टि से इसकी निकटता रुद्र से है; अतः इसे रुद्र की पत्नी अर्थात् विभूति कहा गया है। यों, वर्णन की दृष्टि से इनका वर्णन मरुतों के साथ ही हुआ है। सायण ने (ऋ. सं. १।१६७।४

---

१. बृहद्देवता (२।५९) में 'उर्वशी' को 'उरुवासिनी' कहा गया है। मैक्डानल् की सूचना के अनुसार उनकी बृहद्देवता के दो कोषों (आर', आर") में 'उरुवाशिनी' पाठ है। हमारे विचार में यही पाठ ठीक है। निरुक्त (५।१३) में उर्वशी के निर्वचन के प्रकरण का पाठ भी 'उरुर्वा वाशोऽस्या' ही होना चाहिये। दुर्ग से पूर्व ही यह पाठ भ्रष्ट हो गया था। भाग्येन बृहद्देवता में पाठ बहुत भ्रष्ट नहीं हो पाया। यहाँ मैक्डानल् की टिप्पणि (c) सुविचारित नहीं है। 'उरु वा वशोऽस्याः' अर्थ की दृष्टि से भी व्यर्थ-सा ही है। 'शब्द करने वाली' अर्थ में 'वाशिनी' शब्द का प्रयोग यास्क ने भी (वृद्धवाशिनी, ५।२१ में) किया है।

पर) इन्हें मरुतों की पत्नी मानना ही युक्त बताया है : रोदसा शब्देन रोदन-स्वभावो रुद्रः। तस्य स्त्री रोदसीति केचिदाहुः। अपरे तु मरुतां स्त्रियो रोदसीति नाम-धेयमिति आहुः। अयमेव पक्षो युक्त, उत्तरत्रैवं व्यवहारात्।

वृत्र। प्राचीन देव-विद्या में देवताओं पर ही चिन्तन और मनन होता था। यों भी भारतीय दृष्टि दिव्य, उदात्त भावनाओं को ही आदर देती रही है। सम्भवतः यही कारण है कि यास्क ने अपने निघण्टु में जहां कई अत्यन्त गौण देवताओं के नाम भी सङ्कलित किये हैं, वहीं उन्होंने देवताओं की विरोधी शक्तियों के एक भी नाम का समाम्नान निघण्टु में नहीं किया। हां, निरुक्त (२।१६-१७) में उन्होंने तत्को वृत्रः ? से प्रश्न उठा कर देव-विरोधी शक्तियों में से एक वृत्र पर विचार अवश्य किया है। चरित्र की दृष्टि से यास्क के मत में वृत्र अन्तरिक्ष-स्थानी ही है; अतः हम अन्तरिक्ष-स्थानीय देवताओं का वर्णन करने के बाद वृत्र पर कुछ कहना न केवल प्रासङ्गिक अपितु आवश्यक भी समझते हैं।

वृत्र के स्वरूप की सामान्य चर्चा तथा वरुण से उसकी व्युत्पत्ति की दृष्टि से समानता, परन्तु तात्त्विक दृष्टि से विषमता का निदर्शन हम सङ्क्षेप में पीछे (पृष्ठ ३२७ पर) कर चुके हैं।

ऋग्वेद संहिता (१।५२।२,६ और २।१४।२ आदि) से प्रतीत होता है कि ऋषि लोग वृत्र शब्द को √ वृ से निष्पन्न मानते थे। इस √ वृ का अर्थ रोकना, घेरना, आवरण था (१।३२।११, ५१।४; ३।३३।६)। वृत्र जिस वस्तु को रोकता था, वह जल है (१।५१।४, ५२।६; २।१४।२)। जल के रुकने अर्थात् वर्षा न होने से नदियों के रुक जाने के कारण वृत्र को नदी-वृत् भी कहा गया है (३।३३।६; ४।४२।७; ८।१२।२६)। √वृ से निष्पन्न एक अन्य शब्द—वल—भी वृत्र के लिये प्रयुक्त हुआ है। किन्तु मैक्डानल् (वै. दे., पृ.४१६) के अनुसार इसका मानवीकरण सुव्यक्त नहीं बन पाया है, क्यों कि इस के लिए तोड़ना अर्थ वाली √भिद, √दृ, या √रुज् का प्रयोग हुआ है, जब कि वृत्र के लिए √हन् का ही प्रयोग हुआ है। वल मूलतः बर ही लगता है तथा लौकिक संस्कृत में तो यह बल ही हो गया है। जल को न छोड़ने के कारण ही सम्भवतः वृत्र को नमुचि कहा गया है (१।५३।६-७; ७।१६।५)। यह शब्द ऋग्वेद संहिता में वृत्र के साथ भी आया है (७।१६।५) और पृथक् से भी (१०।७३।७, १३१।४)। सम्भवतः इसी आधार पर वृत्र का यह गुणाभिधान परवर्ती साहित्य में एक स्वतन्त्र, वृत्र से अतिरिक्त, दानव के रूप में विकसित मिलता है, जो वृत्र की सेना के प्रमुख योद्धा के रूप में भी वर्णित है।

ऋग्वेद संहिता में वृत्र का वर्णन पुरुषविध नहीं मिलता, अपितु एक अहि (सर्प) के रूप में मिलता है। यह जल के चारों ओर कुण्डली मारे पड़ा रहता है (४।१६।२; ५।३०।६)। इसका आकार पर्वत जैसा विशाल है (१।५७।६; ५।३२।१-२)। इस के हाथ, पैर और कन्धे नहीं हैं (१।३२।७)। यह इतना भीषण पराक्रमी

है कि एक बार तो इन्द्र भी इससे भय खा गये थे (१।३२।१४)। वृत्र के पराक्रम का अनुमान इसी तथ्य से भली-भाँति लगाया जा सकता है कि इसे मारने से इन्द्र को इतना यश मिला कि उनका नाम ही वृत्रहन् पड़ गया : वृत्रं हनति वृत्रहा शतक्रतु र्वज्रेण शतपर्वणा (ऋ. सं. ८।८९।३), वृत्रखादो वलंरुजः (३।४५।२)।

ऋग्वेद संहिता से यह बिल्कुल स्पष्ट रूप से विदित होता है कि प्राकृतिक अवस्था ही इन्द्र और वृत्र के रूप में वर्णित है। इन का युद्ध भी कोई वास्तविक युद्ध नहीं है। यह तो कवि ने वर्षा-काल के उस दृश्य का आलङ्कारिक भाषा में वर्णन किया है। एक ऋषि ने तो इस स्थिति को बिल्कुल स्पष्ट शब्दों में कहा भी है :

न त्वं युयुत्से कतमच्चनाहर्न तेऽमित्रो मघवन्कश्चनास्ति[1]।
मायेत्सा ते यानि युद्धान्याहुर्नाद्य शत्रुं न नु पुरा विवित्से ॥ १०।५४।२ ॥

इसी लिये नैरुक्त आचार्यों का कथन है कि मेघस्थ जल और ज्योति (विद्युत्) के आपस में मिश्रण-रूप-कर्म से वर्षा होती है। यह मिश्रण का कार्य ही वृष्टि के कर्ता देव इन्द्र (वायु की एक विशेष अवस्था) और वृत्र (मेघ) के बीच युद्ध के रूप में वर्णित है (निरुक्त २।१६)। अतः ग्रीष्म ऋतु के बाद वर्षा के प्रारम्भ होने के समय जल-भार से झुका हुआ मेघ ही वृत्र है। वृष्टि का प्रेरक माध्यमिक इन्द्र अपने विद्युत्-रूप वज्र से उसे मारता है और मेघ के शरीर में स्थित जल मुक्ति पा जाता है। वर्षा हो जाती है।

ऊपर हम देख चुके हैं कि वैदिक ऋषि √वृ>वृत्र मानते थे। नैरुक्तों ने वृत्र के चार निर्वचन दिये हैं :

(१) यदवर्तत, तद् वृत्रस्य वृत्रत्वम्[2]। अर्थात् वह जो वर्तमान रहता है, इस लिये वृत्र (<√वृत्+त्र) कहलाता है। दुर्गाचार्य के अनुसार √वृत् यहाँ हेतुमण्णिप्रत्ययान्त के रूप में है। अर्थात् इन्द्र के द्वारा मारा गया मेघ जल के बिल के खुल जाने पर जल को वृष्टि के रूप में प्रवृत्त कर देता है : अवर्तत=अवर्तयत्=प्रावर्तयत्।

(२) यदवर्धत, तद् वृत्रस्य वृत्रत्वम्। अर्थात् उसका आकार आकाश में बढ़ता जाता है, फैलता जाता है, इसलिए √वृध्+त्र>वृत्र है।

(३) यदवृणोत्, तद् वृत्रस्य वृत्रत्वम्[3]। अर्थात् वह आकाश को ढँक देता है, आकाश में छा जाता है इस लिये √वृ+त्र>वृत्र है।

(४) अथवा इसमें √वृध् एवं √वृ - दोनों—क्रियाओं का भाव है :

---

१. शतपथ ब्राह्मण में 'तस्मादेतदृषिणाऽभ्यनूक्तम्', कह कर उद्धृत यह मन्त्रार्ध वैदिक साहित्य में अन्यत्र कहीं नहीं मिलता। शाकल-शाखा में इसके स्थान पर यह मन्त्रार्ध मिलता है :

यदचरस्तन्वा वावृधानो बलानीन्द्र प्रब्रुवाणो जनेषु।

२. तु. श. ब्रा. : १।६।३।९ :स यद्वर्तमानः समभवत्तस्माद् वृत्रः।

३. तु. श. ब्रा. : १।१।३।४ :स यदिदं सर्वं वृत्वा शिश्ये, तस्माद् वृत्रो नाम।

विवृद्ध्या शरीरस्य स्रोतांसि निवारयाञ्चकार। अर्थात् शरीर की वृद्धि से ($\sqrt{}$वृध्) वह जल निकलने के स्रोतों को रोक देता है ($\sqrt{}$वृ)।

वृत्र शब्द का प्रयोग नपुंसक लिङ्ग में भी बहुधा मिलता है। किन्तु पुंल्लिङ्ग **वृत्र** का प्रयोग जहाँ एकवचन में ही हुआ है, वहीं नपुंसक **वृत्र** का प्रयोग सदा बहुवचन में ही हुआ है। इतना ही नहीं, वृत्र के साथ प्रयुक्त विशेष्य (दास आर्य आदि) भी नपुंसक लिङ्ग में ही प्रयुक्त हुए हैं (६।२२।१०, ३३।२)। नपुंसकलिङ्ग वृत्र भी $\sqrt{}$वृ से ही निष्पन्न है तथा इसका प्राचीनतर अर्थ **बाधा** है, तदनन्तर **बाधक** अर्थ निष्पन्न हुआ है।

वैदिक में वृत्र का वध करने वाले देवता को **वृत्रहन्** कहा गया है। **अवेस्ता** में बहुत-से वैदिक देवता राक्षसों के रूप में चित्रित हुए हैं। फलतः इन्द्र की गौरवमयी विशेषता को भी जब निन्दा के रूप में परिणत करना ही है, इन्द्र को राक्षस के रूप में विकृत जब करना ही है, तब वृत्र बुरे अर्थ में नहीं रह सकता। फलतः **वैदिक वृत्र** (बाधक) **अवेस्ता** में **वेरेथ्र** (विजय) के रूप में मिलता है। **अवेस्ता** में **वेरेथ्रघ्न** पद **इन्द्र देव** (अवेस्ता में केवल दो बार प्रयुक्त) का गुणाभिधान है। यहाँ **देव** शब्द का वही अर्थ है, जो हमारे यहाँ परवर्ती काल में **असुर** का हो गया है। अतः **वेरेथ्रघ्न** का अर्थ **युद्ध की आसुरी शक्ति** है। वर्षा करना या उसकी रुकावट को दूर हटाने से **वेरेथ्रघ्न** का कोई सम्बन्ध नहीं है।

ब्राह्मण साहित्य में वृत्र का बहुत विकास हुआ है। ऋग्वेद संहिता में **त्वष्टा** को वृत्रवध के कार्य में **इन्द्र** का सहायक बताया है[1], किन्तु शतपथ ब्राह्मण (१।६।३।१-१७) में **त्वष्टा** को **इन्द्र** का शत्रु बतला कर वृत्र को उसके यज्ञ से उत्पन्न बताया है। यज्ञ करते समय आहुति देने के लिये प्रयुक्त वाक्य में स्वर की गलती से वृत्र की पराजय हुई। यहीं वृत्र को **उदर** भी बताया गया है। किन्तु साथ ही **ब्राह्मण** के आचार्य की दृष्टि से इन्द्र-वृत्र की तात्त्विक स्थिति सर्वथा ओझल नहीं हुई है। **शतपथ** (११।१।६।९) में इस बात को बहुत स्पष्ट रूप से कहा गया है : **तस्मादाहु—नैतदस्ति यद्दैवासुरं, यदिदमन्वाख्याने त्वद् उद्यत इतिहासे त्वत्।**

वेद की रक्षा के लिये कटि-बद्ध[2] **इतिहास**[3] और पुराणों ने इस मधुर और ओजपूर्ण कल्पना को यथार्थ ऐतिहासिक घटना का रूप देने में कोई कसर नहीं

---

१. **अहन्नहिं पर्वते शिश्रियाणं त्वष्टाऽस्मै वज्रं स्वर्यं ततक्ष** ॥ १।३२।२ ॥

२. **इतिहास-पुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्** ॥

बिभेत्यल्पश्रुताद् वेदो मामयं प्रहरिष्यति ॥ **महाभारत, आ. प. १।२६७-८** ॥

३. द्र. **महाभारत** : **आदिपर्व** ६५।३३; ६७।४४; १६६।५० । **वनपर्व** १००।४; १०१।१४ । **उद्योगपर्व** ९।४८, ५२; १०।२७-३१ । **शान्तिपर्व** २७९।१३-३१; २८०।५७-५९; २८१।१३-२१; २८२।[?]; २८३।५९-६० । **आश्वमेधिकपर्व** ११।७।१६

छोड़ी। इस से वेद का आशय तो बिल्कुल तिमिराच्छन्न हुआ ही, महाभारत की यह आत्मश्लाघा भी झूठी सिद्ध हुई है :

अज्ञान-तिमिरान्धस्य लोकस्य तु विचेष्टतः।
ज्ञानाञ्जन-शलाकाभिर्नेत्रोन्मीलनकारकम् ॥ आदिपर्व १।८४ ॥
पुराण-पूर्णचन्द्रेण श्रुति-ज्योत्स्नाः प्रकाशिताः।
नृ-बुद्धि-कैरवाणां च कृतमेतत् प्रकाशनम् ॥ वहीं ८६ ॥

पुराणों ने अपने वर्णन का आधार वैदिक वर्णन को ही बनाया है। किन्तु पुराणों की और वैदिक संहिताओं की, विशेष कर ऋग्वेद संहिता की, दृष्टियों में इतना अन्तर है कि दोनों के वर्णनों में नामों की समानता को छोड़ कर तात्त्विक समानता बिल्कुल नहीं है। यह ठीक है कि ऋग्वेद संहिता[1] में विष्णु को इन्द्र के सहायक के रूप में कहा है। किन्तु वैदिक विष्णु तो सूर्य ही है, जब कि पौराणिक विष्णु क्षीरशायी, लक्ष्मीपति, सत्त्वप्रधान, पुरुषविशेष है। इसी प्रकार ऋग्वेद में वृत्र को मारने के समय यज्ञ को इन्द्र के वज्र की रक्षा करने वाला बताया है[2]। परन्तु यज्ञ का विष्णु अर्थ लेकर विष्णु इन्द्र के वज्र में या स्वयम् इन्द्र में प्रविष्ट हो गये, यह वर्णन वैदिक वर्णन से तो सर्वथा भिन्न ही है। इसी प्रकार वृत्र (मेघ) के महान् आकार को इतना बढ़ा-चढ़ा कर कहना कि उसने अपना एक जबड़ा धरती पर टिका लिया एवं दूसरा आकाश के शिखर पर और इन्द्र को ऐरावत हाथी समेत निगल लिया, विजया-भवानी की तरङ्ग का प्रसाद तो माना जा सकता है, यथार्थ नहीं। इसी प्रकार मायाभिर्मायिनं सक्षदिन्द्रः (ऋ. सं. ५।३०।६) की व्याख्या तरह-तरह की दानवीय और दैवी मायाओं के रूप में करना तथा वृत्र के द्वारा विष्णु की स्तुति किया जाना इत्यादि वर्णन पुराणकार के अपने सिद्धान्त को भले ही पुष्ट करें, वैदिक वर्णन से तो कोसों दूर हैं। परन्तु यास्क के समय यह व्याख्याएँ प्रचलित हो चुकी थीं, अतः यास्क ने इस पक्ष को देना भी उचित समझा है[3]।

---

१. अहि यद् वृत्रमपो वव्रिवांसं हन्नृजीषिन् विष्णुना सचानः ॥ ६।२०।२ ॥

२. यज्ञेन यज्ञमव यज्ञियः सन् यज्ञस्ते वज्रमहिहत्य आवत् ॥ ३।३२।१२ ॥

३. डा. लक्ष्मणस्वरूप का (मूलपाठ, पृष्ठ ५२, टि. ९. में) कहना है कि यह पक्ष लघुपाठ के कोषों में नहीं है। श्री वै. का. राजवाडे के दुर्गवृत्ति वाले संस्करण में यह पक्ष टीका में उद्धृत तो है, पर दुर्ग ने इसकी व्याख्या नहीं की है। टीका में उद्धृत ऋ. सं. १०।५४।२ की व्याख्या (यानि च युद्धान्याहुरैतिहासिका नानारूपाण्युपप्रदर्शयन्तः....।) में ऐतिहासिक पक्ष दिया है। स्कन्द ने (पृष्ठ ९३ में) ऐतिहासिक पक्ष को पहले उद्धृत करके उसकी व्याख्या की है, फिर नैरुक्त पक्ष को उद्धृत करके

ऋग्वेद संहिता में अनेक (३।५५।१९; १०।१०।५) मन्त्रों में त्वष्टा को सविता बताया है। आचार्य ए, कुह्न्, हिलेब्राण्ट् और हार्डी भी त्वष्टा को सूर्य का प्रतिरूप मानते हैं। आ. ऐ. मैक्डॉनल् भी त्वष्टा को सूर्य की सृजनात्मक क्रिया का प्रतीक मानते हैं[1]।

तो, त्वष्टा अर्थात् सविता यज्ञ से = तपन से अथवा यज्ञ से पर्जन्य होता है[2], इस सिद्धान्त को दृष्टि में रखें, तो यज्ञ से ही वृत्र अर्थात् मेघ को पृथिवी से रस-हरण की प्रक्रिया से उत्पन्न करते हैं। अतः वे वृत्र के पिता हैं। इस प्रकार वृत्र अर्थात् मेघ त्वाष्ट्र है। इन्द्र वृष्टि करने वाला माध्यमिक वायु है ही। मेघों के खूब छा जाने पर भी जब तक वर्षा कराने वाली हवा नहीं चलती, तब तक वर्षा नहीं होती। अतः वायुविशेष इन्द्र बरसा कराता है। बरसा होने पर मेघ जल रूप में प्रवाहित होने लगता है; वह नहीं रहता; अतः इन्द्र वृत्र को मारता है। यह आधिभौतिक तत्त्व-दर्शन ही पुराणों में ऐतिहासिक रूप में प्रस्तुत किया गया है।

वृत्र की इन दो प्राचीन व्याख्याओं के अलावा निम्न तीन व्याख्यायें भी विद्वानों ने प्रस्तुत की हैं :

(१) रात्री का गहन अन्धकार ही वृत्र है (The Dawn Theory)। अन्य विद्वानों के मत में वृत्र की पुराणोक्त ऐतिहासिकता अप्रामाणिक एवम् अविश्वसनीय है। 'मेघ ही वृत्र है'–इस सिद्धान्त को भी वे लोग नहीं मानते। उनका कथन है कि वृत्रवध के साथ अन्य जिन कुछ कर्मों का वर्णन मिलता है, उनकी व्याख्या इस सिद्धान्त के आधार पर ठीक तरह नहीं हो पाती। जैसे—ऋ. सं. २।१९।३[3] में वर्णित अप् का प्रेरण, सूर्य का जनन, गायों का लाभ इन तीनों कर्मों की व्याख्या वृत्र को मेघ मानने के पक्ष में नहीं हो सकती। अतः रात्री का अन्धकार ही वृत्र है, एवम् प्रभात में उसे दूर करता हुआ सूर्य ही इन्द्र है; अप् का प्रेरण प्रकाश का प्रणयन है; रश्मियाँ ही गायें हैं।

परन्तु यह मत समीचीन नहीं प्रतीत होता। क्योंकि—

उसकी व्याख्या की है। सायण ने ऋ. सं १।३२।१० पर भाष्य में इस समूचे प्रकरण को उद्धृत किया है। दुर्ग के समय या तो वह वाक्य निरुक्त में था ही नहीं, या उस की टीका का यह प्रकरण खण्डित हो गया है। अन्य प्रसङ्गों में ऐतिहासिक पक्ष को देने से लगता है कि यास्क ने इस अत्यन्त प्रसिद्ध पक्ष को छोड़ा तो नहीं होगा। पर निश्चय से कुछ नहीं कहा जा सकता।

१. द्र. डा. सूर्यकान्त, वैदिक देवशास्त्र, पृष्ठ ३०७।

२. यज्ञाद् भवति पर्जन्यः ॥ गीता ३।१४ ॥

३. स माहिन इन्द्रो अर्णो अपां प्रैरयदहिहाच्छा समुद्रम्।
अजनयत्सूर्यं विदद् गा अक्तुनाऽह्नां वयुनानि साधत् ॥

(क) सूर्य ने सूर्य को उत्पन्न किया (अजनयत सूर्यम्) और सूर्य ने रश्मियों को प्राप्त किया (विदद् गाः) यह विरोधाभास तथा असम्भव दोष इस व्याख्या में आते हैं।

(ख) अर्णस् तथा अप् शब्द जल के पर्याय तो हैं, वे प्रकाशवाचक भी हैं, इस में कोई प्रमाण नहीं है।

(ग) उपर्युक्त मन्त्र से पिछले मन्त्र[1] में स्पष्ट रूप से वृष्टि के देवता इन्द्र का ही वर्णन है, अतः प्रकरण इन्द्र का है, न कि सूर्य का। इसी लिए इस व्याख्या के विषय में प्रा. ऐ. मैक्डानल् ने कहा है कि आँधी–पानी के बाद सूर्य के प्रकट होने तथा प्रभात में रात्री के अन्धकार से छुटकारा पा कर सूर्य के प्रकट होने की धारणा में कुछ भ्रम-सा हुआ लगता है[2]।

उपर्युक्त स्थल (२।१९।३) की व्याख्या वृत्र को मेघ एवम् इन्द्र को वृष्ट्यभिमानी देवता मानने के पक्ष में भी सुतराम् हो सकती है :

वेद में अन्तरिक्ष उत्तर समुद्र के रूप में और पार्थिव समुद्र अधर समुद्र के रूप में वर्णित है, यह तो प्रसिद्ध ही है[3]। इस मन्त्र में अन्तरिक्ष में मेघस्थ जल के उसी अधर समुद्र की तरफ इन्द्र के द्वारा प्रेरित होने का वर्णन है। बादल जब छा जाते हैं, सूर्य ढँक जाता है। मेघ को जब इन्द्र ने मार दिया, तब सूर्य पुनः उत्पन्न (प्रकट) हो गया। अतः इन्द्र ने सूर्य को उत्पन्न किया—यह कहना अनुचित नहीं है। सूर्य के ढँके रहने तक गो=सूर्य की रश्मियाँ भी अप्राप्त थीं। इन्द्र ने उन्हें भी प्राप्त किया। वृत्र के द्वारा ढँके हुए दिनों के तेज (अह्नां वयुनानि) को भी इन्द्र ने प्रकाश (अक्तु) से सिद्ध किया। अर्थात् मेघ के आवरण के कारण अन्धकारयुक्त हुए दिन (अहन्) मेघ के मारे जाने से सूर्य के पुनः उग आने पर तेज से भर गये।

(२) हेमन्त ऋतु ही वृत्र है (The Vernal Theory)। कुछ विद्वानों का विचार है कि वृष्टि के देवता के रूप में पर्जन्य का वर्णन ऋग्वेद में मिलता है, तब इन्द्र को वृष्टि का देवता मानना आवश्यक नहीं है। उनका कथन है कि

य ईङ्खयन्ति पर्वतान् तिरस्समुद्रमर्णवम् (ऋ. सं. १।१९।७)

में पर्वत का अर्थ मेघ है, यह कहना मुश्किल है। आचार्य हिलेब्राण्ट् का कथन है कि

---

१. अस्य मन्दानो मध्वो वज्रहस्तोऽहिमिन्द्रो अर्णोवृतं वि वृश्चत्।
प्र यद् वयो न स्वसराण्यच्छा प्रयांसि च नदीनां चक्रमन्तः॥

२. द्र. There appears to be a confusion between the notion of the restoration of the sun after the darkness of the thunderstorm and the recovery of the sun from the darkness of the night at dawn. ३. द्र. निघण्टु (१।३) में 'अन्तरिक्ष' के पर्यायों में 'समुद्र' शब्द तथा इस पर निरुक्त (२।१०) समुद् द्रवन्त्यस्मादापः, समभिद्रवन्त्येनमापः। तथा :

स उत्तरस्मादधरं समुद्रमपो दिव्या असृजद्वर्ष्या अभि। ऋ. सं. १०।९८।५।

हेमन्त ऋतु (the frozen winter) ही वृत्र है; नदियों तथा झरनों का जल ही आपः है। हेमन्त के द्वारा वह जल रोक लिया जाता है—ग्लेसियर के रूप में जमा दिया जाता है। जम कर बर्फ की चट्टान बने हुए उस जल को पिघलाने वाली वसन्त ऋतु का या ग्रीष्म ऋतु का सूर्य ही इन्द्र है। इसी प्राकृतिक घटना को ऋषि ने जल को जमा देने वाली अत्यन्त कड़ी सरदी रूपी वृत्र को सूर्य मार कर जल को मुक्ति देता है—इस रूपक में कहा है।

इस व्याख्या को भी अन्य विद्वान् ठीक नहीं मानते। क्योंकि—

(क) ऋग्वेद के उन स्थलों में जहाँ इन्द्र को वृष्टि का प्रेरक बतलाया गया है, यह व्याख्या असहाय हो जाती है।

(ख) वैदिक साहित्य में इन्द्र और सूर्य का स्वरूप अत्यन्त स्पष्ट रूप से विवेचित है; अतः यहाँ इन्द्र का अर्थ सूर्य है, यह कहना उचित नहीं है।

(ग) हेमन्त में नदियों तथा झरनों का जम जाना अत्यन्त शीतल प्रदेशों (श्री हिमालय के दर) में ही सम्भव है। भारत के मैदानी इलाकों में, जहाँ मन्त्रों की रचना हुई है, यह सम्भव नहीं है।

(३) दिव्य जल ही (The Watery demon of Darkness) ही वृत्र है। श्री बालगङ्गाधर तिलक का कथन है कि ध्रुव प्रदेश में छह-छह मास के दिन और रात होते हैं। उसी के अनुपात से सन्ध्याकाल भी पर्याप्त लम्बा होता है। उस लम्बे समय में जो अन्धकार और प्रकाश की सन्धि है, वही सङ्घर्ष अर्थात् युद्ध के रूप में वर्णित है। अन्तरिक्ष में जो सूक्ष्म जल (Cosmic waters) है, वही पृथिवी को आकाश (ether) की तरह आवेष्टित कर लेता है और सूर्य, चन्द्र तथा तारकमण्डल को परिचालित करता है। छमाही रात प्रारम्भ होने पर शीत की अधिकता से यह दिव्य जल भी स्थिर- (हिम-) सा हो जाता है। फलतः सूर्य, चन्द्र तथा तारकमण्डल की गति रुक जाती है। शरद् में रात्री का प्रारम्भ होता है, और दिव्य जल का स्थिर होना सन्ध्या में (शरदारम्भ से पहले) ही प्रारम्भ हो जाता है। सारी रात अर्थात् हमारे छह मास तक दिव्य जल जमा ही रहता है और सूर्य चन्द्र आदि की गति का अवरोध ही युद्ध की तरह वर्णित है। प्रभात सन्ध्या में जब रवि (इन्द्र) शीत को अपनी किरणों से दूर करता है, और जमा हुआ दिव्य जल पिघलने लगता है, तब सूर्य, चन्द्र आदि का गतिभङ्ग टूटता है। सूर्य उगता है। वृत्र मर जाता है। रश्मियाँ मिल जाती हैं। इस प्रकार यह वृत्र और इन्द्र का युद्ध समाप्त होता है।

यह व्याख्या भी पूर्व व्याख्याओं की तरह केवल आंशिक समाधान ही कर पाती है; इन्द्र और वृत्र के सम्पूर्ण वृत्त की व्याख्या नहीं कर पाती। केवल नैरुक्तों का मेघ-वृत्र सिद्धान्त ही ऐसा है, जिससे वेद के इस से सम्बद्ध स्थलों की सर्वाधिक सन्तोषजनक व्याख्या की जा सकती है।

अध्याय २५

द्युस्थानीय देवता

निघण्टु में दैवतकाण्ड के पाँचवें खण्ड में ३१ नामपद हैं। इन में त्वष्टा प्रक्षिप्त लगता है, यह हम पीछे (पृष्ठ २० पर) कह चुके हैं। अतः इस खण्ड में कुल ३० नाम विचारणीय हैं। इन में से १ अश्विनौ, २ सविता, ३ भग, ४ सूर्य, ५ पूषा, ६ विष्णु, ७ विश्वानर, ८ वरुण, ९ वृषाकपि, १० यम तथा ११ अज एकपात् द्युस्थानीय देवता आदित्य की भिन्न-भिन्न अवस्थाओं को प्रकट करने वाले नामपद हैं। १२ केशिन् (पुं.) रश्मिवत्ता के कारण पड़ा आदित्य का गुणाभिधान है। १३ केशिनः तीनों ज्योतियों के लिए सामूहिक गुणाभिधान है। १४ उषाः, १५ सूर्या, १६ वृषाकपायी तथा १७ सरण्यू आदित्य की पत्नियों के नाम हैं। १८ पृथिवी शब्द लोकवृत्ति से धरती के लिए प्रसिद्ध है। किन्तु लोक-सामान्य के लिए भी प्रयुक्त हुआ है। उत्तम-लोक-वाचक होने के कारण यह शब्द इस खण्ड में भी दिया गया है। १९ इसी प्रकार समुद्र नाम भी आया है। २० अथर्वन्, २१ मनु और २२ दध्यङ् दिव्य स्तोताओं के नाम हैं। निरुक्त में इन का क्रम दध्यङ्, अथर्वन् और मनु मिलता है। इन के बाद द्युस्थानीय ७ देवगणों के ७ नाम (२३-२९) हैं। इन सब के बाद तीन लोकों के देवों इन्द्र, अग्नि और अश्विनों की पत्नियों (क्रमशः इन्द्राणी, अग्नायी और अश्विनी) की समन्वित स्तुति में प्रयुक्त ३० देवपत्न्यः नाम है। देवपत्न्यः निघण्टु का अन्तिम नाम है।

अश्विनौ प्रमुख दिव्य देवता है।

द्युस्थानीय देवताओं में यास्क ने अपने निघण्टु में अश्विनौ को सब से पहले रखा है। इससे यह सिद्ध होता है कि यास्क के मत में दिव्य देवताओं में प्रमुख देवता अश्विनौ है। निरुक्त (१२।१) में यास्क ने कहा भी है: उन (द्युस्थानीय देवताओं) में अश्विन् पहले आने वाले हैं। यास्क के इस कथन के दो अर्थ हो सकते हैं:

१. अश्विनौ निघण्टु में द्युस्थानीय देवताओं में सब से पहले आने के कारण प्रमुख हैं। अर्थात् नामपदों का एक क्रम से समाम्नान जिस उपपत्ति को सोच कर किया गया है, वह इन नामपदों के अभिधेय देवताओं की इतरापेक्षया प्रमुखता या गौणता ही है।

२. अश्विनौ के आगमन के बाद ही द्युस्थानीय देवता के अन्य रूपों का साक्षात्कार प्रकृति में होता है। अर्थात् अश्विनौ प्रकृति में उस समय तथा अवस्था का

बोध कराते हैं, जब कि आदित्य का उदय ही नहीं हुआ रहता है। अतः प्रकृति में प्रथम आने से अश्विनौ प्रमुख हैं।

दिव्य देवताओं में अश्विनौ की प्रमुखता में ऋचा का प्रमाण भी है :

उत ग्ना व्यन्तु देवपत्नीरिन्द्राण्यग्नाय्यश्विनी राट् ।
आ रोदसी वरुणानी शृणोतु व्यन्तु देवीर्य ऋतुर्जनीनाम् ॥ ५।४६।८ ॥

इस मन्त्र में दिव्य देवपत्नी के क्रम में अश्विनी का ही नाम दिया है, किसी अन्य द्यु-स्थानीय देवी का नहीं। इससे सिद्ध होता है ऋषि के मत में जैसे मध्यम लोक के देवताओं में इन्द्र प्रमुख देवता का नाम है, पृथिवी के देवताओं में अग्नि प्रमुख देवता का नाम है, वैसे ही दिव्य देवताओं में अश्विनौ प्रमुख देवता का नाम है।

अश्विनौ का निर्वचन। ऋग्वेद संहिता में अश्विनौ के दो निर्वचन किए गये हैं, यह हम वैदिक निर्वचनों के प्रकरण में कह आए हैं। यास्क ने वे दोनों ही निर्वचन दिये हैं—एक अपने सिद्धान्त पक्ष से तथा दूसरा और्णवाभ आचार्य के नाम से।

वैदिक निर्वचन है : **पूर्वीरश्नन्तावश्विना** (ऋ. सं. ८।५।३१)। इस में √अश् के अर्थ को स्पष्ट करते हुए यास्क ने (१२।१ में) कहा है : **अश्विनौ यद् व्यश्नुवाते सर्वम्, रसेनान्यो, ज्योतिषाऽन्यः**।

अश्विनौ का द्विवचन बताता है कि यह दो देवताओं का युगल है। ये दोनों पृथक्-पृथक् अपने-अपने ढंग से जगत् के सब कुछ को अशन=व्यापन करने के कारण अश्विनौ कहलाते हैं। दो अश्विनों में से पहला तो रस से तथा दूसरा ज्योति अर्थात् प्रकाश से इस समस्त जगत् को व्याप्त कर देता है।

अश्विनौ का स्वरूप। इस प्रकार रस और ज्योति से जगत् को व्याप्त करने वाले ये दो देवता कौन हैं? इस प्रश्न के उत्तर में अपना सिद्धान्त-पक्ष देने से पूर्व यास्क ने चार अन्य मत दिये हैं :

१. **द्यावापृथिव्यावित्येके**। शतपथ ब्राह्मण। (४।१।५।१६) में द्यावापृथिवी को अश्विनौ कहा है : इमे ह वै द्यावापृथिवी प्रत्यक्षमश्विनौ। इमे हीदं सर्वमाश्नुवाताम् इस पर दुर्गाचार्य ने टिप्पणि की है कि द्यौः ज्योति से तथा पृथ्वी अन्न से इस सब को व्याप्त करतीं हैं।

२. **अहोरात्रावित्येके**। दिन ज्योति से तथा रात ओस से जगत् को व्याप्त कर देते हैं (दुर्ग); अतः ये दोनों ही अश्विनौ हैं।

३. **सूर्याचन्द्रमसावित्येके**[1]। सूर्य (प्रकाश से), चन्द्रमा (रस से) अश्विनौ हैं।

---

१. बृहद्देवता में शौनक ने इन मतों में एक मत और जोड़ा है :

सूर्याचन्द्रमसौ तौ हि प्राणापानौ च तौ स्मृतौ ।
अहोरात्रौ च तावेव स्यातां तावेव रोदसी ॥ ७।१२६ ॥

व्यश्नुवाते हि तौ लोकाञ्ज्योतिषा च रसेन च ।
पृथक्-पृथक् च चरतो दक्षिणेनोत्तरेण च ॥ ७।१२७ ॥

४. राजानौ पुण्यकृतावित्यैतिहासिकाः । स्कन्दस्वामी तथा दुर्गाचार्य का कथन है कि 'अश्वों से युक्त होने से अश्विनौ' निर्वचन जो और्णवाभ आचार्य ने किया है, वह किन्हीं प्राचीन दो पुण्य करने वाले राजाओं पर लागू होता है। अर्थात् वे दो राजा ही घोड़ों की बहुत बड़ी सङ्ख्या के स्वामी होने के कारण अश्विनौ कहलाते थे। ऐतिहासिक पक्ष में उनका ही स्मरण किया गया है।

सिद्धान्त में अश्विनों का स्वरूप। उन (अश्विनों) का समय आधी रात के बाद और पौ फटने से पूर्व होता है। दिन-भर आदित्य अपनी रश्मियों के द्वारा पृथिवी से जल उठाता रहता है। आधी रात के बाद वही जल ओस के रूप में अन्तरिक्ष और पृथ्वी लोक में फैल जाता है। द्युलोक में तो वह स्थित रहता ही है। अतः इस समय अश्विनों में से एक अश्विन् जल को उठाने तथा उसे सूक्ष्म-स्थूल करने की प्रक्रिया में से गुजार कर ओस के रूप में समस्त जगती में फैला देता है। उस समय तम अर्थात् अन्धेरा पूरी तरह फैल कर अत्यन्त घन हो चुका होता है। ओस बरसा कर जगत् को भरने का कार्य अन्तरिक्ष से होता है। अर्थात् द्युलोक में रश्मियों द्वारा एकत्रित जल द्युलोक से उतर कर अन्तरिक्ष में हो कर पृथिवी पर आता है। अतः अश्विनों का एक भाग मध्यम लोक में आकर कार्य करने के कारण मध्यम हो जाता है। उस के अनन्तर उषा से पहले जो ज्योति आती है, वह अश्विनों में से दूसरे देवता का कार्य है। प्रकाश-कारक यह दूसरा अश्विन् आदित्य (की पूर्वावस्था) ही है। इस प्रकार द्युलोक के ये देवता अविराम गति से कार्य करते हुए जगत् को व्याप्त करते रहते हैं। दोनों रूपों के प्रमुख तथा सहभावी होने के कारण इन्हें इकट्ठे द्विवचन में स्मरण किया जाता है।

पं. श्री सीताराम शास्त्री जी का (पृष्ठ ४६९ पर) मत है कि 'दोनों अश्विन् भिन्न-भिन्न लोक के दो जोड़ले जैसे देवता हैं, जहाँ कहीं भी इनका नाम आता है द्विवचन से ही आता है, इसी से इनका अर्चन एक साथ एक मन्त्र से ही होता है, किन्तु ये दोनों भिन्न-भिन्न लोक के देवता हैं। इन में एक अन्धकाररूप है और एक प्रकाश रूप। जो अन्धकाररूप है, वह मध्यम लोक का और जो प्रकाशरूप है, वह उत्तम लोक का है।"

अश्विनों के इस प्राकृतिक स्वरूप में श्रुति का प्रमाण भी है। इस में बताया गया है कि ये (क) रात्रिकालीन देवता हैं तथा (ख) असित (श्यामवर्ण) हैं :

> वसातिषु स्म चरथोऽसितौ पेत्वाविव।
> कदेदमश्विना युवमभि देवाँ अगच्छतम् ॥[1]

अश्विनों की स्तुति प्रायः एक ही समय तथा कर्म वालों के रूप में इकट्ठे ही एक मन्त्र में होती है, किन्तु नीचे लिखी आधी ऋचा में उनका अलग-अलग संस्तव कर

१. यह मन्त्र किसी नष्ट वैदिक शाखा की संहिता का है। उपलब्ध संहिताओं में नहीं मिलता।

के प्रत्येक के स्वरूप पर प्रकाश डाला गया है। इस में एक अश्विन् को वासात्य=वसातिभव अर्थात् रात्री में होने वाला बताया है, दूसरे को उषा का पुत्र। अर्थात् एक अश्विन् तो ठेठ गहरी रात में कार्य करता है तथा दूसरा पौ फटने के आसपास :

वासात्यो अन्य उच्यत उषः पुत्रस्तवान्यः।[1]

ऋग्वेद संहिता के तीन अन्य मन्त्रों (१।२२।१, १८१।४ ; ५।७७।२) से भी अश्विनों के इस चरित्र पर यास्क ने प्रकाश डाला है।

याज्ञिक कर्मकाण्ड के प्रमाण से भी यास्क का मत पुष्ट होता है। अश्विनों को सूरज उगने के बाद अन्य देवताओं के निमित्त हवि दी जाती है[2]।

ऋ. सं. १।११६।८ में अश्वियों को हिम से अग्नि का निवारण करने वाला, मनुष्यों के लिए अन्नयुक्त ऊर्जा को धारण करने वाला बताया है। हिमपात अर्ध रात्री के बाद अधिक होता है; क्योंकि उस समय शीतलता सब समयों से अधिक होती है। ओस भी उसी समय अधिक पड़ती है। इसी प्रकार प्रातः काल से पूर्व ही ओषधियों को भी इतनी पुष्टि मिल जाती है कि वे बिल्कुल तरोताजा तथा बढ़ी हुई हो जाती हैं। मनुष्य भी अश्वियों के कारण ही प्रातः तरोताजा तथा स्वस्थ हो जाते हैं[3]। इस प्रकार अश्वियों का समय अर्धरात्र के बाद तथा उषः काल से पूर्व—या आधी रात से ले कर उषा के आगमन तक—होता है।

आह्वानों के आंकड़ों की दृष्टि से भी ऋग्वेद संहिता में अश्वियों का स्थान इन्द्र, अग्नि और सोम के बाद तथा द्युस्थानीय देवताओं में सब से प्रथम आता है। उनकी स्तुति ५० से अधिक सम्पूर्ण सूक्तों में और अनेक सूक्तांशों में की गई है। ऋग्वेद संहिता में अश्वियों का नाम चार सौ से अधिक बार आया है।

मैक्डानल् का (वैदिक देवशास्त्र, पृष्ठ ११३ में) कथन है कि "यद्यपि प्रकाश के देवताओं में उनका एक विशिष्ट स्थान है तथा उनका नाम भी भारतीय है, तथापि प्रकाश के किसी भी निश्चित दृश्य के साथ उनका सम्बन्ध इतना अधिक अस्पष्ट है कि उनके मौलिक स्वरूप का निर्धारण करना वेदव्याख्याताओं के लिए एक पहेली रहती आई है। इसी अस्पष्टता के कारण विद्वानों के मन में भावना हो जाती है कि इन देवताओं का आदि मूल वेदपूर्वकाल में खोजा जाना चाहिए"। तथा (पृष्ठ १२५ में)

१. यह मन्त्र भी किसी नष्ट वैदिक शाखा की संहिता का है।

२. द्र. निरु. १२।५ : तयोः कालः सूर्योदयपर्यन्तस्तस्मिन्नन्या देवता ओप्यन्ते। इस पर दुर्ग : प्रकाशीभावस्यानुविष्टम्भमित्यतः कालात् प्रभृति सूर्योदयपर्यन्तस्तयोः कालः। ततः परं यागकालः। ततः किम् ?.... तस्मिन् स्तुतिकाले अन्या देवताः—आश्विने शस्त्रे याः स्तुतिं लभन्ते ताः, ओप्यन्ते=तासामावापः।

३. द्र. वही ६।३६ : यद्वृष्टे ओषधय उद्यन्ति प्राणिनश्च पृथिव्यां, तदश्विनो रूपम्।

"अश्विनों के भौतिक आधार के सम्बन्ध में ऋषियों की भाषा इतनी अधिक अस्पष्ट है कि प्रतीत होता है कि वे स्वयं भी इस बात को न समझ पाये हों कि इन दोनों देवताओं का आधार कौन-सा भौतिक द्रव्य है।...इन देवताओं को घोड़े रखने वाले (अश्विनौ) इस लिए कहा गया होगा कि घोड़े किरणों के—विशेषतः सूर्य की किरणों के—प्रतीक हैं। किंतु असल में वे किसके प्रतिरूप हैं, इस समस्या का समाधान तो यास्क के परिचित व्याख्याकारों के लिए भी दुर्लभ हो चुका था।"

"यास्क का अपना मत स्पष्ट नहीं है। रोथ् के विचार से यास्क का तात्पर्य इन्द्र और सूर्य से है। गोल्ड्स्टुकर् के विचार से उनका तात्पर्य तमस् और प्रकाश के बीच की अवस्था से है। यह अवस्था एक द्वैत को प्रस्तुत करती है, जो उनके युगल स्वरूप का सजातीय है।...हॉप्किन्स् की दृष्टि में यह सम्भव प्रतीत होता है कि अपृथक्त्वेन सम्बद्ध यह युगल उषःकाल के धुँधले प्रकाश का प्रतिरूप रहा हो, जो कि आधा अन्धकार तथा आधा प्रकाश होता है; और इस लिये अश्वियों में से केवल एक को द्यौस् का पुत्र कहा गया है।...मान्हार्ट् और ओल्संसिन् का अनुसरण करते ओल्डन्बर्ग् इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि अश्वियों का भौतिक आधार सुबह का तारा रहा होगा क्योंकि अग्नि, उषा और सूर्य के अतिरिक्त यही एक दूसरा 'प्रातः प्रकाश' है। अश्विनों का काल, उनका प्रकाशमय स्वरूप, उनके द्वारा की जाने वाली द्युलोकपरिक्रमा इस मत में ठीक बैठते हैं; किन्तु उनका द्वित्व फिर भी अव्याख्यात ही रह जाता है" (वहीं, पृष्ठ १२५)।

ग्रीक् और लैट्टिक् देवकथाओं में भी अश्वियों जैसे चरित्र वाले दो युगलों का वर्णन है। वैदिक अश्विनौ जैसे अश्वंरश्मिनौ हैं, वैसे ही ग्रीक् देवकथा में ज़ीयस् (वैदिक द्यौस्') के पुत्र तथा हेलेना के भाई दो प्रसिद्ध घुड़सवार हैं। लैट्टिक् देवकथा में भी ईश्वर के दो पुत्र बताए हैं, जो अपने घोड़ों पर चढ कर सूर्य की पुत्री (वैदिक सूर्या, त्वष्टा की या सविता की पुत्री) को अपने लिए या चन्द्रमा के लिए ब्याहने आते हैं। जैसे दो अश्विनों ने एक सूर्या को ब्याहा था, वैसे ही दो लैट्टिक् ईश्वरपुत्रों ने एक सूर्यसुता से विवाह किया था। लैट्टिक् गाथा में भोर के तारे के बारे में कहा गया है कि वह सूर्य की पुत्री को देखने आया। ये ईश्वरपुत्र भी समुद्र से लँघाने वाले (रास्ता भूलने पर नाविक भोर के तारे को देख कर ही सही रास्ते पर आते हैं) और सूर्य को या उनकी पुत्री को उन्मुक्त करने वाले हैं। (वहीं, पृष्ठ १२६)।

इस विवरण के आधार पर मैक्डानल् का (पृष्ठ १२६ में) कथन है : "यदि यह बात सत्य है, तो अश्विनों का रक्षक रूप सुबह के तारे के उस पक्ष से उद्भूत हुआ होगा, जिसमें वह अन्धकार के कष्ट से उन्मुक्ति का अग्रदूत बन कर आता है।

[1] वेबर के मत में अश्विनौ जैमिनि तारामण्डल के युगल तारों के प्रतिरूप हैं।

१. द्र. ऋ. सं. १०।६१।४; १।१८२।१, १८४।१।

गेल्डनर् के मत में ये किसी भी प्राकृतिक दृश्य के प्रतिरूप नहीं हैं; अपितु सहायता करने वाले भारत के अपने दो सन्त हैं"। (वहीं पृष्ठ १२६)।

अन्त में मैक्डानल् का (पृष्ठ १२६ पर) निष्कर्ष है : "धुँधला' प्रकाश और 'सुबह का तारा' इन दोनों के धरातल पर इन दोनों देवताओं की उत्पत्ति मानना अधिक उचित प्रतीत होता है। कुछ भी हो, यह सम्भव है कि अश्विन् देवता स्वरूप से (चाहे नाम से नहीं) भारोपीय काल के देवता हैं।"

यह तो हुई पाश्चात्य भारतीसमुपासकों की बात। अपने विचार से यास्क की व्याख्या भारतीय वातावरण में बिल्कुल स्वाभाविक तथा स्पष्ट है। मन्त्रों में इनका समय स्पष्ट रूप से उषःकाल से पूर्व ही बताया भी गया है। निम्न मन्त्र में स्पष्ट ही अश्वियों को उस समय बुलाने की बात कही गई है, जब अन्धकार (कृष्णा) प्रकाश के ऊपर (अरुणीषु गोषु) अर्थात् उसे दबाकर ही, स्थित होता है :

कृष्णा यद् गोष्वरुणीषु सीदद्दिवो नपाताश्विना हुवे वाम् ॥ऋ.सं. १०।६१।४॥

निम्न मन्त्र में 'सविता उषस् से पहले ही दोनों अश्वियों के रथ को लाता है,'—कहा गया है :

युवं हि पूर्वं सवितोषसो रथमृताय चित्रं घृतवन्तमिष्यति ॥ ऋ.सं. १।३४।१० ॥

पाश्चात्य विद्वानों में गोल्ड्स्टुकर्, मेरियान्थियस् (वै. दे., पृष्ठ १२५ में) तथा हॉप्किस् की व्याख्या ही ठीक मालूम होती है।

इन दो अश्विनों के नाम क्रमशः नासत्य और दस्र हैं। नासत्य शब्द के निर्वचन पर तरह-तरह की अटकलें की गई हैं : न असत्यौ=नासत्यौ[1], सत्यस्य प्रणेतारौ : नासा+स्यौ=नासत्यौ (नासिकाप्रभवौ)[2]। डा. कुन्स्ट √नस् (साथ होना) से मानते हैं[3]। हमारी अटकल है कि √ नस् को यास्क ने व्याप्ति अर्थ में भी बतलाया है[4]। तम जगत् को व्याप्त करने से नसत् कहलाता रहा हो, या वसाति की तरह नसाति या नसति शब्द रात्री अर्थ में प्रसिद्ध रहे हों और वासात्य की तरह नासात्य या नासत्य शब्द तमोभव या रात्रिभव अर्थ में मूलतः प्रचलित हुआ हो। कालान्तर में मूल शब्द (नसत्, या नसाति) के अप्रचलित हो जाने से इसकी व्युत्पत्ति अज्ञात हो गई हो। व्याप्त करने वाले तम में या रात में उत्पन्न होने से तो नासत्य दोनों ही हैं। किन्तु उषा के आसपास वाले अश्विन् का जब दस्र (रूपवान्, चमकीला) नाम पड़ा तो पिछले (पहले) का नाम नासत्य ही रह गया। यों, अन्य जोड़ले देवताओं की तरह किसी एक नाम के द्विवचनान्त रूप (दस्रा या नासत्या) से दोनों का ही बोध होता है।

सौर देवताओं का क्रम और स्वरूप

२. काल की दृष्टि से अश्विनों के बाद उषा का क्रम आता है। रात के बाद

१. द्र. अष्टाध्यायी ६।३।७५। २. द्र. निरुक्त ७।११।

३. द्र. दी एटिमालाजीज् आफ् यास्क, पृष्ठ १३७। ४. द्र. निरुक्त ७।१७।

का समय या रात का अन्तिम समय उषा कहलाता है (निरुक्त २।१८)। नाम तथा उसके अर्थ (प्रातः का उषा काल) के एक होने के कारण उषस् की विग्रहवत्ता स्वल्प रूप में हो पाई है। उषा के सूक्तों में आधारभूत प्राकृतिक दृश्य वैदिक कवि के मन से किञ्चिन्मात्र भी नहीं उतर पाता है। भारत वर्ष प्राकृतिक दृश्यों की छटा की दृष्टि से तो यद्यपि यों भी बहुत मनोरम एवं समृद्ध है, तथापि उषा के वर्णन वाले सूक्तों में तो यहाँ का यह वैभव और भी चमक-दमक के साथ प्रस्तुत हुआ है। संसार के किसी भी प्रकृति-वर्णन-युक्त साहित्य में इतने मनोरम, आदर्श तथा यथार्थ प्रकृति-वर्णन-परक साहित्य की रचना नहीं हुई है, जैसी उषा के सूक्तों में ऋग्वेदसंहिता में हुई है। मैक्डानल् कहते हैं : उषस् की रचना वैदिक काल की सब से मनोरम कल्पना है और संसार के किसी भी साहित्य में उषा से अधिक आकर्षक चरित्र नहीं मिलता।

निर्वचन। यास्क ने (१२।५ में) उषस् का निर्वचन दो धातुओं से किया है : १ √वश् (चाहना) से तथा २ √उच्छ् (प्रकाश करना, अन्धेरे को भगाना) से। डा. वर्मा के मत में वैदिक √ उच्छ् का भारोपीय रूप √उस् (प्रकाशित करना) है[1]। मैक्डानल् (पृ. ११३) √वस् (चमकना) से उषस् मानते हैं। यास्क का (१२।५ में) कथन है कि द्युस्थानीय उषा √वश् से तथा मध्यलोक की √उच्छ् से निष्पन्न है। (२।१८) में द्युस्थानीय को भी √उच्छ् से ही बतलाया है।

उषस् के स्त्रीदेवता होने के कारण इस के ठीक बाद सूर्या आदि तीन स्त्रीदेवी निघण्टु में समाम्नात तथा निरुक्त में व्याख्यात हैं।

३. उषा के बाद[2] और सूर्योदय के पूर्व के काल के दिव्य देवता सविता हैं। उस समय आकाश से अन्धेरा छंट जाता है तथा किरणें आकाश में छितरा जाती हैं। उस काल के प्राकृतिक दृश्य में एक विशेषता होती है : नीचे धरती के साथ—क्षितिज के नीचे—तो कालापन होता है, तथा ऊपर की ओर प्रकाश होता है। उस समय कृकवाकु[3] (मुर्गा, कुक्कुट) बोलता है।

४. सविता के काल के बाद तथा रविमण्डल ऊपर उठने से पूर्व के समय में दिव्य देवता अपने हल्के-हल्के सेवनीय, कोमल, सौन्दर्यपूर्ण रूप के कारण भजनीय होने से भग कहलाता है।

परम्परा में भग को अन्धा कहा जाता है; क्यों कि बिम्ब ऊपर उठे बिना वह

---

१. द्र. एटिमालाजीज् आफ् यास्क, पृष्ठ १४, ४२, ५८, ११६।

२. वि नाकमख्यत् सविता वरेण्योऽनुप्रयाणमुषसो विराजति। ऋ. सं. ५।८१।२।

३. मुर्गे की ध्वनि का शब्द है कुकड़ू कूँ २। इसमें प्रथम स्वर उकार है। इससे प्रतीत होता है कि इस शब्द का प्राचीन उच्चारण कृकवाकु जैसा था। संस्कृत का कुक्कुट शब्द भी कृक्कृत का प्राकृत रूप प्रतीत होता है।

जगत् को दिखलाई नही देता। न कि वह स्वयं भी जगत् को देख नहीं सकता[1]।

५. ऊपर की ओर चढ़ना प्रारम्भ करने वाले सूरज के गोले को सूर्य कहते हैं।

६. किरणें जैसे-जैसे पुष्ट (गर्म) होती जाती हैं, यह देवता पूषन् कहलाने लगता है। उस समय सूर्य मण्डल एक साथ दो प्रकार का दिखायी देता है : कुछ भाग पुष्ट होती हुई रश्मियों के कारण शुक्र (चमकीला सफेद) तथा कुछ भाग अपुष्ट रश्मियों के कारण यजत (आँखों को सुहाता सा) दिखलाई देता है[2]।

७. विष्णु। जब सूर्यमण्डल सब रश्मियों से पुष्ट हो कर आकाश के मध्य में धरती के शिखर पर आ जाता है, तब अपने प्रकाश से सब कुछ को भर-पूर व्याप्त करने के कारण विष्णु कहलाता है।

उस समय उसका प्रकाश सब ओर अर्थात् तीनों लोकों में फैला हुआ होता है; अतः वह त्रिविक्रम भी कहलाता है। त्रिविक्रम और वामन नाम विष्णु के गुणाभिधान हैं। अत्यन्त तेजस्वी होने से सौन्दर्य की पराकाष्ठा पर स्थित होने के कारण त्रिविक्रम विष्णु वामन कहलाता है।

८. सब तरफ गया हुआ अथवा व्याप्त (विश्वान्+अ र) होने के कारण यह विश्वानर भी कहलाता है।

९. अपने प्रकाश से सब कुछ को ढंक देने के कारण यह वरुण कहलाता है[3]।

१०. उस समय सूर्य के केश अर्थात् रश्मियाँ अपने पूरे प्रभाव पर होते हैं। इस लिए इसे केश वाला (केशिन्) कहा जाता है।

११. केशिन् प्रधान रूप से तो यद्यपि आदित्य ही है, तथापि यह विशेषण पृथक्-पृथक् तथा सामूहिक रूप से इन्द्र और अग्नि के लिए भी प्रयुक्त हुआ है। इन्द्र रजस् अर्थात् जल से तथा अग्नि अपनी लपटों अथवा धूम से केशवान् हैं। बहुवचन में केशिनः से तीनों अग्नि समझे जाते हैं।

१२. दुपहरी में आदित्य की रश्मियाँ इतनी तीक्ष्ण होती हैं कि उस समय यह पृथ्वी के जल को अधिकतम खेंचता है जिससे कि आगे चल कर बारिस होती है। उस समय अपनी तीक्ष्णता से यह सब कुछ को कंपा भी देता है। अतः इन दो साथ-साथ होने वाली विशेषताओं के कारण यह वृषाकपि कहलाता है।

दुर्गाचार्य ने सायङ्कालीन सूर्य को वृषाकपि बतलाते हुए कहा है : अपनी समेटी हुई (उपसंहृत) किरणों से यह सब भूतों को कंपा देता है। यह ओस बरसाने

---

१. द्र. दुर्गाचार्य १२।१४ : स हि सूर्यमावमनुत्सृप्तो न दृश्यते। नास्मिन्द्रष्टृणां ध्यानं दर्शनमस्तीत्यन्धः; न पुनरसावेव न पश्यति।

२. शुक्रं ते अन्यद् यजतं ते अन्यत्॥ ऋ. सं. ६।५८।१॥

३. यहाँ यास्क ने वरुण के गौण स्वरूप पर ही प्रकाश डाला है। उसके नैतिक स्वरूप वाले प्रधान रूप को नहीं छुआ है। यह ध्यान में रखना उचित है।

वाला (वृषा) तथा कँपाने वाला (कपि) होने से वृषाकपि है। सब लोग भगवान् (सूर्य) के अदृश्य हो जाने पर भय के मारे काँपने लगते हैं। नीचे दिये ऋङ्मन्त्र (१०।८६।२१) में वृषाकपि के प्रसङ्ग में अस्त होने का लिङ्ग भी है :

पुनरेहि वृषाकपे सुविता कल्पयावहै। य एष स्वप्ननंशनोऽस्तमेषि पथा पुनः ॥

१३. यम। क्षण-पल-घटी-प्रहर-दिन-रात्रि-पक्ष-मास-ऋतु-वर्ष-रूप समय का निर्धारण दिव्य देवता के आधार पर ही होता है। अतः इस प्रकार जगत् का नियमन करने से यह दिव्य देवता यम भी कहलाता है।

१४. अज एकपात्। नित्य गतिशील तथा जगत् का अपने भाग से रक्षण करने वाला यह एक गौण दिव्य देवता है। इस का स्वरूप भौतिक की अपेक्षा दार्शनिक अधिक है। ब्राह्मणों की सृष्टिविद्या के अनुसार जगत् के स्रष्टा ब्रह्म के चार पाद अग्नि, वायु, आदित्य तथा दिशाएँ हैं। उन्ही में से एक आदित्य का अज एकपात् नाम से विश्वदेवों के साथ स्तवन किया गया है। अन्यत्र भी कहा गया है :

एकं पादं नोत्क्षिपति सलिलाद्धंस उच्चरन्।
स चेत्तमुद्धरेदङ्ग न मृत्यु नामृतं भवेत् ॥

ऋग्वेदसंहिता (१०।६४।४, ६५।१३ तथा ६६।११) में इस देवता का उल्लेख जिन देवताओं के साथ हुआ है, वे सब अन्तरिक्ष-स्थानीय देवता हैं[1]। इस से सूचित होता है कि ये भी अन्तरिक्ष-स्थानीय ही होने चाहिएँ।

रोथ् और ग्रासमान् इस देवता को तूफान का प्रेत मानते हैं। हार्डी अकेले चलने वालाबकरा अर्थात् चन्द्रमा मानते हैं। मैक्डानल् की (पृष्ठ १७७ में) अटकल है कि इस शब्द का अर्थ है एक पैर वाला बकरा, जो मूलतः विद्युत् का आलङ्कारिक अभिधान रहा होगा—बकरा शब्द मेघ-पर्वत में उसकी त्वरित गति का बोधक है, और 'एक पैर' विद्युत् की एक रेखा का लक्षक है, जो कि पृथिवी पर ठोकर मारती हुई गिरती है।

दिव्य देवियों में तीन नाम सूर्य की विशेष अवस्थाओं के देवताओं के स्त्रीलिङ्ग हैं तथा एक सामान्येन देवताओं की पत्नियों के लिए है : सूर्या, वृषाकपायी, सरण्यू एकल देवियों के नाम हैं तथा देवपत्न्यः देवताओं की पत्नियों का साधारण नाम है। सूर्या और सरण्यू सूर्य की, वृषाकपायी वृषाकपि की पत्नी हैं। इनका काल अपने-अपने पतियों वाला ही है। इन के स्वरूप के बारे में शौनक ने कहा है :

वृषाकपायी सूर्योषाः सूर्यस्यैव तु पत्नयः ॥
प्रसुतोऽर्वाङ् निवर्तन्ते प्रतिलोमास्तदाश्रयाः।
पुरोदयात्तामुषसं सूर्यां मध्यन्दिने स्थिते ॥
वृषाकपायीं सूर्यस्य तामेवाहुस्तु निम्रुचि। बृ. २।८-१०॥

---

१. जैसे—पावीरवी (इन्द्र), दिवो धर्ता, सिन्धु, समुद्रिय आपः, विश्वे देवाः, सरस्वती, अहिर्बुध्न्य, नदी, वायुलोक, तन्यतु, अर्णव।

अध्याय २६

निरुक्त में प्रतिबिम्बित समाज

यास्क ने निरुक्त में स्थान-स्थान पर कुछ सङ्केत छोड़े हैं, जिनका विवेचन कर के हम उनके समय के समाज की एक धुंधली सी झलक पा सकते हैं। इन सङ्केतों के स्रोत निम्न-लिखित हैं :

(क) निर्वचन। यास्क ने शब्दों के निर्वचन कई दृष्टियों से किये हैं। उन्होंने एक शब्द के जहां एक से अधिक निर्वचन किये हैं, वहां तो वे निश्चित रूप में उस शब्द की विविध पृष्ठभूमियों को ही उन अनेक निर्वचनों से स्पष्ट करते हैं। किसी निर्वचन में पदार्थ का स्वरूप स्पष्ट किया जाता है, किसी में उसका कार्य (अर्थात् Function), तो किसी में सामाजिक या आध्यात्मिक पृष्ठभूमि।

उदाहरण के रूप में हम असुर शब्द को लें। वैदिक देवशास्त्र के अध्येताओं को यह अविदित नहीं है कि असुर शब्द किसी समय वैदिक आर्यों के लिये बहुत गौरवगरिमागरिष्ठ शब्द था। कालान्तर में इस शब्द का अर्थ विकृत हो गया था। यास्क ने इन दोनों अर्थों को दृष्टि में रखा है। श्रेष्ठार्थक असुर की व्याख्या करते हुए वे कहते हैं : असुरत्वम्...=प्रज्ञावत्त्व वा, अनवत्त्वं वा। अपि वाऽसुरिति प्रज्ञा-नाम, 'अस्यत्यनर्थान्; अस्ताश्चास्यामर्थाः। 'वसुरत्वमाविलुप्तम् (निरुक्त १०।३४)।

यहां असुर के दो शब्द-निर्वचन किये गये हैं :

१. असु+र। वैदिक में असु के दो अर्थ होते थे : १. प्रज्ञा, २. प्राण। देवता की बलवत्ता प्रत्यक्षदृष्ट है, तथा उस काल में लोगों को उसमें कोई सन्देह भी नहीं था। अतः देवता को प्राणवान्, बलवान् बताना कोई बहुत महत्त्वपूर्ण बात नहीं

---

१. उणादिसूत्र १।४५ : असेरुरन्। √अस् (दिवादि १०२)+उरन्। यह व्युत्पत्ति बुरे अर्थ में भी प्रयुक्त हुई है। तु. शिशुपालवधम् १।४३ :

समत्सरेणासुर इत्युपेयुषा चिराय नाम्नः प्रथमाभिधेयताम्।
भयस्य पूर्वावतरस्तरस्विना मनस्सु येन द्यु-सदां न्यधीयत ॥

२. निरुक्त और दुर्ग-टीका के कोषों में 'असुरत्व...' पाठ है। दुर्ग और स्कन्द की टीकाओं तथा मूल ग्रन्थ के स्वारस्य से 'वसुरत्व...' पाठ सिद्ध होता है। तु. दुर्ग : 'यदेतदसुरत्वमाविलुप्तम्, वसु-वत्त्वं धनवत्त्वमित्यर्थः।' इस आधार पर हमने परम्परा से हट कर 'वसुरत्वमा...' पाठ देना उचित समझा है।

है। इसलिये यास्क ने अनवस्वं वा से साधारण रूप में कह कर उस पर कोई विशेष जोर नहीं दिया। हाँ, देवता की प्रज्ञावत्ता इस जटिल जगत् को चलाने में बहुत महत्त्वपूर्ण है। इसलिये यास्क ने उसको भली-भाँति समझाया है। प्रज्ञा के दो कार्य होते हैं : १. अनर्थों को पहले से ही देखकर उन्हें हटाने और बचाव करने का कार्य करना। २. अर्थों को धारण करना। देवता इन दोनों से युक्त हैं; अतः असु-र हैं।

२. वसु+र। देवता वसु (धन, सम्पत्ति) प्रदान करते हैं। अतः वसु-र से (आदिम व् का लोप होने से) असुर हैं। वैदिक देवताओं में असुर शब्द प्रमुख रूप से वरुण के लिये प्रयुक्त हुआ है, तथा उन्हीं के लिये उपयुक्त भी है[1]। वरुण राजा होने के कारण विशेष रूप से ऐश्वर्य-सम्पन्न हैं; अतः दोनों अर्थों में असुर हैं।

बुरे अर्थ वाले असुर शब्द के तीन निर्वचन किये गये हैं : असुरा—१. अ-सु-रताः स्थानेषु। २. अस्ता स्थानेभ्य इति वा। ३. अपि वाऽसुरिति प्राण-नाम, ... तेन तद्वन्तः (निरुक्त ३।८)।

प्रथम निर्वचन में बताया है कि असुर किन्हीं भी स्थानों में भली-भाँति टिक नहीं पाते थे। दूसरे में बताया है कि उन्हें अपने स्थानो से उखाड़ फेंका गया था। तीसरे में बताया है कि वे शरीर-बल के कारण उत्कृष्ट समझे जाते थे। इससे असुरों का राजनीतिक रूप स्पष्ट हो जाता है।

(ख) मन्त्रों की व्याख्या। इसमें यास्क ने अध्यात्म, समाज की रीतिविशेष, इतिहास आदि अनेक दृष्टियों से काम लिया है। निरुक्त १२।१३ में अघोरामः सावित्रः (वा. सं. २६।५८) के राम शब्द की व्याख्या में काले रंग की स्त्रियों का आर्यों के द्वारा केवल आनन्द के लिए परिग्रहण किये जाने की चर्चा[2] इसका उदाहरण है। ऋ. सं. १।१२४।७ की व्याख्या (निरुक्त ३।५) में दक्षिण भारत में पुत्ररहित विधवा की विशिष्ट स्थिति भी उस समय की सामाजिक तथा आर्थिक पृष्ठभूमि को ही स्पष्ट करती है।

इन दोनों स्रोतों का दोहन करके यास्क के निरुक्त में प्रतिबिम्बित समाज की पृष्ठभूमि को देने का प्रयास इस अध्याय में है।

यास्क ने अपने ग्रन्थ में तीन जातियों का नाम-निर्देश किया है : १. असुर, २. अनार्य, ३. आर्य।

---

१. द्र. वैदिक देव-शास्त्र, पृष्ठ ४७।

२. द्र. निरुक्त १२।१३ : रामा रमणायोपेयते, न धर्माय कृष्णजातीया...। तु. वाशिष्ठ धर्म-सूत्र १८।१६ : कृष्ण-वर्णा या रामा रमणायैव, न धर्माय। कालान्तर में इस 'रामा' का अर्थ 'शूद्रा' किया गया है। द्र. दुर्ग : रामेति शूद्रोच्यते।

आगे की टिप्पणियों में निरुक्त का स्पष्ट-सङ्केत उसका नाम-निर्देश किये बिना केवल अङ्कों में ही करेंगे।

१. असुर। इनकी चर्चा केवल दो स्थानों पर (३।८ तथा ११।२५ में) हुई है। उस समय असुर अपना महत्त्व खो चुके थे। उनकी स्थिति डाँवा-डोल हो गई थी। वे अपने स्थानों में भी भली-भाँति नहीं टिक पाते थे। उन्हें उनके अड्डों से उखाड़ कर बाहर कर दिया गया था। वे बहुत हिम्मती तथा बलवान् थे। शरीर बल की दृष्टि से उनका अब भी दब-दबा था[1]। ये लोग बणिज-बुद्धि में बहुत बढ़े-चढ़े व्यापारी (पणि) थे। इन के यहाँ गौवों के बड़े-बड़े बाड़े हुआ करते थे। लगता है ये लोग माल को रोक कर उसका कृत्रिम प्रभाव पैदा कर दिया करते थे तथा उस समय की मण्डियों पर इन का बहुत प्रभाव था[2]।

२. अनार्य। निरुक्त (६।३२) में अनार्यों के कीकट नामक निवास-देश की चर्चा हुई है। ये लोग आर्यों की धार्मिक क्रियाओं का अनादर करते थे तथा "इन 'घी फूँकने' की क्रियाओं से क्या होता है?"—कह कर आर्यों का परिहास किया करते थे। आर्य लोग धार्मिक यज्ञ आदि क्रियाओं से रहित कीकट देश के निवासियों को अवज्ञा की दृष्टि से देखा करते थे। वे लोग "इन अनार्यों को ईश्वर ने बनाया ही क्यों।" कह कर उनका परिहास किया करते थे। परिहास में म्लेच्छभाषी अनार्यों को किं कृताः? के स्थान में आर्य लोग बिगाड़ कर म्लेच्छ भाषा में की कटा (क्यों बनाए)?—कहा करते थे। सम्भवतः उनके ऐसा कहने पर ही उस देश तथा वहाँ के निवासियों का यह नाम पड़ गया। अतः उन्हें कीकट नाम आर्यों का दिया हुआ है। ये आर्यों की तरह स्पष्टस्वरवर्णपदा संस्कृत वाक् का उच्चारण करने में असमर्थ थे तथा म्लेच्छ (अस्पष्ट=प्राकृत) भाषा बोला करते होंगे—हमारा ऐसा अनुमान है। इनकी गायें दूध भी कम ही देतीं थीं[3]।

---

१. द्र. ३।८ में असुर के तीन निर्वचन।

२. द्र. २।१७ : 'निरुद्धाः आपः पणिनेव गावः' (ऋ. सं. १।३२।११) — पणिर्वणिग्भवति। पणिः पणनात्। तथा ११।२५ : 'पणिभिरसुरैः' में पणियों और असुरों को एक ही बताया गया है।

३. द्र. ६।३२ : कीकटा नाम देशोऽनार्य-निवासः। कीकटाः किं कृताः? किं क्रियाभिरिति प्रेप्सा (वा)। ...नैव चाशिरं दुह्रे। कीकट देश मगध अर्थात् विहार के कुछ भाग को कहते थे। प्राचीन काल में अनार्यों का देश होने के कारण इसे अपवित्र देश माना जाता था, जहाँ रहने से वहाँ की भाषा और संस्कार अपना कर आर्य भी म्लेच्छ हो जाया करते थे। फलतः आर्यों को म्लेच्छ होने से बचाने के लिए धर्मशास्त्रों में इस देश को अपुण्य घोषित करके वहाँ की यात्रा तथा निवास निषिद्ध घोषित कर दिये गये थे। कालान्तर में आर्यों ने जब वहाँ अपना कुछ प्रसार कर लिया, तब उस देश के कुछ स्थानों की यात्रा तथा वहाँ निवास की छूट दे दी गई थी। द्र. वायुपुराण, गुरुमण्डल ग्रन्थ माला, २०१६ वि. संस्करण, पृष्ठ ५६० :

कम्बोज-देश भी आर्येतर लोगों का ही निवास था। इस देश में संस्कृत ही बोली जाती थी। यह देश आधुनिक काल के काबुल का अर्थात् पश्चिमोत्तर सीमा-प्रान्त का इलाका रहा होगा। यास्क के समय से लेकर आज तक इस इलाके में √शव् धातु का गमन अर्थ में प्रयोग होता रहा है, जब कि शेष भारतवर्ष में √शव् से निष्पन्न शव (मुर्दा) का ही प्रयोग होता रहा है[1]। ये लोग आर्य नहीं थे, इतना तो निश्चित है। परन्तु अनार्य थे, या असुर आदियों में से कोई एक, यह नहीं कहा जा सकता[2]।

निरुक्त में काले रंग वाली किसी जाति की स्त्रियों की चर्चा हुई है। ये कृष्णजातीय स्त्रियाँ उस समय आर्यों में रामा कहलाती थी। शौकीन तबीयत के आर्य इन्हें अपनी कामकेलि के लिए घर में रख लिया करते थे। परन्तु इनको पत्नी का वैध अधिकार नहीं मिलता था[3]। हमारा विचार है कि ये कृष्णजातीय रामाएँ अनार्य रमणियाँ ही रहीं होंगी।

३. आर्य। आर्य शब्द निरुक्त में दो बार आया है : २।२ में और ६।२६ में। पहली बार यह स्पष्ट रूप से जाति-विशेष के लिए प्रयुक्त हुआ है। दूसरी बार इसका निर्वचन किया गया है : आर्य ईश्वरपुत्रः। इससे यह कहना अनुचित न होगा कि आर्य लोग अपने-आप को असुरों तथा अन्य अनार्यों से श्रेष्ठ मानते थे। यास्क के

कीकटेषु गया पुण्या पुण्यं राजगृहं वनम्।
च्यवनस्याश्रमं पुण्यं। नदी पुण्या पुनःपुना॥ ४।१०८।७३॥

गया बिहार में २४॥° उत्तर, ८५° पूर्व में है। पुनःपुना नदी का आधुनिक नाम पुनपुन है तथा यह पटना के पश्चिम में २५° उत्तर, ८४° पूर्व में है। राजगृह आज राजगिर के नाम से प्रसिद्ध है तथा २५° उत्तर और ८५° पूर्व में है। प्राचीन काल में ये सब मगध के केन्द्रीय भाग में स्थित थे।

१. द्र. २।२ : शवतिर्गतिकर्मा कम्बोजेष्वेव भाष्यते; विकारमस्यार्येषु भाषन्ते शव इति।

२. यास्क (२।२) और पतञ्जलि (पस्पशा, वा. ७, पृष्ठ ३८) ने आर्यों और कम्बोजों का, तुलना में, पृथक्-पृथक् प्रयोग किया है। इससे सिद्ध होता है कि आर्य और कम्बोज अलग-अलग हैं।

३. द्र. १२।१३ : अथोरामः सावित्र (वा. सं. २९।५८) इति पशुसमाम्नाये विज्ञायते। कस्मात्सामान्यादिति ? अधस्तात्तद्वेलायां तमो भवति। एतस्मात्सामान्यात्। अधस्ताद्रामः=अधस्तात्कृष्णः। कस्मात्सामान्यादिति ? अग्निं चित्वा न रामामुपेयात्। रामा रमणायोपेयते कृष्णजातीया। एतस्मात्सामान्यात्।

समय में गौर वर्ण चूंकि प्रशंसनीय समझा जाता था[1], इस से विदित होता है कि आर्य लोगों का वर्ण गौर ही रहा होगा।

आर्यों का सामाजिक सङ्गठन। आर्य लोगों का सामाजिक सङ्गठन बहुत सुगठित, सुश्लिष्ट तथा निर्दोष था। उनके समाज का आधार वर्ण-व्यवस्था थी, जाति-व्यवस्था नहीं। उनके समाज में ५ जन थे : १. ब्राह्मण, २. क्षत्रिय, ३. वैश्य, ४. शूद्र तथा ५. निषाद। इनमें प्रथम चार जन वर्ण कहलाते थे और पाँचवाँ जन सम्भवतः आर्यों से भिन्न किन्तु आर्यों के रीति-रिवाजों तथा धार्मिक क्रियाओं को स्वीकार करने वालों का रहा होगा[2]।

आर्यों में वर्ण-व्यवस्था जन्मना नहीं मानी जाती थी। कोई क्षत्रिय अपना क्षात्र कर्म छोड़ कर यदि ब्राह्मण का कर्म करने लग जाता था, तो वह सर्वात्मना ब्राह्मण ही हो जाता था। वह पुरोहित बन कर यज्ञ भी करवाया करता था[3]।

उस समय के आर्यों में आपस में छुआ-छूत भी नहीं थी। **पञ्चजना मम होत्रं जुषध्वम्** (ऋ. सं. १०।५३।४) में अग्निहोत्र करने वाले पञ्च जनों में औपमन्यव आचार्य ने समाज के पाँचों अङ्गों के नाम गिनाये हैं[4]। यदि आपसी स्पृश्यास्पृश्यता होती, तो पाँचों जन यज्ञ में एक साथ कभी नहीं बैठ पाते। हाँ, सामाजिक ऊँच-नीच अवश्य था। अपने आचार की पवित्रता तथा विद्या की गरिमा से ब्राह्मण श्रेष्ठता की सीमा माना जाता था, तो निषाद तथा वृषल दूसरी सीमा। निषाद को तो पाप का अधिष्ठान ही समझा जाता था[5]।

ब्राह्मण। ब्राह्मणों के चार प्रमुख कर्तव्य होते थे : १. ब्रह्मचर्य, २. स्वाध्याय (अध्ययन और अध्यापन), ३. संयमपूर्ण सादा जीवन (तप) और ४. दान (विद्या का तथा शक्ति होने पर धन का)[6], इन चार कर्मों में से पहले दो तो निश्चित रूप से विद्या से सम्बद्ध हैं। अतः ब्राह्मण वर्ण का सर्वोपरि कर्तव्य विद्या की रक्षा था। विद्या की रक्षा के तीन उपाय माने जाते थे : (अ) स्वयं स्वाध्याय करना, (आ) सत्पात्र को

---

१. ब्र. ११।३६ : गौरी रोचतेर्ज्वलतिकर्मणः। अयमपीतरो गौरो वर्ण एतस्मा देव, प्रशस्यो भवति।

२. ब्र. ३।८ : पञ्चजनाः...चत्वारो वर्णा, निषादः पञ्चम इत्यौपमन्यवः। निषादः कस्मात् ? निषण्णमस्मिन्पापकमिति नैरुक्ताः।

३. ब्र. २।१० : स शन्तनुः कनीयानभिषेचयाञ्चक्रे। देवापिस्तपः प्रपेदे।.... तमुवाच देवापिः—पुरोहितस्तेऽसानि, याजयानि च त्वेति।

४. ब्र. ३।८ में ऋ. सं. १०।५३।४ की व्याख्या।

५. ब्र. ३।१६ :ब्राह्मणवद् वृषलवत्। तथा ३।८ : निषादः कस्मात् ? निषदनो भवति। निषण्णमस्मिन्पापकमिति नैरुक्ताः।

६. ब्र. ६।२५ : अस्त्यस्मासु ब्रह्मचर्यमध्ययनं तपो दान-कर्मेत्यृषिरवोचत्।

अपनी विद्या देना, (इ) अपात्र तथा कुपात्र को विद्या न देना ।

विद्या पढ़ने का अधिकार बिना किसी भेद-भाव के मनुष्यमात्र को था । विद्या पाने के अधिकारी के लिए वर्ण, लिङ्ग, वयस्, देश आदि का विचार बिल्कुल भी अपेक्षित नहीं था । हाँ, विद्या के अधिकार को रोकने के लिए तीन बातें पर्याप्त मानी जातीं थीं ।

(अ) असूया । गुण में भी दोष—मीनमेख—निकालते रहने की आदत ।

(आ) कुटिलता (अनृजुता) । छल-कपट, आड़े-टेढ़े तरीके इस्तेमाल करते रहना ।

(इ) असंयम । गुरु के आश्रम में रहने के नियमों के पालन में प्रमाद तथा इस प्रकार अनुशासन भङ्ग करना[1] ।

आचार्य के तीन कर्तव्य होते थे : (अ) शिष्य को श्रेष्ठ आचरण सिखलाना, (आ) उसे विभिन्न शास्त्रों में पारङ्गत बनाना तथा (ई) उसकी बुद्धि को विशद बनाना[2] ।

स्वयं यज्ञादि धर्मकृत्य करना तथा गृहस्थ का पुरोहित बन कर उनके यज्ञादि धर्मकृत्य कराना भी ब्राह्मण का प्रमुख कृत्य होता था । यज्ञादि धार्मिक प्रसङ्गों में पुरोहित को सब से प्रथम—प्रमुख—स्थान मिलता था[3] ।

लोगों में आपेक्षिक श्रेष्ठता विद्या के आधार पर ही मानी जाती थी । किसी एक विद्या में निपुण पुरुष का बहुत सम्मान होता था । उससे अधिक सम्मान होता था पारोवर्यवित्—शास्त्र के पारदृश्वा विद्वान्—का । पारदृश्वा विद्वानों में भी जो जितना अधिक ज्ञानी होता था, उसका उतना ही अधिक सम्मान होता था[4] ।

क्षत्रिय । क्षत्रियों में राजा का बहुत सम्मान होता था । राजा को अत्यन्त ऐश्वर्यशाली माना जाता था[5] । यज्ञ कराने से राजाओं को बहुत यश मिलता था । रथ राजाओं का प्रमुख वाहन होता था तथा धनुष-बाण श्रेष्ठ शस्त्र[6] । बाणों से भरा तरकस

१. द्र. २।४ : में 'विद्या ह वै....' आदि श्लोक ।

२. द्र. १।४ : आचार्य आचारं ग्राहयति, आचिनोत्यर्थान्, आचिनोति बुद्धिमिति वा । दुर्ग और स्कन्द की टीकाओं तथा लघु-पाठ के कोषों में न मिलने के कारण हम इन निर्वचनों को प्रामाणिक नहीं मानते । ३. द्र. २।१२ : पुरोहितः पुर एनं दधति ।

४. द्र. १।१६ : यथा जानपदीषु विद्यातः पुरुषविशेषो भवति । पारोवर्यवित्सु तु खलु वेदितृषु भूयोविद्यः प्रशस्यो भवति ।

५. द्र. २।३ : राजा राजतेः । तथा निघण्टु : २।२१ ।

६. द्र. ९।११ : यज्ञसंयोगाद्राजा स्तुतिं लभेत, राजसंयोगाद् युद्धोपकरणानि । तेषां रथः प्रथमागामी भवति । निरुक्त में शस्त्रों में से केवल धनुष्, उसकी डोरी तथा बाण की ही चर्चा की गई है । द्र. ९।१६-१८ ।

पीठ पर बांधा जाता था। बदन में कवच पहिना जाता था और धनुष् की डोरी की टक्कर से बचाने को (शायद एक) हाथ में दस्ताना पहिना जाता था[१]। शिकार के अथवा अपने शत्रु के मर्म पर प्रहार करने वाले, चल लक्ष्य का तथा शब्द पर लक्ष्य का वेध करने वाले धानुष्क अच्छे समझे जाते थे[२]।

वैश्य। वैश्य के लिए आम शब्द **वणिक्** (बनिया) था। व्यापार करना ही उसका प्रधान पेशा होता था। माल को साफ सुथरा रखना (ताकि ग्राहक का आकर्षण हो) उसका प्रमुख गुण होता था[३]। बनियों को बड़ा चतुर—कलाओं और प्रकलाओं में निपुण—माना जाता था[४]।

शूद्र और निषाद की सामाजिक स्थिति, उनके कर्तव्य आदि पर और कुछ प्रकाश डालने का अवसर निरुक्त में नहीं आया है। अत हम उन पर अधिक कहने की स्थिति नहीं हैं।

मनुष्य की आयु उस समय लम्बी होती थी। मनुष्यों की आम औसत उम्र सौ बरस होती थी। परन्तु 'सौ बरस' कहने से बरसों की सङ्ख्या अभिप्रेत नहीं थी, अपितु लम्बी उम्र ही कही जाती थी[५]। जीवन को व्यवस्थित एवं सन्तुलित ढङ्ग से बिताने के लिये एक आम व्यवस्था प्रचलित की गई थी, जिसे आश्रम-व्यवस्था कहा जाता था। यास्क के समय में **आश्रम व्यवस्था** समाज में भी बहुत अच्छी स्थिति में थी। निरुक्त को देखने से लगता है कि उस काल में १ **ब्रह्मचर्य**, २ **गृहस्थ** तथा ३ **सन्यास** तो व्यवस्थित रूप में थे; किन्तु ४ **वानप्रस्थ** आश्रम था कि नहीं ? या था, तो किस स्थिति में था ?—इस पर प्रकाश डालने का मौका निरुक्त में नही आया है।

१. **ब्रह्मचारी** विद्याध्ययन का व्रत लेकर अपने गुरु के आश्रम में रहते थे। वे बड़ी उम्र होने तक वहाँ विद्याध्ययन किया करते थे। उनके गुरु प्रायेण गृहस्थ होते थे। ऐसी स्थिति में ब्रह्मचारियों को अपने गुरु के पूरे परिवार से आत्मीयता स्थापित कर के रहना होता था। विद्याध्ययन में बाधा डालने वाले प्रत्येक विघ्न से अलग रहने की अपेक्षा ब्रह्मचारियों से की जाती थी। आश्रम के अनुशासन का पालन करते हुए वहाँ रह कर कठोर, संयमी जीवन बिताना उनसे अपेक्षित होता था। विशेष कर के यौन एषणाओं अर्थात् कामभावनाओं का तो

---

१. **द्र. ५।२६ : कवचं... कायेऽञ्चितं भवतीति वा। ६।१४ : इषुधिः.... पृष्ठे निनद्धो जयति। हस्तघ्नो हस्ते हन्यते।**

२. **द्र. ६।३३ : श्रवूवृधा (ऋ. सं. ८।७७।११) पर : मर्मण्यर्वनवेधिनौ, गमनवेधिनौ शब्दवेधिनौ दूरवेधिनौ इति वा।**

३. **द्र. २।१७ : वणिक् पण्यं नेनेक्ति।**

४. **द्र. ६।६ : प्रकलविद्वणिग्भवति कलाश्च वेद प्रकलाश्च।**

५. **द्र. १४।४० : शतमिति शतं दीर्घमायुः।**

उन्हें सर्वथा परिहार करना पड़ता था। पर कभी-कभार किसी-किसी आश्रमवासी ब्रह्मचारी का अपने आश्रम की ऋषिपुत्रियों से प्रेम हो भी जाता था[1]।

२. **सन्यासियों** के लिए परिव्राजक शब्द का प्रयोग होता था। परिव्राजक योगरूढ़ शब्द माना जाता था। सन्यासी लोग देश में भ्रमण करते रहते थे; अर्थात् वे रमते-राम होते थे। अन्य लोग देश में भ्रमण करने पर भी परिव्राजक नहीं कहलाते थे[2]। परिव्राजक लोग गृहस्थ में सन्तान की बहुलता आदि के कारण होने वाले अथवा जीव के पुनः-पुनः जन्म लेने से होने वाले कष्टों का वर्णन करके गृहस्थों को वैराग्य का उपदेश दिया करते थे[3]।

३. **गृहस्थ**। घर में सर्वोपरि स्थान पुरुष को प्राप्त होता था। यज्ञ में पुरुष (पति) के साथ बैठने के अधिकार के कारण स्त्री (पत्नी) को पुरुष (पति) के बाद दूसरा स्थान मिलता था। बहुविवाह की प्रथा समाज में थी। पत्नियों के पालन की पूरी जिम्मेदारी पति पर होती थी[4]।

स्त्री। आर्य कुल में स्त्रियों का सम्मान होता था। लज्जा स्त्रियों का स्वाभाविक गुण माना जाता था[5]। वे आर्तव में मैले-कुचैले कपड़ों में रहतीं थीं तथा ऋतुस्नान के बाद सुन्दर वस्त्र पहिन कर शृङ्गार करके मधुर मुस्कान के साथ अपने पति से मिला करतीं थीं। जीवन में कामभावना के प्रति बहुत स्वस्थ दृष्टि थी। लगता है ऋतुकाल में स्त्रियों को पतिदर्शन निषिद्ध था[6]।

सधवा। वधुओं को घर में विशेष आदर मिलता था। इस के तीन कारण थे : (अ) वह अच्छा दहेज लाती थी; (आ) पराये कुल में आकर भी उसमें भली-भाँति घुल-मिल जाती थी; (इ) कुलपरम्परा को बढ़ाने वाले पुत्र को जन्म देकर वंश का उपकार करती थी[7]।

---

१. द्र २।४ में 'विद्या ह वै ....' आदि श्लोक तथा ५।२ में : नवनस्य मा रुधतः काम आगमत् संरुद्ध प्रजननस्य ब्रह्मचारिण इत्यृषिपुत्र्या विलपितं वेदयन्ते।

२. द्र. १।१४ : पश्यामः समानकर्मणां नामधेयप्रतिलम्भमेकेषाम्, नैकेषाम्। यथा—तक्षा, परिव्राजको, जीवनो भूमिज इति।

३. द्र. २।८ : बहुप्रजाः कृच्छ्रमापद्यत इति परिव्राजकाः।

४. १०।२१ में पतिर्जनीनाम् (ऋ. सं. १।६६।४) पर : पालयिता जायानाम्। तत्प्रधाना हि यज्ञ-संयोगेन भवन्ति।

५. द्र. ३।२१ : मेना ग्ना इति स्त्रीणाम्। स्त्रियः स्त्यायतेरप-त्रपणकर्मणः। मेना मानयन्त्येनाः।

६. द्र. १।१६ : जायेव पत्ये कामयमाना सु-वासा ऋतु-कालेषु। सु-वासाः कल्याण-वासाः। ७. द्र. १२।६ : स्नुषा साधु-सादिनीति; साधुसानिनीति वा; सु=अपत्यम्, तत्सनोतीति वा।

विधवा। यह देख कर बहुत खेद होता है कि उस समय विधवाओं की स्थिति बहुत खराब थी। पुत्र यदि समर्थ होते थे, तब तो कोई दिक्कत नहीं पेश आती थी। अन्यथा तो विधवा होते ही उसे सब से बड़ी दिक्कत अपने भरण-पोषण की ही आती थी[1]। भरण-पोषण के लिए उसे या तो अपने देवर को ही शय्या-सुख देना होता था, अर्थात् उस की काम केलि की पूर्ति करने वाली रखैल के रूप में रहना पड़ता था[2], या अपना रोटी-कपड़ा जुटाने के चक्कर में इधर-उधर दौड़-धूप करनी पड़ती थी[3]।

दक्षिण-भारत में यह परम्परा थी कि असहाय विधवा अपने ग्राम के सभाभवन में जाकर पाँसे फेंकने की जगह के पास बैठ कर जुआरिओं के जूआ खेलते समय निर्णायक (रेफरी) का काम कर के बदले में जुआरियों से धन प्राप्त करती थी[4]। ऋ. सं. १।१२४।७ को देखने से लगता है कि यह प्रथा सम्भवतः भारत में सार्वभौम रही हो और यास्क के समय तक केवल दक्षिण में ही सीमित हो गई हो।

सन्तान। आर्यों के यहाँ सन्तान की बहुत महत्ता थी। कुल-परम्परा की रक्षा की दृष्टि से ही नहीं, अपितु धार्मिक दृष्टि से भी सन्तान होना बहुत आवश्यक होता था। बुढ़ापे आदि से होने वाली असहायावस्था में तथा और भी बहुत-सी तरह से पुत्र अपने जननी-जनक की तथा अन्य गुरुजनों की रक्षा करता है। उन्हें पिण्डदान आदि प्रदान करके उनके मरने पर भी सन्तुष्ट रखता है। पुत्र के होने से उनकी पुत नामक नरक से रक्षा हो जाती है[5]।

१. द्र. ३।१५ : विधवा विधातृका भवति।

२. द्र. वहीं : को वां शयने विधवेव देवरम् (देवरः कस्मात् ? द्वितीयो वर उच्यते)। देवरो दीव्यति-कर्मा। कोष्ठकान्तर्गत पाठ न दुर्ग की टीका में है और न स्कन्द के भाष्य में ही। अतः प्रक्षिप्त होने से अप्रामाणिक है। ऋ. सं. १०।४०।२ पर भाष्य में सायण ने भी इसे उद्धृत नहीं किया है। लघु-पाठ के कोषों में भी नहीं है।

३. द्र. वहीं : विधावनाद्वेति चर्मशिराः।

४. द्र. ३।५ : गर्तारोहिणीव धनलाभाय दाक्षिणाजी। गर्तः सभास्थाणुः गृणातेः, सत्यसङ्गरो भवति। तं तत्र याऽपुत्रा, याऽपतिका, साऽऽरोहति। तां तत्राक्षैराघ्नन्ति। सा रिक्थं लभते।

दुर्गाचार्य की व्याख्या से प्रतीत होता है कि अपने बन्धुओं से न्यायसम्मत रिक्थ (उत्तराधिकार) को न पाने पर असहाय विधवा जुआरियों के जूआ खेलने की जगह जा बैठती थी। जुआरी लोग इस पर विधवा के बन्धुओं से उसे उसका दाय दिलवा देते थे। उसके जुआरियों में जा बैठने से कुल की बदनामी के भय से ही, सम्भवतः, उसके बन्धु उसका भाग उसे दे देते हों।

५. द्र. २।११ : पुत्रः पुरु त्रायते, निपरणाद्वा, पुन्नरकं, ततस्त्रायत इति वा। तथा ३।१ : अपत्यं कस्मात् ? अप-ततं भवति, नानेन पततीति वा।

सन्तान औरस ही अच्छी समझी जाती थी; किन्तु यदि औरस सन्तान नहीं होती थी, तो अन्य की सन्तान को भी अपना लिया जाता था। परन्तु उससे पूरी आत्मीयता नहीं हो पाती थी। इसमें सबसे बड़ा कारण सम्भवतः दत्तक पुत्र का अपने पिछले घर से सात्म्यता को भङ्ग न कर पाना ही होता था[1]। लड़का न होने पर और किसी का बच्चा लेने की अपेक्षा लड़की के बच्चे (दोहते) को गोद लेना ही अच्छा समझा जाता था[2]।

पुत्र। ऊपर के कथन में पुत्र का ही अतिशय महत्त्व बतलाया है। इससे सिद्ध होता है कि कुटुम्ब में पुत्री की अपेक्षा पुत्र का ही अधिक महत्त्व होता था। कन्या तो पाल-पोस करके पराये घर दे दी जाती थी, इस लिए वह तो पराया धन होती थी। वह तो कुल भी दूसरे का ही बढ़ाती थी[3] तथा अपने पिता के कुल से निकल कर पति के कुल में चली जाती थी।

पुत्रों में पिता के बाद बड़ा भाई ही उत्तराधिकारी माना जाता था। उसका अतिक्रमण करके यदि कोई छोटा भाई पिता के दाय को दबा लेता था, तो उसके इस कृत्य को अक्षम्य अपराध माना जाता था[4]।

छोटे भाइयों के भरण-पोषण की जिम्मेदारी पिता के पश्चात् बड़े भाई पर ही आती थी। पिता की सम्पत्ति का हक सब भाइयों को मिलता था। भाई-भाई अपना-अपना हिस्सा लेकर अलग हो जाया करते थे[5]।

कन्या। लड़की को आम तौर पर एक बोझ-सा ही समझा जाता था। इसके दो कारण प्रतीत होते हैं: एक तो यह कि आर्थिक दृष्टि से कन्या को जीवन-भर कुछ-न-कुछ देते रहना पड़ता था। दूसरा यह कि लड़की के विवाह की जिम्मेदारी अधिक थी: न जाने कहां शादी हो! उसके बाद भी ससुराल में कन्या की क्या स्थिति होगी, इस बारे में मां-बाप को हमेशा चिन्ता ही रहती थी। यही कारण है कि कन्या का रिश्ता अपने आस-पास न करके थोड़ा दूर करना ही अच्छा समझा

---

१. द्र. ३।१ : तद्यथा जनयितुः प्रजा, एवमर्थीये ऋचा उदाहरिष्यामः।.... अन्योदर्यो मनसाऽपि न मन्तव्यो ममायमिति। अथ स ओकः पुनरेव तदेति, यत आगतो भवति। ओक इति निवासनामोच्यते।

२. द्र ३।४ : नप्तारमुपागमद्दौहित्रं पौत्रमिति विद्वान्प्रजनन-यज्ञस्य....।

३. द्र. ३।६ : आभिरन्येऽस्यां जनयन्ति जामपत्यम्, जमतेर्वा स्याद् गतिकर्मणो, निर्गमनप्राया भवति।....अन्यतरोऽर्द्धयित्वा, जामिः प्रदीयते परस्मै।

४. द्र. २।११ : तम् (शन्तनुम्) ऊचुर्ब्राह्मणा अधर्मस्त्वयाऽऽचरितो—ज्येष्ठं भ्रातरमन्तरित्याभिषेचितम्; तस्मात्ते देवो न वर्षतीति।

५. द्र. ४।२६ : भ्राता भरतेर्हरतिकर्मणः, हरति भागम्, भर्तव्यो भवतीति वा।

जाता था, ताकि वहाँ से उसके बारे में कम-से-कम सुनने-जानने को मिले[1]।

कन्या अपने पिता की सम्पत्ति की उत्तराधिकारिणी तभी होती थी, जब उसके कोई भाई नहीं होता था। किन्तु वह भी उस सम्पत्ति की संरक्षक-मात्र होती थी; क्योंकि उस समय की परिपाटी के अनुसार अभ्रातृमती कन्या के सबसे बड़े बेटे को उस बेटे का नाना अपने कुल में गोद लेकर उसे अपनी सम्पत्ति का वारिस बना दिया करता था। ऐसी स्थिति में अभ्रातृमती कन्या के विवाह में बहुत दिक्कत आती थी, क्यों कि कोई भी पुरुष उससे विवाह करने को तय्यार नहीं होता था। ऐसी कन्या से विवाह करने में उसे लाभ तो कोई मिलता नहीं था, उल्टे अपना जेठा बेटा अपने ससुर को देना पड़ता था[2]।

सामान्यतः कन्या को पाल-पोस कर योग्य वर को दे दिया जाता था ताकि वह उससे अपने वंश की वृद्धि करे। दक्षिण भारत में धनी लोग निर्धन कुल से कन्या खरीद कर भी उससे ब्याह कर लिया करते थे। इस प्रकार पैसे के बल पर विवाह करने वाले जमाई को उस समय हीन दृष्टि से देखा जाता था। उसे अवज्ञा में विजामाता कहा जाता था[3]।

रिश्ते दो प्रकार के होते हैं : एक खून से और दूसरा अलग-अलग खान्दानों में विवाह आदि सम्बन्धों के कारण। पहले रिश्ते वाले लोग आपस में सनाभि कहलाते थे तथा सम्बन्ध के कारण जुड़ने वाले रिश्तेदार सबन्धु कहलाते थे[4]।

सामाजिक आचार । १ चोरी, २ व्यभिचार, ३ ब्राह्मण की हत्या, ४ गर्भपात, ५ शराबखोरी, ६ दुष्कर्म एक बार करके भी उससे विरत न होकर उल्टे उसे बार-बार करना, ७ पापकारक झूठ बोलना—ये सात मर्यादाएँ मनुष्य के लिए मानी जाती थीं। इन्हें न करना श्रेयस्कर तथा इनमें से एक का भी उल्लङ्घन पाप माना

---

१. द्र. ३।४ : दुहिता दुर्हिता, दूरे हिता, दोग्धेर्वा। तु. दुर्ग टीका : दुहिता दुर्हिता, सा हि यत्रैव दीयते, तत्रैव दुर्दत्ता भवति। दूरे वा सती सा पितुर्हिता पथ्या भवतीति दुहितेत्युच्यते। दोग्धेर्वा, सा हि नित्यमेव पितुः सकाशाद् द्रव्यं दोग्धि प्रार्थनापरत्वात्। और ४।१५ : कन्या....क्वेयं नेतव्येति वा।

२. द्र. ३।५–६ : नाभ्रात्रीमुपयच्छेत, तोकं ह्यस्य तद् भवति, इत्यभ्रातृकाया उपयमन-प्रतिषेधः प्रत्यक्षः, पितुश्च पुत्र-भावः। पिता यत्र दुहितुरप्रत्ताया रेतस्सेकं प्रार्जयति....।

३. द्र. ६।९ : विजामातेति शश्वद्दाक्षिणाजाः क्रीतापतिमाचक्षते। अ-सु-समाप्त इव वरोऽभिप्रेतः।

४. द्र. ४।२१ : बन्धुः सम्बन्धनात्, नाभिः सन्नहनात्, नाभ्या सन्नद्धा गर्भा जायन्त इत्याहुः। एतस्मादेव ज्ञातीन् सनाभय इत्याचक्षते सबन्धव इति च। ६।९ : स्याल आसन्नः संयोगेनेति नैदानाः।

जाता था[1]। अपेय मद्य आदि का पान तथा ऐसे कर्म जिनसे मनुष्य गिरता ही चला जाये, पाप माने जाते थे[2]।

चोरी को इतना बुरा माना जाता था कि चोर को पाप का गोदाम तो माना जाता ही था, उसे 'चोरी करने वाला' न कह कर 'वह (अर्थात् अत्यन्त गर्ह्य कर्म) करने वाला' कहा जाता था[3]।

व्यभिचार के प्रति हर प्रकार की विरोध-भावना के होते हुए भी समाज में जार और जारिणी का अस्तित्व था। व्यभिचार की प्रवृत्ति को बढ़ावा गरीब और अमीर के मध्य वर्तमान बहुत बड़े अन्तर से मिलता था। व्यभिचार के लिए उत्तरदायी प्रायः स्त्री की गरीबी और व्यभिचारी पुरुष की धनिकता ही होती थी। धनिक लोग अपनी कामुकता की सन्तुष्टि के लिए खुल कर पैसा बर्बाद करते थे। इस प्रकार के कामी व्यक्तियों को समाज में घृणा से शिश्नदेव कहा जाता था। अर्थात् उन के लिए यही एक इन्द्रिय उपास्य देव थी। ऐसे पुरुषों को समाज में बहुत हेय समझा जाता था। पर ये लोग धन के बल पर अपना काम निकाल ही लेते थे[4]।

उस समय समाज में सूदखोरी भी थी। सूदखोर की नजर रहती थी कि कैसे उधार दिया जाने वाला धन दूना हो। बहुत से खान्दान की आय का या जीविका का तो स्रोत ही सूद होता था[5]।

उस समय जूआ भी खेला जाता था। सूक्तकृत् ऋषि तक इस बुरी आदत से नहीं बचे थे। यों, समाज में द्यूत को एक बुरी आदत माना जाता था, जिसमें मनुष्य अपने धन को नष्ट करता है[6]।

---

१. इ. ६।२७ : सप्तैव मर्यादाः कवयश्चक्रुस्तासामेकामप्यभिगच्छन्नंहस्वान् भवति—१. स्तेयं, २. तल्पारोहणं, ३. ब्रह्म-हत्यां, ४. भ्रूण-हत्यां, ५. सुरा-पानं, ६. दुष्कृतस्य कर्मणः पुनः-पुनः सेवां, ७. पातकेऽनृतोद्यमिति।

२. इ. ५।२ : पापः पाताऽपेयानाम्, पापत्यमानोऽवाङेव पततीति वा। पापत्यतेर्वा स्यात्। ३. इ. ३।१४ : तस्करस्तत्करोति, यत्पापकमिति नैरुक्ताः। और ३।१९ : स्तेनः कस्मात् ? संस्त्यानमस्मिन्पापकमिति नैरुक्ताः।

४. इ. ४।१९ : मा शिश्नदेवा अब्रह्मचर्याः... अपि गुच्छेतं नः, सत्यं वा यज्ञं वा। ५।१६ : निरृतपी स्त्री-कामो भवति विनिर्गत-सपः। स यथा धनानि विनाशयति, मा नस्त्वं तथा परा वाः।

५. इ. ६।२६ : बेकनाटाः खलु कुसीदिनो भवन्ति, द्विगुणकारिणो वा, द्विगुणदायिनो वा, द्विगुणं कामयन्त इति वा। ६।३२ : भगन्दः कुसीदी, माम्-ग-दः = मामागमिष्यतीति च ददाति। तदपत्यं प्रमगन्दोऽत्यन्तकुसीदिकुलीनः।

६. इ. ५।२२ : श्वघ्नी कितवो भवति, स्वं हन्ति, स्वं पुनराश्रितं भवति। ९।७ : ऋषेरक्षपरिद्यूनस्यैतदार्षं वेदयन्ते।

ये सब प्रवृत्तियां प्राय: निर्धनता में ही पनपा करती हैं। इस से विदित होता है कि उस समय आम जनता में गरीबी बहुत थी। ऐसी स्थिति में समाज में धन के प्रति मोह स्वाभाविक ही है। उस समय भी लोग धन की ओर एक दम दौड़ पड़ते थे[1]। धन पास में होने से बहुत तृप्ति अनुभव होती थी। धन को काम निकालने का प्रमुख साधन माना जाता था[2]।

इन परिस्थितियों में समाज में सुव्यवस्था बनाए रखने के लिए धनियों से एक उत्तरदयित्वपूर्ण आचरण की, अर्थात् गरीबों के प्रति सहानुभूतिपूर्ण व्यवहार की, अपेक्षा की जाती थी। धन के दो उपयोग समझे जाते थे: अपने कारज सारना तथा निर्धनों की सहायता करना। जो लोग कंजूसी के कारण अपने धन का दान नहीं करते थे, उनको समाज का शत्रु समझा जाता था[3]।

राजा के अनाचार से समस्त प्रजा को दैवी आपत्ति भोगनी पड़ती है, अर्थात् प्रजा के आधिदैविक कष्टों के लिये राजा उत्तरदायी है, यह माना जाता था[4]।

धार्मिक विश्वास। उस समय के समाज में आस्तिक और नास्तिक दो प्रकार के लोग थे। परलोक में विश्वास करने वाले लोग आस्तिक थे, तथा जो लोग केवल इसी लोक को मानते थे और परलोक की सत्ता से ही इन्कार करते थे, वे नास्तिक थे। नास्तिक लोग आनन्दविहार, मौज-मस्ती को ही अपने जीवन का लक्ष्य मानते थे[5]। ऐसे लोग मगन्द, प्रमगन्द, प्रमदक कहलाते थे। नास्तिक लोग यज्ञ आदि धार्मिक कृत्यों को भी व्यर्थ समझते थे; केवल अपने शरीर की सुख-सुविधा, सज्जा में लगे रहते थे। ये केवल वर्तमान की, अर्थात् इहलोक की चिन्ता करते थे, परलोक की नहीं[6]।

---

१. द्र. ८।१ : धनं द्रविणमुच्यते, यदेनदभिद्रवन्ति।

२. द्र. ३।६ : धनं कस्मात् ? धिनोतीति सतः। और ४।४ : राध इति धननाम। राध्नुवन्त्यनेन।

३. द्र. ऊपर उद्धृत ४।४ का निर्वचन तथा ४.१७ : रयिरिति धननाम, रातेर्दान कर्मणः। ७।६ : सुविदत्रं धनं भवति, विन्दतेर्वैकोपसर्गाद् ददाते र्वा स्याद् द्व्युपसर्गात्। ११।२ : अत्रा पुरन्धीरजहादराती: (ऋ. सं. ४।६२।७) - तत्र पुरन्धिरजहादमित्रानदानानिति वा।

४. द्र. २।१० : तमूचुर्ब्राह्मणाः—अधर्मस्त्वया चरितः। तस्मात्ते देवो न वर्षतीति।

५. द्र. ६।३२ : मगन्दः....प्रमदको वा योऽयमेवास्ति लोको न पर इति प्रेप्सुः।

६. द्र. ६।१६ : तितनिषुं धर्म-सन्तानादपेतमलङ्करिष्णुमयज्वानं....तनूशोभयितारम्। और ६।२६ : अहर्दृशः सूर्यदृशः; य इमान्यहानि पश्यन्ति, न पराणीति वा।

परलोक की मान्यता दो रूपों में है : एक तो सर्वसुखाधिष्ठान स्वर्ग, जिसे यास्क ने नाक कहा है, तथा दूसरा अधोगति रूप नरक। नाक आकाश अर्थात् द्यु लोक में स्थित माना जाता था, जहाँ पुण्य कर्म करने वाले लोग जा कर रहते हैं। नरक कहीं नीची तरफ स्थित था; अथवा अधोगति—दुःखप्राप्ति ही— नरक मानी जाती थी। इसमें सुख का नाम-निशान भी नहीं माना जाता था[1]।

परलोक में विश्वास का अर्थ है आत्मा तथा कर्मफल में विश्वास करना। पुनर्जन्मवाद इन्हीं का फलितार्थ है। यास्क के समय के आस्तिक लोग आत्मा को मानते थे। आत्मा निरन्तर गतिशील, अर्थात् एक शरीर को छोड़ने पर दूसरे में जाने वाला, सर्वत्र व्यापक तत्त्व माना जाता था[2]। यह दो प्रकार का था : एक व्यष्टि का अभिमानी, जिसे हम जीवात्मा के रूप में जान-कह सकते हैं; दूसरा समष्टि का अभिमानी। व्यष्टि का अभिमानी आत्मा सब इन्द्रियों का स्वामी, बुद्धि का अधिष्ठाता समझा जाता था[3]। समष्टि के अभिमानी को ब्रह्म कहा जाता था, जो सब ओर से परिवृढ अर्थात् व्यापक माना जाता था[4]। इसे अन्तरपुरुष भी कहा जाता था[5]। आत्मा के प्राज्ञ और तैजस भेदों की चर्चा भी यास्क ने की है। इस विषय का विस्तरेण निरूपण हम यास्क का दर्शन नामक अगले अध्याय में करेंगे।

कर्म दो प्रकार के माने जाते थे : एक धर्म दूसरा अधर्म। हिंसा का आश्रय जिसमें न लेना पड़े, वह कर्म धर्म होता था। उसको अपनाने से मनुष्य को देव-लोक मिलते हैं। उसमें उसे तैजस (तेजोमय) शरीर मिलता है, जिससे अपने धर्म-कर्म का फल भोग कर उसके क्षीण हो जाने पर उसे फिर इस लोक में आना पड़ता है। जो मनुष्य हिंसा का आश्रय लेते हैं, वे चाहे जैसा तप या शास्त्रोक्त कर्म करें, उन्हें सांसारिक योनियों में पड़ना पड़ता है। जो हिंसा तो करते हैं किन्तु तप या शास्त्रोक्त कर्म नहीं करते, उनकी नरकों में तो दुर्गति होती ही है, इस लोक में आने पर भी उन्हें क्षुद्र योनियाँ ही मिलती हैं। जो लोग हिंसा तो करते ही नहीं हैं, ज्ञानमार्ग का

१. २।१४ में जितने भी द्यौ के नाम हैं, वे स्वर्गवाचक भी हैं : (पृश्निः) अथ द्यौः। संस्पृष्टा ज्योतिर्भिः पुण्यकृद्भिश्च। (नाकः) अथ द्यौः। कमिति सुखनाम, तत्प्रतिषिद्धं प्रतिषिध्येत।....न वा अमुं लोकं गतवते, किं च नासुखम्, पुण्यकृतो ह्येव तत्र गच्छन्ति। (विष्टप्) अथ द्यौः। आविष्टा ज्योतिर्भिः पुण्यकृद्भिश्च। १।११ : नरकं न्यरकं नीचैर्गमनम्। नास्मिन् रमणीयं स्थानमल्पमप्यस्तीति वा।

२. द्र. ३।१५ : आत्माऽततेर्वा, आप्तेर्वा, अपि वाऽऽप्त इव स्याद्, यावद् व्याप्तिभूत इति।

३. द्र. ३।१२ : ईश्वरः सर्वेषामिन्द्रियाणां गोपायितात्मा....धीरो धीमान्।

४. द्र. १।८ : ब्रह्म परिवृढं सर्वतः।

५. द्र. २।३ : 'पुरुष' के निर्वचन तथा इन पर उद्धृत निगम।

आश्रय ले कर (निष्काम हो कर) कर्म करते हैं, उन्हें मोक्ष मिलता है। उन्हें फिर संसार में नहीं आना पड़ता। विषयों को भोगने की इच्छा मनुष्य को गिराती है। अज्ञान बन्धन-कारक है, और ज्ञान मोक्ष-दायक[1]।

उस समय में लोगों के धार्मिक जीवन का आधार यज्ञों द्वारा देवों की उपासना करना था। यज्ञ को जीवन-यात्रा में नौका या शकट के समान साधक समझा जाता था[2]। बहुत-से लोग अपनी सारी सम्पत्ति, यहाँ तक कि शरीर तक को होम करके **सर्वमेध** यज्ञ किया करते थे[3]। यज्ञ न करने वाले (अयज्वा, असुन्वत्) लोग उस काल में बड़े निन्दित समझे जाते थे। उनकी समृद्धि को नश्वर समझा जाता था[4]। देवता शब्द प्रमुख रूप से इन्द्र, विष्णु, अग्नि, प्रजापति आदि वैदिक देवताओं में रूढ था। देवताओं का प्राकृतिक आधार से सम्बन्ध धुँधलाने लगा था। यास्क ने उस धुंध को हटा कर उनका वास्तविक स्वरूप स्पष्ट प्रकाशित करने का प्रयास किया है[5]।

उस समय **ऐकात्म्य-वाद**, **त्रि-देव-वाद** तथा **नाना-देव-वाद** प्रचलित थे। ऐकात्म्य-वाद में एक ही आत्मा को सर्वव्यापक माना जाता था तथा भिन्न-भिन्न देवताओं की स्तुतियाँ वस्तुतः उस आत्मा की ही स्तुतियाँ मानी जाती थीं। अन्य देवता एक आत्मा

---

१. द्र. १४।१९ : स यदनुरुध्यते, तद्भवति। यदि धर्ममनुरुध्यते, तद्देवो भवति। यदि ज्ञानमनुरुध्यते, तदमृतो भवति। यदि काममनुरुध्यते, सच्च्यवते। २० :.... शरीरान्निमेष-मात्रैः प्रक्रम्य ... तैजसं शरीरं कृत्वा कर्मणोऽनुरूपं फलमनुभूय तस्य सङ्क्षये पुनरिमं लोकं प्रतिपद्यते। २१ : अथ ये हिंसामाश्रित्य, विद्यामुत्सृज्य, महत्तपस्तेपिरे, चिरेण वेदोक्तानि वा कर्माणि कुर्वन्ति, ते ...ओषधयश्चैतद् भूत्वा ....पुनरेवेमं लोकं प्रतिपद्यते (न्ते ?)। २२ : अथ ये हिंसामुत्सृज्य, विद्यामाश्रित्य, महत्तपस्तेपिरे, ज्ञानोक्तानि वा कर्माणि कुर्वन्ति, ते....मानसः पुरुषो भूत्वा ब्रह्म-लोक-मभि-सम्भवन्ति। ते न पुनरावर्तन्ते। शिष्टा दन्दशूका, यत इदं न विजानन्ति। २३ : अबन्धो ज्ञानकृतः।

२. द्र. ५।२५ : पृथक्प्रायन् .. प्रथमा ये देवानाह्वयन्त, अकुर्वत श्रवणीयानि यशांसि दुरनुकराण्यन्यैर्येऽशक्नुवन् यज्ञियां नावमारोढुम्। अथ ये नाशक्नुवन् यज्ञियां नावमारोढुम्;...इहैव ते न्यविशन्त; ऋणे हैव ते न्यविशन्त; अस्मिन्नेव लोक इति वा। ६।२२ : ऋतस्य योगे यज्ञस्य योगे याज्ञे शकट इति वा।

३. द्र. १०।२६ : तत्रेतिहासमाचक्षते—विश्वकर्मा भौवनः सर्वमेधे सर्वाणि भूतानि जुहवाञ्चकार। स आत्मानमप्यन्ततो जुहवाञ्चकार।

४. द्र. ६।१९ : अपोहत्यपोहति शक्रस्तितनिपुं धर्मसन्तानादपेतम्.... अयज्वानम्। और ६।२२ : व्युदस्यत्येधमानानहर्द्वेष्ट्यसुन्वतः, सुन्वतोऽभ्यादधाति।

५. द्र. ७।४ : स न मन्येतागन्तूनिवार्थान्देवतानाम्, प्रत्यक्षदृश्यमेतद् भवति।

के ही विभिन्न रूप माने जाते थे। त्रि-देव-वाद एकात्म-देव-वाद से सर्वथा भिन्न एवम् उसका विरोधी वाद नहीं था, अपितु तीन स्थानों के आधार पर एक ही आत्मा की स्तुति मानी जाती थी। यों, प्रत्येक स्थान के आधार पर स्तुत देवता के भी भिन्न-भिन्न तरह के कार्यों से अलग-अलग नाम तथा कर्म से स्तुति की जाती थी। नाना-देव-वाद एकात्म-वाद तथा त्रि-देव-वाद का विरोधी एक वाद था। इस के प्रवर्तक याज्ञिक लोग थे। उनका मत था कि जिस नाम से तथा जिस कर्म को दृष्टि में रखते हुए देवता की स्तुति की गई है, उस नाम तथा कर्म वाला वह देवता बिल्कुल स्वतन्त्र देवता होता है[1]।

उस समय विष्णु प्रमुख देवता के रूप में उभर रहे थे। विष्णु अपने प्राकृतिक —दुपहर के सूर्य—रूप को छोड़ कर पौराणिक रूप की ओर सरक चुके थे। वैदिक काल में आदित्य की प्रातः, मध्याह्न और सायङ्काल की तीन गतियों के कारण, अथवा पृथ्वी, अन्तरिक्ष और आकाश को अपने प्रकाश से भर डालने से, पड़ा त्रिविक्रम नाम अब वामन-अवतार-धारी विष्णु के चरणों के तीन स्थानों में—समारोहण, विष्णुपद और गय के सिर पर—पड़ने से प्रचलित माना जाने लगा था[2]।

उस काल में पुराने वैदिक युग के समान ही देवताओं की सकाम उपासना प्रचलित थी[3]। देवताओं की उपासना यज्ञों से तथा सम्भवतः देवता का मन से ध्यान कर के दोनों हाथ जोड़ कर की जाती थी[4]। मूर्ति-पूजा के कोई सङ्केत निरुक्त में नहीं मिलते। देवों को प्रसन्न करने के लिए तथा कोई नया धार्मिक अनुष्ठान करते समय व्रत भी रखे जाते थे[5]। जल से क्षालन करने से शुद्धि तथा पाप को निकाल बाहर किया माना जाता था[6]। पाप पापी को पूरी तरह नष्ट कर देता है, यह मान्यता थी[7]।

१. इ. ७।४ : माहाभाग्याद्देवताया एक आत्मा बहुधा स्तूयते। एकस्यात्मनोऽन्ये देवाः प्रत्यङ्गानि भवन्ति।... तिस्र एव देवता इति नैरुक्ताः—अग्निः पृथिवीस्थानो, वायुर्वेन्द्रो वाऽन्तरिक्षस्थानः। तासां माहाभाग्यादेकैकस्या अपि बहूनि नामधेयानि भवन्ति।.... अपि वा पृथगेव स्युः। पृथग्घि स्तुतयो भवन्ति तथाऽभिधानानि।

२. इ. १२।१९ : यदिदं किं च तद् विक्रमते विष्णुस्त्रेधा निधत्ते पदम्। पृथिव्यामन्तरिक्षे दिवीति शाकपूणिः। समारोहणे विष्णुपदे, गयशिरसीत्यौर्णवाभः।

३. इ. ७।१ : यत्काम ऋषिर्यस्यां देवतायामार्थपत्यमिच्छन् स्तुतिं प्रयुङ्क्ते, तद्दैवतः स मन्त्रो भवति। ४. इ. २।२६ : प्रगृह्य पाणी देवान् पूजयन्ति।

५. इ. २।१३ : व्रतमिति कर्मनाम वृणोतीति सतः। इदमपीतरद् व्रतमेतस्मादेव निवृत्ति कर्म, वारयतीति सतः। लघु-पाठ में वाक्य-क्रम विपर्यस्त है। हमने दुर्ग और स्कन्द की टीका के अनुरोध से यह पाठ माना है।

६ इ. ६।१ : अयमपीतरः शुचिरेतस्मादेव, निष्षिक्तमस्मात् पापकमिति नैरुक्ताः। ७. इ. ६।११ : अघं हन्तेः, निर्ह्रसितोपसर्ग, आहन्तीति।

उस काल में देवोपासना के बाद स्थान आता था अतिथियों की सेवा का । अतिथि की सेवा उसे देवता के समान ही श्रद्धेय समझ कर की जाती थी । घर में आने वाले, अपने कुल से भिन्न कुल के, व्यक्ति को ही अतिथि कहा जाता था। समय की पूर्वसूचना के बिना आने का भाव अतिथि शब्द में नहीं माना जाता था। अपितु निश्चित तिथियों में आने वाले लोग भी अतिथि कहलाते थे[1]।

अतिथियों के बाद पितरों को भी देवता के समान ही समझा जाता था[1] । पितरों की उपासना किस प्रकार की जाती थी, इसका कोई सङ्केत निरुक्त में नहीं मिलता।

उस समय वैदिक कर्मकाण्ड पूर्ण विकसित हो चुका था। चार ऋत्विजों में ब्रह्मा नामक ऋत्विज् का महत्त्व पूर्णतया प्रतिष्ठित हो चुका था। उसे ऋत्विजों की सब विद्याओं का ज्ञाता तथा श्रुति के ज्ञान से समृद्ध माना जाता था। अन्य ऋत्विज् तो केवल अपने-अपने वेद में तथा उससे सम्बद्ध कार्य-कलाप में निष्णात माने जाते थे, पर ब्रह्मा को सब वेदों तथा उनसे सम्बद्ध समस्त क्रिया-कलाप का वेत्ता माना जाता था[2]। यज्ञों में जीव-हिंसा होती थी; किन्तु उसे पाप नहीं माना जाता था[3]।

प्रेत, पिशाच, राक्षस आदि से लोग डरते थे। राक्षस एकान्त, सुन-सान स्थान में रहते हैं और रात में निकलते हैं, यह माना जाता था[4]।

शव का संस्कार शव को धरती की गोद में सुला कर अर्थात् कब्र में गाड़ कर किया जाता था। श्मशान कहते ही उस स्थान को थे, जहाँ शव शयन करता है। कब्रों के कारण श्मशान को गर्त (गड्ढा, शाब्दिक अर्थ खोदा हुआ; अप=नीचे गूर्ण= कुरेदा हुआ) भी कहा जाता था[5]।

---

१ द्र. ७।४ : अस्ति ह्याचारो बहुलं लोके देवदेवत्यमतिथिदेवत्यं पितृदेवत्यम् । ४।५ : अतिथिरभ्यतितो गृहान् भवति, अभ्येति तिथिषु परकुलानीति वा, गृहाणीति वा।

२. द्र. १।८ : ऋचां त्वः पोषमास्ते (ऋ. सं. १०।७१।११) की व्याख्या । तथा : ब्रह्मा सर्वविद्यः सर्वं वेदितुमर्हति । ब्रह्मा परिवृढः श्रुततो, ब्रह्म परिवृढं सर्वतः ।

३. द्र. १।१६ : यथो एतदनुपपन्नार्था भवन्तीति—आम्नायवचनादहिंसा प्रतीयेत । १२ १३ : अघोरामः सावित्र (वा. सं. २६।५८) इति पशुसमाम्नाये विज्ञायते ....कृकवाकुः सावित्रः (वा. सं २४।३५) इति पशुसमाम्नाये विज्ञायते ।

४. ४।१८ : रक्षो रक्षितव्यमस्माद्, रहसि क्षणोतीति वा, रात्रौ नक्षत इति वा।

५. द्र. ३।५ : श्मशानमञ्चयोऽपि गर्त उच्यते, गुरतेरपगूर्णो भवति । श्मशानं श्म-शयनम् । श्म शरीरम् ।....नोपरस्याविष्कुर्यात् । यदुपरस्याविष्कुर्याद्, गर्तेष्ठाः स्यात्प्रमायुको यजमानः (कुछ पाठान्तर से मैत्रा. सं. ३।६।४) इत्यपि निगमो भवति ।

शव को वैदिक काल में भी भूमि में गाड़ा जाता था[1]। कालान्तर में (वैदिक काल में ही) शव का दाह संस्कार करने की प्रथा प्रचलित हो गई थी, किन्तु यास्क के समय तक भी श्मशान शब्द का शव को दफनाने की प्रक्रिया से सम्बन्ध माना जाता था।

काल-गणना चाँद की गति के आधार पर होती थी तथा उस समय चान्द्र मास का प्रचलन था[2]। मास के दो पखवाड़ों को पक्ष, अर्धमास कहा जाता था। शुक्ल पक्ष मास के पहले पक्ष को एवम् कृष्ण पक्ष दूसरे पक्ष को कहते थे। अतः शुक्ल पक्ष को चन्द्रमा की बढ़ती हुई कलाओं के कारण आपूर्यमाण पक्ष, चाँदनी के कारण शुक्ल पक्ष तथा मास में पहले आने के कारण पूर्व पक्ष कहा जाता था। कृष्ण पक्ष को चन्द्रमा की

---

१. उप सर्प मातरं भूमिमेतामुरुव्यचसं पृथिवीं सुशेवाम्।
ऊर्णम्रदा युवतिर्दक्षिणावत एषा त्वा पातु निर्ऋतेरुपस्थात्॥ ऋ सं. १०।१८।१०॥
उच्छ्वञ्चस्व पृथिवि मा नि बाधथाः सूपायनास्मै भव सूपवञ्चना।
माता पुत्रं यथा सिचाऽभ्येनं भूम ऊर्णुहि॥ ११॥
उच्छ्वञ्चमाना पृथिवी सु तिष्ठतु सहस्रं मित उप हि श्रयन्ताम्।
ते गृहासो घृतश्चुतो भवन्तु विश्वाहास्मै शरणाः सन्त्वत्र॥ १२॥
उत्ते स्तभ्नामि पृथिवीं त्वत्परीमं लोगं निदधन्मो अहं रिषम्।
एतां स्थूणां पितरो धारयन्तु तेऽत्रा यमः सादना ते मिनोतु॥ १३॥

बृहद्देवता (७।१८) में इन मन्त्रों का प्रयोग प्रेत के फूल चुगने (अस्थि-सञ्चय-कर्म) में बताया है। यह विधान मन्त्र के शब्दों से सिद्ध नहीं होता। इस से सिद्ध होता है कि शौनक के समय तक शव-दाह की प्रथा हो बहुत पुराने समय से प्रचलित के रूप में इतनी प्रसिद्ध हो चुकी थी कि इन मन्त्रों के अक्षरार्थ की भी उपेक्षा कर के कर्मकाण्डी पण्डित इनका प्रयोग अस्थि-सञ्चय-कर्म में करने लगे थे। यह बात ठीक उसी तरह हुई है, जिस तरह आज नवग्रहों से कोई सम्बन्ध न होते हुए भी, मङ्गल, बुध, गुरु, शुक्र, शनि, राहु के पूजन में तत्तत् मन्त्रों का प्रयोग प्रचलित हो गया है। परन्तु आज अथवा मध्यकाल के लिए यह बात समझ में आती है। क्योंकि यह समय संस्कृत के ह्रास का है। जिस ब्राह्मण-बालक की अध्ययन में गति नहीं होती, वह कर्मकाण्डी बन जाता है। उसे मन्त्र के अर्थ से प्रयोजन नहीं; यजमान की जेब में पड़े अर्थ से प्रयोजन है। किन्तु बृहद्देवता का समय तो अन्धकार का नहीं था। इस से यह विदित होता है कि कर्मकाण्ड अर्थ की घोर उपेक्षा करके जड़ता, अज्ञान को सदा से प्रश्रय देता आया है। हमारे बौद्धिक पतन का बहुत-कुछ श्रेय इसी को जाता है।

२. द्र. ५।२० : मासकृन्मासानां चार्धमासानां च कर्ता (भवति) चन्द्रमा वृकः। ११।५ : समानां संवत्सराणां मास आकृतिः सोमः।

कलाओं के घटते जाने से अपक्षीयमाण पक्ष, अन्धेरे के कारण कृष्ण पक्ष तथा मास में शुक्ल पक्ष के बाद आने से अपर पक्ष कहा जाता था। दोनों पक्षों के जोड़ पर्व कहलाते थे। इन पर क्रमशः पूर्णमास और दर्श नामक इष्टियां की जातीं थीं[1]।

वर्ष ३६० दिन का माना जाता था[2]। वर्ष में यों तो छह ऋतुएं होतीं थीं, पर हेमन्त और शिशिर को मिला कर एक ऋतु समझ कर वर्ष में पांच ऋतुएं भी समझ ली जाती थीं[3]। छह ऋतुओं में प्रमुख होतीं थीं : ग्रीष्म, वर्षा और हेमन्त[4]।

आर्थिक स्थिति। यास्क के समय में घर में ऊखल-मूसल, छलनी, सूप (छाज), पकाने को पतीले आदि होते थे। ऊखल आज की तरह ही ऊपर की ओर खुला होता था। इससे अन्न आदि के टुकड़े-टुकड़े करके, अन्न को तैयार करके, उस अन्न को पानी में पका कर खाया जाता था[5]। इससे लगता है उस समय खिचड़ी आदि रंधीण आज के गांवों की तरह ही प्रचलित खाद्य था।

कुल्माष (जौ[6]) गरीबों का आहार था और इसे अच्छा अन्न नहीं समझा

---

१. द्र. ५।११ : तद् या एतावान्द्रमस्य आगामिन्य आपो भवन्ति रश्मयस्ता अपरपक्षे पिबन्ति।... तं पूर्वपक्ष आप्याययन्ति। ११।६ : 'नवो नवो भवति जायमान' इति पूर्व-पक्षादिमभिप्रेत्य। 'अह्नां केतुरुषसामेत्यग्रम्' इत्यपरपक्षान्तमभिप्रेत्य। १।२० : पर्व पुनः पृणातेः, प्रीणाते र्वा, अर्धमासपर्व, देवानस्मिन्प्रीणन्तीति।

२. द्र. ४।२७ : षष्टिश्च ह वै त्रीणि च शतानि संवत्सरस्याहोरात्रा—इति च ब्राह्मणं समासेन।

३. द्र. ४।२७ : पञ्चर्तवः संवत्सरस्येति च ब्राह्मणम् (श. ब्रा. १।५।२।१६) हेमन्त-शिशिरयोः समासेन (ऐ. ब्रा. १।१।१)।

४. द्र. ४।२७ : त्रिनाभि चक्र ऋतुः संवत्सरः ग्रीष्मो, वर्षा, हेमन्त इति। ७।८, १०-११ में त्रिस्थानीय देवों के भक्तिसाहचर्य में ऋतुएं देखें।

५. द्र. ६।२० : उलूखलमुरुकरं वा, ऊर्ध्वमुखं वा, ऊर्क्करं वा। ४।६ : तितउ परिपवनं भवति। तत-वद्वा, तुन्न-वद्वा, तिल-मात्र-तुन्नमिति वा। ११।३८ : अप्यं हविरस्तु भृतमद्भिः संस्कृतमिति वा।

६. दुर्गाचार्य और स्कन्द-स्वामी ने कुल्माष शब्द का अर्थ स्पष्ट नहीं किया है। डा. लक्ष्मणस्वरूप ने sour gruel और योगी जी ने उसका अनुवाद कांजी किया है। हमारे विचार से यह अर्थ ठीक नहीं है। क्योंकि (क) पाणिनि ने कुल्माष शब्द अन्न के प्रसङ्ग में दिया है : तदस्मिन्नन्नं प्राये सञ्ज्ञायाम्, कुल्माषादञ् (अष्टा. ५।२। ८२–८३। (ख) अमर-कोष (पङ्क्ति १७४३) में इस का पाठ अन्नों के प्रकरण में गोधूम (गेहूं) के बाद दिया है : स्याद्यावकस्तु कुल्माषश्चणको हरिमन्थकः। (ग) वस्तुतः कुल्माष शब्द दो हैं : एक पुंलिङ्ग, जिसका प्रयोग यहाँ तथा काशिका (५। २।८३) में हुआ है एवम् अमरकोष में यावक अर्थ किया है। दूसरा नपुंसक-लिङ्ग,

जाता था। बड़े घरों में नौकरों को कुल्माष दिया जाता था, या वहाँ यह यों ही पड़ा रहता था, कोई इसे पूछता तक नहीं था[1]। मांस चाव से खाया जाता था[2]। राह-बाट जाते समय कुछ खाने की चीज साथ ले जाने की प्रथा थी[3]। यानों में सर्वोपरि स्थान रथ का था। इसे गर्त भी कहा जाता था। इसकी श्रेष्ठता तीन कारणों से थी : १. यह अन्य वाहनों की अपेक्षा तेज चलता था, २. इसमें स्थिरता और फलतः ३. आराम अधिक था[4]। छकड़ा अथवा सग्गड़ उस समय यात्रा का एक साधारण साधन था। यह ठीक आज की बैल-गाड़ी की तरह ही चर्रक्-चूँ करते हुए धीमी चाल से चलने वाला वाहन था[5]। इसे मोटे कपड़े[6] (खरड़-सलीते आदि) से मँढा जाता था। इसका उपयोग (किराये पर) बोझ ढो कर जीविका कमाने में भी किया जाता था[7]।

जिसका पाठ स्यात् अष्टाध्यायी (४।४।१०३) के गुडादि-गण में हुआ है एवम् काशिका में जिसका उदाहरण 'कौल्माषिको मुद्गः' दिया है। मेदिनी-कोश (षान्त वर्ग, श्लोक ३४) में इसका अर्थ कांजी किया गया है : कुल्माषं काञ्जिके, यावके पुमान्। (घ) अमरकोष का क्रम आज के मुहावरे के गेहूँ—जौ—चना से मिलता है। अतः हमारे विचार में कुल्माष का अर्थ कोई अन्न ही होना चाहिये; कांजी नहीं। जो आज भी मोटा अनाज और गेहूँ-चावल की अपेक्षा कुत्सित तथा गरीबों का भोजन माना जाता है। यही स्थिति यास्क के समय भी रही होगी।

१. द्र. १४ : कुल्माषांश्चिदाहरेत्यवकुत्सिते। कुल्माषाः कुलेषु सीदन्ति। यह निर्वचन दुर्ग और स्कन्द की टीकाओं में अनुपलब्ध होने से अप्रामाणिक है।

२. द्र. ४।३ : मांसं माननं वा, मानसं वा, मनोऽस्मिन्सीदतीति वा।

३. द्र. १।१७ : अवतं पथ्यदनमवतेर्गत्यर्थस्य।

४. द्र. ३।५ : रथोऽपि गर्त उच्यते गृणातेः स्तुतिकर्मणः, स्तुततमं यानम्। तथा ९।११ : रथो रंहतेर्गति-कर्मणः, स्थिरतेर्वा स्याद्विपरीतस्य, रममाणोऽस्मिंस्तिष्ठतीति वा। ५. द्र. ६।२२ : शकटं शकृदितं भवति, शनकैस्तकतीति वा, शब्देन तकतीति वा। ६. डा. लक्ष्मणस्वरूप (पृष्ठ १८३ पर) : "rags are tied to it", और श्री योगी जी (पृष्ठ २९१ पर) : चिथड़े उस से बांधे जाते हैं।

७. द्र. ११।४७ अनः शकटम्, आनद्धमस्मिञ्चीवरम्, अनितेर्वा स्याज्जीवन-कर्मणः। दुर्गाचार्य ने इस अपट्टक को न तो उद्धृत किया है और न इसकी व्याख्या ही की है। स्कन्दभाष्य में यह उद्धृत भी है एवं व्याख्यात भी। उन्होंने 'चीवर' का अर्थ 'लोह' अथवा 'वस्त्र' किया है। 'लोह' और 'वस्त्र' की व्याख्या के उनके वाक्य स्पष्ट नहीं हैं : चीवर-शब्दो लोह-वचनः। आभिमुख्येन नद्धं बद्धं सुदृढत्वाय। नाभि-कण्ठवन्त मण्डलाख्यं चीवरं लोहमस्मिन् स नह्यत इत्यर्थः। अथवा सम्प्रधाने-ष्वाननस्मिन्नाच्छिद्रो दुवत उपोह्य चीवरम्' इति वस्त्रं किं परिच्छेद-सूत्र-चीवर-शब्द-वाच्यम्। तदि ....माश्रितं भवति।

सिर या कन्धे पर लाद कर बोझ ढोना स्वास्थ्य के लिए हानिकारक माना जाता था। छकड़े में भी अधिक बोझ बैल आदि वाहन के लिए हानिकारक समझा जाता था[१]।

कते हुए सूत की बुनी कृत्ति (चादर या गुदड़ी) ओढ़ने के काम आती थी। याजुष संहिताओं में शिव कृत्तिवासाः बताये गये हैं। यास्क की व्याख्या के अनुसार वे सूत की चादर या गुदड़ी ओढ़ते थे[२]। गजचर्म ओढ़ने का भाव, लगता है, परकालीन है।

अनाज रखने के काम आने वाली बोरियाँ पुराने जमाने में अर्व, कुवर और यास्क के समय आवपन कहलातीं थीं (३।२०)।

उस समय कुत्तों की सहायता से शिकार खेला जाता था; किन्तु इसे अच्छी नजरों से नहीं देखा जाता था[३]। कुत्ता तथा कौवा बुरे माने जाते थे। कौवे को तो घर पर बैठने पर भगा दिया जाता था। सिंह और व्याघ्र पौरुष और श्रेष्ठता के प्रतीक माने जाते थे[४]। गाय का बहुत सम्मान था। उसका वध निषिद्ध था। उसे पापनाशक, पवित्र और सब भोग प्रदान करने वाली माना जाता था[५]।

लोग पक्षियों की बोली के शुभ-अशुभ अर्थ निकाल कर शकुनों में विश्वास करते थे। किसी कार्य के लिए जाते समय कपिञ्जल नामक एक पक्षी का बोलना शुभ शकुन माना जाता था[६]। लोग भाग्यवादी थे तथा भाग्य का निश्चय जन्म से पहले हो जाता है, यह मानते थे[७]।

कूप में लकड़ी का नीमचक (आहाव) डाला जाता था तथा पानी निकालने को कूप पर औंण (अश्मचक्र) लगाया जाता था[८]।

धनुष् की डोरी प्रायः गाय की आँत से बनती थी। किसी अन्य पशु की आँत

---

१. द्र. ३।६ : धूर्धूर्वतेर्वधकर्मणः। इयमपीतरा धूरेतस्मादेव, विहन्ति वहम्।

२. द्र. ५।२२ : कृत्तिः कृन्ततेः।... इयमपीतरा कृत्तिरेतस्मादेव सूत्र-मयी। कृत्तिवासाः पिनाकहस्तो अवततधन्वा (का. सं. ९।७)।

३. द्र. २।३ में विश्वकद्राकर्ष की व्याख्या।

४. द्र. ३।१८ : सिंहो व्याघ्र इति पूजायाम्। श्वा काक इति कुत्सायाम्।... काकोऽपकालयितव्यो भवति।

५. द्र. ११।४३ : अघ्न्या अहन्तव्या भवति, अघ-घ्नीति वा। ४।१९ : उस्रियेति गो-नाम, उत्स्राविणोऽस्यां भोगाः।

६. द्र ९।४ : गृत्समदमर्थमभ्युत्थितं कपिञ्जलोऽभिववाशे।

७. द्र. ६।९ : सर्वाणीन्द्रस्य धनानि विभक्षमाणाः। स यथा धनानि विभजति जाते च जनिष्यमाणे च।

८. द्र. ५।२६ : द्रोणाहावं, द्रोणं द्रुम-मयं भवति। आहाव आह्वानात्। आहव आवहनात्। अश्म-चक्रमशन-चक्रमसन-चक्रमिति वा।

से भी बना ली जाती थी[1]। बाण के पुङ्ख को वाज कहते थे। यह शरकण्डे (शर) के साथ किसी पक्षी की पांख को गाय की आंत से मंढ कर बनाया जाता था बाण का फल मृग की हड्डी से भी बनता था[2]। चाबुक पतला बनाया जाता था ताकि उसकी चोट अच्छी बैठे और घोड़ा उसे देख कर ही डरे[3]। रथों में घोड़े तो जोते जाते ही थे, बैल भी जोत लिये जाते थे। बहुधा रथ में एक से अधिक बैल जुतते थे। कोई-कोई साहसी पुरुष किसी से होड लगा कर एक बैल को जोत कर भी अपना कौशल दिखला दिया करता था। अपनी शर्त पूरी करने पर उसे वाजी (आजि) में निश्चित धन मिला करता था। ऐसी स्पर्धाओं में ऋषि भी भाग लिया करते थे[4]।

दुन्दुभि मुँह से हवा फूंक कर बजाया जाने वाला एक प्रकार का लकड़ी का बाजा होता था, जो पेड़ के तने को या लकड़ी को खोखला करके बनाया जाता था तथा जिसे युद्ध में मारू बाजे के रूप में बजाया जाता था[5]।

सङ्ख्याएं दस, बीस, तीस आदि दस के गुणितों में की जाती थीं। यास्क ने एक से अर्बुद तक की सङ्ख्याओं का निर्देश किया है। सहस्र (हजार), अयुत (दस हजार) नियुत (एक लाख), प्रयुत (दस लाख) को एक-के बाद एक करके पिछली सङ्ख्या का दस-गुणा बताया है। अर्बुद बड़ी सङ्ख्या है, यही कह कर यास्क रह गये। यह किस सङ्ख्या का गुणित है, यह नहीं बतलाया[6]।

इन्द्रियों को जो अच्छा लगे, वह सुख माना जाता था। अतः सुख के विपरीत

---

१. ५. २।५ : ज्याऽपि गौरुच्यते। गव्या चेत्, ताद्धितम्; अथ चेन्न गव्या, गमयतीषूनिति। २. ५. १०।२६ : शर्याभिः=शरमयीभिरिषुभिः। ६।१६ : 'सुपर्णं वस्त इति' वाजानभिप्रेत्य। मृगमयोऽस्या दन्तो, मृगयतेर्वा। गोभिः सन्नद्धा पतति प्रसूतेति व्याख्यातम्। २५ भी देखें।

३. ५. ६।१६ : अश्वाजनीं कशेत्याहुः। कशा प्रकाशयति भयमश्वाय, कृष्यतेर्वाऽणूभावात्। ४. ५. ६।२३ : मुद्गलो भार्म्यश्व ऋषिर्वृषभं च द्रुघणं च युक्त्वा सङ्ग्रामे व्यवहृत्याजिं जिगाय।

५. ५. ६।१२ : दुन्दुभिरिति शब्दानुकरणम्, द्रुमो भिन्न इति वा। इस पर उद्धृत ऋचा (६।४७।२९) में 'उप-श्वासय' शब्द के आधार पर हमने हवा फूंकने का अनुमान किया है। दुर्ग ने इसे चमड़े से मंढा(चर्मणा पिनद्धः) बताया है। स्कन्द ने भी इसे पीटा जाने वाला (ताड्यते ह्यसौ युद्धसमये) बताया है। इस से लगता है कि ये लोग इसका अर्थ दमामा, नगाड़ा (जिसे नक्कारा भी कहते हैं) मानते हैं 'इससे दुम्-दुम् शब्द होता है, जिस के कारण ही इसका दुन्दुभि नाम पड़ा है', यास्क के इस कथन से भी कदाचित् इसी आशय की पुष्टि होती है।

६. ५. ३।१० : शतं दश-दशतः, सहस्रं सहस्वत्। अयुतं, नियुतं, प्रयुतं तत्तदभ्यस्तम्।....स (मेघोऽर्बुदो) यथा महान्बहुर्भवति वर्षंस्तदिवार्बुदम्।

अर्थात् जो बुरा लगे, उसे दुःख कहा जाता होगा[1]। आदर में एक को भी बहुवचन से बोलने की प्रथा थी[2]।

कवि का उस समय पर्याप्त आदर होता था। उसे हर बात को लोकोत्तर दृष्टि से देखने वाला माना जाता था, अर्थात् अपने आस-पास की बातों का भी उसका अध्ययन सामान्य लोगों से बहुत भिन्न तरह का होता था। यों, साधारण तुकबन्दी करने वाले भी कवि ही कहलाते थे[3]।

चन्द्रमा स्वतः प्रकाश नहीं है, अपितु आदित्य की एक रश्मि से ही प्रकाशित है, यह ज्ञान बहुत प्राचीन है। यास्क ने भी इसकी चर्चा की है[4]। आग जलाने के लिए आतिशी शीशे (मणि) का तथा कांसे का प्रयोग किया जाता था। इन में से किसी एक को अच्छी तरह साफ करके उस पर सूर्य की किरणें डाल कर उनको तिरछी तरह से सूखे गोबर पर डालने से आग पैदा की जाती थी[5]। इसी प्रकार आकाशी (अन्तरिक्षीय) बिजली को पकड़ने के साधन, उसकी प्रक्रिया, बिजली के वाहक तथा प्रतिवाहक का ज्ञान भी भली भाँति था। बिजली पानी से भड़क कर आग पैदा कर देती है, इसकी चर्चा भी यास्क ने की है। उन्होंने शरीर (बिजली जिसमें शीर्ण हो जाती है, अर्थात् अपना प्रभाव नहीं दिखला पाती, वह काष्ठ आदि प्रतिघातक=बैड् कण्डक्टर्), शरण (बिजली जिसमें आश्रित हो जाती है, वह गुड् कण्डक्टर्) उदकेन्धन (पानी से दीप्त होने वाली बिजली) आदि पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग किया है[6]।

यास्क ने सुवात (सुवास्तु) नामक पश्चिमी सीमान्त के होती-मर्दान के क्षेत्र में बहने वाली नदी का निर्देश किया है[7]। इसके अतिरिक्त उन्होंने कुछ अन्य नदियों के भी उनसे पुराने तथा उनके समय में प्रचलित नामों की चर्चा की है: परुष्णी (यास्क के समय का नाम इरावती, आधुनिक रावी), आर्जीकीया (यास्क से पहले

१. द्र. ३।१३ : सुखं कस्मात् ? सुहितं खेभ्यः।

२. १२।७ : एता उ त्या उषसः (ऋ. सं. १।९२।१)...एकस्या एव पूजनार्थे बहु-वचनं स्यात्।

३. द्र. १२।१३ : कविः क्रान्त-दर्शनो भवति। कवतेर्वा।

४. द्र. २।६ : अथाप्यस्यैको रश्मिश्चन्द्रमसं प्रति दीप्यते। तदेतेनोपेक्षितव्यम् आदित्यतोऽस्य दीप्तिर्भवतीति।

५. द्र. ७।२३ : उदीचि प्रथम-समावृत्त आदित्ये कंसं वा, मणिं वा, परिमृज्य प्रति-स्वरे यत्र शुष्क-गोमयमसंस्पर्शयन् धारयति, तत् प्रदीप्यते।

६. द्र. ७।२३ : यत्र वैद्युतः शरणमभिहन्ति, यावदनुपात्तो भवति मध्यम-धर्मैव तावद् भवति उदकेन्धनः, शरीरोपशमनः। उपादीयमान एवायं सम्पद्यत उदकोपशमनः, शरीर-दीप्तिः। इस सन्दर्भ की व्याख्या के लिए पृष्ठ ४०३ देखिये।

७. द्र. ४।१५ : सुवास्तुर्नदी।

उरुञ्जिरा भी, यास्क के समय में विपाश्, आधुनिक बियास या ब्यास), सुषोमा (यास्क के समय में सिन्धु, आधुनिक सिन्ध)। इन के अलावा गङ्गा, यमुना, शुतुद्री (आधुनिक सतलुज) का भी नाम-निर्देश तथा निर्वचन मिलते हैं[1]। असिक्नी का आधुनिक नाम ज्ञात नहीं है। सम्भवतः चिनाब को ही प्राचीन काल में असिक्नी कहते रहे हों! इसका पानी काला रहा होगा।

यास्क के समय में कच्छ प्रदेश का नाम सम्भवतः कच्छ नहीं था। उस समय जल-प्लावित नदी-तट कच्छ कहलाता था[2]। इसका अर्थ यह हुआ कि उस समय जल-प्लावित भू-भाग कच्छ कहलाता था। यदि देश का नाम कच्छ हुआ होता, तो यास्क नदी-कच्छ की तरह उसकी भी चर्चा अवश्य करते।

पिता की सम्पत्ति में कन्या का अधिकार[3]। निघण्टु (२।२) में अपत्य (सन्तान) अर्थ में १५ शब्द दिये हैं। इनमें से १ तुक्, २ तोकम्, ३ तोकम, ४ तक्म, ५ शेषः, ६ अप्नः, ७ गयः, ८ जाः, ९ अपत्यम्, १० यहुः, ११ प्रजा, १२ बीजम्—ये बारह शब्द पुत्र और पुत्री में भेद न करते हुए सन्तान-मात्र अर्थ में हैं। शेष १ तनयः, २ सूनुः और ३ नपात् शब्द पुरुष सन्तान के अर्थ में हैं। तनय का स्त्री-लिङ्ग तनया शब्द पुत्री-वाचक होता है। इसका तात्पर्य यह है कि तनय और पुत्र शब्द सामान्यतः सन्तान अर्थ में हैं, सन्तान-विशेष का अर्थ इनके लिङ्ग से निर्धारित होता है।

यास्क (निरुक्त ३।१) के अनुसार अपत्य का निर्वचन-लभ्य अर्थ है :

(क) **अप-ततं भवति**। जो अप (नीचे की ओर) तत (फैली हुई होती) है, अर्थात् पिता और माता से काल की दृष्टि से नीचे फैलाव होने से अप-त्य=अपत्य है। व्याकरण की दृष्टि से अपभवम् अपत्यम्, अप उपसर्ग से तद्धित त्य प्रत्यय भी हो सकता है। अर्थ लगभग वही है।

(ख) **नानेन पततीति वा**। इससे पुरुष गिरता नहीं है। पीढ़ी (पुरुष) का नाम चलता रहता है। अथवा धार्मिक लोगों के अनुसार पुरुष इसके होने से पुत् नामक

---

१. द्र. ९।२६ : इरावतीं परुष्णीत्याहुः। असिक्न्यशुक्लाऽसिता। आर्जीकीयां विपाडित्याहुः। ...पाशा अस्यां व्यपाश्यन्त वसिष्ठस्य मुमूर्षतः। तस्माद्विपाडुच्यते पूर्वमासीदुरुञ्जिरा।। सुषोमा सिन्धुर्यदेनामभिप्रसुवन्ति नद्यः। इस सन्दर्भ की व्याख्या के लिये पीछे पृष्ठ ३१९-३२२ देखें।

२. द्र. ४।१८ : अयमपीतरो नदी-कच्छ एतस्मादेव, कमुदकम्, तेन छाद्यते।

३. इस विषय पर विचार यद्यपि पीछे कन्या के विवरण के प्रकरण में ही प्रसङ्ग-प्राप्त था, तथापि विस्तृत तथा शैली-भेद होने के कारण से वहाँ इस का सार-मात्र देकर अब विस्तरेण विचार करना उचित है। यह विवेचन निरुक्त ३।१–६ पर आधारित है।

नरक में नहीं गिरता[1]। अतः अ-पत्य>अपत्य है।

जहां तक वंश के चलने, नीचे की तरफ फैलाव का प्रश्न है, अपत्य अपने उत्पादक पिता का वंशवर्धन करता ही है; परन्तु उससे कुछ परिस्थितियों में दूसरे की वंशवृद्धि भी धर्म एवं समाज द्वारा अनुमोदित है। पुरुष अपत्य अपने जनक से भिन्न किसी व्यक्ति के द्वारा अपना पुत्र बना (मान) लिए जाने पर अपने उत्पादक की वंशवृद्धि न करके पुत्र मानने वाले की वंशवृद्धि करता है। स्त्री अपत्य सामान्य परिस्थितियों में अपने उत्पादक की वंशवृद्धि नहीं करती, अपितु अपने पति कुल को वंशवृद्धि करती है। असामान्य परिस्थितियों में, मसलन पिता के वंशवर्धक पुत्र अर्थात् अपने भाई के न होने पर, पतिकुल में जा कर भी अपने पिता की वंशवृद्धि करती है। आर्य परिवार में पिता की सत्ता ही प्रधान होती थी। माता आगन्तुक होने के कारण उससे नीचा स्थान पाती थी[2]। पुरुष सन्तान अपने जन्मकुल में रह कर ही वंशवृद्धि करता है। उससे उत्पन्न सन्तान उसके कुल को आगे बढ़ाती है; स्त्री सन्तान अपने जन्म-कुल को छोड़ कर अन्य कुल को आगे बढ़ाती है; एतावता स्त्री को क्षेत्र या साधन के रूप में ही समझा जाता रहा है।

ऋग्वेद संहिता के अनुसार प्रधान-रूप से तो अपत्य वही होता है, जो औरस हो। कृत्रिम, दत्तक, क्रीत आदि तो केवल मान कर सन्तोष करने-भर को पुत्र हैं। दूसरे का खून अपना नहीं हो सकता :

परिषद्यं ह्यरणस्य रेक्णो नित्यस्य रायः पतयः स्याम।

न शेषो अग्ने अन्यजातमस्त्यचेतानस्य मा पथो वि दुक्षः॥ ऋ. सं. ७।४।७॥

[दूसरे के धन का परिहार करना चाहिए। हम स्थायी, वास्तविक धन के ही स्वामी बनें। हे अग्नि, दूसरे की सन्तान कभी अपनी सन्तान (शेष) नहीं बन जाती, अनजान, नासमझ की हो जाती हो। हमारी अगत मत बिगाड़ना। अर्थात् दत्तक आदि पुत्र देकर हमारा जीवन मत नष्ट करना]। विश्वामित्र के साथ वैर में १०० पुत्रों के मारे जाने पर वशिष्ठ ऋषि ने अग्नि से पुत्र मांगा। दत्तक (गोद लिया हुआ) क्रीतक (खरीदा हुआ) आदि पुत्रों में से उन्हें कौन सा पुत्र चाहिए, यह अग्नि ने पूछा, तब वशिष्ठ ने उपर्युक्त बात कही है। न केवल इतना ही अपितु :—

नहि ग्रभायारणः सुशेवोऽन्योदर्यो मनसा मन्तवा उ।

अधा चिदोकः पुनरित् स एत्या नो वाज्यभीषाळेतु नव्यः॥ ऋ. सं. ७।४।८॥

---

१. द्र. २।११ : पुत्रः पुरु त्रायते। निपरणाद्वा, पुन्नाम नरकं, ततस्त्रायत इति वा। तु. मनु. ९।१३८ :

पुन्नाम्नो नरकाद् यस्मात् त्रायते पितरं सुतः।

तस्मात् पुत्र इति प्रोक्तः स्वयमेव स्वयम्भुवा॥

२. द्र. १०।२१ : तत्प्रधाना हि यज्ञ-संयोगेन भवन्ति।

—दूसरे का (खून) चाहे जितना सुखदायक ही क्यों न हो, नहीं लेना चाहिए। दूसरे के उदर (क्षेत्र) से उत्पन्न को तो कभी मन से भी अपना नहीं मानना चाहिए। वह एक बार लिया जाने पर भी अपने घर वापस जा सकता है। हमें तो वंशवृद्धि में समर्थ (वाजी) एवं शत्रुओं को दबाने वाला, बिल्कुल नया अर्थात् औरस पुत्र ही आए।

पुत्री भी आकर (जन्म लेकर) अपने घर चली जाती है, इसलिए वशिष्ठ को नहीं चाहिए।

कुछ आचार्यों का मत है कि पुत्री भी पिता की उसी प्रकार अपत्य है, जिस प्रकार पुत्र। अतः पुत्र और पुत्री में जब प्रकृति ने ही कोई भेद नहीं किया है, तब पिता को भी नहीं करना चाहिए। पुत्री भी पिता के अङ्ग-अङ्ग से, हृदय से, वैसे ही उत्पन्न होती है, जैसे पुत्र। अतः पुत्री और पुत्र समान रूप से ही पिता की आत्मा हैं। पिता भी दोनों की ही दीर्घायु की कामना करता है, दोनों को ही प्रेम करता है :

अङ्गादङ्गात् सम्भवसि हृदयादधि जायसे।
आत्मा वै पुत्रनामाऽसि स जीव शरदः शतम्[1] ॥

शास्त्र की दृष्टि से भी गर्भाधान संस्कार के मन्त्रों में पुत्र और पुत्री का कोई भेद दृष्टिगोचर नहीं होता। अतः प्रजनन-यज्ञ (गर्भाधान-संस्कार या गर्भाधान की मैथुन रूप क्रिया) में पुत्र और पुत्री में विशेषता दृष्टिगोचर न होने से वस्तुतः दोनों में कोई भेद नहीं है। फलतः दाय-भाग में भी उनका समान अधिकार ही होना चाहिए। इस विषय में एक पुराना श्लोक भी मिलता है, जिसमें स्वायम्भुव मनु के हवाले से पुत्र और पुत्री का समान रूप से दाय में अधिकार बताया है :

अविशेषेण पुत्राणां दायो भवति धर्मतः।
मिथुनानां विसर्गादौ मनुः स्वायम्भुवोऽब्रवीत्[2] ॥

---

१. यह श्लोक कौषीतकि-ब्राह्मणोपनिषद् (२।११) में इकट्ठा और श.ब्रा. में दो स्थानों पर खण्डशः है। पूर्वार्ध १४।९।४।८ में है। यहां उत्तरार्ध यों है : स त्वमङ्ग-कषायोऽसि दिग्धविद्धामिव मादय। उपर्युद्धृत उत्तरार्ध वहीं २६ में है। यहां पूर्वार्ध यों है : अश्मा भव परशुर्भव हिरण्यमस्तृतम्भव। यास्क ने श.ब्रा. से तो उद्धृत किया नहीं है। वस्तुतः श. ब्रा. की बृहदारण्यकोपनिषद् यास्क के पश्चात् की है।

२. मनुस्मृति में पुत्र और पुत्री की इस रूप में (दायाद के रूप में) समानता का जिक्र नहीं मिलता। पुत्र न होने पर पुत्री के पुत्र अर्थात् दौहित्र को दायाद बताने के प्रसङ्ग में पौत्र और दौहित्र में समानता अवश्य बतलायी गई है :

अपुत्रोऽनेन विधिना सुतां कुर्वीत पुत्रिकाम्।
यदपत्यं भवेदस्यां तन्मम स्यात्स्वधा-करम् ॥ ९।१२७ ॥

अन्य आचार्यों का मत है कि पुत्री दायाद[1] नहीं है। मैत्रायणी संहिता (४।६। ४) में स्पष्ट शब्दों में कहा है : यद्दच्छन्ति स्थालीं न दारुमयम्, तस्मात् पुमान्दायादो-ऽदायादा स्त्री । अथ यत्स्थालीं परास्यन्ति हवन-कर्मणः । न तया जुह्वति; न दारुमयं परास्यन्ति हवन-कर्मणः । दारुमयेनैव जुह्वति । तस्मात् स्त्रियं जातां परास्यन्ति = परस्मै प्रयच्छन्ति, न पुमांसम्[2] ।

यज्ञ में स्थाली (चरु आदि पकाने की बटलोई) स्त्री का प्रतीक है, और लकड़ी का बर्तन (दारुमय) पुरुष का। स्थाली-पाक के बाद स्थाली में से पका हुआ पदार्थ निकाल कर दारुमय में डाल लिया जाता है और स्थाली छोड़ दी जाती है। दारुमय का यज्ञ में उपयोग होता है। इसी प्रकार पिता कन्या को अपने से दूर (परा) कर देता है (अस्यन्ति), उसे किसी पुरुष को दे देता है।

स्त्री का यह परासन अन्यत्र तीन प्रकार से बताया है :

(क) दान। उपर्युक्त प्रकार से विवाह विधि द्वारा स्त्री-सन्तान को किसी पुरुष को दे देना। यह विवाह दो प्रकार से होता है।

(अ) जब पिता अलङ्कृत कन्या को वर के साथ विवाह करके दे देता है, तब दानरूप विवाह। इसके अन्तर्गत ब्राह्म, दैव और प्राजापत्य विवाह आते हैं।

(आ) वर से कुछ शुल्क लेकर पिता जब कन्या का वर से विवाह करता है, तब यह विवाह ही विक्रय कहलाता है। इस विवाह के अन्तर्गत आर्ष और आसुर विवाह आते हैं।

(ख) विक्रय। ऊपर बताया (आ) प्रकार का विक्रय विवाह ही कन्या के परासन का दूसरा प्रकार है।

(ग) अतिसर्ग अर्थात् अधिकार का त्याग। यह भी दो प्रकार का होता है :

(अ) जब पूर्व-निर्धारित कार्यक्रम के अनुसार आमन्त्रित बहुत से लोगों को छूट दे दी जाती है कि उनमें जो भी अपने को योग्यतम प्रमाणित कर सके, वही कन्या को पत्नी के रूप में ले जाये।

यथैवात्मा तथा पुत्रः पुत्रेण दुहिता समा।
तस्यामात्मनि तिष्ठन्त्यां कथमन्यो धनं हरेत् ॥ १३० ॥
दौहित्र एव च हरेदपुत्रस्याखिलं धनम् ॥ १३१ ॥
पौत्र-दौहित्रयोर्लोके न विशेषोऽस्ति धर्मतः।
तयोर्हि माता-पितरौ सम्भूतौ तस्य देहतः ॥ १३३ ॥
पौत्र-दौहित्रयोर्लोके विशेषो नोपपद्यते।
दौहित्रोऽपि ह्यमुत्रैनं सन्तारयति पौत्रवत् ॥ १३६ ॥

१. दायं भागमा ददातीति दायादः पुत्रः, दायादा स्त्री। दाय+आ+√दा।

२. तु. मै. सं. ४.६।४, ७।९। का. सं. २०।६। तै. ब्रा. ६।४।११।

(आ) पूर्वनिर्धारित कार्यक्रम में आमन्त्रित बहुत से लोगों में से अपनी पसन्द के अनुसार पति चुनने की छूट कन्या को दे दी जाये[1]।

इन दोनों विधियों में पिता कन्या पर अपने अधिकार को त्याग देता है।

चूंकि दान, विक्रय तथा अतिसर्ग केवल स्त्रियों के ही होते हैं, पुरुष के नहीं, इस लिए दाय का अधिकार स्त्री को नहीं है; केवल पुत्र को ही है। अर्थात् दूसरे के कुल की वृद्धि करने वाली दुहिता को स्वेच्छया यौतक (दहेज) के रूप में तो स्नेहवश जो कुछ दे दिया जाये, सो ठीक है; किन्तु उसे अपनी सम्पत्ति का हिस्सेदार बनाया जाये, यह उचित नहीं है। अतः उसका दाय-भाग में अधिकार ही नहीं रखा गया है।

इस पर अन्य आचार्यों का कथन है कि उपर्युक्त परासन तो पुरुष सन्तान का भी देखा जाता है। क्योंकि धर्मशास्त्र में पुत्र दत्तक लेने का जो विधान है, वह पुत्र का उसके पिता के द्वारा किसी पुरुष को दान ही तो है। धर्मशास्त्र के अनुसार इस प्रकार का दत्तक पुत्र अपने सम्प्रदान पिता की ही वंशवृद्धि करता है, न कि देने वाले जन्मदाता पिता की। विक्रय भी अजीगर्त सौयवसि के द्वारा अपने मध्यम पुत्र शुनःशेप का किया गया था, यह ब्राह्मणों में वर्णित है[2]। अतिसर्ग अर्थात् अधिकार का त्याग भी विश्वामित्र के द्वारा अपने ४९ पुत्रों को त्यागने के रूप में शास्त्र में मिल जाता है। अतः दुहिता को दायाद न मानने के जो हेतु दिये हैं, व्यभिचारी होने से वे उक्त आशय को सिद्ध करने में असमर्थ हैं।

इस पर तीसरा पक्ष यह है कि सामान्यतः तो दायाद पुत्र ही है। वेद (वा॰ सं. ८।५) में भी स्पष्ट रूप में कहा गया है : **पुमान् पुत्रो जायते, विन्दते वसु, अथा विश्वाहाऽरप एधते गृहे**। पुरुष सन्तान उत्पन्न होती है,(पैत्रिक) धन को पाती है, तथा सदा पापरहित वह अपने घर में फलती-फूलती है।

जहाँ तक पुरुष अपत्य के परासन का सम्बन्ध है, एक तो यह परासन प्रायिक नहीं है। दूसरे, दत्तक आदि के विधान में ऐसे दत्तक, विक्रीत या अतिसृष्ट पुत्र को जन्मदाता का दायाद नहीं माना जाता है[3]। दत्तक आदि पुत्र उन्हें लेने वाले पुरुष के

---

१. द्र. ३।४ पर दुर्गाचार्य की टीका।

२. द्र. ऐ. ब्रा. ७।१५, पृ. ८४५ : सोऽजीगर्तं सौयवसिमृषिमशनया परीतमरण्य उपेयाय। तस्य ह त्रयः पुत्रा आसुः—शुनःपुच्छः, शुनःशेपः, शुनोलाङ्गूल इति। स होवाच–ऋषेऽहं (हरिश्चन्द्र-पुत्रो रोहितः) ते शतं ददामि। अहमेषामेतेनात्मानं निष्क्रीणा इति। स ज्येष्ठं पुत्रं निगृह्णान उवाच—नन्विममिति। नो एवेममिति। कनिष्ठं माता। तौ ह मध्यमे सम्पादयाञ्चक्रतुः शुनःशेपे। तस्य ह शतं दत्त्वा स तमादाय सोऽरण्याद् ग्राममेयाय।

३. गोत्ररिक्थे जनयितुर्न हरेद्दत्रिमः क्वचित्।
गोत्ररिक्थानुगः पिण्डो, व्यपैति ददतः स्वधा॥ मनु. ९।१४२॥

ही पुत्र और दायाद माने जाते हैं[1]। अतः ऐसी स्थिति में स्थित अर्थात् जामाता को दत्त, विक्रीत या अतिसृष्ट कन्या दायाद कैसे हो सकती है ? हां, यदि किसी के पुत्र नहीं है, केवल स्त्री सन्तान ही है, तब तो अन्य सम्बन्धियों की अपेक्षा निकटतम होने से पुत्री ही दायाद होती है। निम्नलिखित मन्त्रों से यही स्पष्ट होता है :

अमू र्या यन्ति जामयः* सर्वा* लोहितवाससः।
अभ्रातर इव *योषास्तिष्ठन्ति* हतवर्त्मनः*[2] ॥

यहां भाई से रहित स्त्री का मार्ग नष्ट हो जाता है, तथा वे अपने पिता के सन्तानोचित कर्मकाण्ड—और्ध्वदेहिक क्रिया और पिण्डदान–के लिए अपने पिता के यहां ही रह जाती है, उसका विवाह नहीं होता और वह अपने पिता के दाय की अधिकारी होती है, यह बतलाया है।

अभ्रातेव पुंस एति प्रतीची गर्तारुगिव सनये धनानाम्।
जायेव पत्य उशती सुवासा उषा हस्रेव निरिणीते अप्सः ॥ ऋ.सं. १।१२४।७ ॥

इस मन्त्र में भ्राता-रहित स्त्री का विवाह हो भी जाता है, तो वह अपने पिता के वंश में वृद्धि के लिए वापिस आ जाती है, अर्थात् उसका पुत्र अपने नाना के वंश का ही कहलाता है, यह बताया है।

वस्तुतः अभ्रातृमती स्त्री भी स्वयं दायाद नहीं होती, अपितु उससे उत्पन्न दौहित्र ही अपने अपुत्र नाना का दायाद होता है, यह निम्नलिखित मन्त्र में स्पष्ट रूप से बताया है :

शासद् वह्निर्दुहितुर्नप्त्यं गाद् विद्वाँ ऋतस्य दीधितिं सपर्यन्।
पिता यत्र दुहितुः सेकमृञ्जन्त्सं शग्म्येन मनसा दधन्वे ॥ ऋ. सं. ३।३१।१ ॥

इस मन्त्र में बताया गया है कि अपनी पुत्री के लिए वर ढूंढता हुआ पिता उसे प्रदान करने से पूर्व ही वर से समझौता करके शान्त मन से युक्त हो जाता है। वह अपनी दुहिता के पुत्र को ही अपना नप्त्य (पौत्रभावापन्न) समझ लेता है। इससे स्पष्ट है कि पुत्री का पुत्र भी उसका पौत्र तब बनेगा, जब अपने भावी जामाता से वह यह बात तय कर लेता है[3]। इस तय करने को ही धर्मशास्त्र में पुत्रिका-धर्म कहा गया है। इस प्रकार की दुहिता पुत्रिका कहलाती है।

---

१. औरसः क्षेत्रजश्चैव दत्तः कृत्रिम एव च।
गूढोत्पन्नोऽपविद्धश्च दायादा बान्धवाश्च षट् ॥ मनु. ९।१५९॥

२. यह अथर्ववेद की किसी अनुपलब्ध शाखा का मन्त्र है। शौनक-शाखा (१।१७।१) में तारकाङ्कित शब्दों के स्थान में क्रमशः ये शब्द हैं : योषितो, हिरा, जामयः, तिष्ठन्तु, हतवर्चसः।

३. द्र. ३।५ पर आचार्य दुर्गसिंह की प्रशस्त टीका।

न जामये तान्वो रिक्थमारैक् चकार गर्भं सनितुर्निधानम् ।
यदी मातरोऽजनयन्त वह्निमन्यः कर्ता सुकृतोरन्य ऋन्धन् ॥ ऋ.सं. ३।३१।२ ॥

सहोदर भाई अपनी बहिन को दाय का भाग नहीं देता है; अपितु उसे उसके पति का गर्भ धारण करने वाली बना देता है; अर्थात् बहिन के विवाह-योग्य अवस्था में आने पर उसका विवाह अपने खर्चे से कर देता है। यदि माताएँ (अलग-अलग, कोई) पुत्र उत्पन्न करती हैं, और कोई पुत्री, तो भली-भाँति पालित, पोषित इन दोनों में से कर्ता अर्थात् वंशधर और (पुत्र ही) होता है; दूसरा (पुत्री) तो पाल-पोषकर दे दिया जाता है। भ्रातृमती दुहिता दायाद नहीं है, यह इस मन्त्र में स्पष्ट प्रतिपादित है। धर्मशास्त्र में भी इसी मन्त्र के आधार पर कहा गया है :

स्वेभ्योंऽशेभ्यस्तु कन्याभ्यः प्रदद्युर्भ्रातरः पृथक् ।
स्वात्स्वादंशाच्चतुर्भागं पतिताः स्युरदित्सवः ॥ मनु. ९।११८ ॥
असंस्कृतास्तु संस्कार्या भ्रातृभिः पूर्व-संस्कृतैः ।
भगिन्यश्च निजादंशाद्दत्वांऽशं तु तुरीयकम् ॥ या. स्मृ. २।८।१२४ ॥

यदि दुहिता को पुत्रिका बना कर विवाह करने पर पिता के पुत्र हो जाये, तब पुरुष की सम्पत्ति का बड़ा भाग पुत्रिका का तथा छोटा भाग उस पीछे उत्पन्न हुए पुत्र अर्थात् पुत्रिका के नवजात भाई का होता है[1]।

अथवा निरुक्त के ज्येष्ठम् पुत्रिकाया इत्येके वाक्य की व्याख्या यह करनी चाहिए कि पुत्रिका की भी सब से बड़ी सन्तान ही मातामह की वंशधर होती है, और फलतः वही दाय भाग की भी अधिकारी होती है[2]। पुत्रिका की अन्य सब सन्तान तो अपने पिता की ही वंशधर होती हैं। अतः उनका अपने नाना की सम्पत्ति में कोई हिस्सा नहीं होता।

---

१. मनुस्मृति (९।१३४) में इससे भिन्न मत प्रकट किया गया है :

पुत्रिकायां कृतायां तु यदि पुत्रोऽनु जायते ।
समस्तत्र विभागः स्याज्ज्येष्ठता नास्ति हि स्त्रियाः ॥

२. अपुत्र नाना की सम्पत्ति का अधिकारी चूँकि दौहित्र ही होता है, अतः यहाँ 'प्रथम सन्तान' का अभिप्राय 'पहली पुरुष सन्तान' समझना चाहिए :

मातुस्तु यौतकं यत्स्यात् कुमारीभाग एव सः ।
दौहित्र एव च हरेदपुत्रस्याखिलं धनम् ॥ मनु. ९।१३१ ॥

पुत्रिकाधर्म में सो पुरुष सन्तान ही नाना की होगी, यही शर्त तय होती है :

अभ्रातृकां प्रदास्यामि तुभ्यं कन्यामलङ्कृताम् ।
अस्यां यो जायते पुत्रः स मे पुत्रो भवेदिति ॥ मनु . ९।१२७ पर क्षेपक ॥

यहाँ 'स मे पुत्रः' में 'पुत्रः' का तात्पर्य 'पौत्रः' से ही है।

अध्याय २७

यास्क का दर्शन

दर्शन क्या है ? अपने दैनिक जीवन में मनुष्य को अनेक प्रकार की कठिनाईयों का सामना करना पड़ता है; पर जीवन के प्रति अदम्य लालसा उसे इन सब पर विजय पाने को बराबर प्रोत्साहित और प्रेरित करती रहती है। अपने अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग साधनों के बल-बूते पर वह इन कठिनाईयों से लोहा लेता रहता है। जीवन-सङ्ग्राम इस प्रकार अविराम गति से चलता रहता है। पर कई बार मनुष्य को लगता है कि उस के ये सारे साधन नश्वर है। इन पर वह एकान्ततः निर्भर नहीं कर सकता। मनुष्य की अपरिहार्य नियति मृत्यु है[1]। अपना बिल्कुल निजी शरीर तक प्रति-पल शीर्ण और क्षीण होता रहता है[2]। शरीर की अपेक्षा भी अधिक निजी और अन्तरङ्ग मन तक उसे विविध विषयों के पीछे दौड़ा कर कष्ट एवं दुःख ही देता है। मनुष्य बड़े बड़े मन्सूबे बांधता है[3], पर वे सब उसे सन्ताप ही देते हैं[4]। यह घर-गिरस्ती, जिसे तृप्त और सन्तुष्ट करने के लिए मनुष्य अपने गले में सौ झञ्झटों के तौंक बांधता है, जी-जान लड़ा देता है, अपनी सुख-सुविधाओं को भी इस पर न्योछावर कर देता है, अन्त में उसे अतृप्त, असन्तुष्ट और चिर-बुभुक्षित ही प्रतीत होती है[5]। उसे लगता है : सर्वं दुःखं विवेकिनः। ऋग्वेद संहिता के ऋषि की यही नियति हुई[6]; उपनिषदों के मुनियों को अन्ततः इसी निष्कर्ष

१. द्र. निरुक्त ३।१५ : मर्त्यो मनुष्यो मरण-धर्मा। आगे निरुक्त के उद्धरणों में सन्दर्भों का सङ्केत-भर दिया गया है। अतः नाम-निर्देश से रहित तथा केवल अङ्कों वाले उद्धरण निरुक्त से समझें।

२. द्र. ३।५ : शरीरं शृणातेः, शम्नातेर्वा।

३. द्र. ऋ.सं. १।१७९।५ : पुलुकामो हि मर्त्यः। ६।४ : पुलुकामः पुरुकामः।

४. द्र. ४।६ : सन्तपन्ति माऽऽध्यः कामाः।

५. द्र. ४।५ : दुरोण इति गृह-नाम—दुरवा भवन्ति, दुस्तर्पाः।

६. द्र. ऋ. सं. १।१७९।१ : मिनाति श्रिय जरिमा तनूनाम्। और वहीं २ : ये चिद्धि पूर्वं ऋत साप आसन्त्साकं देवेभिरवदन्नृतानि। ते चिदवासुर्नह्यन्तमापुः....॥ ऋ. सं. १।१०५।६-८ : कदर्यम्णो महस्पथाऽति क्रामेम दूढ्यः....॥ तं मा व्यन्त्याध्यो वृको न तृष्णजं मृगम्....॥ मूषो न शिश्ना व्यदन्ति माध्यः स्तोतारं ते शतक्रतो ॥

पर पहुँचना पड़ा[1]; गौतम शाक्यसिंह और महावीर वर्धमान को भी जीवन की इसी भयानकता ने व्याकुल किया था।

जीवन पर मृत्यु की यह विजय मनुष्य को गम्भीर बना देती है। वह जीवन की इन विषमताओं के गूढ रहस्यों पर सोचने को, चिन्तन-मन्थन करने को, बाध्य हो जाता है। उसकी चिन्तना अन्तर्मुखी हो जाती है। अपने और जगत् के अस्तित्व में वह कोई ऐसा तार खोजने लगता है, जो उसे मृत्यु से, जीवन के दुःखों के विषाद से, अतियोग से हुई जर्जरता से मुक्ति दिला सके, और इस प्रकार उसे अपनी जीवन भर की कमाई हुई वेदना—असन्तुष्टि—से निजात दिला सके। जीवन सङ्घर्ष की निरर्थकता से खिन्न हुए उसके मन को शान्ति दिला सके।

अपने जीवन पर दृष्टि डालने पर उसे निम्न तीन बातें स्पष्ट दिखाई देती हैं :

१. जब वह इच्छाओं का दास हो जाता है, तब उसे असन्तोष के कारण दुःख ही दुःख मिलता है। वह अपने सुख के मार्ग से भटक जाता है[2]।

२. जब वह अपनी इच्छाओं का स्वामी हो जाता है, इच्छाओं और उनके औचित्य में ताल-मेल बैठा लेता है, तब उसे सन्तोष एवं तृप्ति अनुभव होती दिखाई देती है; परन्तु मृत्यु के भय से मुक्ति उसे फिर भी नहीं मिलती[3]।

३. इस स्थिति में वह जगत् की वास्तविकता तथा अपने महत्त्व को कुछ-कुछ समझने तो लगता है, पर चिरन्तन शान्ति का स्रोत अभी उससे दूर ही रहता है। वह पुनः चिन्तन-मनन की शरण लेता है। वह समय को बीतते देखता है; उसके बीतने में ही जगत् के बीतने का साक्षात्कार उसे होता है[4]। काल, जगत् और अपने बीच विद्यमान सम्बन्ध-सूत्र का अनुसन्धान करता-करता मनुष्य अन्ततः स्व पर, अपने स्वयं के अस्तित्व के रूप पर—स्व रूप पर—आकर टिकता है। वह पाता है कि जगत् की बहुत सी बातें, जो पहले उसे अस्त-व्यस्त, त्रस्त, परास्त और दुःखी कर डालती थीं, अब उतना पराभूत नहीं कर पातीं। इस का कारण खोजने पर वह पाता है

---

१. श्वोभावा मर्त्यस्य यदन्तकैतत् सर्वेन्द्रियाणां जरयन्ति तेजः।
न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यो ..॥ कठोपनिषद् १।१२६-२७॥
अजीर्यताममृतानामुपेत्य जीर्यन्मर्त्यः क्वधस्थः प्रजानन्।
अभिध्यायन्वर्णरतिप्रमोदानतिदीर्घे जीविते को रमेत॥ २८॥

बृहदारण्यकोपनिषद् १.४।१ : मृत्युनैवेदमावृतमासीदशनायया। अशनाया हि मृत्युः। १।४।२ : अमृतत्वस्य तु नाशाऽस्ति वित्तेनेति।

२. बृ. १४।६: यदि काममनुरुध्यते, सञ्च्यवते।

३. बृ. १४।६ : यदि धर्ममनुरुध्यते, तद्देवो भवति।

४. बृ. २।२५ : कालः कालयतेर्गतिकर्मणः। १४।४-५ : स कालः.... तं परिवर्तमानमन्योऽनुप्रवर्तते।

कि वह ऊपरी तौर पर तो वही है, जगत् भी वही है, केवल उसने अपनी राग-द्वेषात्मिका वृत्तियों का ही कुछ अंशों में समाहार कर लिया है। इससे वह यह निष्कर्ष निकालता है कि सुख और दुःख वास्तविक नहीं है; वे उसके चित्त में स्थित राग और द्वेष का ही परिणाम हैं; वे अपरिहार्य नहीं हैं। वह मन से भी ऊपर उठने का प्रयत्न करता है; मन से भी सूक्ष्म और सबल तत्व की खोज करता है। जगत् और स्वयम् को समझने के लिये किये जाने वाले इस प्रयत्न का नाम ही दर्शन है। इस की चरम् उपलब्धि अर्थात् अपने आपको समझ लेने को ही ज्ञान कहते हैं। अपनी वास्तविकता को समझ कर मनुष्य बन्धन और मोक्ष, मृत्यु और अमृतता को भली-भाँति समझने पर अपने चिरन्तन शत्रु (मृत्यु) के भय से मुक्त हो जाता है[1]। ऐसी स्थिति में तो अमृत और ज्ञान शब्द जैसे पर्याय ही बन जाते हैं[2]।

यास्क के समय तक आत्मचिन्तन की यह पद्धति एक प्रशस्त राजमार्ग बन चुकी थी। आज जिस प्रकार दर्शन बिना पढ़ाये-लिखाये ही जन-जन के संस्कारों में घुल-मिल गया है; ठीक यही स्थिति, हमारे विचार में यास्क के समय में भी रही होगी। यास्क प्रधान रूप से वैदिक देव-विद्या के एक प्रमुख आचार्य हैं। इस शास्त्र को लिखते समय दर्शन इनका प्रधान विषय नहीं है। अतः इस ग्रन्थ में हमें उनके दार्शनिक विचार भी इधर-उधर बिखरे, अर्थात् निर्वचनों और विशेष कर मन्त्रों की व्याख्याओं में ही ओत-प्रोत मिलेंगे, स्वतन्त्र रूप से नहीं। हाँ, चौदहवें अध्याय को अवश्य उन्होंने अपनी दार्शनिक विचार धारा को स्पष्ट करने के लिए ही लिखा है। प्रकृत अध्याय में इन सब स्रोतों का दोहन करके हम उनके उन विचारों को स्पष्ट करने का प्रयास करेंगे।

दर्शन-शास्त्र का प्रधान विषय इस विशाल जगत् के आदि कारण का पता लगा कर उसके साथ अपने सम्बन्ध को जानना है। सृष्टि के मूल के विषय में जो निष्कर्ष मनीषियों ने निकाले हैं, उन्हें हम निम्न तीन श्रेणियों में बाँट सकते हैं।

(१) जगत् के मूल में चेतन और जड़ (अचेतन)—ये दो प्रकार के तत्व निहित हैं। ये तत्व एक-दूसरे से निरपेक्ष रूप से स्वतन्त्र एवं पृथक् होते हुए भी आपस के सहयोग से ही जगत् का निर्माण और सञ्चालन करते हैं।

(२) अचेतन तत्व से ही यह वैविध्यपूर्ण जगत् बना है। वही कभी ऐसी अवस्था धारण कर लेता है, अपने वास्तविक रूप से इतना भिन्न हो जाता है, कि हमें उसे अचेतन न कहकर चेतन कहना पड़ता है। चेतन अचेतन का ही परिणाम है; उससे पृथक् स्वतन्त्र सत्ता नहीं है।

---

१. द्र. १४।६ : यदि ज्ञानमनुरुध्यते, तदमृतो भवति। और १४।१० : अबन्धो ज्ञानकृतः।

२. द्र. ३।१२ : अमृतस्य मार्गं ज्ञानस्य।

(३) जगत् के मूल में चेतन ही वास्तविक तत्त्व है। वह अचेतन के रूप में प्रतीत होता है; अचेतन का स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है[1]।

यास्क इनमें से तीसरी श्रेणी को मानते हैं। देवता के रूप में स्तुत सूर्य, चन्द्र, इन्द्र आदि जागतिक पदार्थ वस्तुतः एक ही तत्त्व हैं। जागतिक दृष्टि से भिन्न-भिन्न कार्य करने के कारण अलग-अलग प्रतीत होते हैं तथा अलग-अलग नामों से स्तुत हैं[2]। यास्क एकात्म-वादी हैं यह हम पीछे बाईसवें अध्याय में विस्तरेण देख चुके हैं। 'देवेतर जगत् भी एक आत्मा से पूर्ण है.' यास्क यही मानते हैं[3]।

यास्क के अनुसार आत्मा का अर्थ होता है : सर्व-व्यापक और निरन्तर गतिशील तत्त्व[4]। व्यापक तो अचेतन भी है : प्रकृति प्रत्येक कार्य में व्याप्त है, अतः सर्व-व्यापक है। परन्तु अतन (निरन्तर गति) चेतन की ही विशेषता है। जड़ तत्त्व कार्य रूप में जब है, तब तो नश्वर है; निरन्तर ही नहीं है, गति तो दूर की की बात है। कारण रूप में जब है, तब उसे प्रथम तो गति की अपेक्षा ही नहीं है, दूसरे, स्वभाव से भी वह स्वतन्त्र गति नहीं कर सकती। अतः यास्क को सम्मत आत्मा चेतन तत्त्व ही है। परन्तु अचेतन को भी व्यापकता के कारण आत्मा कह दिया जाता है। यास्क ने भी आत्मा शब्द का प्रयोग कई अर्थों में किया है :

१ सजीव शरीर। यास्क ने अथाध्यात्मम्, इत्यात्म-प्रवादाः कह कर की गई व्याख्याओं में मन्त्रों के अर्थ को जीव-युक्त शरीर पर घटाया है। वस्तुतः

१. द्र. उदयवीर शास्त्री, साङ्ख्य-सिद्धान्त, प्रथमावृत्ति, पृष्ठ २।

२. द्र. ७।४ : माहाभाग्याद्देवताया एक आत्मा बहुधा स्तूयते। एकस्यात्मनोऽन्ये देवाः प्रत्यङ्गानि भवन्ति। १३।१ : अथेमा अतिस्तुतय इत्याचक्षते। अपि वा सम्प्रत्यय एव स्यान्माहाभाग्याद्देवतायाः।

३. द्र. २।३ : पुरुषः पुरि-षादः, पुरि-शयः, पूरयतेर्वा, पूरयत्यन्तरित्यन्तर-पुरुषमभिप्रेत्य—यस्मात्परं नापरमस्ति किञ्चिद्यस्मान्नाणीयो न ज्यायोऽस्ति कश्चित्।

वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येकस्तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम्॥

इत्यपि निगमो भवति।

४. द्र. ३।१५ : आत्माऽततेर्वा, आप्तेर्वा, अपि वाऽऽप्त इव स्याद् यावद्-व्याप्तिभूत इति। पाशुपत-सूत्र (५।२) पर कौण्डिन्य-भाष्य में उद्धृत निम्न श्लोक से तुलना करें :

यदाप्नोति, यदादत्ते, यच्चात्ति विषयान् पुनः।
यच्चास्य सततं भावस्तस्मादात्मेति सञ्ज्ञितः॥

कुछ पाठान्तर के साथ यह श्लोक लिङ्ग-पुराण (१।७०।९६) में भी मिलता है। शङ्कराचार्य ने कठोपनिषद् (२।१।२) के भाष्य में भी कुछ पाठान्तर से इसे उद्धृत किया है।

इस अर्थ में आत्मा शब्द का प्रयोग प्राचीन काल में प्रचुर मात्रा में हुआ है[1]। अध्यात्म का अर्थ ही शरीर के बारे में होता था। यास्क भी उसी परम्परा में हैं।

यास्क शरीर में दो तत्त्व मानते हैं :

(क) स्थूल शरीर। यह इन्द्रियों, प्राणों, मन आदि से युक्त है; नश्वर है और विभिन्न क्रियाओं का साधन है। यास्क ने ऋक् (१३।११), पुर् (२।३), बुध्न (१०।४४) और सद (१२।३७) शब्दों का प्रयोग भी शरीर अर्थ में किया है। इन्द्रिय इसके द्वारा—इस में स्थित होकर—आत्मा की अर्चा करती हैं, इस लिए ऋक् कहा गया है : शरीरमत्र ऋगुच्यते, यदेनेनार्चन्ति प्रत्यृचः-सर्वाणीन्द्रियाणि। इसी आशय का पल्लवन किसी भक्त कवि ने निम्न प्रकार से किया है।

आत्मा त्वं, गिरिजा मतिः, सहचराः प्राणाः, शरीरं गृहम्,
पूजा ते विषयोपभोग-रचना, निद्रा समाधि-स्थितिः।
सञ्चारः पदयोः प्रदक्षिण-विधिः, स्तोत्राणि सर्वा गिरो,
यद्यत्कर्म करोमि, तत्तदखिलं शम्भो तवाराधनम् ॥

शरीर को पुर् (आत्मा की नगरी) कहने की परिपाटी भी बहुत प्राचीन है[2]।

---

१. द्र. ऐतरेय ब्राह्मण : २।४० (पृष्ठ २७६-२८३), ४।३ (पृष्ठ ४४६)। पृष्ठ २८२ में प्राण, मन, वागादीन्द्रिय से युक्त पुरुष को 'आत्मा समस्तः' कहा गया है : आत्मा वै समस्तः महस्वांस्तोकवान्पुष्टिमान्। आत्मानमेव तत्समस्तं सम्भावयति; आत्मानं समस्तं संस्कुरुत इति। यहाँ सायण : अत्र समस्तः पूर्वोक्तः प्राण-मनो-वागादिभिः सर्वैरिन्द्रियैः सम्पूर्ण आत्मा वै पुरुष एव..। ऐतरेय आरण्यक : १।३।३, ६, ८; २।१।२, ५; ३।१।१, २, २।२। शाङ्खायन ब्राह्मण : ३।४; ७।४,८; ९।३; १८।४। शा. आरण्यक : ४।१२; ६।२, १०; ७।२, ४-७, २१; ८।२। शतपथ, जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मणों और तैत्तिरीय आरण्यक में अनेकों बार 'अध्यात्म' और 'आत्मन्' शब्दों का इन अर्थों में प्रयोग हुआ है।

२. गर्भे नु सन्नन्वेषामवेदमहं देवानां जनिमानि विश्वा।
शतं मा पुर आयसीररक्षन्नध श्येनो जवसा निरदीयम् ॥ ऋ.सं ४।२७।१ ॥
पुरं यो ब्रह्मणो वेद यस्याः पुरुष उच्यते ॥ अ. सं. १०।२।२८ ॥
यो वै तां ब्रह्मणो वेदामृतेनावृतां पुरम् । २९ ॥
अष्टाचक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या।
तस्यां हिरण्ययः कोशः स्वर्गो ज्योतिषावृतः ॥ ३१ ॥
प्रभ्राजमानां हरिणीं यशसा संपरीवृताम्।
पुरं हिरण्ययीं ब्रह्मा विवेशापराजिताम् ॥ ३३ ॥

इस आशय का साहित्यिक रूप में परिबृंहण श्रीमद्भागवत (४।२५-२९) के पुरञ्जनाख्यान में बड़े रोचक ढंग से किया गया है।

इसमें प्राणों के बंधे पड़े होने के कारण इसे बुध्न कहा गया है[१]। आत्मा का सदन होने से ही, सम्भवतः, शरीर को सद कहा गया है[२]।

शरीर में बुद्धि और उसके अधीन कतिपय इन्द्रिय स्थित हैं[३]। इन्द्रिय दो प्रकार की हैं : कर्म वाली (कर्मेन्द्रिय) और प्रकाशन वाली (ज्ञानेन्द्रिय)[४]। इन्द्रिय कुल छह बताई हैं। इनका परिगणन नहीं किया गया है। हमारे विचार में पाँच विशेष इन्द्रिय तथा एक मन सामान्य इन्द्रिय, इस प्रकार छह इन्द्रिय हैं। बुद्धि को भी कभी-कभी इन्द्रिय का दर्जा दे दिया गया है[५]। ऐसी स्थिति में इन्द्रियों की सङ्ख्या सात बतायी है। यों, बुद्धि छह इन्द्रियों से अतिरिक्त सातवाँ तत्त्व है। वह इन सब की अधिष्ठात्री है[६]। विषयों को प्राप्त करना तथा प्रमाद-रहित हो कर आत्मा की रक्षा करना इन्द्रियों का कार्य है[७]। इस प्रकार मन, इन्द्रिय और बुद्धि से युक्त स्थूल शरीर को आत्मा कहा गया है[८]।

२. यास्क ने एक बार बुद्धि को भी आत्मा कहा है। शरीर के सब तत्त्वों में बुद्धि के ही उत्कृष्ट होने के कारण सम्भवतः ऐसा कहा गया है[९]।

---

१. द्र. १०।४४ : इदमपीतरद् बुध्नमेतस्मादेव बद्धा अस्मिन्धृताः प्राणा इति।

२. द्र. १२।३७ : सप्त रक्षन्ति सदमप्रमादम् (वा. सं ३४।५५) शरीरमप्रमाद्यन्ति।

३. द्र. १२।३७ : सप्त ऋषयः प्रतिहिताः शरीरे—षडिन्द्रियाणि, विद्या सप्तम्यात्मनि।

४. द्र. १४।२५ : इन्द्रियाणि कर्मवन्ति, भानुमन्ति।

५. शु. वा. सं ३४।५५ पर महीधरकृत वेददीप : सप्त ऋषयः....त्वक्-चक्षुः-श्रवण-रसना-घ्राण-मनो-बुद्धि-लक्षणाः....। उव्वट ने न जाने कैसे छह इन्द्रिय और मन सातवाँ कहा है : सप्त प्राणाः षडिन्द्रियाणि मनस्सप्तमानि।

६. द्र. १२।३७ : षडिन्द्रियाणि विद्या सप्तम्यात्मनि।

७. द्र. १२।३७ : षडिन्द्रियाणि विद्या सप्तम्यात्मनि। सप्त रक्षन्ति... शरीरमप्रमाद्यन्ति। सप्तापनानीमान्येव....। ३८ : अत्रासत ऋषयः सप्त सहेन्द्रियाणि, यान्यस्य गोप्तॄणि महतो बभूवुः।

८. द्र. १४।१६ : सह-जातानां षण्णामिन्द्रियाणामात्मा सप्तमः।

९. द्र. वहीं। यहाँ सप्त सङ्ख्या का पूरक आत्मा बुद्धि ही है। कठोपनिषद् (१।३।१३) में भी बुद्धि को आत्मा कहा गया है :

यच्छेद् वाङ् मनसी प्राज्ञस्तद् यच्छेज्ज्ञान आत्मनि।
ज्ञानमात्मनि महति नियच्छेत्तद् यच्छेच्छान्त आत्मनि॥

शु. ऐ. ब्रा. २।४०, पृष्ठ २८२। सन्दर्भ पिछले पृष्ठ पर टि. १ में उद्धृत है।

(ख) ३. जीव। शरीर में स्थित अविनाशी तत्त्व का नाम जीव है[1]। सब इन्द्रिय इसी की अर्चा का साधन हैं। यह बुद्धि के द्वारा कर्म करवाता है[2]। बुद्धि इन्द्रियों को प्रेरित करती है। इन्द्रियाँ कर्म करती हैं। इस प्रकार बुद्धि के माध्यम से इन्द्रियों के साथ एकात्मता स्थापित करके जीव उनके द्वारा किये कर्मों का कर्ता और भोक्ता बन जाता है[3]। इस प्रकार आत्मा बुद्धि से पर—श्रेष्ठ तथा सूक्ष्म—है[4]। यास्क के मत में शरीर में बुद्धि और आत्मा की स्थिति यों है: दोनों शरीर रूपी एक वृक्ष में स्थित हैं। दोनों सुकृत्—धर्मकर्ता हैं। इन में से एक (बुद्धि) विषयों का भोग वस्तुतः करती है, दूसरा (आत्मा) वस्तुतः भोग न करते हुए भी उस (बुद्धि) की समानता—भोक्तृत्व—को प्राप्त कर लेता है[5]।

१. द्र. १३।११ : तस्य यदविनाशिधर्म, तदक्षरं भवति।

२. द्र. १४।१० : प्रज्ञया कर्म कारयतीति।

३. यास्क ने इस के लिए 'तान्यस्मिन्नात्मन्येकं भवन्ति' कहा है। इसका आशय है : वे (इन्द्रियाँ) उस (जीव) आत्मा में एक हो जाती हैं। अपनी पृथक्ता खो देती हैं। आत्मा से अभिन्न-सी हो जाती हैं। आँख देखती है, पर हम कहते हैं : मैं देखता हूँ। यह 'मैं' शरीर, इन्द्रिय, मन और बुद्धि का एकीकृत रूप ही है। शङ्कराचार्य ने इसे ही 'अध्यास' नाम दिया है : अस्मत्-प्रत्यय-गोचरे विषयिणि चिदात्मके युष्मत्-प्रत्यय-गोचरस्य विषयस्य तद्धर्माणां चाध्यासः। (शारीरक भाष्य उपोद्घात)।

४. द्र. १०।२६ : परमश्च सन्दर्शयितेन्द्रियाणाम्। अग्नेन सह सम्मोदन्ते यत्रेमानि सप्त ऋषीणानीन्द्रियाणि। एभ्यः पर आत्मा। तान्यस्मिन्नेकं भवन्ति। १३।११ : इन्द्रियाण्यत्र देवा उच्यन्ते, यान्यस्मिन्नेकं भवन्ति। १४।१३: अयमपि स्वयं कर्माण्यात्मनि धत्ते।

५. द्र. १४।२९ : द्वौ-द्वौ प्रतिष्ठितौ सुकृतौ धर्मकर्तारौ। दुष्कृतं पापं परिसारकमित्याचक्षते। सुपर्णा सयुजा सखायेत्यात्मानं* परमात्मानं प्रत्युत्तिष्ठति। शरीर एव तज्जायते वृक्षम्। (ऋक्षं वृक्षं ?) शरीरम्। वृक्षे पक्षी प्रतिष्ठापयति। तयोरन्यद् भुक्त्वा, अन्यदनश्नन्नन्याम्* सरूपतां सलोकतामश्नुते य एवं वेदानश्नन्नन्योऽभिचाकशीति। इत्यात्मगतिमाचष्टे।

* निरुक्त के चौदहवें अध्याय का पाठ बहुत भ्रष्ट है। इस खण्ड में भी गड़बड़ है। प्रथम तारकाङ्कित स्थान में 'दुरात्मानं' मिलता है, जो लघुपाठ के कोषों में नहीं है। 'दुरात्मानं' की यहाँ कोई अर्थवत्ता नहीं है। अतः हमारी कल्पना है कि यहाँ वस्तुतः 'बुद्धिरात्मानं' पाठ होना चाहिए। द्वितीय तारकाङ्कित स्थान में 'अन्यां' निरर्थक है। 'अन्नं' पाठ सार्थक होने से उचित है। 'सरूपताम्' आदि वाक्य 'वेद' पर समाप्त होना चाहिए, न कि 'अश्नुते' पर (जैसा कि डा. लक्ष्मणसरूप ने माना है)।

४. प्रकृति । इस अर्थ में आत्मा के साथ महान् विशेषण का प्रयोग किया गया है। यह सत्त्व, रजस् और तमस् नामक तीन गुणों अथवा तत्त्वों की समष्टि है[१]। इन में सत्त्व केन्द्र में अर्थात् सब से प्रधान है। रजस् और तमस् उसे घेरे रहते हैं। सत्त्व विशुद्ध है। रजस् भाव- जगत् में काम (इच्छा) का सम-स्थानी है और तमस् तत्त्व द्वेष अर्थात् प्रतिघात का। प्रकृति को भूतात्मा और भूत-प्रकृति बतलाया है। सत्ता विभिन्न धर्मों से युक्त होती है। हम गुणों से रहित, अर्थात् जिसकी किसी भी प्रकार की विशेष अवस्था नहीं हैं, ऐसी सत्ता की कल्पना नहीं कर सकते। अतः ऋ. स. १०।७२।२ में असत् से जिस सत् की उत्पत्ति बताई है (द्र. पृष्ठ ३४६-७), उसे ही यास्क ने यहाँ भूतात्मा और भूत-प्रकृति के रूप में बताया है। वहाँ (१०।७२।४ में) उसका नाम अदिति भी दिया है। यह प्रकृति क्षेत्र है[२]।

५. प्रकृति के महत् नामक साङ्ख्य-दर्शनोक्त विकार को भी यास्क ने महान् आत्मा कहा है[३]।

६. ऊपर बतायी प्रकृति में चैतन्य तत्त्व(सत्त्व[४]) रजस् और तमस् से घिरा होता है[५]। इसका आशय यह है कि प्रकृति में जड़ तत्त्व प्रमुख है, चेतन तत्त्व अप्रकट और जड़ तत्त्व से आवृत है। यही चेतन तत्त्व इस अपने आवरण-रूप जड़ तत्त्व का अधिष्ठाता और रक्षक है। इसे यास्क ने ईश्वर आत्मा के रूप में बतलाया है। वह सब जागतिक ज्ञानों (अतः ज्ञातव्य विषयों तथा ज्ञान के साधनों) का भी आश्रय है[६]।

---

१. वस्तुतः प्रकृति प्रत्यक्ष प्रमाण का विषय नहीं है। अनुमान-गम्य है। कार्य जब है, तो उसका मूल कारण भी कोई होना चाहिये। कार्य जगत् में त्रिगुण ही विषम अवस्था में स्थित हैं; अतः उसका मूल भी त्रिगुणात्मक तो होना ही चाहिये; परन्तु वे तीनों गुण उस अवस्था में सम स्थिति में होने चाहिएं। इस प्रकार 'सत्त्व-रजस्-तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः,' इस सिद्धान्त की स्थापना हुई है।

२. द्र. १४।३ : तन्निष्ठो भूतात्मा। सैवा भूत-प्रकृतिरित्येके। तत्क्षेत्रम्....। अथैष महानात्मा त्रिविधो भवति—सत्त्वं, रजस्, तम इति। सत्त्वं तु मध्ये विशुद्धं तिष्ठति; अभितो रजस्तमसी इति काम-द्वेषः(षौ ?)।

३. द्र. १४।४ : विद्या महान्तमात्मानम् (अप्येति), महानात्मा प्रकृतिम्। तु :
मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान् परः।
महतः परमव्यक्तमव्यक्तात् पुरुषः परः। कठोप. १।३।१०-११॥
इन्द्रियेभ्यः परं मनो मनसः सत्त्वमुत्तमम्।
सत्त्वादधि महानात्मा महतोऽव्यक्तमुत्तमम्॥ २।३।७॥

४. द्र. १४।३ : अथैष .. सत्त्व-लक्षणः, तत्परं ब्रह्म। विवेचन आगे देखिये।

५. द्र. १४।३ : सत्त्वं तु मध्ये विशुद्धं तिष्ठति, अभितो रजस्तमसी....।

६. द्र. ३।१२ : ईश्वरः सर्वेषां भूतानां गोपायिताऽऽत्मा....धीमान्।

७. आत्मा शब्द के ये सब प्रयोग जगत् से सम्बन्धित आत्मा के लिये ही किये गये हैं, यह उपर्युक्त विवरण से बिल्कुल स्पष्ट है। यास्क ने इन सब से ऊपर अर्थात् जगत् के धर्मों से अतीत, अतः सर्व-धर्मातीत, सर्व-गुणातीत तत्त्व को भी महान् आत्मा शब्द से कहा है। सब आत्माओं की अपेक्षा यह आत्मा महत्तम है; अतः वस्तुतः यही आत्मा महान् है। अन्य आत्मा तो इसी के महत्त्व के कारण महान् कहलाते हैं। यह महान् आत्मा सत्त्व-लक्षण है। यहाँ सत्त्व का अर्थ जागतिक सत्ता नहीं है। उस सत्ता में वैविध्य अवश्यम्भावी है। यह सर्व-विध जागतिक विशेषताओं से रहित है। सत्त्व का अर्थ सत्त्व गुण भी नहीं है। क्योंकि गुणरूप सत्त्व प्रकृति अवस्था में ही होता है, तथा सत्त्व है, तो रजस् और तमस् भी होंगे ही। अतः यह निर्विशेष सत् है। विशेष रूप में न होने से जगत् की दृष्टि से सोचने वाले बहुत से तत्त्व-चिन्तक इसे शून्य भी कहते हैं। पर इसे असत् कहें[1], या सत् कहें (जैसे यास्क ने कहा है), या अशेष कहें[2], अथवा शून्य कहें[3], वस्तुस्थिति में कोई अन्तर नहीं पड़ता। वास्तव में तो जब समस्त प्रकृति इस की ही विशिष्ट सत्ता है, तब यह असत् (हमारे जागतिक अर्थ में अभावरूप, non-existant) कैसे हो सकता है? परन्तु सत्ता को हम जिन अर्थों में जानते हैं, वैसी सत्ता इसकी नहीं है।

अतः यह जागतिक विशेषताओं से रहित—निर्विशेष—सत् रूप में ही है। इसे यास्क ने पर ब्रह्म कहा है[4]। ब्रह्म का अर्थ उन्होंने बताया है: जो सब तरह से

---

१. द्र. ऋ. सं. १०।७२।२॥ २. द्र. श्रीमद्भागवत ८।३।२४।

३. बौद्धों का माध्यमिक सम्प्रदाय शून्य-वादी है। इसके लिये नागार्जुनकृत मध्यमक-शास्त्र द्रष्टव्य है। शून्य-वाद में प्रत्येक पदार्थ की उत्पत्ति किसी अन्य कारण पर आधारित मानी जाती है। वे किसी भावात्मक परम कारण को नहीं मानते। इस सिद्धान्त के लिये निम्न श्लोक द्रष्टव्य हैं:

यः प्रत्ययैर्जायति, स ह्यजातो, न तस्य उत्पादु स्वभावतोऽस्ति।
यः प्रत्ययाधीनु, स शून्य उक्तो, यः शून्यतां जानति सोऽप्रमत्तः॥

(मध्यमक-शास्त्र, १३।४, पर प्रसन्न-पदा में अनवतप्त-ह्रदापसङ्क्रमण-सूत्र से उद्धृत बुद्ध-वचन।) मध्यमक-शास्त्र (मिथिला-विद्या-पीठ, दरभङ्गा, २०१६ वि.):

अनिरोधमनुत्पादमनुच्छेदमशाश्वतम्। अनेकार्थमनानार्थमनागममनिर्गमम्॥ १।१॥
यः प्रतीत्य समुत्पादं प्रपञ्चोपशमं शिवम्॥
देशयामास सम्बुद्धस्तं वन्दे वदतां वरम्॥ २॥
यः प्रतीत्य समुत्पादः शून्यतां तां प्रचक्ष्महे।
सा प्रज्ञप्तिरुपादाय प्रतिपत् सैव मध्यमा॥ २४।१८॥
एवं शून्यमुपादानमुपादाता च सर्वशः॥ २२।१०॥

४. द्र. १४।३: अथैष महानात्मा सत्त्व-लक्षणः। तत्परं ब्रह्म।

परिपूर्ण है[1]। यही एक मात्र सत्य है। इदम्, एतावत, इत्थम्—इस प्रकार कह कर इस का स्वरूप नहीं बतलाया जा सकता, इस लिये यह अव्यक्त है। रूप, रस, गन्ध आदि जागतिक गुणों से रहित है। जिस तरह सब वर्णों के होने पर भी किसी एक वर्ण-विशेष के न होने को शुक्ल कहते हैं, उसी तरह सब जागतिक धर्मों का समाहार करने वाली प्रकृति को अपने अन्दर समाहित रखने वाले, परन्तु विशेष (व्यक्त) के रूप में एक भी धर्म को न रखने वाले परम तत्त्व को शुक्ल कहा गया है। भूत-स्वरूप—भूतों का उपादान कारण—प्रकृति इसी में स्थित है। यह हमारे सर्व का आश्रय है[2]।

जहाँ तक जगत् के मूल का सम्बन्ध है, यास्क अस्ति-वादी हैं तथा केवल चेतन को ही जगत् का उपादान और निमित्त कारण मानते हैं। अचेतन के रूप में प्रतीत होने वाला तत्त्व उस से पृथक् नहीं, अपितु उसमें ही निहित है। जगत् नित्य नहीं है, अपितु उत्पत्ति-विनाश-शील है। परम तत्त्व परब्रह्म जगत् की प्रकृति क्यों बनते हैं? अर्थात् जगत् की रचना क्यों होती है? इस प्रश्न पर यास्क ने स्पष्ट रूप में कुछ कहा हो, ऐसा हमें दिखाई नहीं देता। हाँ, एक पङ्क्ति इस समस्या के समाधान की ओर कुछ सङ्केत देती प्रतीत होती है :

अविज्ञातस्य विशुध्यतो विभूतिं कुर्वतः क्षेत्रज्ञ-पृथक्त्वाय कल्पते (१४।२)।

इसका आशय हमारे विचार में यह है : इदम्, इत्थं रूप में प्रकट न होने से, अर्थात् प्रकृति-भाव को प्राप्त नहीं होने से, जो अन-चीन्हा (अविज्ञातस्य) है, जागतिक धर्मों से रहित होने से जो विशुद्ध है (विशुध्यतः), अपने वैभव को प्रकट करते हुए (विभूति कुर्वतः) ऐसे पर ब्रह्म के प्रकृति के अधिष्ठाता क्षेत्रज्ञ के रूप में (पृथक्त्वाय) अलगाव भेद के लिये (कल्पते) वह स्वयं समर्थ होता है। इस का सार यह है : परब्रह्म वस्तुतः निर्गुण एवं विशुद्ध है। वह अपने वैभव को प्रकट करने के लिए स्वतः अद्वैत की स्थिति से द्वैत—क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ रूपों—को अपनाते हैं।

यहाँ विभूति को करते हुए का आशय पर-ब्रह्म की लीला[3] से ही प्रतीत होता है। ऋग्वेद संहिता में ऋषि ने असत् के काम (इच्छा) को ही सत् सृष्टि का हेतु माना है[4]। ब्राह्मणों में भी मूल तत्त्व को ही जगत् के आविर्भाव का कारण बताया है[5]।

---

१. द्र. १।८ : ब्रह्म परिवृढं सर्वतः।

२. द्र. १४।३ : अथैष महानात्मा . तत् सत्यम्, तत् सलिलम्, तदव्यक्तम्, तदस्पर्शम् तदरूपम्, तदरसम्, तदगन्धम्, तदमृतम्, तच्छुक्लम्, तन्निष्ठो भूतात्मा।

३. द्र. श्रीमद्भागवत ३।५।२२ ॥

४. कामस्तदग्रे समवर्ततताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्।
सतो बन्धुमसति निरविन्दन्हृदि प्रतीष्या कवयो मनीषा ॥ १०।१२९।४ ॥

५. द्र. तै. ब्रा. २।२।९।१ : इदं वा अग्रे नैव किं चनासीत् —न द्यौरासीत्, न पृथिवी, नान्तरिक्षम्। तदसदेव सन्मनोऽकुरुत—स्यामिति।

साङ्ख्य दर्शन में जड़ तत्त्व प्रकृति चेतन तत्त्व पुरुष के विमोक्ष के लिये सर्ग का आरम्भ करती बतलाई है[१]। परन्तु पुरुष बँधता ही क्यों है ? इस विषय पर साङ्ख्य दर्शन मौन-सा ही है। अतः वास्तव में यदि देखा जाये, तो पर-ब्रह्म सृष्टि-रचना में प्रवृत्त क्यों होता है ? इस प्रश्न का इससे भिन्न कोई उत्तर सम्भव भी नहीं है।

अस्तु, जिस किसी भी कारण से हो, परब्रह्म जब भूत-भौतिक जगत् की प्रकृति बनता है, तब वह दो तत्त्वों के रूप में परिणत होता है : १. जड़, २. चेतन। जड़ तत्त्व जगत् का उपादान कारण अर्थात् प्रकृति है, दूसरा निमित्त कारण अर्थात् प्रकृति का सञ्चालक ईश्वर है। उपादान कारण त्रिगुणात्मक है। अपने मूल रूप में यह अव्यक्त है, इस का प्रतिभान नहीं हो सकता। जब यह जगत् की रचना की ओर उन्मुख होता है, अर्थात् साम्यावस्था में—अव्यक्त अवस्था में—पड़े गुणों में जब कुछ क्षोभ होता है, तब उस क्षोभावस्था को यास्क ने प्रतिभा कहा है। अर्थात् ब्रह्म का आदि कारण (प्रकृति) के रूप में, जगत् के उपादान कारण के रूप में, सर्व-प्रथम प्रतिभान होता है[२]। यह क्षोभ स्वयं कोई मूर्त तत्त्व नहीं है; हाँ, तत्त्वान्तर का जनक अवश्य है। अतः साङ्ख्याचार्यों ने इसे कोई स्वतन्त्र नाम नहीं दिया है। कुछ लोग पहले की साम्यावस्था से भिन्न इस क्षुब्धावस्था को भी तत्त्वान्तर मानते हैं, पर उस का स्वरूप क्या है, यह कहना कठिन मान कर उसे अनिर्देश्य-स्वरूप बतलाते हैं[३]। इस प्रकार प्रतिभात प्रकृति का सबसे पहला विकार महत् तत्त्व है, जिसे यास्क ने महान् आत्मा कहा है। महान् आत्मा से उत्पन्न तत्त्व को विद्या कहा गया है। यह विद्या तत्त्व साङ्ख्य के अहङ्कार के समकक्ष है। इसका अवबोध तमस् से बताया है। तमस् काम और द्वेष के समवाय का नाम है। काम रजोगुण का और द्वेष तमोगुण का कार्य है। इससे प्रतीत होता है कि यास्क की इस विद्या में भी सत्त्व की अपेक्षा रजस् और तमस् की ही प्रधानता है। इसके बाद यास्क ने विद्या से मनस्, मनस् से आकाश, उस से वायु, वायु से ज्योतिष् (अग्नि), उस से आपस् (जल) और उससे पृथिवी और उसके बाद स्थावर-जङ्गम भूतों के समूह को परिणत माना है[४]। यास्क

---

१. द्र. साङ्ख्य-कारिका ५६-५८। २. द्र. १४।३ : प्रतिभाति-लिङ्गो महानात्मा।

३. द्र. साङ्ख्य-कारिका (२२) पर युक्ति-दीपिका (मोतीलाल बनारसीदास संस्करण, पृष्ठ ९१) : केचिदाहुः प्रधानादनिर्देश्यस्वरूपं तत्त्वान्तरमुत्पद्यते, ततो महानिति। ऋ. सं. (१०।१२१।७–८), श. ब्रा. (११।१।६।१) और तै. ब्रा. (१।१।३।५) में सम्भवतः इस अवस्था को आपस् कहा गया है। इस विषय में श्री उदयवीर शास्त्रीकृत साङ्ख्य-सिद्धान्त (पृष्ठ २४७) भी द्रष्टव्य है।

४. द्र. १४।३ : प्रतिभाति-लिङ्गो महानात्मा, तमो-लिङ्गो(ङ्गा ?) विद्या, प्रकाश-लिङ्गस्तमः। १४।४ : पृथिव्या भूतग्राम-स्थावरजङ्गमाः। भूतग्रामाः पृथिवीमपियन्ति, पृथिव्यपः, आपो ज्योतिषम्, ज्योतिर्वायुम्, वायुराकाशम्, आकाशो मनः, मनो विद्याम्, विद्या महान्तमात्मानम्, महानात्मा प्रतिभाम्, प्रतिभा प्रकृतिम्।

पांच भूत-तन्मात्रों को मानते हैं कि नहीं, इस विषय में कुछ नहीं कहा जा सकता।

यास्क आकाश को परिच्छेदक मानते हैं; अर्थात् जहां-जहां परिच्छेदन (निश्चय) है, वहां-वहां आकाश है। आकाश का गुण शब्द है। वायु में दो गुण हैं : शब्द और स्पर्श। स्पर्श उसका अपना गुण है, शब्द आकाश का। अग्नि में तीन गुण हैं, रूप अपना है। जल में रस अपना गुण है और तीन अन्य भूतों के गुण हैं। पृथ्वी में पांच गुण हैं—चार अन्य भूतों के और एक गन्ध अपना[1]। इस विवरण से प्रतीत होता है कि वे पांचों भूतों के पञ्चीकरण की प्रक्रिया को नहीं मानते। इनके अतिरिक्त वे काल को भी एक तत्त्व के रूप में मानते प्रतीत होते हैं। काल मोटे रूप में अहो-रात्र रूप में है तथा निरन्तर चलता रहता है। उसके चलने से अन्य पदार्थ चलते हैं[2]। वे अवकाश को आकाश से, प्राण को वायु से, दृष्टि और वाक् को तेज से, स्नेह को जल से और घनता को पृथिवी से निष्पन्न मानते हैं[3]।

यास्क सत्कार्य-वादी हैं। यास्क के मत में भूत-प्रकृति भूतात्मा है। इसका अर्थ यह है कि भूत अर्थात् कार्य जगत् और प्रकृति में तात्त्विक भेद नहीं है, केवल अवस्था (कार्यावस्था, कारणवस्था) का भेद है। यह प्रकृति पर-ब्रह्म में स्थित है। इससे सिद्ध होता है कि प्रकृति की सत्ता पर-ब्रह्म से अलग, स्वतन्त्र नहीं है। पर-ब्रह्म सत्स्वरूप है, तो उसमे स्थित प्रकृति भी सत्स्वरूप ही होगी और उस से बना जगत् भी सत् ही होगा। हां, इन तीनों की सत्ता में विषय-भेद से अन्तर होगा। परब्रह्म कालातीत है और सत् है। उसमें स्थित प्रकृति (जगत् का सर्जन करने की सामर्थ्य) भी अपने आश्रय के समान धर्मा है। जगत् काल से आकलित है, अतः उसकी सत्ता सीमित है। हम इसी सीमित सत्ता को जानते-पहिचानते हैं। कालातीत परम सत्ता के अवबोध के लिये ही अष्टाङ्ग योग तथा अन्य विचारधाराओं की उद्भावना हुई है।

यास्क परिणाम-वादी हैं। अपनी विभूति—वैभव—को करते हुए परब्रह्म में स्थित प्रकृति (रजस्, सत्त्व और तमस्) में सर्वप्रथम कुछ क्षोभ होता है। इस से परब्रह्म में नितान्त अव्यक्त अवस्था में स्थित प्रकृति प्रतिभान की स्थिति में आती है। अव्यक्त तत्त्व व्यक्त अवस्था की ओर उन्मुख होता है। इस अवस्था के पूरा होते-न-होते पहले की अव्यक्त प्रकृति अब एक विशेष व्यक्त अवस्था को प्राप्त हो जाती है।

---

१. द्र. १४।३ : अपि निश्चयलिङ्ग आकाशः। १४।४ : आकाशगुणः शब्दः। आकाशाद्वायुर्द्विगुणः स्पर्शेन, वायोर्ज्योतिस्त्रिगुणं रूपेण, ज्योतिष आपश्चतुर्गुणा रसेन, अद्भ्यः पृथिवी पञ्चगुणा गन्धेन।

२. द्र. १४।४ : तावेतावहो-रात्रावजस्रं परिवर्तेते। स कालः। १४।५ : ...तं परिवर्तमानमन्योऽनुप्रवर्तते।

३. द्र. १४।५ : ... चिरोऽप्याकाशात्, वायोः प्राणं, चक्षुश्च वक्तारं च तेजसः, अद्भ्यः स्नेहम्, पृथिव्या मूर्तिः(तिम् ?)।

बाद के अन्य व्यक्त पदार्थों से महान् होने के कारण इसे महत् और उनका आत्मा = मूल रूप होने के कारण महान् आत्मा कहा जाता है[1]। साङ्ख्य-ग्रन्थों में इस तत्त्व को बुद्धि कहा गया है। प्राचीन परम्परा, लगता है, ऐसा मानने की नहीं थी। कठोपनिषद् में महान् आत्मा के बाद उस से निकृष्ट तत्त्व के रूप में बुद्धि को माना है[2]। यास्क भी महत् तत्त्व से विद्या (बुद्धि) तत्त्व को निष्पन्न मानते हैं। विद्या तत्त्व के अनन्तर मन और पञ्च-भूतों—क्रमशः आकाश, वायु, अग्नि, अप् और पृथिवी—की उत्पत्ति मानी है।

जिस प्रकार विभूति करते हुए आत्मा से जगत् की उत्पत्ति बताई है, वैसे ही परमात्मा के शयनेच्छु होने पर जगत् का उपसंहार बताया है। यहाँ शयन शब्द भी परमात्मा की लीलामयता को ही सूचित करता है। इसका तात्पर्य इतना ही समझना चाहिये कि जिस प्रकार सृष्टि का प्रारम्भ क्यों हुआ? इस प्रश्न का कोई उत्तर नहीं है, उसी प्रकार जगत् का अन्त क्यों हुआ? इस प्रश्न का भी कोई उत्तर नहीं है। विभूति करना, लीला, सोने की इच्छा—ये सब शब्द दार्शनिक के मुख में शोभा नहीं पाते। हाँ, भक्त के लिये ये बड़े स्वाभाविक और भाव-प्रवण शब्द हैं। पर दार्शनिक करे भी, तो क्या करे? उसकी भी तो एक सीमा है। या. दर्शन का अन्त परा भक्ति में ही होता है। इस लिये इस प्रश्न का उत्तर 'प्रभु की लीला' ही होगा। अस्तु! जब सृष्टि का अन्त होना होता है, तब प्रत्येक कार्य विघटित हो कर अपने मूल रूप में आ जाता है; वह मूल रूप अपने मूल रूप में; और इस प्रकार समाहार होते-होते जगत् उसी अव्यक्त अवस्था में आ जाता है, जो सृष्टि से पूर्व थी। इस प्रकार प्रलीन होकर जगत् परब्रह्म में स्थित हो जाता है।

यास्क जगत् के इस प्रभव और अप्यय को सतत चलने वाला मानते हैं। जगत् में हम प्रत्येक अवस्था को काल के पैमाने के माध्यम से ही जानते हैं। एक बार प्रलय होने के बाद पुनः सृष्टि कब होती है? यह प्रश्न उठना बहुत स्वाभाविक और प्रासङ्गिक है। पर वास्तव में तो प्रलयावस्था को हम काल से माप ही नहीं सकते। क्योंकि उस समय समय की दो सीमाएँ—प्रलय का काल और पुनः सृष्टि काल—तो हैं, किन्तु बीच की स्थिति काल-शून्य ही है। तथापि उपलक्षणार्थ यास्क ने उस काल को युगसहस्र बतलाया है। जगत् में शयन-काल को हम रात्रि कहते हैं तथा कार्य-काल को दिन। दोनों का परिमाण भी लगभग बराबर ही होता है; इस बात को ही दृष्टि में रख कर यास्क ने प्रलयावस्था के काल को सहस्र युगों से युक्त रात्री के रूप में

१. द्र. कठोपनिषद् (१।३।१०) पर शाङ्करभाष्य : 'बुद्धेरात्मा' सर्व-प्राणि-बुद्धीनां प्रत्यगात्म-भूतत्वादात्मा, 'महान्' सर्व-महत्त्वात्....।

२. मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान् परः ॥ १।३।१०।
महतः परमव्यक्तमव्यक्तात् पुरुषः परः ॥ ११ ॥

तथा सृष्टि और प्रलय के इस चक्र को निरन्तर परिवर्तन-शील अहो-रात्र के चक्र के रूप में बतलाया है[1]। वस्तुतः यह दार्शनिक विषय नहीं है; अपितु पुराणविद्या का विषय है। इस की पुष्टि में उन्होंने एक पुराण[2] श्लोक को उद्धृत भी किया है[3]।

ऊर्ध्व-मार्ग-गति। यास्क ने चौदहवें अध्याय को अपनी दार्शनिक विचारधारा को स्पष्ट करने के लिये लिखा है, यह हम पीछे कह आये हैं। अब तक लिखे विवरण में उसी अध्याय की प्रमुख रूप से चर्चा को देख कर भी अध्येताओं को यह बात स्पष्ट हो गई होगी। अब हम इस अध्याय में वर्णित प्रधान विषय की ओर आते हैं।

यास्क के अनुसार इस अध्याय का प्रधान विषय है : ऊर्ध्व-मार्ग-गति की व्याख्या करना। इसका आशय यह है कि इस अध्याय में 'मृत्यु के अनन्तर हमारी क्या स्थिति होती है,' इस विषय का विवेचन होगा।

दर्शन का उद्भव जीवन की कष्टमयता तथा मृत्यु के भय से होता है, यह हम इस अध्याय के प्रारम्भ में ही देख चुके हैं। कठोपनिषद् में भी कर्मविषयक प्रश्न करने के बाद नचिकेता ने 'मरने पर मनुष्य है कि नहीं है?'—यही प्रश्न उठाया है[4]। वस्तुतः इस प्रश्न के उत्तर में सारा दर्शन-शास्त्र ही समाहित है[5]। यास्क ने भी इस विषय का वर्णन करने के माध्यम से आत्मा, परमात्मा, प्रकृति, आत्मा का संसार में आवागमन इत्यादि सब बातों का वर्णन कर दिया है।

यास्क के अनुसार सब को 'मैं' (अहम्) के रूप में प्रतीत होने वाला जो तत्त्व है, वही आवागमनशील है। यह तत्त्व वास्तव में तो जगत् की सृष्टि करने वाला परम

---

१. नि. १४।४ : प्रतिमा प्रकृतिम्। सा स्वपिति युगसहस्रं रात्रिः। तावेता-वहोरात्रावजस्रं परिवर्तेते। स कालस्... तदहर्भवति।

२. 'पुराण' से हमारा आशय उपलब्ध 'पुराण ग्रन्थ' नहीं है, अपितु इस दृष्टि=पुराण शास्त्र की प्राचीन धारा से तात्पर्य है। शौनक ने भी सर्ग-काल को हजार युगों वाला कहा है :

महानाम्न्य ऋचो गुह्यास्ता ऐन्द्र्यश्चैव यो वदेत्।
सहस्र-युग-पर्यन्तमहर्ब्राह्मं स राध्यते॥ बृ. ८।९८॥

३. युगसहस्रपर्यन्तमहर्यद् ब्रह्मणो विदुः।
रात्रिं युगसहस्रान्तां तेऽहोरात्रविदो जनाः॥ गीता ८।१७॥

यह कोई पुराना श्लोक है। तु. मनु-स्मृति १।७३ तथा बृहद्देवता ८।९८।

४. येयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्येऽस्तीत्येके नायमस्तीति चैके।
एतद्विद्यामनुशिष्टस्त्वयाऽहं वराणामेष वरस्तृतीयः॥ १।१।२०॥

५. नि. १४।३५ : सैषाऽऽत्म-जिज्ञासा, सैषा सर्वभूत-जिज्ञासा। तभी तो याज्ञवल्क्य मैत्रेयी को कहते हैं : मैत्रेयि, आत्मनि खल्वरे दृष्टे, श्रुते, मते, विज्ञात इदं सर्वं विदितम् (बृहदारण्यकोपनिषद् ४।५।६)।

तत्त्व ही है; अतः वस्तुतः सृष्टि का स्रष्टा, द्रष्टा (साक्षी) तथा जगत् (जागतिक सीमाओं) से बिल्कुल पृथक् है; परन्तु मिथ्यादर्शन से (मन, बुद्धि, इन्द्रियों के कार्य को अपना कार्य समझ कर, स्वयं को इन्द्रियों से एकीभूत समझ कर) आवागमन के सुख-दुःखों से युक्त हो जाता है[१]। इस के शरीर धारण करने की प्रक्रिया यह है : शरीर धारण करने से पूर्व यह तैजस (लिङ्ग) शरीर के रूप में वायु में स्थित होता है, वायु से वर्षा के जल में स्थित होकर पृथ्वी पर आता है। उस जल को ओषधयां (अन्न आदि) धारण कर लेती हैं। ओषधियों के भक्षण के माध्यम से यह प्राणियों में चला जाता है[२]। अशित-पीत का विकार हमारे शरीर में क्रमशः श्लेष्म, रस, शोणित (रक्त), मांस, मेदस् (चर्बी), स्नायु, अस्थि, मज्जा और शुक्र के रूप में होता है[३]। अन्ततः यह तैजस आत्मा पुरुष-धातु शुक्र और स्त्री-धातु रजस् में स्थित होता है। स्त्री-गर्भ में इन के मिलने पर यदि शुक्र-धातु प्रबल होती है, तो पुरुष-सन्तान और रजो-धातु यदि अधिक पुष्ट होती है, तो स्त्री-सन्तान बनती है[४]। भ्रूण में अस्थि, स्नायु एवं मज्जा शुक्र से आते हैं और त्वचा, मांस तथा शोणित रजस् से; अर्थात् ये दोनों त्रिक क्रमशः पिता और माता से आते हैं। भोक्तृत्व (अन्न-पान) लिङ्ग शरीर का अपना धर्म है[५]। गर्भस्थ शिशु में बुद्धि का विकास आठवें मास हो जाता है। उस समय उसकी बुद्धि में अपने पिछले शरीर के संस्कार विद्यमान रहते हैं और पिछले जन्मों की स्मृति भी होती है। जन्म लेने पर उसे जैसे ही सांसारिक हवा लगती है, वह सब कुछ भूल[६]

१. द्र. १४।५ : स्रष्टा, द्रष्टा, विभक्तातिमात्रोऽहमिति गम्यते। स मिथ्या-दर्शने(ने)वं .. पार्थिवांस्त्वष्टौ गुणान्विद्यात्।

२. द्र. १४।७ : .. तैजसं शरीरं कृत्वा कर्मणोऽनुरूपं फलमनुभूय, तस्य सङ्क्षये पुनरिमं लोकं प्रतिपद्यते। ... ८ :....वायोर्वृष्टि, वृष्टेरोषधयश्चैतद् भूत्वा.... पुनरेवेमं लोकं प्रतिपद्यते।

३. द्र. १४।६ : श्लेष्मणो रसो, रसाच्छोणितं, शोणितान्मांसं, मांसान्मेदो, मेदसः स्नावा, स्नाव्नोऽस्थीनि अस्थिभ्यो मज्जा, मज्जातो रेतः।

४. द्र. १४।६ : तदिदं योनौ रेतः सिक्तं पुरुषः सम्भवति। शुक्रातिरेके पुमान् भवति, शोणितातिरेके स्त्री भवति। द्वाभ्यां समेन नपुंसको भवति। तु श्रीमद्भागवत पुराण ३।३१।१ : कर्मणा दैव-नेत्रेण जन्तुर्देहोप-पत्तये।
स्त्रियाः प्रविष्ट उदरं पुंसो रेतः-कणाश्रयः॥

५. द्र. १४।५ : पार्थिवांस्त्वष्टौ गुणान् विद्यात्—त्रीन् मातृतस्त्रीन् पितृतः। अस्थि-स्नायु-मज्जानः पितृतः, त्वङ्मांस-शोणितानि मातृतः; अन्नपानम् (न ?) मित्यष्टौ। सोऽयं पुरुषः सर्वमयः सर्वज्ञानोऽपि क्लृप्तः।

६. द्र. १४।६ : अष्टमे बुद्ध्याऽध्यवस्यति।.... मृतश्चाहं पुनर्जातो जातश्चाहं पुनर्मृतः। जातश्च वायुना स्पृष्टो न स्मरति जन्म-मरणम्।

जाता है।

संसार में जन्म लेने में पूर्व जन्मों के ज्ञान और कर्म प्रधान कारण होते हैं। ये दोनों तैजस शरीर में पूर्वप्रज्ञा (संस्कार) के रूप में स्थित होते हैं[1]। जन्म लेने के बाद जन्तु पुनः शुभ और अशुभ कर्मों के क्षेत्र में आता है[2]। हिंसा का आश्रय और ज्ञान का त्याग—ये दो बातें हैं, जो मनुष्य को आवागमन के चक्र में डाले रखती हैं। हिंसा का त्याग, ज्ञान का आश्रय, तप अथवा ज्ञानोक्त कर्मों का करना—इन बातों को अपना कर मनुष्य मोक्ष प्राप्त करता है (१४।८-९)। जो कर्म ज्ञानमार्ग का आश्रय लेकर (निष्काम होकर ?) किये जाते हैं, वे कर्म ब्रह्म के माने गये हैं[3]। यास्क उन्हें बन्धन कारक नहीं मानते, ऐसा प्रतीत होता है।

देहादि-सङ्घात जब सुषुप्ति (गहरी निद्रा) अवस्था में होता है, तब उसका अधिष्ठान (लोक) आत्मा होता है। विषयों की तरफ प्रवृत्ति करने वाली इन्द्रियाँ उस समय उस आत्मा में ही स्थित हो जाती हैं[4]; अर्थात् उस समय उनकी चेष्टायें शान्त हो जाती हैं।

यास्क ने शरीर में स्थित आत्मा के दो भेद बताये हैं: १. प्राज्ञ, २. तैजस। ये दोनों देव शरीर में जागते हैं, अ-स्वप्नज हैं और सत्र-सद हैं[5]। यास्क का यह संदर्भ कुछ कठिन है। इसके अ-स्वप्नजौ और सत्र-सदौ शब्दों की व्याख्या यास्क और दुर्ग ने नहीं की है। ये दोनों शब्द वाजसनेयि संहिता (३४।५५) के हैं। अधिदेव व्याख्या में स्कन्दस्वामी ने इनका निम्न प्रकार से अर्थ किया है तथा अध्यात्म व्याख्या में भी इसे ही उपयोगी बताया है: अ-स्वप्न-जौ स्वप्न और जन्म से रहित, सत्र-सदौ सदा स्थित रहने वाले[6]। उपनिषदों में प्राज्ञ और तैजस आत्मा की चर्चा कति-पय बार हुई है। बृहदारण्यक में एक बार जीवात्मा (अयम्पुरुषः) को सुषुप्त अवस्था में प्राज्ञ आत्मा से सम्मिश्रित (सम्परिष्वक्त) बतलाया है[7]। उसे ही प्राज्ञ नहीं कहा है। दूसरी बार मृत्यु के समय जीवात्मा (अयं शारीर आत्मा) को प्राज्ञ आत्मा से युक्त

१. द्र. १४।७: तं विद्या-कर्मणी समन्वारभेते, पूर्वप्रज्ञा च।

२. द्र. १४।६: अन्ते च शुभाशुभं कर्म।

३. द्र. १४।१४: विद्या-मति-बुद्धिमतामृतस्यात्मनः कर्माणि ब्रह्मणो मतानि।

४ द्र. १२।३७: सप्तापनानीमान्येव स्वपतो लोकमस्तमितमात्मानं यन्ति।

५. द्र. वही: तत्र जागृतोऽस्वप्नजौ सत्र-सदौ च देवौ, प्राज्ञश्चात्मा तैजसश्च।

६. द्र. स्कन्दभाष्य १२।३७: 'अस्वप्नजौ' अविद्यमानः स्वप्नो जन्म च ययोः, तौ स्वप्न-जन्म-वर्जितौ। 'सत्र-सदौ च' सत्र-शब्दः सदापर्यायः, सदा-सादिनौ च।

७. द्र. ४।३।२१: ...एवमेवायम्पुरुषः प्राज्ञेनात्मना सम्परिष्वक्तो न बाह्यं किंचन वेद, नान्तरम्। तद्वा अस्यैतदाप्त-कामम्, आत्म-कामम्, अ-कामं रूपं शोकान्तरम्।

(अन्वारूढ) कहा है[1] । इससे सिद्ध होता है कि इस उपनिषद् में प्राज्ञ आत्मा का अर्थ परम आत्मा ही है, जीवात्मा की कोई विशिष्ट अवस्था नहीं[2] । इसी प्रकार तैजस शब्द भी बृहदारण्यक में जीवात्मा की किसी विशिष्ट अवस्था को नहीं बतलाता[3] । किन्तु माण्डूक्योपनिषद् में ये दोनों शब्द पारिभाषिक अर्थ में प्रयुक्त हुए हैं : प्राज्ञ सुषुप्ति में स्थित आत्मा का नाम है तथा तैजस स्वप्नावस्था में विद्यमान आत्मा का नाम बताया है[4] । यास्क ने प्राज्ञ और तैजस दोनों को जागने वाला तथा स्वप्न से रहित कहा है । इससे सिद्ध होता है कि यास्क के प्राज्ञ और तैजस का सम्बन्ध सुषुप्ति और स्वप्न अवस्थाओं से नहीं है । इसी मन्त्र की व्याख्या में यास्क ने सद का अर्थ शरीर किया है[5] । सत्र शब्द भी √सद् (सद्+त्र) से ही निष्पन्न है । अतः हमारे विचार में सत्र-सदौ का अर्थ शरीर में स्थित होना चाहिये । शरीर में स्थित ये देव आत्मा और बुद्धि हो सकते हैं । इस पक्ष में प्राज्ञ का अर्थ जीवात्मा ही होगा । वह तैजस की अपेक्षा उत्कृष्ट होने से प्राज्ञ (प्रज्ञानस्वरूप) है । तत्त्व तो स्वयं यास्क ही जानते हैं ।

डा. लक्ष्मणस्वरूप ने (पृष्ठ १९६ पर) इस वाक्य का अनुवाद यों किया है :

There two gods who never sleep and sit at the sacrifice keep watch, i.e. the self of wisdom and lustre.

हमारे विचार में यह अनुवाद sleep और sacrifice के बाद अल्पविराम-चिह्नों (कामा) के बिना बहुत भ्रामक है । इस में यह बिल्कुल स्पष्ट नहीं होता कि यहाँ पर गौण-वाक्य के never का अन्वय sleep से ही है, या sit से भी । and समुच्चायक होता है । इस ने दो वाक्यों —एक निषेध-मुख और दूसरे विधि-मुख वाक्य —का समुच्चय किया है, अथवा never के दो क्रियाओं से योग का,

---

१. बृ. ४।३।३५ : तद्यथाऽनः सु-समाहितमुत्सर्जद् यायाद्, एवमेवायं शारीर आत्मा प्राज्ञेनात्मनाऽन्वारूढमुत्सर्जन् याति, यत्रैतदूर्ध्वोच्छ्वासी भवति ।

२. तु. बृहदा. (४।३।२१) पर शाङ्कर भाष्य (पृष्ठ ६७२) : सोऽयं पुरुषः, 'प्राज्ञेन' परमार्थेन, स्वाभाविकेन, स्वेनात्मना, परेण ज्योतिषा 'सम्परिष्वक्तः' ... एकीभूतो, निरन्तरः, सर्वात्मा ।

३. बृ. २।५।८ : यश्चायमध्यात्मं तैजसस्तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषः, अयमेव स, योऽयमात्मा । इदममृतम्, इदं ब्रह्म, इदं सर्वम् । ४।४।९ : (तदेते श्लोका भवन्ति—)

एष पन्था ब्रह्मणा ह्यनुवित्तस्तेनैति ब्रह्मवित्पुण्यकृत्तैजसश्च ।

४. द्र. ४ : स्वप्न-स्थानोऽन्तःप्रज्ञः, सप्ताङ्ग, एकोनविंशतिमुखः, प्र-विविक्त-भुक् तैजसो द्वितीयः पादः ॥ ५ : सुषुप्त-स्थान एकीभूतः, प्रज्ञान-घन एवानन्दमयो ह्यानन्द-(पाठा. अज्ञान-) भुक्, चेतोमुखः, प्राज्ञस्तृतीयः पादः ।

ये दोनों शब्द और किसी प्रमुख उपनिषद् में प्रयुक्त नहीं हुए हैं ।

५. 'सप्त रक्षन्ति सदमप्रमादम्'—शरीरमप्रमाद्यन्ति ।

यह स्पष्ट नहीं होता।

इसी भ्रामकता के कारण श्री योगी जी ने (पृष्ठ ३०५ में) and से समुच्चित दो उद्धृत वाक्यों को एक निषेध-परक वाक्य ही समझ कर इसका अनुवाद यों किया है :

वहाँ दो देवता, जो यज्ञ पर कभी नहीं सोते या बैठते, रक्षा करते हैं; अर्थात् प्राज्ञ तथा तैजस आत्मा।

यह वाक्य लक्ष्मणसरूपकृत म्लेच्छ-भाषानुवाद का तो प्रायेण (क्योंकि and का 'या' अर्थ नहीं होता) अनुगामी है, किन्तु मूल का अनुगामी नहीं है। मूल में निषेध केवल अ-स्वप्नजौ में है; अतः उसका सत्र-सदौ से तो नाना की नानी के नाना का भी रिश्ता नहीं है।

लक्ष्मणसरूप ने never sleep से 'अ-स्वप्न-' का ही अनुवाद किया है; '-ज' का अर्थ वे गोल कर गये।

अज्ञानान्धकार में निमग्न हुआ पुरुष बुढ़ापा, मृत्यु, भूख, प्यास आदि शारीरिक दुःखों और शोक, क्रोध, लोभ, मोह, भय, डाह, प्रसन्नता, दुःख आदि मानसिक द्वन्द्वों से तब तक पीड़ित रहता है, जब तक कि वह आवागमन के चक्र से मुक्त नहीं हो जाता[1]।

अज्ञान में निमग्न पुरुष हिंसा मार्ग का आश्रय लेता है। वह अपनी समझ से तो बड़े-बड़े तप करता है; शास्त्रोक्त कर्म करता है; परन्तु हिंसा मार्ग का आश्रय लेने के कारण उसका कल्याण नहीं होता है। वह पुरुष स्थूल शरीर छोड़ने के बाद तेजोमय लिङ्ग शरीर को धारण करके धूम-मार्ग को प्राप्त करता है[2]। जो ज्ञानी हैं, हिंसा का परित्याग कर चुके हैं, बड़े-बड़े तप या ज्ञान-मार्गोक्त कर्म करते हैं, वे अर्चिर्मार्ग को प्राप्त करते हैं[3]। ये दोनों शब्द—धूम और अर्चिः—जीव की ऊर्ध्वगति के

---

१. द्र. १४।७ : महत्यज्ञान-तमसि मग्नो(ग्नो ?)जरा-मरण-क्षुत्-पिपासा-शोक-क्रोध-लोभ-मोह-मद-भय-मत्सर-हर्ष-विषादेर्ष्याऽसूयाऽऽत्मकैर्द्वन्द्वैरभिभूयमानः सोऽस्मात् प्रार्जवं जवीभावानां तन्निर्मुच्यते।

यहाँ पाठ भ्रष्ट प्रतीत होता है। हमारे विचार में 'आर्जवञ्जवीभावान्न निर्मुच्यते' पाठ कुछ सार्थक। 'आजवंजवीभाव' शब्द 'आवागमन' अर्थ में है और बौद्ध ग्रन्थों में बहुशः प्रयुक्त हुआ है (द्र. नागार्जुनकृत मध्यमक-शास्त्र, २५।९)। उन्होंने कोई नया तो घड़ा नहीं है। श्री ब्रह्म-मुनि जी ने 'प्रार्जव-बीज-भावान्नि-र्मुच्यते' पाठ सुझाया है। योगी जी ने (पृष्ठ ३९९ पर) इस अंश का अर्थ किया है : 'इससे सरलता से जवीभावों (वेगभावों) का वह छूट जाता है।'

२. द्र. १४।८ : अथ येऽहिंसामाश्रित्य, विद्यामुत्सृज्य महत्तपस्तेपिरे, चिरेण वेदोक्तानि वा कर्माणि कुर्वन्ति, ते धूममभिसम्भवन्ति।

३. द्र. १४।९ : अथ ये हिंसामुत्सृज्य, विद्यामाश्रित्य, महत्तपस्तेपिरे, ज्ञानोक्तानि वा कर्माणि कुर्वन्ति, तेऽर्चिरभिसम्भवन्ति।

प्रसङ्ग में विशेष महत्त्व-पूर्ण हैं। ऊर्ध्व-गामी (प्रेत) जीव के दो मार्गों की चर्चा छान्दोग्य और बृहदारण्यक उपनिषदों में ही मिलती है[1]। यास्क का वर्णन भी उस चर्चा से भाव की दृष्टि से लगभग पूरी तरह मिलता है और भाषा की दृष्टि से अंशतः दोनों से भिन्न है। यों, छान्दोग्य के वर्णन की अपेक्षा बृहदारण्यक का वर्णन निरुक्त के वर्णन से अधिक मिलता है। छान्दोग्य उपनिषद् में आदित्य की रश्मियों, अभ्र, आकाश, प्राण, स्त्री को सम्भोग के लिए मनाना—इन सब को धूम कहा गया है। धूम, लगता है, धूसरता —मलिनता—का प्रतीक है। अज्ञान भी मलिनता है। अतः अज्ञानी लोग धूम को प्राप्त होते हैं; अर्थात् वे पुनः जन्म लेने में सहायक इन तत्त्वों में आश्रित होते हैं। इन तत्त्वों में भी वे रश्मियों में तो पुनः जन्म लेने के लिए उन्मुख होने से पूर्व तक ही आश्रित रहते हैं। अभ्र आदि में स्थिति तो लौटते समय होनी चाहिये। रात्री, कृष्णपक्ष, दक्षिणायन—ये सब प्रकाश के अभाव और कमी के प्रतीक हैं। इन सब में स्थित हो कर जीव पहले उत्क्रमण करता है। उत्क्रमण करता-करता वह अपने पुरखों के लोक में जा पहुँचता है। वहाँ से वह चन्द्र लोक में आता है। चन्द्र लोक भी, हमारे विचार में, स्वतः-प्रकाशता के अभाव का प्रतीक है। चन्द्रमा से वह वायु में स्थित हो जाता है। वायु से वर्षा के जल में, जल से अन्नादि में और वहाँ से स्त्री-पुरुषगत[2] शुक्र में और स्त्री-पुरुष के मिथुनीभाव से पुनः इसी संसार में आ जाता है[3]।

ज्ञानी के उत्क्रमण को शुद्ध प्रकाशस्वरूप लपटों अर्थात् अर्चिष् के द्वारा समझाया है। इस मार्ग के जितने पड़ाव हैं, वे सब प्रकाशमय हैं। अतः यह मार्ग प्रकाश का—ज्ञान का—प्रतीक है। इस मार्ग में एक पड़ाव है : मानस। वैद्युत आश्रय से ज्ञानी का आत्मा मानस को पा कर मानस पुरुष ही हो जाता है और फिर ब्रह्म-लोक को पा लेता है तथा पुनः संसार में नहीं आता[4]। प्राचीन उपनिषदों में मानस पुरुष की चर्चा दार्शनिक प्रसङ्ग में बृहदारण्यक (२।५।७, ६।२।१५) में ही मिलती है। एक मानस पुरुष तो हमारे शरीर में बताया है[5], दूसरा मानस पुरुष आकर वैद्युत

---

१. द्र. धूम छन्दोग्योपनिषद्, धूम : ५।४-८, १०; अर्चिः : ४।१५; ५।४-८। बृहदारण्यक, धूमः ६।२।९-१४, १६; अर्चिः ६।२।९-१५।

२. 'स्त्री-पुरुष' से केवल लिङ्ग (नर और मादा) अभिप्रेत है; मनुष्य जाति के स्त्री-पुरुष ही नहीं। इसी प्रकार 'शुक्र' का अर्थ भी उत्पादक धातु अभिमत है।

३. द्र. १४।६ : इमां योनिं सन्दध्यात्। ... तदिदं योनौ रेतः सिक्तं पुरुषः सम्भवति। ४. १४।६ : आदित्याद् वैद्युतम्, वैद्युतान्मानसम्, मानसः पुरुषो भूत्वा ब्रह्मलोकमभि सम्भवन्ति। ते न पुनरावर्तन्ते।

५. द्र. बृहदारण्यकोपनिषद् २।५।७ : यश्चायमस्मिंश्चन्द्रे तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो, यश्चायमध्यात्मं मानसस्तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषोऽयमेव स, योऽयमात्मा....।

आश्रय में पहुंचे हुए ज्ञानी के आत्मा को ब्रह्मलोकों को पहुँचाता बताया है[1]। निरुक्त और बृहदारण्यक के इन वर्णनों में सैद्धान्तिक भेद है। निरुक्त में ज्ञानी का आत्मा ही मानस-पुरुष बन जाता बताया है, जब कि बृहदारण्यक में वह केवल उस आत्मा के ब्रह्मलोक पहुंचने का साधन है। यों भी बृहदारण्यक का वर्णन अधिक पौराणिकता को लिये हुए है, जब कि निरुक्त का वर्णन पौराणिकता से—किसी ब्रह्मा के मन से उत्पन्न पुरुष के आने और ज्ञानी आत्मा को ब्रह्मलोक को ले जाने के रूपक से सर्वथा शून्य है। बृहदारण्यक का वर्णन तनिक विस्तार-परक है, जब कि निरुक्त का वर्णन केवल सिद्धान्त को ही सङ्क्षेप में देता है। अतः निरुक्त का वर्णन बृहदारण्यक उपनिषत् के वर्णन की अपेक्षा प्राचीन है, हम इतना तो कह सकते हैं, परन्तु यह मानस पुरुष तात्त्विक दृष्टि से क्या है, इस विषय में तो मौनमालम्बनं वरम्। छान्दोग्य उपनिषद् में एक अमानव पुरुष के द्वारा यह कार्य करवाया गया है। इसमें आदित्य और विद्युत् के बीच चन्द्रमा का एक पड़ाव और बढ़ गया है[2]।

बृहदारण्यकोक्त मधु-विद्या और यास्क। बृहदारण्यक उपनिषद् के दूसरे अध्याय के पाँचवे ब्राह्मण में आचार्य याज्ञवल्क्य ने पन्द्रह कण्डिकाओं में मधु-विद्या का प्रवचन किया है। उस के पश्चात् चार कण्डिकाओं में इस विद्या की वेदमूलकता बताई है। इस विद्या का सार यों है:

जागतिक पदार्थों में जो भी वस्तु श्रेष्ठ है, उस में आत्म-तत्त्व व्याप्त है। यह आत्म-तत्त्व और हमारे शरीर में व्याप्त आत्म-तत्त्व वस्तुतः एक ही है। जागतिक पदार्थों में आत्मा तेजोमय और अमृतमय है, तो हमारे शरीर में स्थित आत्मा भी तेजोमय और अमृतमय है (२५।१–१३)। स्थूल शरीर, इन्द्रियों, प्राण, मन और बुद्धि के समवाय इस 'मैं' में भी जो चेतना प्रतीत होती है, वह सर्वत्र व्यापक—आत्म-तत्त्व ही है (१४)। जिस प्रकार रथ के पहिये में लगे अरे एक मूल—रथ की नाभि—में स्थित हैं और बाहर की ओर निकल कर रथ के चक्के के घेरे में फैले हुए हैं, उसी प्रकार जगत् के समस्त पदार्थ भी इस आत्मा में स्थित हैं और बाहर की ओर निकले हुए हैं। उनकी गति या ठहराव इसी नाभिस्थानीय आत्मा की गति या ठहराव पर निर्भर करती हैं[3]। यह आत्मा जगत् के समस्त काय-व्यूहों में विराजमान

१. द्र. बृहदा. ६।२।१५ : आदित्याद् वैद्युतम्, तान् वैद्युतान्पुरुषो मानस एत्य ब्रह्मलोकान् गमयति। ते तेषु ब्रह्मलोकेषु पराः परावतो वसन्ति। तेषां न पुनरावृत्तिः।

२. द्र. छान्दो. ४।१५।५ : आदित्याच्चन्द्रमसं, चन्द्रमसो विद्युतम्, तत्पुरुषोऽमानवः स एनान्ब्रह्म गमयति।

३. द्र. बृहदा. २।५।१५ : स वा अयमात्मा सर्वेषां भूतानामधिपतिः, सर्वेषां भूतानां राजा। तद्यथा रथ-नेमौ चाराः सर्वे समर्पिता, एवमेवास्मिन्नात्मनि सर्वाणि भूतानि, सर्वे देवाः, सर्वे लोकाः, सर्वे प्राणाः—सर्वे एत आत्मानः समर्पिताः।

है—पुरिशय पुरुष है[1]। यह आत्मा ही ब्रह्म है तथा सब अनुभवों को करने वाला है[2]।

यास्क भी इसी विद्या के उपदेशक हैं। यास्क सब पदार्थों में एक आत्मा को ही स्थित मानते हैं, यह हम इस से पूर्व विस्तरेण देख ही चुके हैं। याज्ञवल्क्य ने जैसे विभिन्न पदार्थों को आत्मा कहा है, वैसे ही यास्क ने सोम (१४।१२,१३, १५,१६), वह्नि (१७), इन्दु (१६-१८) आदित्य (२१-२७,३५) इन्द्र (२८) अग्नि (३०), हंस (३१), जातवेदस् (३३) को आत्मा कहा है। वे आत्मा को ही ब्रह्म मानते हैं। यह आत्मा सब पदार्थों में अलग-अलग रूपों में उनके साक्षी के रूप में, उन्हें व्याप्त करके स्थित है[3]। 'अहं' के रूप में प्रतीत होने वाले काय-सङ्घात में यही स्रष्टा और द्रष्टा के रूप में स्थित है[4]। जागतिक सभी साधन इस आत्मा में ही आश्रित हैं[5]। आत्मा अर्थात् पुरुष को पुरि-शय सर्व प्रथम यास्क ने ही बताया है। यदि यह निर्वचन पहले इस उपनिषद् में किया गया होता, तो यास्क ने अन्य निर्वचनों के प्रसङ्गों में जैसे ब्राह्मणवचनों को उदारता-पूर्वक उद्धृत किया है, वैसे ही इस निर्वचन पर भी शतपथ के इस स्थल से इसे उद्धृत करते। उपनिषद् के निर्वचन-वाक्य (सर्वासु पूर्षु पुरिशयः) में एक सप्तम्यन्त शब्द निरर्थक है। यास्क का वाक्य बिल्कुल नैरुक्त के उपयुक्त है। यह आत्मा ही जगत् की सब अनुभूतियों का कर्ता है[6]।

इस विवरण के निष्कर्ष के रूप में हम यही कहना चाहते हैं कि याज्ञवल्क्य ने मधु-विद्या के उपदेशक आचार्यों की वंश-परम्परा में यास्क को जो ऊँचा आसन दिया है, वह उचित ही है। यास्क मधु-विद्या के आत्मा की सर्व-व्यापकता के सिद्धान्त के अगुवा आचार्य थे, यह यास्क के दार्शनिक विचारों के याज्ञवल्क्योक्त मधुविद्या से प्रायेण मिलने के आधार पर निर्भ्रान्त रूप से कहा जा सकता है।

---

१. बृहदा. १८ : स वा अयं पुरुषः सर्वासु पूर्षु पुरि-शयः। नैनेन किञ्चनानावृतम्, नैनेन किञ्चनासंवृतम् ॥

२. द्र. बृहदा. १९ : अयमात्मा ब्रह्म सर्वानुभूरित्यनुशासनम् ॥

३. द्र. १४।१० : आत्मा ब्रह्मेति, स ब्रह्म-भूतो भवति, साक्षिमात्रो व्यवतिष्ठते।

४. १४।५ : स्रष्टा, द्रष्टा विभक्तातिमात्रोऽहमिति गम्यते। ....सोऽयं पुरुषः सर्वमयः, सर्वज्ञानोऽपि क्लृप्तः।

५. १०।२६; १३।११; १४।१५, १६ में 'तान्यस्मिन्नात्मन्येकं भवन्ति।' इत्यादि वाक्य। २१ : सप्तेमानीन्द्रियाण्ययमात्मा गिरति मध्यस्थानोध्वंशब्दः। यान्यस्मिंस्तिष्ठन्ति, तानि धीतिभिश्च मनसा च विपर्यन्ति, परिभुवः परिभवन्ति सर्वाणीन्द्रियाणि ज्ञान-कर्मणा।

६. द्र. १४।१३ : स्तूयमानोऽयमेवैतत्सर्वमनुभवति। १४ : विद्यामति-बुद्धि-मतामृतस्यात्मनः कर्माणि ब्रह्मणो भतानि। अयमेवैतत्सर्वमनुभवति।

आसुरि और यास्क के दर्शन की समानता। साङ्ख्य दर्शन की परम्परा में आसुरि आचार्य साङ्ख्य शास्त्र के प्रवर्तक आचार्य कपिल के शिष्य हैं, इस परम्परा के सिवाय उनका कोई ग्रन्थ अथवा उपदेश साक्षात् या परोक्ष रूप में आज उपलब्ध नहीं है। उन्होंने कोई ग्रन्थ लिखा अवश्य था, इस विषय में प्रमाण के रूप में हम कुछ ग्रन्थों[1] में आसुरि के नाम से उद्धृत एक श्लोक को रख सकते हैं :

विविक्ते दृक्परिणतौ बुद्धौ भोगोऽस्य कथ्यते।
प्रतिबिम्बोदयः स्वच्छे[2] यथा चन्द्रमसोऽम्भसि ॥

यों, अकेला होते हुए भी यह श्लोक दार्शनिक दृष्टि से बहुत महत्त्व-पूर्ण है। इसी गुण के कारण इतने आचार्यों ने इसे उद्धृत किया है। साङ्ख्य-दर्शन में पुरुष को असङ्ग (निलिप्त, अकर्ता) और बुद्धि को कर्ता माना है[3]। पर व्यवहार में हम मैं (देहाभिमानी पुरुष) को कर्ता के रूप में अनुभव करते हैं। बुद्धि के द्वारा अर्जित भोग का अधिष्ठाता पुरुष कैसे हो जाता है? इस प्रश्न के दो उत्तर दिये गये हैं : एक उत्तर है आसुरि के ऊपर दिये श्लोक में और दूसरा उत्तर है आचार्य विन्ध्य-वासी के निम्न श्लोक में :

पुरुषोऽविकृतात्मैव स्व-निर्भासमचेतनम्।
मनः करोति सान्निध्यादुपाधिः स्फटिकं यथा[4] ॥

आसुरि के श्लोक का आशय है : पुरुष असङ्ग (विविक्त) है। मन और इन्द्रिय के द्वारा विषय से सम्पर्क करके बुद्धि दृष्टि (रूप, रस आदि के ज्ञान) के रूप में परिणत, अध्यवसित, हो जाती है। तब वह बुद्धि अपने उन ज्ञानों के साथ असङ्ग पुरुष में उसी प्रकार प्रति-बिम्बित हो जाती है, जिस प्रकार स्वच्छ जल में चाँद प्रति-बिम्बित हो जाता है। ऐसी स्थिति में बुद्धि के द्वारा अर्जित सारा ज्ञान पुरुष के द्वारा अर्जित-सा प्रतीत होता है[5]।

विन्ध्य-वासी का भाव है : पुरुष असङ्ग (अ-विकृतात्मा) ही है। उस की

---

१. द्र. हरिभद्र-सूरि-कृत षड्-दर्शन-समुच्चय की गुणरत्न-कृत तर्क-रहस्य-दीपिका टीका, पृ. १०४; स्याद्वाद-मञ्जरी १५, वाद-महार्णव, अन्य जैन-बौद्ध ग्रन्थ।

२. द्र. कुछ ग्रन्थों में 'स्वच्छः' मिलता है। सप्तम्यन्त अधिक अच्छा है।

३. द्र. साङ्ख्य-कारिका, १६, २०, ३५, ३७।

४. गुणरत्न-सूरि ने तर्क-रहस्य-दीपिका, पृष्ठ १०४ पर, 'विन्ध्य-वासी त्वेवं भोगमाचष्टे'—कह कर इस श्लोक को उद्धृत किया है।

५. महाभारत, में इस सिद्धान्त को अति सङ्क्षेप में यों बतलाया है :

पुरुषावस्थाऽवस्थमव्यक्तं परमार्थं न्यवेदयत् ॥ शान्ति-पर्व, २१८।१२
इष्ट-सत्रेण संसिद्धो भूयश्च तपसाऽऽसुरिः ॥१३॥

उपस्थिति (सान्निध्य) में अचेतन मन चेतन-सा (स्व-निर्भास) हो जाता है, जिस प्रकार उपाधि (बिम्ब) की उपस्थिति में पारदर्शी वस्तु (स्फटिक) उपाधि जैसी हो जाती है[१]।

आसुरि के मत में बुद्धि पुरुष में प्रतिबिम्बित है और असङ्ग पुरुष इस के कारण ससङ्ग हो जाता है, अकर्ता कर्ता हो जाता है। विन्ध्य-वासी पुरुष को बुद्धि (मन) में प्रतिबिम्बित बतलाते हैं। इस से अचेतन बुद्धि (मन) चेतन-सदृश हो जाता है। साङ्ख्याचार्यों में ईश्वरकृष्ण पुरुष के सान्निध्य के कारण अचेतन महदादि व्यक्त (लिङ्ग) को चेतना से युक्त हुआ मानते हैं[२]। इस से सिद्ध होता है कि वे विन्ध्य-वासी के पक्ष को मानते हैं। आचार्य वाचस्पति मिश्र भी विन्ध्य-वासी के ही मत को मानते हैं[३]। यास्क का मत आसुरि के मत से मिलता है: इन्द्रियाँ कर्म करती हैं और आत्मा में स्थित हो जाती हैं। इस प्रकार आत्मा उन कर्मों को अपने ऊपर आरोपित कर लेता है[४]।

इस प्रकार हम देखते हैं कि इस एक मुद्दे पर ही यास्क और आसुरि में ऐक-मत्य है।

निरुक्त में इधर-उधर बिखरे दार्शनिक विचारों के मोतियों को इस प्रकार एक सूत्र में पिरो कर ग्रथित करने के बाद इस प्रकरण को समाप्त करने से पूर्व हम अपने पाठकों को एक ब्योरा और देना चाहेंगे। यास्क ने आत्मा के परात्पर रूप को भली-भाँति जानने के लिए ऋग्वेद संहिता के १०।७२, ८१, ८२ और १२९ सूक्तों को तो विशेष उपयोगी बतलाया ही है[५], उन्होंने अस्य वामस्य (१।१६४) सूक्त को भी

१. इस उदाहरण में बिम्ब पुरुष है एवं स्वच्छ स्फटिक बुद्धि (मन)। चेतन के प्रति-बिम्बन से अचेतन बुद्धि भी चेतन दीखती है।

२. तस्मात्तत्संयोगादचेतनं चेतनावदिव लिङ्गम्।
गुणकर्तृत्वेऽपि तथा कर्तेव भवत्युदासीनः॥ साङ्ख्य-कारिका २०॥

वाचस्पति: भ्रान्ति-बीजं तत्संयोगः—तत्सन्निधानम्। श्री उदयवीर शास्त्री जी (साङ्ख्य-दर्शन का इतिहास, पृष्ठ ४७७, में) सर्वं प्रत्युपभोगं यस्मात् पुरुषस्य साधयति बुद्धिः (कारिका ३७) में आसुरि के मत का आश्रय लिया मानते हैं। ऊपर उद्धृत कारिका को देखते हुए हम उन से सहमत नहीं हैं।

३. द्र. साङ्ख्य-कारिका, ३७, पर तत्त्व-कौमुदी: बुद्धिर्हि पुरुष-सन्निधानात् तच्छायाऽऽपत्त्या तद्रूपेव सर्व-विषयोपभोगं 'पुरुषस्य साधयति'। सुख-दुःखानुभवो हि भोगः, स च बुद्धौ, बुद्धिश्च पुरुष-रूपेवेति सा पुरुषमुपभोजयति।

४. द्र. १४।१३: 'गृध्राणीन्द्रियाणि' गृध्यतेर्ज्ञान-कर्मणः; यत एतस्मिंस् तिष्ठन्ति। 'स्वधितिर्वनानामिति'—अयमपि स्वयं कर्माण्यात्मनि धत्ते 'वनानां' वनन-कर्मणामिन्द्रियाणाम्।

५. द्र. १४।३५: अथैनं महान्तमात्मानमेषर्गणः प्रवदति—वैश्वकर्मणः, देवानां नु वयं जाना (१०।७२।१), नासदासीन्नो सदासीत्तदानीम् (१०।१२९।१) इति च।

इस विषय के लिए विशेष उपयोगी समझा है, इस बात का पता इस तथ्य से चलता है कि उन्होंने जिन मन्त्रों की अध्यात्म व्याख्या की है, उनमें सबसे अधिक सङ्ख्या इस सूक्त के मन्त्रों की ही है। उन्होंने कुल ग्यारह मन्त्र (१५, १६, २०, २१, ३१, ३२, ३६–३९, ४६) इस सूक्त में से चुने हैं। जिनकी अध्यात्म व्याख्या की गई है, वे अन्य मन्त्र यों हैं: ऋ. सं. १।८४।१६–२०, ९९।१, ११५।१; ३।२६।७; ४।४०।५; ७।५९।१२; ८।११।६; ९।९६।५–६, ९७।३४–३५, ४०–४१; १०।१२०।१।

अन्य संहिताओं में से यास्क ने एक मन्त्र वाजसनेयि संहिता (३४।५५) में से एक (१०।८।९) अथर्ववेद संहिता में से, एक मन्त्र (१।९) सामवेद की आरण्यक संहिता में से या तैत्तिरीय ब्राह्मण (२।८।८।१) में से लिया है। एक मन्त्र का मूल आज ज्ञात नहीं है, परन्तु वह मन्त्र तैत्तिरीय आरण्यक (१०।१०।२०) में उपलब्ध है।

अध्याय २८

व्याकरण और काव्य शास्त्र को यास्क की देन

प्राचीन आचार्य यास्क को शास्त्र-कार कहते रहे हैं[1]। यास्क न केवल निरुक्त-शास्त्र के प्रणेता होने से ही शास्त्र-कार कहलाने के अधिकारी हैं, अपितु छन्द, अलङ्कार और व्याकरण आदि शास्त्रों का भी बहुत उपकार करने के कारण इस गौरवमय विशेषण के पूर्णतः अधिकारी हैं। निघण्टु और निरुक्त का प्रणयन करते-करते उन्होंने प्रत्यक्ष और परोक्ष रीति से वाङ्मय की अनेक शाखाओं का जैसे खजाना ही खोल दिया है। अन्य शास्त्रों के विषय में उनका गहरा स्वाध्याय इन दोनों ग्रन्थों में कहीं किसी ग्रन्थ से उद्धरण देने के रूप में प्रतिफलित दिखाई देता है, तो कहीं किसी शास्त्र की विशेष दृष्टि के अनुसार अपने कथ्य को प्रस्तुत करने के रूप में झलकता है। किसी आचार्य के मत का खण्डन या मण्डन करने के रूप में, और किसी शास्त्र

१. द्र. मीमांसा-दर्शन (आनन्दाश्रम, पूना, १८७४ शके) १।१।५ पर शाबर भाष्य पृष्ठ ४७ : ननु च शास्त्र-कारा अप्याहुः— "पूर्वापरीभूतं भावमाख्यातेनाचष्टे व्रजति, पचतीत्युपक्रमप्रभृत्यपवर्गपर्यन्तम् (निरुक्त १।१)" इति यथा।

के किसी सिद्धान्त पर अपना मन्तव्य उपस्थित करने के रूप में भी यास्क की प्रखर स्वाध्याय से परिपूत दृष्टि के दर्शन होते हैं। कभी अपने समय की सामान्य और इसी लिये अनजाने में ही प्रस्तुत की गई, परन्तु अब महत्त्व-पूर्ण लगने वाली, बातें भी वे अनायास कह गये है। उन बिखरे हुए सूत्रों को समेटकर उनके ताने-बाने से यास्क के इस वैभव को बुन कर उन के समय इन शास्त्रों की क्या स्थिति थी, इस पर प्रकाश डालने का प्रयास हम इस अध्याय में करेंगे।

निरुक्त में प्रति-बिम्बित व्याकरण-शास्त्र की स्थिति। यास्क के समय तक भाषा के अध्ययन के लिये प्रवृत्त भाषा-शास्त्र की सामान्य और विशेष-परक दोनों शाखाओं—निरुक्त और व्याकरण—का परिपूर्ण विकास हो चुका था। निरुक्त में इन दोनों शाखाओं की चर्चा भरे-पूरे सम्प्रदायों के रूप में हुई है। नैरुक्त सम्प्रदाय में यास्क का ग्रन्थ ही अन्तिम ग्रन्थ सिद्ध हुआ[1], जबकि वैयाकरण सम्प्रदाय में नवीन महत्वपूर्ण ग्रन्थों का प्रणयन बहुत आगे तक होता रहा : पाणिनि तो इस शाखा के महत्तम आचार्य हैं ही, कात्यायन और पतञ्जलि भी कम महत्त्व-पूर्ण नहीं हुए। यों, हेमचन्द्र गणि और अन्य आचार्य बहुत बाद तक व्याकरण-शाखा की श्री-वृद्धि करते रहे हैं।

यास्क ने अपने ग्रन्थ में व्याकरण शास्त्र की पारिभाषिक शब्दावलि का प्रयोग स्थान-स्थान पर किया है। इसमें बहुत-से शब्द ऐसे हैं, जो पाणिनि के व्याकरण में ज्यों-के-त्यों प्रयुक्त मिलते हैं। बहुत-से ऐसे शब्द भी हैं, जो उनसे पूर्व के व्याकरणों में ही प्रयुक्त हुए थे। कुछ शब्द ऐसे भी हैं, जो पाणिनि के व्याकरण में किसी अन्य अर्थ में प्रयुक्त हुए हैं। इस के अतिरिक्त निरुक्त में कुछ ऐसी बातें अनायास आ गई हैं जो लौकिक संस्कृत भाषा और व्याकरण की पाणिनि से पूर्व की अवस्था पर बहु-मूल्य प्रकाश डालतीं हैं।

निरुक्त में प्रयुक्त व्याकरण की शब्दावली। यास्क ने एक शास्त्र के अर्थ में व्याकरण शब्द का प्रयोग एक बार (१।१५ में) और व्याकरण-शास्त्र के विद्वान् अर्थ में वैयाकरण शब्द का प्रयोग चार बार (१।१२; २।३; ६।५; १३।१ में) किया है। व्याकरण के लिये शास्त्र शब्द का प्रयोग भी किया गया है[2]।

अक्षर शब्द अकेले, या व्यञ्जन-सम्पृक्त स्वर (अ, आ इत्यादि वर्ण) अर्थ में और वर्ण शब्द स्वर-व्यञ्जनात्मक दोनों प्रकार की ध्वनियों के लिये (२।१; ११।४१:

---

१. यास्क का ग्रन्थ ही इस शाखा का अन्तिम ग्रन्थ क्यों हुआ ? इस प्रश्न पर हम अगले अध्याय में विचार करेंगे।

२. द्र. १।२ : शास्त्र-कृतो योगश्च। स्कन्दस्वामी (भाग १, पृष्ठ १५) : शास्त्र-कृतश्चापिशले :, पाणिनेर्वा योगः सूत्रम्। ... अष्टाध्यायी-शास्त्रम् ...। स्कन्द ने भ्रम से यास्क को पाणिनि से अर्वाचीन समझा है। हाँ, 'शास्त्र' से यहाँ प्राचीन आचार्यों द्वारा प्रणीत 'व्याकरण' अभिप्रेत हैं, इतने अंश में स्कन्द ठीक हैं।

१३।१०-११ में) प्रयुक्त हुए हैं। वे अक्षर को अ-क्षर अर्थात् अ-क्षय और वाणी का आधार (वाक्क्षय) मानते हैं[1]। अक्षर शब्द-रूप है तथा व्यापक है[2]।

हम बोलते समय जिस अवस्था से युक्त शब्दों का प्रयोग करते हैं, उन्हें प्राचीन वैयाकरण पद कहते थे। वे लोग भाषा के चार अधिष्ठान (पद) मानते थे : १. नाम, २. आख्यात, ३. उपसर्ग और ४. निपात[3]। इस कथन का आशय यह है कि जगत् में वाणी के द्वारा अभिधेय जितने भी विषय हैं, वे सब इन चार कोटियों में समा जाते हैं। इस प्रकार भाषा के अवयवों का परिपूर्णतम वर्गीकरण विश्व में पहले-पहल भारतीय वैयाकरणों ने ही प्रस्तुत किया है। यास्क से सुपर्याप्त पीछे के यवन आचार्य अरिस्टाटल भाषा के निम्न अधिष्ठान मानते हैं : वर्ण, अक्षर,[4] संयोजक, (निपात), आर्टिकल्, नाम आख्यात, विभक्ति और वाच्य[4] (?) कौन-सा वर्गीकरण कितना वैज्ञानिक और पूर्ण है, यह निगद-व्याख्यात है। द्रव्य और उस में स्थित क्रिया के अभिधायक शब्दों के लक्षण भी वैयाकरण आचार्यों की ही देन हैं[5]। उपसर्गों और निपातों के लक्षणों को उन्होंने जहां छोड़ा था, आज तक वे उस से रञ्च-मात्र भी आगे नहीं बढ़ पाये हैं।

यास्क के समय में भाव शब्द व्यापार अर्थ में प्रयुक्त होता था (१।१)। आचार्य वार्ष्यायणि उस के छह भेदों की स्थापना और उन्हीं में अन्य भावों का अन्तर्भाव कर चुके थे (१।२)। भाव की सिद्ध और साध्य अवस्थाओं का निरूपण यास्क ने (१।१ में) प्रस्तुत किया है। इस से प्रतीत होता है कि इस विषय में अभी वैयाकरण लोग किसी निष्कर्ष पर नहीं पहुंच पाये होंगे।

उपसर्गों की द्योतकता और वाचकता को ले कर भाषा-शास्त्रियों में दो खेमे बन चुके थे (१।३)।

---

१. द्र. १३।१० : अक्षरं न क्षरति, न क्षीयते, वाक्क्षयो भवतीति, वाचोऽक्ष इति वा। २. द्र. १।२ : व्याप्तिमत्त्वात्तु शब्दस्य।

३. द्र. १३।६ : चत्वारि वाचः परिमितानि पदानि। ... नामाख्याते चोपसर्ग-निपाताश्चेति वैयाकरणाः।

४. द्र. लक्ष्मणस्वरूप-सम्पादित मूल, पृ. २८, पा. टि. में पोएटिक्स् २०।१४५६ b बाइवाटर् के संस्करण के पृष्ठ ५७ से उद्धृत अंश : Diction viewed as a whole is made up of the following parts : the letter (or the ultimate element) the syllable, the conjunction, the article, the noun, the verb, the case and the speech.

५ द्र. १३।६ : नामाख्याते चोपसर्ग-निपाताश्चेति वैयाकरणाः। और १।१ : तत्रैतन्नामाख्यातयोर्लक्षणं प्रदिशन्ति : भावप्रधानमाख्यातम्, सत्त्व-प्रधानानि नामानि। तु. ऋक्प्रातिशाख्य १२।१७।

दो शाब्दिक इकाइयों का परस्पर योग होने पर उन में कुछ परिवर्तन आता है, ताकि वे दोनों एक-दूसरे के साथ सही ढंग पर बैठ जायें, आपस में ग्रैडजष्ट् कर लें। इस परिवर्तन की प्रक्रिया को **सम्+√कृ** से अर्थात् **संस्कार** शब्द से कहा जाता था[1]। प्रकृति के साथ **प्रत्यय** लगने पर होने वाले परिवर्तन अथवा विकार को **संस्कार** के साथ-साथ **योग** भी कहा जाता था (१।२, १२,१३; २।१)। यह विकार शब्द में कभी तो स्पष्ट होता है और कभी अस्पष्ट। प्रथम प्रकार के शब्दों को **अवगत-संस्कार** कहा जाता था और दूसरे प्रकार वालों को **अनवगत-संस्कार** (४।१; ५।२)। व्याकरण के अधीन शब्दों में होने वाले विकार करने पर शब्द जिस अवस्था में प्रयोग के योग्य होने की स्थिति में आ जाता है, उस के लिये **सिद्धा**, **निष्पत्ति** और **सम्+√**[illegible] का प्रयोग (२।२ में) किया गया है।

भाषा में, अर्थात् वाक्य में, क्रियावाचक शब्द ही प्रधान होता है[2]। क्रियावाचक शब्द के लिये **आख्यात** शब्द का प्रयोग (१।१, १२;६।२८; ७।१, १४ में) हुआ है। **आख्यात** में जो अंश केवल क्रिया का वाचक होता है, उसे **धातु** ही कहा गया है (१।२०; २।१, २ इत्यादि)। इस अर्थ में **प्रवेश** शब्द भी प्रचलित था। प्रत्यय के योग से धातु में जो विकार होता है, उसे **प्रादेशिक विकार** और **प्रादेशिक गुण**[3] कहा जाता था (१।१२,१४; २।१)। धातु के **आख्यात** रूप को **प्रकृति** और नाम रूप को **विकृति** (२।२ में) कहा गया है। धात्वर्थ के लिये **कर्म** और अन्य अर्थों के लिये **कर्म** के अलावा **अर्थ** शब्द का भी प्रयोग किया गया है[4]।

धातु का निर्देश करते समय धातु के शुद्ध (भू, एध् आदि) रूप के प्रयोग न कर के वर्तमान के प्रथम-पुरुष एकवचन, परस्मैपद, रूप का प्रयोग किया जाता था[5]।

एक धातु को (५।२३ में) **अकर्मक** कहा गया है। इस से सिद्ध होता है कि धातुओं के **अकर्मक** और **सकर्मक** भेद इन्हीं शब्दों से पुकारे जाते थे।

---

१. द्र. १।१३ : ... पदेभ्यः पदेतरार्धान्सञ्चस्कार शाकटायनः।

२. यही कारण है कि पदजात के परिगणन वाले वाक्य में नाम की प्राथमिकता होते हुए भी लक्षण पहले आख्यात का किया गया है।

३. स्कन्द ने १।१२ और १४ में 'प्रादेशिकेन गुणेन' पाठ माना है। दूसरे अध्याय (पृष्ठ २) में भी इस की पुष्टि की है।

४. द्र १।२० : एतावन्तः समान-कर्माणो धातवः। ७ : अपि वा सौमेत्येतदनर्थकमुपबन्धमाददीत पञ्चमी-कर्माणम्। कुतो निऋ त्या—इति पञ्चम्यर्थ-प्रेक्षा वा, षष्ठ्यर्थ-प्रेक्षा वा।

५. द्र. १।१३ : एते : कारितं च यकारादिं चान्तकरणमस्तेः शुद्धं च सकारादिं च। २।५ : (गोः) गातेर्वौकारो नाम-करणः।

पाणिनीय तन्त्र के प्रथम, मध्यम और उत्तम[1] शब्दों को यास्क ने इनके विशेष्य पुरुष शब्द के साथ (७।२ में) प्रयुक्त किया है। यास्क ने वैदिक में आत्मनेपद में प्रयुक्त आसस्राणासः (ऋ. सं. ६।३७।३) की व्याख्या (१०।३ में) इसे परस्मैपद (आससृवांस:) में बदल कर की है। इस से यह अनुमान करना ठीक ही होगा कि उन के समय तक धातुओं का आत्मनेपद और परस्मैपद में से पद-विशेष में प्रयोग निश्चित हो गया था।

पाणिनि ने आख्यातों में गुण/वृद्धि के निषेध के लिये कित्, गित् और ङित् सञ्ज्ञाओं का विधान किया है[2]। यास्क के समय में इस प्रयोजन से निवृत्ति-स्थान सञ्ज्ञा प्रयोग में लाई जाती थी (२।१)।

पाणिनीय तन्त्र का विशिष्ट शब्द अभ्यास यास्क के काल में आवृत्तिमात्र के लिये प्रयुक्त होता था, चाहे वह आवृत्ति पाणिनि के अभ्यास के पारिभाषिक अर्थ[3] में हो (५।१२), या और किसी तरह के अर्थ में (२।२,३;१०।४२)। इसी प्रकार पाणिनीय तन्त्र में पारिभाषिक अर्थ में रूढ किया[4] अभ्यास शब्द भी निरुक्त में पारिभाषिक अभ्यास से युक्त (धातु) अर्थ में (२।१२; ४।२३, २५; ६।३ में) और गुणित अर्थ में (३।१० में) प्रयुक्त हुआ है। पारिभाषिक अर्थ में एक बार भी प्रयुक्त नहीं हुआ है। कुछ प्रसङ्गों में (२।२, ३) निष्प्रयोजन अभ्यास बताया गया है। इस से कहा जा सकता है कि धातु में अभ्यास होने से अर्थ में भेद माना जाता होगा। आवृत्ति-सामान्य से तो अधिकता अर्थ की प्रतीति (१०।४२ में) मानी भी गई है।

प्रत्यय शब्द प्रति + √इ से निष्पन्न है। किन्तु इस का प्रयोग व्याकरण के

---

१. यास्क ने सुमत् (निघण्टु ४।३।९८) की व्याख्या 'सुमत्—स्वयमित्यर्थः' (६।२२ में) की है। संस्कृत में अपने आप को अन्य पुरुष के रूप में प्रस्तुत करने की प्रथा है। अतः साधारण अन्य पुरुष की अपेक्षा (अथवा सबकी अपेक्षा) श्रेष्ठ को 'सु+अयम्=स्वयम्' कहा गया है। इस प्रकार अपने आपको 'उत्तम पुरुष' कहना चरितार्थ है। ३।२१ में स्वस्ति शब्द की व्याख्या भी इसी प्रकार की है। अथवा 'स्वयं' शब्द में 'सु' होने से 'द्विरेफ' की तरह का 'सुमत्' शब्द है। अपने तथा अन्य पुरुष के मध्य व्यवहार का साधन चूँकि प्रत्यक्ष व्यक्ति ही हो सकता है, अतः उसे 'मध्यम' तथा इन दोनों से भिन्न को 'प्रथम' कहने की परिपाटी चली होगी।

२ द्र. अष्टाध्यायी १।१।५ : क्ङिति च।

३. द्र. अष्टा. ६।१।४ : पूर्वोऽभ्यासः। अष्टाध्यायी में छठे और आठवें अध्यायों के पहले पादों में द्वित्व का विधान है। अभ्यास सञ्ज्ञा छठे अध्याय में विहित द्वित्व के प्रथम अवयव की होती है।

४. द्र. अष्टा ६।१।५ : उभे अभ्यस्तम्। छठे अध्याय में विहित द्वित्व के दोनों अवयव 'अभ्यस्त' कहलाते हैं।

पारिभाषिक अर्थ में निरुक्त में बिल्कुल नहीं हुआ है; अलबत्ता ज्ञान अर्थ में यह शब्द दो बार आया है[१]। पारिभाषिक अर्थ में यास्क ने सर्वाधिक प्रयोग नाम-करण शब्द का किया है। नाम-करण एक अन्वर्थक सञ्ज्ञा है : नाम-पद बनाने वाला (अंश)। इस से सिद्ध होता है कि यह शब्द कृत् और तद्धित प्रत्ययों के लिये ही प्रयुक्त होता था। निरुक्त में उपलब्ध इस के सात प्रयोगों में से छह (क. १।१७ में √अव्+अस> अवस में; ख. २।२ में √गाह्+क्स>कक्ष में, २।५ में ग. गा+ओ>गो तथा घ. √घस्+ईर>क्षीर और इस की उपमा के लिये प्रयुक्त उशीर में; ङ. ७।२९ में √मि+थु+√नी>मिथुन में थु अथवा √मि+थ+√वन्>मिथुन में थ; च. १०।१७ में √शिष्+व>शेव और शिव (गुण[२] के विकल्प के कारण) तो कृत् प्रत्यय के लिये और एक (६।२२ में अनु उपसर्ग से लुप्त हुए तद्धित प्रत्यय के लिये हैं। उपबन्ध शब्द तीनों बार तद्धित प्रत्ययों के लिये ही प्रयुक्त हुआ है : क. सोमन्+ (तस्[३])> सोमतः (१।७) ख. अध्वर+यु>अध्वर्यु (८) और ग. अग्र+(इय)>अग्रिय (६।१६)। यास्क ने (१।१३ में) एक बार अन्त-करण शब्द का प्रयोग किया है। स्कन्द इस का अर्थ भी प्रत्यय मानते हैं[४]। दुर्ग, डा. लक्ष्मणसरूप और राजवाडे जी ने व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ (जो अन्त में रखा गया) ही माना है।

यास्क के समय तक वैयाकरणों ने प्रत्ययों में या तो अनुबन्धों का प्रयोग किया ही नहीं था, या यास्क ने शब्द में वस्तुतः जुड़ने वाले स्वरूप को ही प्रत्यय के रूप में रखा है, यह इनके अस (१।१७), ईर (२।५), ओ (२।५), क्स (२।२), थ अथवा थु (७।२९), था (३।१६), यु (१।८), व (१०।१७) और वत् (३।१६) प्रत्ययों के स्वरूप के आधार पर कहा जा सकता है।

कण्ठतः प्रत्यय के रूप में नहीं बतलाये गये किन्तु चरित्र से प्रत्यय के रूप में अभिमत प्रत्यय हैं : इय (६।१६), त्व (८।१५), था (३।१६; ५।५) वि (२।३) और विन् (४।१९)। वि (२।३) मत्वर्थीय प्रत्यय है तथा विश्चकद्र शब्द में चकद्रा

---

१. द्र. १।१५ : अथापीदमन्तरेण मन्त्रेष्वर्थ-प्रत्ययो न विद्यते। अर्थमप्रतियतो नात्यन्तं स्वर-संस्कारोद्देशः। .... यदि मन्त्रार्थ-प्रत्ययाय, अनर्थकं भवतीति कौत्सः।

२. निरुक्त में गुण शब्द के प्रयोग के बारे में डा. सिद्धेश्वर वर्मा की भ्रान्ति के लिए देखिए आगे पृष्ठ ।

३. यास्क ने 'तस्' और 'इय' को कण्ठतः नहीं कहा है। हमने शब्द का रूप देख कर अपेक्षित प्रत्यय की कल्पना कर ली है। इस लिए इन कल्पित प्रत्ययों को कोष्ठक में रखा है।

४. द्र स्कन्दभाष्य, भाग १, पृष्ठ ८६ : अन्त-करणः प्रत्ययः। तेन हि साधुत्वाख्यान-वेलायां प्रयोग-वेलायां च शब्दस्यान्तः क्रियते।

अथवा चक्रद्र शब्द से पूर्व प्रयुक्त होता है[1]। इस से विदित होता है कि यास्क के समय प्रत्यय शब्द के आदि में भी लगाये जाते थे। पाणिनि ने तो इस विषय में नियम बना दिया है कि प्रत्यय प्रकृति के बाद ही लगेंगे। केवल बहुच् और अकच् प्रत्यय ही इस नियम के अपवाद हैं[2]।

प्रत्यय सार्थक और निरर्थक होते थे। अधीयानः (१।६), इदं कामयमानः (१।६; ६।३१), तत्र जातः (६।८), तत्र भृतम् (११।३६), तदर्हति (२।२), तद्वान् (३।७;४।१६; ६।३१), तस्मै हितम् (३।७, ११।३६), तस्यापत्यम् (वहीं), तस्य समूहः (४।२), तेन सम्पद्यते (२।२), तेन संस्कृतम् (११।३६), सोऽस्य निवासः (१०।४४) और विभक्तियों के अर्थों में (१।७) तद्धित प्रत्यय प्रयुक्त होते थे।

कृत् और कृत्य प्रत्ययों का नामतः निर्देश नहीं किया गया है। पाणिनीय तन्त्र में कृत्य प्रत्यय के रूप में विदित प्रत्यय अर्हार्थीय ही थे[3]। क्रिया पदों से लगने वाले प्रत्ययों के बारे में निरुक्त में कुछ भी नहीं कहा गया है।

निरुक्त में वृत्ति शब्द पारिभाषिक अर्थ में प्रयुक्त हुआ है (२।२)। वृत्तियों के भेद ये थे : कृत्, तद्धित, समास (सभी २।२ में), कारित (हेतुमण्णिजन्त १।१३ में) चिकीर्षित (इच्छा-सन्नन्त ६।१ में) और चर्करीत (यङन्त तथा यङ्-लुगन्त २।२८; ६।२२ में) कृत, तद्धित और समास शब्द क्रमशः कृदन्त, तद्धितान्त और समस्त शब्दों के लिये प्रयुक्त हुए हैं (२।२)। शब्द के अवयव-भूत पद पर्व कहलाते थे (२।२)।

तद्धितों को एक-पर्व और समासों को अनेक-पर्व कहा जाता था (२।२)। विग्रह शब्द पारिभाषिक अर्थ में प्रयुक्त होता था कि नहीं, इस बारे में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता, हालांकि इसका प्रयोग एक बार (१।४ में) हुआ है। इस अर्थ में प्रवि+ √भज् का प्रयोग स्यात् होता रहा हो[4]। णिच्, सन् आदि से रहित गणीय रूप शुद्ध कहलाते थे (१।१३)।

नाम पदों के दो विभाग थे नाम (द्रव्य-वाचक[5] सञ्ज्ञा शब्द) और सर्वनाम

---

१. द्र. २।३ : विचक्रद्राकर्षः। .. चक्द्राति कद्रातीति सतोऽनर्थकोऽभ्यासः। तदस्मिन्नस्तीति विचकद्रः। दुर्गं : वीत्युभयोरर्थयोर्मत्वर्थः।

२. द्र. अष्टा. ३।१।१ : प्रत्ययः, २ : परश्च और ५।३।६८ : विभाषा सुपो बहुच् पुरस्तात्तु। ७१ : अव्यय-सर्वनाम्नामकच् प्राक् टेः।

३. द्र. १।१० : प्रस्नेयाः स्नानार्हाः।

४. द्र. २।२ : अथ तद्धित-समासेष्वेक-पर्वसु चानेक-पर्वसु च पूर्वं पूर्वमपरमपरं प्रविभज्य निर्ब्रूयात्। यहाँ 'विगृह्य' के अर्थ में 'प्रविभज्य' का प्रयोग किया गया है।

५. 'द्रव्य' से यहाँ वह अर्थ अपेक्षित है, जिसे संस्कृत भाषा में लिङ्ग और सङ्ख्या से युक्त के रूप में बोला जाता है। पारिभाषिक (गुण और क्रिया का आश्रय द्रव्य) अर्थ अपेक्षित नहीं है।

(१।७,८; ७।२)। यास्क ने **सर्वनाम** का अर्थ स्पष्ट नहीं किया है। इस से लगता है कि उनके समय यह शब्द बहुत प्रसिद्ध था। **नाम** पदों के दोनों वर्गों में शब्द दो प्रकार के थे : **दृष्ट-व्यय** (१।८, ५।२३) और **अदृष्ट-व्यय**[१]। सभी प्रकार के **नाम** पदों से **प्रथमा, द्वितीया** आदि सात **विभक्तियाँ** होती थीं, (१।८) जिन्हें **नाम-विभक्तियाँ** कहा जाता था (७।१)। **नाम-विभक्ति** शब्द से प्रतीत होता है कि **आख्यात-विभक्ति** भी होती होंगी। परवर्ती आचार्य **पाणिनि** ने उन्हें **विभक्ति** कहा भी है[२]। **विभक्तियों** का अर्थ निश्चित होता था; बहुधा **व्यत्यय**-भी मान लिया जाता था (६।१)। विभजनीय सङ्ख्या को बतलाने के लिये प्रत्येक **विभक्ति** के तीन **वचन** होते थे, जिन्हें **एक-वचन, द्वि-वचन** और **बहु-वचन** कहा गया है (१।८, १७, २।१; ४।२, १५)।

यास्क ने **नाम** पड़ने का आधार चार बातों को माना है : १. **कर्म** अर्थात् अभिधेय पदार्थ की कोई विशिष्ट क्रिया, २. **शब्दानुकरण**, ३. **शुभाशंसा** और ४. **अर्थ-वैरूप्य**[३]। नाम शब्द मूलतः **आख्यातज** हैं, अर्थात् वे कृदन्त ही होते हैं. यास्क **शाकटायन** आदि प्राचीन आचार्यों के इस सिद्धान्त को मानते लगते हैं। **शाकपूणि** आचार्य **अच्छ** उपसर्ग को √**आप्** से निष्पन्न मानते थे (५.२८)। यास्क स्वयम् **आविस्** निपात को **आ** + √**विद्** से निष्पन्न मानते हैं (८।१५)। इस से प्रतीत होता है कि यास्क केवल **नामों** को ही नहीं, अपितु सभी प्रकार के शब्दों को **आख्यातज** मानते हैं।

यास्क ने **लोप** (२।१), **उपधा** (२।१; ५।१२), **प्रतिषेध** (१।४-५ ८; ३।५; ११।१८), **अन्वादेश**[४] (४।२५; ६।१३, ३१; ७।६), **संहिता** (१।१७), **उदात्त**

---

१. यास्क ने १।८ और ५।२३ में कतिपय बार **दृष्ट-व्यय** शब्द का प्रयोग विभिन्न विभक्तियों में रूप चलने वाले नाम शब्दों के लिए किया है। ६।७ में '**अस्मे**' (निघण्टु ४।३।२९) की व्याख्या अनेक विभक्तियों के बहु-वचन में की गई है। '**अस्मे**' 'हम' अर्थ में सर्वनाम है। इसी आधार पर हमने नामों और सर्वनामों के दो वर्ग बताये हैं। '**दृष्ट-व्यय**' शब्द के आधार पर इसके प्रति-लोम '**अदृष्ट-व्यय**' अथवा '**अव्यय**' शब्द की कल्पना करना असङ्गत नहीं है।

२. द्र. अष्टा. १।४।१०४ : विभक्तिश्च। इस पर काशिका : त्रीणि-त्रीणि विभक्ति-सञ्ज्ञाश्च भवन्ति सुपस्तिङश्च।

३. इनका विवेचन पीछे पृष्ठ ४० पर देखिये।

४. यह एक अन्वर्थक सञ्ज्ञा है। सर्वनाम के द्वारा नाम के अभिधान को '**आदेश**' कहा जाता था। जब यह अभिधान पहली बार होता है, तब इसे '**प्रथमादेश**' और जब दूसरी या तीसरी बार होता है, तब '**अन्वादेश**' कहा जाता था : अस्या इति चास्येति चोदात्तं प्रथमादेशे; अनुदात्तमन्वादेशे (४।२५)। सामान्यतः इन दोनों स्थितियों के लिए '**उपदेश**' शब्द का प्रयोग होता था (१।१; २।२१)।

(४।२५; ५।५; ६।२८), अनुदात्त (१।७; ४।२५; ५।५, २२, २३), ह्रस्व[1] (३।१३) और गुण (१०।१७) शब्दों का उसी अर्थ में प्रयोग किया है, जिस अर्थ में ये पाणिनीय तन्त्र में प्रयुक्त हुए हैं।

निरुक्त में 'गुण' शब्द के प्रयोग के बारे में सिद्धेश्वर जी की भ्रान्ति। डा. सिद्धेश्वर वर्मा ने निरुक्त में गुण शब्द के प्रयोग के बारे में (पृष्ठ १० पर) कहा है कि यास्क स्वरों के सङ्कोच-विस्तार के सन्दर्भ में गुण-कार्य से परिचित हैं, यद्यपि उन्हों ने गुण शब्द या गुण-कार्य की चर्चा निरुक्त में कहीं नहीं की है :

"यास्क was aware of ... (i) गुण (though he never mentioned this phonetic term or the phenomenon):—"

वर्मा जी ने कोष्ठकान्तर्गत बात न जाने कैसे लिख दी है ! स्वयम् उन्हों ने (१२१ पृष्ठ पर) अपनी कलम से वह सन्दर्भ निरुक्त से उद्धृत किया है, जिस में न केवल गुण शब्द स-शरीर उपस्थित है, बल्कि यह भी बताया है कि √शिष्+व से गुण के निकल्प से शेव और शिव शब्द निष्पन्न हैं[2]। मानव-सुलभ अ-सावधानता ही इस में उत्तर-दायी लगती है।

यास्क के समय स्वरों का महत्व। उदात्त स्वर से बोलने पर अर्थ में तीव्रता और अनुदात्त से अल्पता प्रकट होती थी (४।१५)। यास्क ने शब्द की व्युत्पत्ति की जहां-कहीं (१।१२, १४, १५; २।१ में) चर्चा की है, वहीं स्वर को उन्हों ने व्याकरण के अधीन होने वाले संस्कार की अपेक्षा भी प्राथमिकता दी है। समूचा निरुक्त स-स्वर ही था, इस विषय में चर्चा हम पीछे (पृष्ठ ७५) पर कर आये हैं। आज भी पाण्डु-लिपियों में स-स्वरता के अवशेष कुछ-न-कुछ रह ही गये हैं। श्री वै. का. राजवाडे के द्वारा सम्पादित निरुक्त[3] में ३।२१ में सचस्वा नः स्वस्तये (ऋ. सं. १।१।९) की सेवस्व नः स्वस्तये व्याख्या सस्वर ही दी गई है[4]।

संस्कृत भाषा और व्याकरण की प्राचीन स्थिति। पृथुष्टुके की व्याख्या में यास्क ने पृथु-केशस्तुके, पृथु-ष्टुते वा (११।३२) कहा है। पाणिनि के समय में यह सन्धि लौकिक में अवैध थी और वैदिक भाषा में एकीय मत में प्रचलित थी[5]।

१. यह शब्द √ह्रस् से व्युत्पन्न है। इसके निष्ठान्त 'ह्रसित' रूप का प्रयोग भी पारिभाषिक अर्थ में हुआ है (२।१७; ६।११)।

२. द्र. १०।१७ : शेव इति सुख-नाम, शिष्यतेः, वकारो नाम-करणः, अन्तस्थान्तरोपलिङ्गी, विभाषित-गुणः; शिवमप्यस्य भवति।

३. आनन्दाश्रम मुद्रणालय, पूना, १९२१ ई०, पृष्ठ २८०।

४. अन्य प्रमाणों की चर्चा पीछे पृष्ठ ७५-७६ पर देखें।

५. द्र. अष्टा. ८।३।१०५ : स्तुत-स्तोमयोश्छन्दसि। तथा इस पर काशिका : एकेषामिति वर्तते। स्तुत-स्तोम इत्येतयोः सकारस्य छन्दसि विषये मूर्धन्या-देशो भवत्येकेषामाचार्याणां मतेन।

निरुक्त में इसी प्रकार की कुछ अन्य सन्धियां भी मिलती हैं, जो वैदिक भाषा में तो प्रचलित थीं, पर पाणिनि के व्याकरण में लौकिक प्रयोगों के लिए निषिद्ध थीं। जैसे :—वैदिक **अभीषाट्** (ऋ. सं. ७।४ ८) की व्याख्या (३।३) में उन्हों ने **अभिषह्-माणः** का प्रयोग किया है। पाणिनीय तन्त्र में लौकिक में **परि/नि/वि**+√सह् के स् को ही ष् होता है[1]। **तेभिष्ट्वा** (ऋ. सं. १०।१५५।१) की व्याख्या **तैष्ट्वा** से की है (६।३०), जो पाणिनि के व्याकरण के अधीन कथमपि सम्भव नहीं है, जब कि वैदिक भाषा में बहुत साधारण बात है।

पाणिनीय तन्त्र में **दघ्न** एक प्रत्यय है[2]। यास्क ने इसे √**दघ्** से निष्पन्न नाम माना है (१।६)। पाणिनि ने **प्रवतः**, **निवतः**, **उद्वतः** में वैदिक भाषा में **प्र**, **नि**, और **उद्** उपसर्गों से **वति** प्रत्यय का विधान किया है[3]। यास्क ने इन्हें गत्यर्थक √**अव्** से निष्पन्न माना है (१०।२०)। **ऋजूयत**, **नीचायमान**, आदि नाम-धातुओं की निष्पत्ति पाणिनि ने इन में **य** प्रत्यय लगा कर की है। इस के विपरीत यास्क इन में सम्बद्ध नाम के अलावा कोई स्वतन्त्र धातु को भी बतलाते हैं। जैसे :—**नीचायमान** शब्द **नीचैः** और **अयमान** पदों का समन्वित रूप बतलाया है (४।२४); **ऋजूयताम्** की व्याख्या **ऋजु-गामिनाम्** अथवा **ऋतु-गामिनाम्** की है (१२।३६)। इस का तात्पर्य यह है कि वे इसे **ऋजु** अथवा **ऋतु** नाम-पद और √**इ** के शत्रन्त **यत्** नाम-पद का समन्वित रूप मानते हैं। **अपत्य** शब्द **अप**+**त्य** से निष्पन्न है (देखिये पीछे पृष्ठ ३८७)। यह **त्य** एक तद्धित प्रत्यय है। इसी प्रकार **सत्य** शब्द भी **त्य**-प्रत्ययान्त है। यास्क ने इस **त्य** प्रत्यय की व्याख्या √**तन्** से की है : **अप-ततं भवति** (३।१); **सत्सु तायते**, **सत्प्रभवं भवतीति वा** (३।१३)। इस का अर्थ यह हुआ कि यास्क **त्य** प्रत्यय को √**तन्** से निष्पन्न मानते हैं। इस विवरण के आधार पर हमारा यह विचार है कि किसी समय प्रत्यय स्वतन्त्र नाम पदों के रूप में रहे होंगे। कालान्तर में वे अपने विशिष्ट चरित्र के कारण अपनी प्रकृति के साथ अ-विना-भाव सम्बन्ध से स्थित हो कर प्रत्यय के रूप में विकसित हो गये। उन का स्वतन्त्र प्रयोग इतना अज्ञात होता गया कि उनका स्वतन्त्र पद होना गहन सन्तमस में आच्छन्न हो गया। अपने मन्तव्य की पुष्टि में हम हिन्दी के अपने प्रत्ययों को ले सकते हैं। प्रायः वे सब एक समय

---

१. द्र. अष्टा. ८।३।७० : परि-नि-विभ्यः सेव-सित-सय-सिवु-सह-सुट्-स्तु-स्वञ्जाम्। वैदिक में पूर्व-पद में स्थित इण् और क वर्ग के निमित्त से उत्तर-पद के स् को ष् हो सकता है। द्र. अष्टा. १०६ : पूर्व-पदात्, और यहीं पर काशिका : असमासेऽपि यत्पूर्व-पदं, तदपीह गृह्यते।

२. द्र. अष्टा. ५।२।३७ : प्रमाणे द्वयसज्-दघ्नञ्-मात्रचः।

३. द्र. अष्टा. ५।१।११८ : उपसर्गाच्छन्दसि धात्वर्थे।

स्वतन्त्र पद थे। हिन्दी का में[1] एक समय मध्ये था। से (तृतीया का प्रत्यय) सह का अवशेष है। यास्क स्वतन्त्र शब्दों के प्रत्ययता की ओर इस रुझान से सुपरिचित हैं। इस प्रकार हमारे विचार में वे संस्कृत व्याकरण के उस स्वरूप की ओर सङ्केत कर रहे हैं, जो कम-से-कम पाणिनि से बहुत प्राचीन है। इस निष्कर्ष पर पहुँचने में निम्न तथ्य भी पाठकों की सहायता करेंगे :—

१. अध्वर्यु की व्याख्या (१।८) में यास्क ने बताया है कि यु प्रत्यय है तथा पढ़ने वाला (अधीयान) इस का अर्थ है[2]। इवंयु की व्याख्या (६।३१) में इस के दो अर्थ बताये हैं : १. कामयमान, तथा २. (तद्वान्) वाला। दूसरे (तद्वद्) अर्थ में तो यह प्रत्यय यास्क के समय की बोलचाल में प्रयुक्त होता था : इवंयुरिदं कामयमानः। अथापि तद्वदर्थे भाष्यते। वसूयुरिन्द्रो वसुमानित्यर्थः। अध्वर्यु के प्रसङ्ग (१।८) में भी कामयमान अर्थ यास्क के दिमाग में है, यह तथ्य वहाँ के पाठ में भली-भाँति स्पष्ट है।

इस विवरण के निष्कर्ष के रूप में हम निम्न बातें रख सकते हैं :

(क) यु एक तद्धित प्रत्यय है। (ख) इस के तीन अर्थ थे : (अ) अधीयान, (आ) कामयमान और (इ) तद्वान्। (ग) अधीयान अर्थ में यह प्रत्यय क्वाचित्क अर्थात् कम प्रचलित था। तद्वान् अर्थ में उस समय की भाषा में इसका खुला प्रयोग होता था। कामयमान प्राचीनकाल में था। यु प्रत्यय का क्षेत्र सीमित नहीं था।

अब हम पाणिनि की अष्टाध्यायी में इस प्रत्यय की स्थिति का लेखा-जोखा जब लेते हैं, तो पाते हैं कि पाणिनि से पूर्व ही यह प्रत्यय प्रयोग-क्षेत्र और अर्थ— दोनों ही दृष्टियों से नितान्त सीमित हो चुका था। वहाँ इस प्रत्यय को केवल पाँच शब्दों—१. ऊर्णायु, २. कंयु, ३. शंयु, ४. अहंयु और ५. शुभंयु—में ही प्रयोग की अनुमति मिली है[3]। काशिका (५।२।१२३) का तो कहना है कि कुछ लोग ऊर्णायु शब्द को केवल वैदिक में ही प्रयुक्त मानते हैं।

यास्क और पाणिनि के ग्रन्थों में प्रतिपादित यु प्रत्यय की स्थिति की तुलना करने से विदित होता है कि यास्क और पाणिनि के मध्य इतना समय होना चाहिये कि (क) यु प्रत्यय, जो यास्क के समय तीन अर्थों में प्रचलित था, वह पाणिनि के समय एक ही अर्थ में सीमित रह गया; तथा (ख) यास्क के समय अत्यन्त साधारण (आम) यु प्रत्यय पाणिनि के समय प्रयुक्त भाषा के केवल चार शब्दों में ही सीमित रह गया था।

---

१. इसे आज हिन्दी के वैयाकरण पर-सर्ग कहते हैं, प्रत्यय नहीं।

२. द्र. १।८ : अध्वर्युरध्वर-युः.... अध्वरं कामयत इति वा। अपि वा-ऽधीयाने युरुप-बन्धः। ३. द्र. अष्टा. ५।२।१२३ : ऊर्णाया युस्, १३८ : कं-शम्भ्यां ब-भ-युस्-ति तु-त-यसः, १४० : अहं-शुभमोर्युस्।

इस से सिद्ध होता है कि यास्क संस्कृत भाषा और व्याकरण के उस युग की बात कर रहे हैं, जो पाणिनि से बहुत-बहुत प्राचीन है[१]।

२. पाणिनीय तन्त्र में तत्र जातः (अष्टा, ४।३।२५) आदि शैषिक अर्थों में त्य (त्यक्, त्यप्,) प्रत्यय केवल १. दक्षिणा, २. पश्चात्, ३. पुरस् और ४. अव्ययों से विहित हैं[२]। पर-वर्ती काल में तो अव्ययों में भी सब अव्ययों से नहीं, अपितु १. अमा, २. इह, ३, क्व, ४. नि, ५. निस्, ६. आविस् शब्दों और तद्धित तस् तथा त्र प्रत्ययों से निष्पन्न शब्दों में ही सीमित हो गये थे[३]। अर्थात् त्य प्रत्यय का क्षेत्र निरन्तर सङ्कुचित होता रहा है। निरुक्त (८।१५) में हमें आविष्ट्य (आविस्+त्य) की व्याख्या में आविरावेदनात्, तत्त्यः (आविस् भली-भाँति पाने के कारण—आ+√विद् से—है, उस में होने वाला=आविष्ट्य)। यहाँ यह बात ध्यान देने की है कि तत् शब्द से त्य प्रत्यय किया गया है। पाणिनि के व्याकरण के अनुसार यहाँ त्य प्रत्यय सम्भव ही नहीं है। आविष्ट्य में पाणिनि के अनुसार तो त्य प्राप्त है, उन के व्याख्याताओं के अनुसार प्राप्त नहीं है। सत्य शब्द के निर्वचन (सत्सु तायते, सत्प्रभवं भवतीति वा। ३।१३) से भी लगता है कि वे सत्य शब्द को सत्+त्य से निष्पन्न मानते हैं। यहाँ भी पाणिनि की दृष्टि से त्य प्रत्यय सम्भव नहीं है। अतः यास्क के प्रयोगों से विदित होता है कि त्य प्रत्यय उनके समय आम प्रत्यय की तरह प्रयोग में आता था।

३. पाणिनीय तन्त्र में √चक्ष् और √ख्या दो स्वतन्त्र, भरी-पूरी धातु नहीं हैं। कुछ प्रयोगों में √चक्ष् का प्रयोग होता है, तो कुछ में √ख्या का[४]। यास्क ने दोनों को स्वतन्त्र तथा एक-दूसरे से केवल अर्थ की समानता से सम्बद्ध, अर्थात् समानार्थक धातु माना है: चक्षुः ख्यातेर्वा, चष्टेर्वा (४।३)। इसी प्रकार घोर-चक्षसे (ऋ. सं. ७।१०४।२) की व्याख्या घोर-ख्यानाय कह कर (४।३ में) की है। इस से विदित होता है कि √चक्ष् और √ख्या के मध्य जिस सम्बन्ध का प्रतिपादन पाणिनि को करना पड़ा है, यास्क के समय तक उस की भूमिका भी नहीं बन पायी थी।

४. पाणिनीय तन्त्रमें √हृ को स्टैण्डर्ड् मानकर उस का वैदिक रूप √भृ माना

---

१. पीछे पृष्ठ ७३ भी देखिये।

२. द्र. अष्टा. ४।२।९८ : दक्षिणा-पश्चात्-पुरसस्त्यक्, १०४ : अव्ययात् त्यप्।

३. द्र महाभाष्य ४।२।१०४, (पृष्ठ ६७२) : परि-गणनं कर्तव्यम्—अमेह-क्व-तसि-त्रेभ्यस्त्यब्विधिर्योऽव्ययात् स्मृतः। त्यब्नेर्ध्रुव इति वक्तव्यम्। निसो गते। वा. १, (पृष्ठ ६७३) : अव्ययात्त्यप्याविष्टस्योपसङ्ख्यानम्।

४. द्र. अष्टा. २।४।५४ : चक्षिङः ख्याञ्, ५५ : वा लिटि।

जाता है[1]। अर्थात् उस समय केवल √ह् का ही प्रयोग होता था, √भृ तो अतीत की बात थी। यास्क के समय √भृ और √ह् दोनों का प्रयोग होता था। हाँ √भृ पुरानी अवश्य पड़ रही थी, यह बात भर शब्द के निम्न निर्वचन से स्पष्ट होती है : भर इति सङ्ग्राम-नाम भरतेर्वा, हरतेर्वा (४।२४)। इसी प्रकार भ्रातृ शब्द को √ह् के अर्थ वाले √भृ से बतलाते हुए उन्होंने कहा है : भ्राता भरतेर्हरति-कर्मणः (४।२६)।

५. पाणिनि के समय √ग्रभ् बिल्कुल वैदिक मानी जाती थी। अर्थात् लौकिक संस्कृत में √ग्रह् का ही प्रयोग होता था। किन्तु यास्क ने गर्भ शब्द को √ग्रभ् से निष्पन्न बताया है। अर्थात् वे √ग्रभ् के प्रयोग-काल से बहुत दूर नहीं हैं।

६. पाणिनि ने अयम् (पुं. सर्वनाम) को इदम् के स्थान पर— इदम् के इद् अंश को अय् आदेश से—निष्पन्न बताया है। इस का अर्थ यह है कि प्राचीन काल में अय् और इद् दो स्वतन्त्र प्रकृति थीं। कालान्तर में दोनों का क्षेत्र सङ्कुचित होने पर उन्हों ने अपनी सुविधा के लिये दोनों को जोड़ दिया। यास्क में हमें इस प्राचीन शब्द के अवशेष मिलते हैं। अयम् √इ से निष्पन्न बताया है (३।१६)। वैदिक भाषा में ई (ईम्), अया आदि में यह व्युत्पत्ति भली-भाँति लागू होती है। इसी प्रकार असौ (वह) को यास्क ने √अस् से निष्पन्न बताया है (३।१६)। उन्हों ने वह सब द्रविड-प्राणायाम नहीं किया, जो पाणिनि को अदस् से असौ को सिद्ध करने के लिये करना पड़ा है।

७. पाणिनि ने अयादि सन्धि में निष्पन्न पदान्तीय य् और व् के लोप का विकल्प बताया है, अर्थात् शाकल्य आचार्य ने तो नित्य लोप बताया है, किन्तु पाणिनि विकल्प चाहते हैं[2]। यास्क इस सन्धि के बारे में इतने सावधान हैं कि हमारे विचार में एक भी स्थान ऐसा नहीं मिलेगा, जिस में शाकल्य के नियम का पालन न किया गया हो, अर्थात् वे संस्कृत व्याकरण के उस युग के हैं, जब पदपाठ के प्रणेता वैयाकरण शाकल्य की ही वैयाकरणों तथा भाषा के प्रयोक्ताओं में तूती बोलती थी।

यास्क का ध्वनि-विज्ञान। मनुष्य के समान ही मनुष्य की भाषा भी निरन्तर परिवर्तन-शील है। भाषा के प्रत्येक अङ्ग में परिवर्तन होता रहता है। भाषा का शरीर ध्वनि है और आत्मा उस से ध्वनित होने वाला अर्थ[3]। ध्वनि का उच्चारण प्रत्येक मनुष्य अपने-अपने ढङ्ग से अलग-अलग तरह से करता है, इस लिये कोई भी उच्चारण दूसरे उच्चारण से पूरी तरह नहीं मिलता; प्रायेण समान होता है। इस

---

१. द्र. अष्टा. ८।२।३२ पर वार्तिक : हृ-ग्रहोर्भश्छन्दसि।

२. द्र. अष्टा. ८।३।१९ : लोपः शाकल्यस्य और इस पर काशिका : यकार-वकारयोः पदान्तयोरवर्ण-पूर्वयोर्लोपो भवति शाकल्यस्य मतेन अशि परतः।

३. द्र. १।२० : अर्थं वाचः पुष्प-फलमाह।

प्रायिक समानता को ले कर ही ध्वनियों के स्वरूप-निर्धारण, वर्गीकरण आदि किये जाते हैं। किसी भी ध्वनि का हमेशा सही, या प्रायेण समान उच्चारण कर पाना हर किसी के बस की बात नहीं है। यही कारण है कि हर युग में हर भाषा के उच्चारण के प्रमुख रूप से दो स्तर होते हैं। एक स्तर पर शब्दों का उच्चारण बहुत सावधानी से करने की चेष्टा की जाती है। प्रत्येक ध्वनि को स्थान, प्रयत्न और मात्रा की दृष्टि से ठीक-ठीक बोलने की चेष्टा की जाती है। यह प्रयत्न प्रायेण समाज के शिक्षित घटकों की ओर से विशेष रूप से होता है। पर बहुत से घटक ऐसे भी होते हैं, जो ध्वनियों का उच्चारण सही ढंग से नहीं कर पाते हैं, या उस पर बहुत ध्यान नहीं देते। ऐसे लोगों को प्राचीन काल में म्लेच्छ-भाषी अथवा म्लेच्छ अर्थात् अस्पष्ट उच्चारण करने वाला कहा जाता था[1]। उच्चारण पर ध्यान देने वाले लोग भी अपने स्वर-यन्त्र के दोष से, अथवा अन्य किसी कारण से बहुत-सी बार सही उच्चारण नहीं कर पाते। शनैः-शनैः बहुत-से भ्रष्ट उच्चारण व्यक्ति के सीमित क्षेत्र से फैल कर समाज का अङ्ग बन जाते हैं और भाषा में घुल-मिल जाते हैं। वैदिक-भाषा-भाषी ऋषि भी अन्ततः मनुष्य थे। इन स्वाभाविक, शारीरिक तथा अन्य प्रकार की उच्चारण-सम्बन्धी कमजोरियों से वे भी मुक्त नहीं थे। इन प्रवृत्तियों का अध्ययन करने को पर्याप्त सामग्री निरुक्त में विद्यमान है।

१. यास्क के समय ऋ की स्थिति। वर्तमान में भारतवर्ष में ऋ के दो

---

१. द्र. श. ब्रा. ३।२।१।२४ और महाभाष्य, पस्पशा, पृष्ठ ११। शतपथ में म्लेच्छ भाषा को असुरों की भाषा कहा है : असुर्या हैषा वाक्। भारतीय साहित्य में असुर शब्द भारत से पश्चिम के लोगों के लिए प्रयुक्त हुआ है यह सुविदित है। वे लोग संस्कृत का तो दूर, अपनी भी संयुक्त ध्वनियों का उच्चारण साफ ढंग से नहीं कर पाते। विश्वास न हो तो obstacle का उच्चारण करवा कर देख लें। c और l के बीच में स्वर-भक्ति के बिना उच्चारण कर ही नहीं पायेंगे। इस तरह की त्रुटि के कारण ही वे लोग अपनी उधार की वर्णमाला की खिचड़ी खा कर पूर्ण तृप्ति न होने पर अफसोस जाहिर करके ही रह जाते हैं :

We Europeans, on the other hand, 2500 years later, and in a scientific age, still employ an alphabet which is not only inadequate to represent all the sounds of *our languge,* but even preserves the random order in which vowels and consonants are jumbled up as they were in the Greek adaptation of the primitive semitic arrangement of 3000 years ago. (आर्थर् ऐंथनी मॅक्डानल्, ए हिस्ट्री आफ् संस्कृत लिट्रेचर्, मोतीलाल बनारसी दास्, दिल्ली, १९६२ ई०, पृष्ठ १४)।

यही कारण है कि भारतीय उन्हें म्लेच्छ कहते रहे हैं।

उच्चारण—रि एवं रु—प्रचलित हैं। बनावट के आधार पर ऋ को समानाक्षर माना गया है। परन्तु यह आज तो स्वर ही नहीं रह गया है, समानाक्षरता तो दूर की बात है। इस में हम आज दो ध्वनियों का उच्चारण करते हैं : र्+इ या र्+उ। व्याकरण ग्रन्थों में इस र् को र्-जैसा (रेफ-सदृश) कहा गया है[1]। आज के उच्चारण में यह र् पहले है तथा स्वर-भाग बाद में। व्याकरण-ग्रन्थों में र् को मध्यवर्ती और स्वर-भाग को उस के दोनों ओर स्थित बतलाया गया है[2]।

ऋ का विकास विभिन्न रूपों में हुआ है, यह हमें विदित है। किसी स्वर से पूर्व आने पर इस के स्थान में या तो सिर्फ र् आता है : धातृ+अंश=धात्रंश, या रेफांश और उस से पूर्व अ, इ या उ आते हैं : अर् : करोति, आर् : कार्य, इर् : किरति, ईर् : तीर्ण, उर् : गुरति, ऊर् : पूरक। इस का अर्थ यह हुआ कि इस स्वर में र् और किसी स्वर को जन्म देने की सामर्थ्य वाली दो ध्वनियाँ मौजूद हैं। संस्कृत बोलने वालों ने रेफांश को जीवित रखने का प्रयास किया है; पर आम जनता को उस का उच्चारण कुछ चुभता था; अर्थात् प्राकृतों में रेफांश तो लुप्त हो गया, पर स्वरांश जीवित रह गया। इस से सिद्ध होता है कि ऋ में रेफांश दुर्बल था, स्वर-भाग प्रबल। यास्क में इस प्राकृत प्रवृत्ति के दर्शन निम्न रूपों में होते हैं : ऋ>के स्थान में :

(क) अ। कण्टक √कृन्त् से (६।३२), कशा √ कृष् से (९।१९), कीकटाः किं कृताः से (६।३२) और सतः को सृतः से (३।२०) निष्पन्न बताया है। पालि में कृशा का किशा मिलता है।

(ख) इ। इद्ध की व्याख्या √ऋध् से (१०।२१), ईर्मिणः की √इष्, √एष् या √ऋष् से (४।१६), कितव की कृत-वान् से (५।२२), शिप्र की सृप्र से (६।१७) की गई है।

(ग) उ। अप्रतिष्कुतः में कुतः को कृतः का विकसित रूप माना है (६।१६)। आतुरि आ+√तृ से (६।३१), कुट कृत से (५।२४), कुत्स √कृन्त्, या √कृ+स्तु से (३।११), कुत्र और क्रूर √कृन्त् से (६।२२), निचुम्पुण नि+चम्+√पृ से (५।१८) निष्पन्न हैं।

संस्कृत की रेफ रखने की प्रवृत्ति के उदाहरण देने की आवश्यकता नहीं है। जहाँ तक ऋ के उच्चारण का प्रश्न है, यास्क के समय ही इस में इ और उ की सत्ता

१. द्र. ऐऔच् (प्रत्याहार-सूत्र ४) पर काशिका : वर्णेषु ये वर्णैकदेशा वर्णान्तर-समानाकृतयस्, तेषु तत्कार्यं न भवति; तच्छायाऽनुकारिणो हि ते, न पुनस्त एव। २. द्र. सिद्धान्त-कौमुदी, अच्सन्धि, अकः सवर्णे दीर्घः (अष्टा. ६।१।१०१) पर : ऋति ऋ वा,....इत्युभयत्रापि विधेयं वर्णद्वयं द्वि-मात्रम्। आद्यस्य मध्ये द्वौ रेफौ। तयोरेका मात्रा। अभितोऽज्भक्तेरपरा।

थी, हमारा ऐसा विचार है। यास्क ने तृच शब्द में दो वर्णों का लोप बताया है (२।१)। यह शब्द त्रि+ऋच् के मेल से बना है। इस में लुप्त होने वाले दो वर्ण हैं: रेफ तथा इ। इस से प्रतीत होता है कि रि (त्रि) और ऋ का उच्चारण समान-सा रहा होगा, जिससे परवर्ती समान ध्वनि के आगे पूर्व-वर्ती समान ध्वनि का लोप हो गया। इस के साथ, मुहुर्ऋतु>मुहूर्त निर्वचन (२।२५) यह बताता है कि ऋ का उच्चारण उ के समान भी रहा होगा, अन्यथा ऋ का स्वरांश दुर्बल क्यों पड़ता और लुप्त क्यों हो जाता? ऋभु शब्द के उरु+√भा, या उरु+√भू से व्याख्यान (११।१५) से भी यही सिद्ध होता है कि ऋ का उच्चारण उकारवान् था। पीछे दिये ऋ के इ, उ में विकास के विवरण से भी यही सिद्ध होता है कि उस समय, या उस से भी पहले, कहीं ऋ के उच्चारण में इ की स्वर-भक्ति थी, और कहीं पर उ की। कृक-वाकु शब्द को यास्क ने कृक-कृक बोलने के कारण पड़ा नाम बताया है (१२।१३)। कृक-वाकु मुर्गे को कहते हैं। मुर्गे की बांग में आज भी उकार ध्वनि ही ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत मात्राओं में सुनाई देती है। पाणिनि महाराज के समय भी यही सुनाई देती थी। तभी तो उन्हों ने ऊकालोऽज्झ्रस्व-दीर्घ-प्लुतः (अष्टाध्यायी १।२।२७) लिखा है। इस से सिद्ध होता है कि शायद उस समय के शिष्टों में ऋ में उकार-श्रुति प्रचलित थी, या यास्क का क्षेत्र (पारस्कर देश) उकार-भक्ति वाले क्षेत्र के अत्यन्त समीप अथवा अन्तर्गत था। अतः यास्क उकारवान् उच्चारण को शिष्टानुमोदित मानते थे, हमें यही लगता है[1]।

२. र् और ल् ध्वनियों का आपसी सम्बन्ध। संस्कृत में एक बहु-प्रचलित कहावत है: र-लयोरभेदः। अर्थात् र् और ल् ध्वनियां एक-दूसरे के स्थान पर प्रयुक्त हो सकती हैं। आज भी यू. पी. में मूली को मूरी और पत्थर को पत्थल् बोला जाता है। ऐतिहासिक दृष्टि से दोनों ध्वनियां प्राचीन हैं; अर्थात् भारतीय संस्कृत और पश्चिमी प्राकृतों (ग्रीक्, लैटिन्, आवेस्तिक आदि) में सुप्रयुक्त हैं, और भाषा-शास्त्रियों द्वारा कल्पित मूल भा-रोपीय भाषा में भी बतलाई जाती हैं[2]। संस्कृत में हमें एक

---

१. युरोप् की प्राकृतों का साक्ष्य भी यही सिद्ध करता है। संस्कृत: ऋक्षस्, लातीनी: उर्सुस् (ursus), सं.: कृप्. ला.: कॉर्पस्. (corpus). संस्कृत: मृत, पुरानी उच्च जर्मन्: मोर्द (mord), सं.: वृकस्, अङ्ग्रेज़ी: वोल्फ् (wolf),; गॉथिक्: वुल्फ्स् (wulfs), सं.: पृच्छति, ला.: poscit। इन सब शब्दों में संस्कृत में जहां ऋ है, वहां युरोपीय प्राकृतों में उ, या उससे विकसित ओ ध्वनियां हैं। इससे सिद्ध होता है कि उनका उच्चारण ऋ के उकारवान् उच्चारण पर आधारित है।

२. डा. सी. सी. ऊलेन्बेक्, ए मैन्युवल् आफ् संस्कृत फोनेटिक्स् (मुन्शीराम मनोहरलाल, दिल्ली, १९६० ई०) पृष्ठ ५०-५१।

विशेष प्रवृत्ति दृष्टि-गोचर होती है : बहुत-से प्राचीन शब्दों में उपलब्ध र् के स्थान में बाद में ल् मिलता है। अर्थात् संस्कृत में ल् ध्वनि अपने पाँव पसार रही थी। यास्क इस स्थिति से सम्यक् परिचित हैं। र् और ल् के सम्बन्ध के बारे में यास्क के क्या विचार हैं, इस बात को हम इस प्रकार के शब्दों के अध्ययन से भली-भाँति जान सकते हैं। हमने इस शब्दावली को निम्न श्रेणियों में बाँटा है :

(क) ल् वाले वैदिक (पुराने) शब्द, जिनकी व्याख्या में यास्क ने र् की उद्भावना की है। जैसे :—

(१) अश्लील (६।२३) : अश्रिमत्। २. उलूखल (९।२०) : उरुकरं वा। ३. उल्ब (६।३५) : ऊर्णोतिः, वृणोतेर्वा। ४. कपिञ्जल (३।१८) : कपिरिव जीर्णः। ५.–६. कला, कलि (११।१२) : कलिश्च कलाश्च किरतेः। ७. कूल (६।१) : रुजतेः विपरीतात्। ८. तित्तिरि (३।१८) : तरणात्, तिल-मात्र-चित्र इति वा। ९. तृपलप्रभर्मा (५।१२) : तृप्र-प्रहारी। १०. पुलुकाम (६।४) : पुरु-कामः। ११. बल (३।९) : भरं बिभर्त्तेः। १२. बिल्व (१।१४) : भरणाद्वा, भेदनाद्वा। १३. मङ्गल (९।४) : गिरतेर्गृणात्यर्थे, गिरत्यनर्थानिति वा। १४. मुसल (९।३५) : मुहुस्सरम्। १५ लोष्ट (६।१) : (रुजतेः) अविपर्ययेण। १६. वल (६।२) वृणोतेः। १७. शल्मलि (१२।८) : सु-शरो भवति, शरवान्वा। १८. श्लोक (९।९) : शृणोतेः। १९. शिलिक-मध्यम (४।१३) : संसृत-मध्यमाः।

(ख) ल् वाले पुराने शब्द, जिन की व्याख्या में यास्क ने ल् की ही उद्भावना की है। जैसे :—

(१) इलीबिश (६।१९) : इला-बिल-शयस्य....। २. खल (३।१०) : खलते र्वा, स्खलतेर्वा। ३. गल्दा (६।२४) : गालनेन ...गलना। ४. पिपीलिका (७।१३)। पेलतेः। ५. बिल्म (१।२०) : भिल्मम्...। ६. मुद्गल (९।२४) : मुद्गवान्[1], मुद्गिलो वा, मदनं गिलतीति वा मदङ्गिलो वा, मुदङ्गिलो वा। ७. लक्ष्मी (४।१०) : लाभाद्वा, लक्षणाद्वा, लाञ्छनाद्वा, लषतेर्वा...., लग्यतेर्वा, लज्जतेर्वा। ८. लाङ्गल (६।२६) : लगतेः। ९. लाङ्गूल (६।२६) : लगतेः, लङ्गतेः, लम्बतेर्वा[2]। १०. लिबुजा (६।२८) : लीयते विभजन्तीति। ११. लोध (४।१४) : लुब्धम्....। १२. लोम (३।५) : लुनातेर्वा, लीयतेर्वा।

(ग) पुराने शब्द में उपलब्ध र् की ल् से व्याख्या वाले शब्द। जैसे :—

१. यह अर्थ-निर्वचन है। अर्थात् इस शब्द में 'ल' (प्राचीन काल में 'र') मत्वर्थीय प्रत्यय है।

२. 'लाङ्गल' और 'लाङ्गूल' के पूरे प्रकरण की ऋज्वर्थवृत्ति में व्याख्या नहीं है। उद्धृत भी नहीं है। स्कन्द ने मूल की तरह उद्धृत भी किया है, व्याख्या भी की है। अतः इस सन्दर्भ की प्रामाणिकता सन्दिग्ध है।

(१) अरङ्कृत (१०।२) : अलङ्कृताः[1]। २. रिहन्ति (१०।३९) : लिहन्ति। ३. वारवन्तम् (१।२०) : वालवन्तम्। वाला दंश-वारणार्था भवन्ति।

(घ) वे पुराने शब्द जिनकी दो वर्तनियाँ थीं : १. र् वाली और २. ल् वाली परन्तु यास्क ने जिन की व्याख्या में र् को ही प्रमुखता दी है। जैसे :—

(१) उपर, (२) उपल (२।२१) : उपरमन्तेऽस्मिन्नभ्राणि, उपरता आप इति वा। (३) वार (१।२०) : वारणार्थाः, (४) वाल (११।३१) : वृणोतेः।

(ङ) ल् वाले वे शब्द जिनकी व्याख्या यास्क ने र् से भी की है तथा अन्य किसी ढङ्ग से भी। जैसे :—

(१) किल्बिष (११।२४) : किल्भिदम् सुकृत-कर्मणो भयम्[2], कीर्तिमस्य भिनत्तीति वा। २. तालु (५।२६) : तरतेः, तीर्णतममङ्गम्; लततेर्वा स्याल्लिपरीताद्, यथा तलम्। लतेरयविपर्ययः। ३. सललूक (६।३) : संलुब्धं...., सररूकं वा स्यात्सर्तेरभ्यस्तात्।

इन ४० (वार शब्द दो बार—ग ३ और घ ३ में—आया है, पर उसे एक ही बार गिना है।) शब्दों में से २५ शब्दों में तो स्पष्ट रूप से यास्क ने र् ध्वनि को प्राचीन तथा ल् को उसके स्थान में आगन्तुक ध्वनि माना है। (ङ वर्ग के) ३ शब्दों में उन्होंने र् और ल् में से दोनों को ही प्राचीन मानने का विकल्प दिया है। शेष (ख वर्ग के) १२ शब्दों में उन्होंने ल् के स्थान में र् की कल्पना नहीं की है। (ख १. के) इली-विश के इली के लिए कल्पित इला शब्द तो स्पष्ट ही इळा से विकसित है। इसका अर्थ यह है कि यास्क वैदिक ळ् से भी वैदिक ल् को विकसित मानते हैं। केवल

१. लघु-पाठ में अनुपलब्ध है। दुर्ग और स्कन्द में मन्त्रार्थ में उपलब्ध है, व्याख्या में नहीं। यों, 'अरम्' के स्थान में 'अलम्' कुछ (अथर्ववेद, मैत्रायणी, तैत्तिरीय, काठक) संहिताओं में ही मिलता है। ऋग्वेद-संहिता में 'अरम्' ही है, 'अलम्' नहीं। अतः हम 'अलातृण' (ऋ. सं. ३.३०।१० में प्रयुक्त) शब्द की 'अलमातर्दन' व्याख्या (६।२) से सहमत नहीं हैं। जब ऋग्वेद में 'अलम्' ही नहीं प्रयुक्त है, तब 'अला' उससे निष्पन्न कैसे हो सकता है।

२. 'किल्भिदं....भयम्' अंश ऋज्वर्थ-वृत्ति में नहीं है। इस खण्ड का स्कन्द भाष्य भी खण्डित होने से अनुपलब्ध है। दुर्ग ने 'यदेतत् किल्बिषम्, एतत्कीर्ति भिनत्ति।' कह कर 'किल्' अंश की व्याख्या 'कीर्ति' से मानी लगती है। किल्भिदं को यदि यास्क का पाठ माना जाये, तो वह इस परोक्षवृत्ति शब्द का प्रत्यक्ष-वृत्ति रूप देना ही है। 'सुकृत....भिनत्तीति' से उसकी व्याख्या है।

हमारे मित्र श्री ब्र. जगदीशचन्द्र विद्यार्थी के अनुसार इस शब्द की वर्तनी में वि के स्थान में बि होना चाहिए। यास्क ने बिष की व्याख्या √भिद् से की है। इस से भी यहाँ बि ही सिद्ध होता है।

११ शब्दों में ही ल् ध्वनि उनके मत में मौलिक है।

निष्कर्ष : १. अधिकांशतः ल् ध्वनि र् से विकसित है। २. ळ् से भी ल् का विकास हुआ है। ३. ल् ध्वनि मौलिक (प्राचीन) भी है।

'आ त्वा रम्भं न जिव्रयो ररम्भा शवसस्पते' (ऋ.सं. ८।४५।२०) की व्याख्या में यास्क ने वैदिक ध्वनि को ही बनाये रखा है : आरभामहे त्वा जीर्णा इव दण्डम् (३।२१)। लौकिक संस्कृत में इस अर्थ में वैदिक √रम्भ् से विकसित √लम्ब् का ही प्रयोग होता है। यास्क के समय तक र् का स्थान ल् ने पूरी तरह यदि ले लिया होता, तो वे र् का प्रयोग नहीं करते। इस से सिद्ध होता है कि ल् ध्वनि उन के समय तक र् के स्थान में शिष्टों द्वारा पूरी तरह अनुमोदित नहीं हो पाई थी।

३. ष् और श् में सम्बन्ध। मूर्धन्य ऊष्म ध्वनि (ष्) का उच्चारण आज एक समस्या है। प्रायेण उसके स्थान पर या तो स् (दन्त्य ऊष्म) का उच्चारण किया जाता है, या श् (तालव्य ऊष्म) का। लगता है जन-साधारण में यास्क के समय भी यही स्थिति थी। यास्क ने कशा शब्द को √कृष् से (९।१९), कोश (ऋ. सं. १०। १०१।७) को √कुष् से (५।२६) निष्पन्न बताया है। वे अपनी बोलचाल के कोश को भी √कुष् से ही निष्पन्न मानते हैं। अर्थात् कोष मौलिक है और कोश उस का विकसित रूप। इसी प्रकार विष्णु शब्द √विश से या वि+√अश् से निष्पन्न बताया है (१२।१८)। यह स्थिति केवल ष् की ही नहीं है, अपितु स् की भी है। संस्कृत का वश √वस् से निष्पन्न बताया है (३।१०)। श् (तालव्य ऊष्म) स्वर से पूर्व होने पर मूर्धन्य या दन्त्य रूप में परिणत होता हो, ऐसा कोई उदाहरण निरुक्त में नहीं मिलता। हाँ, टवर्ग के संयोग में, उस से पूर्व स्थित होने पर उस के प्रभाव से श् को ष् संस्कृत में आम हो ही जाता है। यास्क का √अश् से निष्पन्न बताया अष्ट (३।१०) शब्द इस का उदाहरण है।

महा-प्राण स्पर्शों और ह् का सम्बन्ध। भारतीय भाषाओं की एक आम प्रवृत्ति है कि इन में महाप्राण स्पर्शों (वर्गों के दूसरे और चौथे व्यञ्जनों) के स्थान में समय पा कर ह् ध्वनि आ जाती है। मुख>मुँह, तथा>तह (प्राकृत में), निदाघ>दाह, वधू>बहू, भवति>होति, होइ। छ् ध्वनि इसका अपवाद है। छ् की बनावट में दो ध्वनियाँ काम करती हैं, जिनमें से एक ध्वनि अनिवार्यतः ऊष्म होती है। क्षोभ> छोह, पश्चिमी=, पछाँह या पछाँही, उत्साह>उछाह, श्मश्रु>मूँछ, उत्+श्वास> उच्छ्वास आदि इस के उदाहरण हैं। छ का विकास जैसे ऊष्म ध्वनियों से होता है, वैसे ही इस से ऊष्म ध्वनियाँ भी विकसित हो जाती हैं। √उच्छ से उषस्[2] (१२।५) वैदिक में; संस्कृत छिन्दामि लातीनी में Scindami, अवेस्ता में सिद्, संस्कृत छाया

१. त्रिशोक काण्व इन्द्र से कहते हैं : बूढ़े जैसे लाठी का सहारा लेते हैं, वैसे ही हम तेरा आसरा लेते हैं। २. तु. उषा उच्छन्ती (ऋ. सं. १।९२।६)।

फारसी में साया; संस्कृत इच्छति अवेस्ता में इसैति (isaiti), पुरानी स्लाव् में इस्कति; संस्कृत उच्छ्वास हिन्दी में उसांस हो गये मिलते हैं।

भाषा की इस प्रवृत्ति से यास्क सु-परि-चित हैं। उन्हें एक बात बिल्कुल स्पष्ट है कि वैदिक भाषा के महाप्राण घोष स्पर्शों के स्थान में उन की भाषा में ह् ध्वनि है। इस कार्य को उन्हों ने दो तरह से पूरा किया है।

(क) वैदिक के जिस शब्द में ह् ध्वनि है, लौकिक में उस में ह् के स्थान पर घोष महाप्राण ध्वनि को रख कर दोनों के सम्बन्ध को स्पष्ट किया है। जैसे—कुहः क्वाभूदिति वा (११।३२)। अर्थात् कुह क्व+√भू से है। जहा>जघान (४।१) बाहु+√बाध् (३।८) से निरुक्त हैं।

(ख) घोष महाप्राण वाले वैदिक शब्द के स्थान पर लौकिक में ह् वाले रूप या धातु से उसकी व्याख्या कर के। जैसे : अभरत>अहरत् (७।२६; ११।१), अर्थ हरतेर्विपरीतात् अर्थात् अर्थ√अह् (उलटायी√हृ) से निष्पन्न है (३।२०)। आघृणि>आगत-हृणि (५।१०), अर्थात् आ 'आगत' अर्थ में है और घृणि लौकिक का हृणि है। आभर>आहर (६।३२)। घर्म>हर्म्य (६।३२), हरण (११।४२), अर्थात् घर्म उस धातु से सम्बद्ध है, जो लौकिक में√हृ रूप में मिलती है। नाभि>√नह् से सम्बद्ध है (४।२१)। वक्षस् (४।१६) और वाघतः (११।१६) √वह् से सम्बद्ध हैं। वीरुध् वि+√रुह् से निष्पन्न है (६।३)।

किन्तु इस प्रकार के स्थलों के यास्क के व्याख्यानों को एक ऐतिहासिक की दृष्टि से देखने पर विदित होता है कि इस बारे में यास्क का ऐतिहासिक चिन्तन बहुत सङ्गत नहीं है। घन शब्द को यास्क (२।१ में) आदि-विपर्यय (पहले अक्षर के बदलने) से निष्पन्न हुआ मानते हैं। इस का अर्थ यह हुआ कि वे√हन् को मूल मानते हैं तथा√घन् को उसका विकार। इसी प्रकार वे गध्य (५।१५) को√ग्रह से निष्पन्न मानते हैं। ओघ को√वह् से, गाध को√गाह् से, मेघ को√मिह् से, वधू को√वह् से (२।१), मघ को मंह् से (१।७) अन्तव्यापत्ति के द्वारा निष्पन्न मानते हैं। इस से स्पष्ट सिद्ध होता है कि वे ह् ध्वनि का विकास घोष महाप्राण ध्वनियों में हुआ है, यही मानते हैं। परन्तु ऐतिहासिक तथ्य का यह विपर्यय सर्वत्र ही किया गया हो, ऐसी बात नहीं है। यास्क√ग्रभ् से ही गर्भ की निष्पत्ति बतलाते है,√ग्रह् से नहीं। अतः प्राचीन घोष महाप्राण ध्वनियाँ कालान्तर में ह् में परिणत हो गई हैं, यास्क इस तथ्य से परिचित हैं और इसी बात को उन्हों ने अपनी शैली में उपर्युक्त दो रीतियों से स्पष्ट किया है। इस विषय में पाणिनि की भी यही शैली है।

अल्पप्राण ध्वनियाँ महाप्राण हो जाती हैं, यास्क यह भी मानते हैं : मधु√मद् से (४।८, २।२), स्कन्ध√स्कन्द् से (६।१७), घ्रंस (दिन)√ग्रस् से (६।१६), सिन्धु√स्यन्द् से (६।२६) निष्पन्न बताये हैं।

यास्क और अलङ्कार-शास्त्र। साधारण उक्ति और काव्य में मोटे तौर पर इतना ही अन्तर होता है कि साधारण उक्ति में जिस बात को सीधे-सादे ढङ्ग से कह दिया जाता है, काव्य में उसी बात को बना-संवार कर कहा जाता है। बनाव-सिंगार की इस प्रक्रिया को संस्कृत में अलम्+√कृ से प्रकट किया जाता है; और यही कारण है कि संस्कृत में काव्य-शास्त्र को अलङ्कार-शास्त्र कहा जाता है। अपने अलङ्कार अर्थात् सौन्दर्याधायक तत्त्व के कारण ही काव्य साधारण उक्ति की तुलना में अधिक उपादेय होता है[1]।

जिस प्रकार आज हम कवि-निबद्ध वाणी को काव्य कहते हैं, उसी प्रकार ऋग्वेद-संहिता के मन्त्रों के प्रणयन काल में भी कवि-निबद्ध वाणी को काव्य ही कहा जाता था। आज की तरह पुराने काव्य को उस काल में भी सुरक्षित रखने की कामना की जाती थी। काव्यों का पाठ करने की प्रथा उस समय भी प्रचलित थी। यह हम निम्न ऋङ्-मन्त्रों से भली-भाँति समझ सकते हैं :

अस्मा इत्काव्यं वच उक्थमिन्द्राय शंस्यम् । ५।३९।५ ।

आत्मा यज्ञस्य रंह्या सुष्वाणः पवते सुतः। प्रत्नं निपाति काव्यम् ॥ ९।६।८॥

प्रसुमेधा गातुविद् विश्व-देवाः सोमः पुनानः सद एति नित्यम् ।

भुवद्विश्वेषु काव्येषु रन्ताऽनु जनान् यतते पञ्च धीरः ॥ ९२।३ ॥

प्र काव्यमुशनेव[2] ब्रुवाणो देवो देवानां जनिमा विवक्ति। ९७।७ ॥

वेद में हमें काव्य की केवल चर्चा ही नहीं मिलती है, अपितु काव्य के सौन्दर्य के अभिवर्धक तत्त्वों के प्रयोग भी स्थान-स्थान पर मिलते हैं। जैसा कि एक लक्ष्य ग्रन्थ में होता है, इस में हमें अनुप्रास, वीप्सा, उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक, अतिशयोक्ति आदि सुन्दर और ताजगी-भरे अलङ्कारों का वाच्य और व्यङ्ग्य रूप में दर्शन मिलता है[3]। विभिन्न स्थायि-भावों, उनके विभावों, अनुभावों आदि का भी रमणीय रूप हमें ऋग्वेद-संहिता में प्रयुक्त मिलता है[4]। लक्षण-शास्त्र की पद्धति से इन सौन्दर्याधायक

१. द्र. वामन काव्यालङ्कार-सूत्र (चौखम्बा, काशी, १९०७ ई.) १।१ : काव्यं ग्राह्यमलङ्कारात्। २ : सौन्दर्यमलङ्कारः।

२. कवियों में उशना को उस सुदूर अतीत में भी अग्र-गण्य माना जाता था। कृष्ण का 'कवीनामुशना कविः' (गीता १०।३७) वचन इसी परम्परा पर आधारित प्रतीत होता है।

३. द्र, ऋ. सं. : अनुप्रास १०।७।६ अन्त्यानुप्रास १।१९१।२; वीप्सा ५।५३।११; उपमा १।१६३।११; उत्प्रेक्षा ५।८०।४-५; रूपक १०।१०१।७; अतिशयोक्ति १।१९१।६।

४. रति स्थायि-भाव : ऋ. सं. ६।७५।३; शोक स्थायि-भाव : १०।३४।२, ४,१०,११; उत्साह : ६।७५।२; क्रोध : २।११।१०; भय : १।५२।१०; उत्साह का

तत्त्वों के लक्षण, वर्गीकरण आदि का जहाँ तक प्रश्न है, इसका न किसी लक्ष्य ग्रन्थ में (शास्त्र-काव्य को छोड़ कर) अवसर होता है, और न यह समुचित भी है। तब भी सादृश्य-परक वर्णनों में उपमा शब्द का प्रयोग कुछ इस तरह हुआ है कि लगता है जैसे कवि इस शब्द का प्रयोग किसी निश्चित विधा के लिये कर रहे हैं।

१. सोपमा दिवः (१।३१।१५), २. ईयुषीणामुपमा शश्वतीनाम् (११३।१५, १२४।२); ३. गणानां त्वा गण-पतिं हवामहे कविं कवीनामुपम-श्रवस्तमम् (२।२३।१); ४. सहस्र-सामाग्निवेशिं गृणीषे शत्रिमग्न उपमां केतुमर्यः (५।३४।६), ५. पृश्नेः पुत्रा उपमासो रभिष्ठाः (५८।५), ६. युवाभ्यां मित्रा-वरुणोपमं धेयामृचा, यद्ध क्षये मघोनां स्तोतॄणां च स्पूर्धसे (६४।४); ७. यच्छा सूरिभ्य उपमं वरूथम् (७।३०।४); ८. सदो [illegible] चक्राते उपमा दिवि (८।२९।६), ९. उपमं त्वा मघोनां ज्येष्ठं च वृषभाणाम् (५३।१), १०. उतोपमानां प्रथमो निषीदसि (६१।२), ११. गृणे तदिन्द्र ते शव उपमं देव-तातये (६२।८), १२. तक्को नेता तदिद् वपुरुपमा यो अमुच्यत (६९।१३), १३. तव श्रवांस्युपमान्युक्थ्या (९९।२); १४. अधि पुत्रोपम-श्रवो नपान्मित्रातिथेरिहि (१०।३३।७)।

यहाँ उपमा शब्द का प्रयोग उपमान और सादृश्य अर्थों में हुआ है, यह निगद-व्याख्यात है।

वेदार्थ-ज्ञान कराने को वचन-बद्ध[1] यास्क ने वैदिक अध्ययन की इस दिशा में भी कुछ प्रकाश डाला है। बात को सँवार-निखार कर कहने के ढंगों में समानता प्रदर्शित कर के अपने आशय को कहने का ढंग अन्य शैलियों की अपेक्षा सरल, स्वाभाविक, हृदय-ग्राही तथा अर्थविशेष में अधिकतम सहायक होता है। सादृश्य बतलाने के सभी प्रकारों में सर्वाधिक मनोरम और सरल प्रकार उपमा का होता है। यही कारण है कि आलङ्कारिकों ने उपमा को अन्य बहुत-से अलङ्कारों का बीज माना है[2]। वेद के उपर्युक्त स्थलों से भी यही स्पष्ट होता है कि काव्य-सौन्दर्य के अनेक तत्त्वों का विश्लेषण उस युग में हुआ था कि नहीं, इस विषय में हम चाहे निश्चित रूप में कुछ कहने की स्थिति में न हों, पर सादृश्य-मूलक सौन्दर्याधायक तत्त्व की उद्भावना उस प्राचीन युग में भी उपमा के रूप में हो चुकी थी, इस विषय में हम

उद्दीपन : ६।४७।२९; आलम्बन : २।१७।५; अनुभाव और सञ्चारी भाव : १०।१६६।५; जुगुप्सा : १।१६१।१०, ४।१८।१३; १०।८७।२; विस्मय : २।१२।२-३, १५।२-३, ४।२६।१।

१. द्र. १।१५ : अथापीमदन्तरेण मन्त्रेष्वर्थ-प्रत्ययो न विद्यते।

२. द्र. : वामन, काव्यालङ्कार-सूत्र-वृत्ति ४।२।१ : सम्प्रत्यर्थालङ्काराणां प्रस्तावः। तन्मूलं चोपमेति सैव विचार्यते। अलङ्कार-सर्वस्व (काव्य-माला सं., पृ. २६) : उपमैवानेक-प्रकार-वैचित्र्येणानेकालङ्कार-बीज-भूता....।

कुछ विश्वास के साथ कह सकते हैं। अलङ्कार-शास्त्र के अनेक तत्वों में सब से प्रथम उद्भावित तत्त्व **उपमा** ही है, इस विषय में यह भी एक प्रमाण है कि यास्क ने भी इस विषय में केवल **उपमा** का ही निरूपण किया है; किसी अन्य तत्त्व का सङ्केत तक उन्हों ने नहीं दिया है। उन्हों ने अपने **निघण्टु** (३।१३) में **इत्युपमा** कह कर अनेक ऋग्वेदीय उपमाओं तथा उपमा-वाचक पदों का सङ्कलन किया है। निरुक्त (१।४ और ३।१३-१८) में भी अनेक उपमा-वाचक पदों का समाम्नान तथा उपमा का लक्षण उसका विवरण और उदाहरणों से स्पष्टीकरण किया है।

इस दृष्टि से वेद का अध्ययन सर्व-प्रथम कोई यास्क ने ही नहीं किया है। वे तो पुरानी परम्परा की कड़ी को अगले समय से जोड़ने वाले माध्यम-मात्र हैं। उन से पूर्व गार्ग्य आचार्य इस क्षेत्र में बहुत प्रतिष्ठा प्राप्त कर चुके थे। अन्य बहुत-से आचार्य भी **उपमा** का वर्गीकरण तथा भेद-कथन कर चुके थे। उनके समय में यह बात इतनी प्रसिद्ध रही होगी कि यास्क ने अपने समय में प्रचलित उपमा-लक्षण के प्रवर्तक आचार्य गार्ग्य का तो नामोल्लेख किया है, पर भेदोपभेद कथन करने वाले आचार्यों का स्मरण अन्य-पुरुष के क्रिया-पद (**आचक्षते**) से ही किया है। भरत के नाट्य-शास्त्र से ही **अलङ्कार-शास्त्र** का प्रारम्भ मानने वाले मनीषियों को अपने भ्रम का निवारण यास्क के इस विवरण से कर लेना चाहिये।

उपमा का लक्षण यास्क ने (३।१३ में) यों दिया है :

अथात उपमाः। यदतत् तत्सदृशम् इति गार्ग्यः (जो वह नहीं होते हुए भी उस जैसा है)।

यहाँ **तत्** से **उपमान** को और **यत्** से **उपमेय** को कहा गया है। उपमेय और उपमान एक-दूसरे से भिन्न हैं। उन में समानता बतलाना **उपमा** कहलाता है। इस लक्षण से यह निश्चित होता है कि गार्ग्य उपमा के तीन अङ्ग मानते हैं : १. **उपमेय**, २. **उपमान** और ३. **सादृश्य**। सामान्याभिधान में वाचक के आवश्यक होने के कारण गार्ग्य वाचक को भी आवश्यक मानते होंगे। पर यास्क ने इस का पोषक कोई स्पष्ट कथन उद्धृत नहीं किया है।

यास्क ने (३।१३ में ही) इस लक्षण का विवरण यों किया है :

तदासां कर्म—ज्यायसा वा गुणेन, प्रख्यात-तमेन वा, कनीयांसं वाऽप्रख्यातं वोपमिमीते। अथापि कनीयसा ज्यायांसम्।

अर्थात् यास्क **उपमा** अथवा उपर्युक्त सादृश्य-कथन के दो प्रकार मानते हैं :

(क) किसी श्रेष्ठ गुण से, अथवा अत्यन्त प्रसिद्ध (किसी कर्म या व्यक्ति) से किसी हीन गुण अथवा अप्रसिद्ध (कर्म या व्यक्ति) की समानता बतलाई जाती है। अर्थात् उपमान अधिक-गुण होता है तथा उपमेय उससे हीन गुण। जैसे :—

तनू-त्यजेव तस्करा वनर्गू रशनाभिर्दशभिरभ्यधीताम्[1]।

यहाँ अग्नि-मन्थन करने वाले दो बाहुओं (उपमेय) की तुलना दो लुटेरों (उपमान) से की गई है। मज़बूती से बाँधना लुटेरों का श्रेष्ठ (प्रसद्ध) गुण है[2]। अर्थात् जैसे दो लुटेरे किसी राह-गीर को खूब कस कर बांध देते हैं, वैसे ही दो बाहुओं ने तुम्हें (अग्नि को) दस अँगुलियों से बाँध दिया है।

(ख) किसी हीन गुण वाले (उपमान) से अधिक गुण वाले (उपमेय) की समानता बतलाई जाती है। जैसे :—

> कुह स्विद्दोषा, कुह वस्तोरश्विना, कुहाभिपित्वं करतः, कुहोषतुः।
> को वां शयुत्रा विधवेव देवरं, मर्यं न योषा कृणुते सधस्थ आ ॥[3]

यहाँ दो उपमायें हैं :

१. देवर/विधवा से। विधवा का देवर को शयन में बुलाना हीन अथवा अप्रख्यात कार्य है। अर्थात् यह उपमान ग्राम नहीं है। अश्वि लोग देवता होने से प्रख्यात हैं। अतः यहाँ हीन अथवा अप्रख्यात उपमान से प्रख्यात उपमेय को समानता बतलाई है।

२. पति/पत्नी से। यह प्रथम भेद का उदाहरण हो सकती है।

इन दोनों उपमाओं से कवयित्री का आशय यह प्रतीत होता है कि शयन-सुख दो तरह से ही से मिल सकता है : (क) चोरी-छुपे। उसकी उपमा देवर/विधवा से दी है। (ख) वैध रूप से। उसकी उपमा पति/पत्नी से दी है।

इन दोनों उपमाओं को यास्क ने पुनः दो भागों में बाँटा है :

१. उपमान और उपमेय के सादृश्य को किसी वाचक शब्द से कहा जाता है। सादृश्य का अभिधान जिन शब्दों से बताया है, वे चार तरह के हैं :

(क) निपात। आ, इव, चित्, न, नु और यथा निपात उपमेय और उपमान के मध्य विद्यमान सादृश्य का अभिधान करते हैं। इनमें न द्व्यर्थक है :

(अ) उपमान के पश्चात् प्रयुक्त न उपमार्थक होता है। (आ) उपमान से पूर्व

---

१. ऋ. सं. १०।४।६ : जान न्योछावर करने पर तत्पर, जङ्गल में घूमने वाले दो तस्कर जैसे १० रस्सियों से (राहगीर को) बाँध डालते हैं, वैसे ही अध्वर्यु की दो बाहुओं ने दस अँगुलियों से तुम्हें बांध लिया है।

२. द्र. ३।१४ : अग्नि-मन्थनौ बाहू तस्कराभ्यामुपमिमीते।... ज्यायांस्तत्र गुणोऽभिप्रेतः।

३. ऋ. सं. १०।४०।२ : बहुत दिनों बाद आये अश्वि-देवों को काक्षीवती घोषा पूछती है, "कहाँ रात को? कहाँ दिन में? हे अश्विनो, कहाँ आवा-जाई करते हो? कहाँ रहते हो? तुम दोनों को शयन में देवर को विधवा (भाभी) के समान और घर में पुरुष को (उसकी) स्त्री के समान कौन बुलाता है?"

प्रयुक्त न निषेधार्थक होता है (१।४)। यथा उपमान से पूर्व, या पश्चात्, कहीं भी प्रयुक्त हो सकता है। यह क्रियाओं में समानता बतलाता है : यथेति कर्मोपमा (३।१५)। शेष निपात उपमान के बाद लग कर उपमान और उपमेय की समानता बतलाते हैं।

(ख) नाम-पद। भूत पद भी उपमान के पश्चात् प्रयुक्त हो कर उपमान और उपमेय की समानता बतलाता है (३।१६) : मेषो भूतोऽभि यन्नयः[1]।

(ग) समास। कुछ शब्द (जैसे रूप, वर्ण और सन्दृक्) उपमान से समस्त होकर भी सादृश्य का अभिधान करते हैं। समासों में यह सादृश्य बहुव्रीहि समास से प्रकट किया जाता है[2] : हिरण्य-रूपः स हिरण्य-सन्दृगपां नपात्सेदु हिरण्य-वर्णः[3]।

(घ) तद्धित। था और वत् प्रत्यय उपमान के साथ लग कर सादृश्य का अभिधान करते हैं। वत् को यास्क ने सिद्धोपमा (३।१६ में) कहा है। सिद्ध को दुर्ग ने प्रसिद्ध अर्थ में उपमा का विशेषण माना लगता है[4]। स्कन्द स्वामी भी प्रसिद्ध अर्थ ही मानते हैं। किन्तु उन्हों ने कुछ और लोगों का मत उद्धृत किया है कि इव, यथा आदि सभी वाचक उपमा अर्थ में प्रसिद्ध हैं, तब वत् में ही ऐसी कौन-सी विशिष्ट बात है ? वास्तव में वत् उपमेय में उपमान के गुण की सत्ता या अभाव को बतलाता है। यह पहले से सिद्ध (अस्तित्ववान्) उपमान पदार्थ की प्रतीति करा कर उपमेय से उसके सादृश्य को बतलाने में जैसे समर्थ है, वैसे इव, यथा आदि नहीं हैं[5]। चूर्णि-

---

१. ऋ. सं. ८।२।४० : मेढे के समान चलते हुए तुम (काण्व मेध्यातिथि को) ले गये थे।

२. यास्क ने (३।१६ में) बहु-व्रीहि समास का नाम तो नहीं लिया है, पर बहु-व्रीहि का विग्रह (हिरण्य-वर्णस्येवास्य रूपम्) दिया है। प्राचीन काल में बहु-व्रीहि समास के विग्रह-वाक्य में अन्य-पदार्थ का परामर्श आज की तरह 'यत्' से नहीं होता था, अपितु 'इदं' से किया जाता था। २।३ में कल्याण-वर्ण-रूपः, १६ में इन्द्र-शत्रुः और ३।१७ में प्रिय-मेध शब्दों के विग्रह देखिये। पाणिनि के समय भी बहु-व्रीहि का अर्थनिर्देश इसी तरह किया जाता था। बहु-व्रीहि और मतुप् का अर्थ समान ही है। मतुप् के विग्रह-वाक्य में पाणिनि ने अन्यपदार्थ के लिये 'इदम्' शब्द को ही रखा है : तदस्मिन्नस्यास्तीति मतुप् (अष्टा. ५।२।९४)।

३. ऋ. सं. २।३५।१० : वह जल का पौत्र (अग्नि) सुवर्ण के समान रूप वाला, सोने के समान दिखलाई देने वाला, सोनें के समान वर्ण वाला है।

४. द्र. वदित्येषा सिद्धोपमा—सिद्धैवेयोपमा लोके।

५. द्र. स्कन्द-भाष्य, भाग २, पृष्ठ १७७ : सिद्धा प्रसिद्धा उपमा—ब्राह्मणवदधीयते तेजस्विनः।....ननु यथेवाद्यपि सिद्धैव, ब्राह्मण इवाधीते—यथा ब्राह्मणस्, तथाऽधीत इति प्रतीत्यविशेषात्। एवं तर्हि विरुद्धार्थ-सदसद्भाव-विषयो वतिः पूर्व-सिद्धार्थ-प्रतीति-वशेन दार्ष्टान्तिके तुल्यता-प्रत्ययमाधातुं समर्थो यथा, न तथेवादयः।

कार के नाम से महाभाष्य-कार पतञ्जलि की एक उक्ति को उद्धृत करते हुए[1] उनका कथन है कि मातृवदस्याः कलाः वाक्य से उपमान (मातृ) में स्थित गुण (कलाः) का उपमेय (अस्याः) में न सद्भाव प्रतिपादित होता है और न अभाव। यह वाक्य अपूर्ण है। शेष वाक्य यदि कलाओं के अस्तित्व को बतलाता है, तो सादृश्य अस्तित्व-परक होगा; अन्यथा अभाव-परक। इस के विपरीत यथा मातुस्तथाऽस्याः कलाः वाक्य से माता (उपमान) में जैसी कलायें हैं, उपमेय में वैसी कलाओं के अस्तित्व की समानता ही प्रतीत होती है। अतः उपमेय में उपमान के गुण की सत्ता, या अभाव में से किसी एक अर्थ को प्रतीत कराने के कारण यास्क ने वत् को अन्य उपमा-वाचकों से अलग करने के लिये इसे सिद्धोपमा कहा है[2]। किन्तु स्वामी जी इस व्याख्यान से सहमत नहीं हैं : जब किसी अपूर्ण वाक्य में उपमा-वाचक का प्रयोग किया जाता है, तब चाहे वति हो, चाहे इव, यथा आदि, धर्म के अस्तित्व और अभाव के प्रतीत होने, न होने में दोनों—वति और इव आदि—समान हैं। अतः वत् सिद्धोपमा है, यह कह कर यास्क ने इस की किसी विशेषता को नहीं बतलाया है, अपितु लक्षण की व्याख्या में कही बात को दुहराया-भर है[3]।

वाचक शब्दों के इस विवरण से यह निष्कर्ष निकलता है कि—

(क) यास्क वाचक को भी उपमा के अङ्ग के रूप में मानते हैं।

(ख) उन के काल में वाचकों के आधार पर उपमा के भेद किये जाते थे।

(ग) परवर्ती आलङ्कारिकों की श्रौती उपमा का बीज निरुक्त में है।

२. जिस में सादृश्य-वाचक शब्द का प्रयोग नहीं होता तथा सादृश्य की प्रतीति अर्थापत्ति से होती है। इस उपमा को यास्क से पुराने आचार्य लुप्तोपम तथा

---

१. द्र. वही : तथा च चूर्णि-कार : पठति, 'वति-निर्देशोऽयम् काम-चारश्च वति-निर्देशे वाक्य-शेषं समर्थयितुम्। उशीनर-वन्मद्रेषु यवाः। सन्ति, न सन्तीति। मातृ-वदस्यास्तार्वाः*। सन्ति, न सन्तीति' (महाभाष्य १।१।५७, वा. ६, पृष्ठ ४३७)। महाभाष्य में तारक-चिह्न वाले शब्द के स्थान में '...स्याः कलाः' पाठ है। यहां आगे इसी को 'कालाः' कर दिया है। द्र. अगली टि.।

२. द्र वहीं : मातुरिवास्याः कालाः*—यथा मातुस्, तथाऽस्याः कालाः*—इत्युक्ते यादृशा मातुस्, तादृशा इति कालस्तित्स-(कलास्तित्व-?)गत-सादृश्यं प्रतीयते। तत्र सदसद्भावयोरन्यतर-प्रतीतेरित्यनेन विशेषोच्यत इति केचित्।

भाष्य के अनुरोध से यहां तारकित स्थान में 'कलाः' पाठ होना चाहिये।

३. द्र. वहीं, पृष्ठ १७८ : परमार्थतस्तु वाक्य-शेषे व्या(ऽव्या)हारे वति-वद् इवादिष्वपि न कश्चिद् विशेषो दृश्यते सदसद्भावौ प्रति। कथं तर्हि 'वदिति सिद्धोपमे'ति ? अनु-वाद-मात्रञ्चैतद्—वदित्यपि ज्यायसा, अख्यात-तमेन पूर्ववत् सिद्धेन गुणेनोपमेति भाषायामुदाहृतम्।

अर्थोपम कहा करते थे। इन उपमाओं में केवल उपमान और उपमेय ही होते हैं। जैसे सिंह और व्याघ्र उपमानों का प्रयोग उपमेय की श्रेष्ठता प्रकट करता है, तथा श्वा और काक उपमानों का प्रयोग उपमेय की निन्दा प्रकट करता है :

अथ लुप्तोपमान्यर्थोपमानीत्याचक्षते। सिंहो, व्याघ्र इति पूजायाम्। श्वा, काक इति कुत्सायाम् (३।१८)।

(क) वाचक और धर्म का स्पष्ट कथन न होने से ये उपमायें लुप्तोपमा कहलाती थीं। इस से सिद्ध होता है कि जिस उपमा में चारों अङ्ग विद्यमान हों, उसे पूर्णोपमा कहा जाता होगा।

(ख) सादृश्य की प्रतीति अर्थतः होने के कारण ये उपमाएँ आर्थी कहलाती थीं। इस के विपरीत शब्द के साक्षात् प्रयोग से सादृश्य का अभिधान जिन उपमाओं में होता है, उन्हें शाब्दी या श्रौती आदि कोई नाम दिया गया होगा।

(ग) कुछ आचार्यों द्वारा सादृश्य-कथन से उपमेय की प्रशंसा, निन्दा या आचिख्यासा (सादृश्य बतलाने की इच्छा मात्र) प्रकट होने के आधार पर उपमा के तीन भेद किये जाने[1] का बीज सम्भवतः निरुक्त में विद्यमान है।

यास्क ने उपमा का यह प्रतिपादन केवल भाषा-शास्त्र की दृष्टि से ही नहीं किया है, अपितु उपमा के प्रयोग से अभिव्यक्ति में सौन्दर्य आ जाता है[2], यही मान कर किया है। यही कारण है कि बहुत-सी जगह (५।२२; ७।२०; ६।६; १२।८, १६,२६ इत्यादि में) स्पष्ट वाच्य उपमा के न होने पर भी यास्क ने मन्त्र की व्याख्या उपमा दिखलाते हुए की है। वे उपमा के अन्य भेदोपभेदों से परिचित नहीं दिखाई देते। एक ही उपमेय की अनेक उपमानों से समानता बतलाने पर उपमा का मालोपमा नामक भेद माना जाता है[3]। यास्क ऐसे प्रसङ्गों में उपमाओं की सङ्ख्या बतला कर ही रह गये हैं[4]। उन्हों ने सादृश्य-मूलक सभी अलङ्कारों को सामान्य

---

१. द्र. भामह, काव्यालङ्कार, बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्, पटना, २०१६ वि., पृष्ठ ४४ : यदुक्तं त्रि-प्रकारत्वं तस्याः कैश्चिन्महात्मभिः।
निन्दा-प्रशंसाऽऽचिख्यासाभेदादत्राभिधीयते ॥ २।३७ ॥
सामान्य-गुण-निर्देशात्त्रयमप्युदितं ननु। ३८ ॥
तु. दण्डी, काव्यादर्श : २।३०-३२ और वामन, काव्यालङ्कार-सूत्र : ४।२।७।

२. द्र. १।१६ : ज्ञानं प्रकाशनमर्थस्याहानया वाचोपमोत्तमया वाचा।

३. द्र. रुद्रट, काव्यालङ्कार, वासुदेव प्रका., दिल्ली, १९६५ ई., पृ. २५३ : मालोपमेति सेयं यत्रैकं वस्त्वनेकसामान्यम्। उपमीयेतानेकैरुपमानैरेकसामान्यैः॥।८।२५॥

४. मालोपमा आदि अलङ्कारों के रूप में उपमा का भेद-कथन वस्तुतः बहुत अर्वाचीन काल में हुआ है। भामह तक ने इसे व्यर्थ का विस्तार बताया है :
मालोपमाऽऽदिः सर्वोऽपि न ज्यायान् विस्तरो मुधा ॥ २।३८ ॥

उपमा शब्द से ही अभिहित किया है । **यदेदयुक्त हरितः सधस्थादाद्रात्री वासस्तनुते सिमस्मै** (ऋ. सं. १।११५।४) में वाचक-लुप्ता (गम्य) उत्प्रेक्षा है : रात मानों सब के लिये (अन्धकार की) चादर फैला देती है[1]। पर यास्क ने इसे **उपमा** शब्द से कहा है : **अपि वोपमाऽर्थे स्याद् रात्रीव वासस्तनुत इति** (४।११) । **ज्योतिर्जरायु** (ऋ. सं. १०।१२३।१) में ज्योति को **जरायु** (जेर) बताया है, अर्थात् यहाँ रूपक है । यास्क ने व्याख्या तो रूपक की तरह ही की है, पर इसे कोई नाम नहीं दिया है : **ज्योतिरस्य जरायु-स्थानीयं भवति** (१०।३९) । इसी प्रकार मेघ में बिजली और जल के सङ्घर्ष का वर्णन इन्द्र-वृत्र के युद्ध के रूपक से किया गया है । पर यास्क वहाँ भी **उपमा** शब्द का ही प्रयोग करते हैं : **अपां च ज्योतिषश्च मिश्रीभावकर्मणो वर्ष-कर्म जायते । तत्रोपमाऽर्थेन युद्ध-वर्णा भवन्ति । अहिवत्तु खलु मन्त्र-वर्णा, ब्राह्मण-वादाश्च** (२।१६) । इसी प्रकार कूप के रूपक से किये संग्राम के वर्णन को उपमा ही बताया है : **कूप-कर्मणा सङ्ग्राममुपमिमीते** (५।२६) ।

यास्क का यह सारा विवेचन ऐतिहासिक दृष्टि से अलङ्कार-शास्त्र के आदि-युग का प्रतिनिधि है । उपमा के लक्षण को तो परवर्ती आलङ्कारिकों ने ज्यों-का-त्यों ले लिया है । वर्गीकरण के विषय में भी यास्क के वर्गीकरण को परवर्ती वर्गीकरणों के बीज के रूप में माना जाना चाहिये ।

शब्द-शक्तियाँ । शब्द जिस प्रक्रिया से अर्थावबोध कराता है, उस प्रक्रिया के लिये **शब्द-शक्ति** और **शब्द-वृत्ति** शब्दों का प्रयोग किया जाता है । निरुक्त लिखने का यास्क का प्रमुख उद्देश्य वेदार्थ-ज्ञान कराना है । अतः अर्थ-निर्वचन-प्रधान इस शास्त्र में अर्थ प्रकट करने की शब्द की विभिन्न प्रक्रियाओं का वर्णन अत्यन्त स्वाभाविक है । निरुक्त में इन शक्तियों अथवा वृत्तियों का स्वतन्त्र वर्णन तो नहीं किया गया है, पर यत्र-तत्र ऐसे सङ्केत अवश्य मिलते हैं, जिन के विवेचन से हम शब्द-शक्तियों के बारे में उन के चिन्तन की एक अच्छी खासी झलक पा सकते हैं ।

अभिधा । यास्क का कथन है कि अपने व्यवहार को सुचारु रूप से चलाने के लिये हम ध्वन्यात्मक सञ्ज्ञाएं रखते हैं : **अणीयस्त्वाच्च शब्देन सञ्ज्ञा-करणं व्यवहारार्थं लोके** (१।२) । यास्क के इस कथन का आशय यह है कि वे शब्द का अर्थ सङ्केत से निश्चित किया जाता है, यह मानते हैं । उपर्युक्त वाक्य में **सञ्ज्ञा** शब्द सङ्केत का समस्थानी है, तथा **सञ्ज्ञा-करण** सङ्केत-ग्रहण का । यहाँ **सञ्ज्ञा** शब्द का प्रयोग द्रव्य के नाम के लिये ही प्रयुक्त नहीं हुआ है, अपितु उतने ही व्यापक

---

१. टीकाकारों ने इस का अर्थ उपमा परक किया है । सूर्यास्त के वर्णन में उत्प्रेक्षा ही ठीक घटती है तथा उपमा की अपेक्षा अधिक चमत्कार-पूर्ण भी है । उपमा मानने में उपमेय की कल्पना करनी पड़ेगी । दुर्ग और स्कन्द ने उपमेय के रूप में तमस् की और डा. लक्ष्मणसरूप ने सूर्य की कल्पना की है ।

अर्थ में हुआ है, जितने व्यापक अर्थ में शतपथ ब्राह्मण (१४।४।४।१) में नाम शब्द का प्रयोग हुआ है (द्र. पृष्ठ १०७, टि. ३)। अतः सञ्ज्ञा शब्द का अर्थ है : यावन्मात्र विषय का वाणी से सङ्केत।

इस वाक्य में यास्क ने सङ्केत-ग्रहण की प्रक्रिया का वर्णन तो किया है; पर सङ्केत-ग्रहण का विषय क्या है; अर्थात् सङ्केतित अर्थ कितने प्रकार का है, इस विषय में यहाँ कुछ नहीं कहा है। हाँ, पदविभाग प्रकरण से हम यह समझ सकते हैं कि वे मोटे रूप में सत्त्व और भाव (क्रिया) को सङ्केतित अर्थ मानते हैं। सत्त्व के विभिन्न धर्मों का पृथक्-पृथक् प्रतिपादन उन्हों ने नहीं किया है।

यास्क ने सञ्ज्ञा के समान, किन्तु तनिक सङ्कुचित अर्थ में, अभि-धान और नाम-धेय शब्दों का प्रयोग भी किया है : एतावन्त्यस्य सत्त्वस्य नाम-धेयानि। एतावतामर्थानामिदमभिधानम् (१।२०)। गौरिति पृथिव्या नाम-धेयम् (२।५) कहने से उनका आशय यह है कि गौः सञ्ज्ञा है, पृथिवी वस्तु के लिये यह सञ्ज्ञा रखी गई है, अतः पृथिवी द्रव्य इसका अर्थ (वाच्य) है।

इस विवरण से यह निष्कर्ष निकलता है कि यास्क शब्द का सङ्केत-ग्रह किसी अर्थ-विशेष में मानते हैं। इस के लिये शब्द का जो व्यापार है, उसे सम्+√ज्ञा शब्द से कहा जाता था। अभि+√धा का प्रयोग किसी समय होता होगा, किन्तु उन के समय अभिधान शब्द नाम-पद अर्थ में रूढ हो गया था। अर्थ और कर्म शब्द वाच्य अर्थ के लिये प्रयुक्त होते थे। वाचक शब्द के लिए किसी सामान्य शब्द का प्रयोग उन्हों ने नहीं किया है। द्रव्य के वाचक के लिये अभि-धान, नाम-धेय और इस के सङ्क्षिप्त रूप नाम का प्रयोग किया गया है। क्रिया के वाचक के लिये आख्यात शब्द का प्रयोग हुआ है। इस से सिद्ध होता है कि उस समय के चिन्तन में अभिधा शक्ति के बारे में किसी प्रकार का व्यामोह नहीं था, भले ही उन्हों ने उसके लिये आज प्रयुक्त अभिधा आदि पारिभाषिक शब्दावली का प्रयोग नहीं किया है।

शब्द के मुख्यार्थ के बारे में यास्क की एक अन्य धारणा का वर्णन करना भी प्रकृत में उपयोगी होगा। यास्क एक शब्द को एक ही अर्थ की सञ्ज्ञा नहीं मानते। अर्थात् वे एक शब्द के कई-कई वाच्यार्थ भी मानते हैं (१।२०)। उनका कहना है कि गो शब्द पृथिवी का वाचक तो है ही, पशु-विशेष, आदित्य, चन्द्रमा को प्रकाशित करने वाली सूर्य की किरण तथा अन्य सभी किरणें भी गो का वाच्यार्थ हैं : गौरिति पृथिव्या नाम-धेयम्।...अथापि पशु-नामेह भवति...(२।५); आदित्योऽपि गौरुच्यते।.. अथाप्यस्यैको रश्मिश्चन्द्रमसं प्रति दीप्यते..., सोऽपि गौरुच्यते।... सर्वेऽपि रश्मयो गाव उच्यन्ते (२।६)।

२. लक्षणा। यास्क का कथन है कि पशु-वाचक गो शब्द के प्रयोग ताद्धित अर्थों में भी होते हैं। इस कथन का आशय यह है कि गो शब्द गाय अर्थ का अभिधान

करता है। कई बार इस का प्रयोग सीधे गाय अर्थ में न हो कर तद्धित के अर्थों—गाय से सम्बद्ध अन्य वस्तुओं—के लिये हो जाता है। जैसे :—गोभिः श्रीणीत मत्सरम् (ऋ. सं. ६।४६।४ : गौओं [के दूध] से सोम को पकाओ।) में गो का अर्थ गाय न हो कर गाय का दूध है। इसी प्रकार ऋग्वेद संहिता में ही गो शब्द गाय के चर्म (१०।९४।९), चर्म और श्लेष्म (६।४७।२६), और गाय से बनी धनुष् की डोरी (१०।२७।२२) अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।

इस विवरण से सिद्ध होता है कि मुख्यार्थ के बाधित होने पर उस से सम्बन्धित अर्थ वाच्यार्थ से भिन्न माना जाता था।

इन्द्र-पान (८।२) शब्द का मुख्यार्थ है : वह पात्र जिस में इन्द्र को सोम दिया जाता है। किन्तु इस का प्रयोग अन्य (द्रविणोदस्) देवता के लिये सोम देने में भी हो जाता है। इस प्रसङ्ग में इन्द्र-पान शब्द का मुख्यार्थ नहीं लिया जाता, अपितु गौण (लक्ष्य) अर्थ लिया जाता है, यह बतलाने के लिये यास्क ने भक्ति शब्द का प्रयोग किया है : यथो एतत्तेषां पुनः पात्रस्येन्द्र-पानमिति भवतीति, भक्ति-मात्रं तद् भवति; यथा वायव्यानीति सर्वेषां सोम-पात्राणाम् (८।२)।

इस सन्दर्भ में भक्ति शब्द का उपयोग अमुख्य अर्थ में होने वाले प्रयोग के लिये हुआ है, यह बिल्कुल स्पष्ट है। भक्ति शब्द का इसी अर्थ में प्रयोग आग्नेया इति तु स्थितिः; भक्ति-मात्रमितरत् (८।२२) में भी हुआ है। इस से सिद्ध होता है कि लक्षणा अर्थ में भक्ति शब्द का प्रयोग यास्क के समय में होता था।

ऊपर हम देख चुके हैं कि यास्क भक्ति अथवा लक्षणा का अवकाश वहीं मानते हैं, जहाँ शब्द अपने मुख्य अर्थ में चरितार्थ न हो सकता हो। ऐसी स्थिति में भी मुख्यार्थ से सम्बन्धित अर्थ का बोध ही लक्षणा से होगा। इस आशय की पुष्टि में हम एक प्रमाण को और प्रस्तुत करना चाहेंगे : गो शब्द का लाक्षणिक प्रयोग गाय (मुख्यार्थ) की आंत से बनी धनुष् की डोरी (लक्ष्यार्थ) के लिये यास्क ने बताया है। यास्क के समय गाय से इतर किसी पशु की आंत से बनी धनुष् की डोरी के लिये भी गो शब्द का प्रयोग होता था। किन्तु यास्क इसे एक पृथक् गो शब्द का अर्थ मानते हैं, जो है तो उसी धातु से व्युत्पन्न, जिस से गाय-वाचक गो शब्द निष्पन्न है; किन्तु यह सीधे गति अर्थ के कारण उक्त डोरी के लिये प्रयुक्त होता है, गाय के विकार डोरी के समान डोरी होने से नहीं[1]। इस से सिद्ध होता है कि मुख्यार्थ से बहुत दूर के सम्बन्ध से युक्त अन्यार्थ को अभी लक्षणा के क्षेत्र के अन्दर नहीं लाया गया था।

किन्तु कुछ उक्तियाँ हमें ऐसी भी मिलती हैं, जिन से इस आशय का खण्डन हो सकता है। जैसे :—

१. द्र. २।५ : ज्याऽपि गौरुच्यते। गव्या चेत्, ताद्धितम्। अथ चेन्न गव्या, गमयतीषूनिति।

पाव शब्द पाँव के लिये सङ्केतित था। पशुओं के चार पाँव होते हैं। उसे आधार बनाकर चौथा भाग (लक्ष्य) अर्थ में पाव शब्द प्रचलित होने लगा। उस के भी भाग अर्थ की समानता के आधार पर दूसरा भागार्थक पाव शब्द प्रचलित हो गया है (२।७), जिस का पशु से बहुत दूर का ही सम्बन्ध है। यहाँ यास्क ने अलग व्युत्पत्ति करके अलग अभिधान की आवश्यकता नहीं समझी है।

इस उदाहरण को देखने से विदित होता है कि यास्क भाग मात्र अर्थ को मुख्यार्थ नहीं मानते। अतः उपर्युक्त दोनों उदाहरणों को देखते हुए यही कहा जा सकता है कि लक्षणा का स्वरूप अभी भली-भाँति स्पष्ट होने के मार्ग में था, पूरी तरह विकसित नहीं हो पाया था।

उपर्युक्त सभी उदाहरणों में अन्य अर्थ की प्रतीति में हेतु रूढ़ि ही है। अतः हम इसे परवर्ती आचार्यों की रूढ़ि-मूला लक्षणा का बीज कह सकते हैं।

मुख्यार्थ से लक्ष्यार्थ के सम्बन्ध की विशिष्टता के बारे में यास्क का विचार यह प्रतीत होता है कि वे सम्बन्धों के दो भेद मानते हैं : गो शब्द के मुख्यार्थ का अपने लक्ष्यार्थों के साथ सादृश्येतर सम्बन्ध है, जब कि पर्व शब्द मास के दो पक्षों की सन्धि के लिये रूढ था। सन्धि अर्थ की समानता को ले कर जोड़ में भी इस शब्द का प्रयोग होने लगा (१।२०)। पर्वत > पर्व + त है। अँगुलियों के पोर भी पर्व कहलाते हैं। अतः यहाँ भी सादृश्य सम्बन्ध ही है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि रूढ़ि-मूला लक्षणा के शुद्धा और गौणी नामक दो भेदों के बीज यास्क की बुद्धि में हैं।

यास्क ने (३।१८ में) सिंह, व्याघ्र, श्वा, काक शब्दों का प्रयोग इन के गुणों से सादृश्य बतलाने के लिए वाचक शब्द का प्रयोग किये बिना ही होता बतलाया है। अर्थात् ये शब्द अपने मुख्यार्थ को न बतला कर उपमेय को अपने गुणों के समान गुणों से युक्त के रूप में बतलाते हैं। ऐसा करने से सिंह और व्याघ्र शब्दों से उपमेय की श्रेष्ठता तथा श्वा और काक शब्दों के प्रयोग से उपमेय की निन्दा अर्थ भी विदित होते हैं : अथ लुप्तोपमान्यर्थोपमानीत्याचक्षते— सिंहो, व्याघ्र इति पूजायाम्, श्वा, काक इति कुत्सायाम् (३।१८)।

इन उदाहरणों से निम्न बातों पर प्रकाश पड़ता है :

(क) यहाँ मुख्यार्थ की प्रतीति नहीं होती।

(ख) यहाँ मुख्यार्थ से सम्बद्ध अन्य अर्थ प्रकट होता है।

(ग) मुख्यार्थ और इस अर्थ में सादृश्य सम्बन्ध है।

(घ) इस प्रकार कहने का प्रयोजन स्तुति या निन्दा रूप एक अन्य अर्थ प्रतीत होना है।

२९

आधुनिक शब्दावली में यदि कहें, तो यहां १. मुख्यार्थ-बाध है; २. उस से सम्बद्ध अन्य अर्थ लक्षित होता है; ३. यह अर्थ सादृश्य सम्बन्ध से प्रतीत होता है; तथा ४. सिंहादि के गुणों के समान गुणों से युक्त होने से उपमेय की प्रशंसनीयता या निन्द्यता प्रयोजन है। अतः यहां अर्थावबोध में गौणी, प्रयोजन-मूला लक्षणा का उपयोग किया गया है। प्रयोजन का बोध लक्षणा (यास्क की भक्ति) से नहीं हो सकता। अतः उस अर्थ का अवबोध कराने की सञ्ज्ञा और भक्ति से पृथक् कोई और सामर्थ्य भी शब्द में होती है, यास्क इस तथ्य से सुपरिचित प्रतीत होते हैं। पर यास्क ने इस सामर्थ्य के लिये न कोई विशिष्ट शब्द प्रयुक्त किया है, और न इस के बारे में अन्य कोई सूचना ही दी है।

इस समूचे विवरण के निष्कर्ष के रूप में हमारा यही कहना है कि :—

१. यास्क अभिधा से निश्चित रूप से परिचित हैं। उन्होंने इसके लिए सम्+√ज्ञा का प्रयोग किया है। अभि+√धा का प्रयोग पहले होता होगा।

२. यास्क लक्षणा से भी परिचित हैं। उन के समय इसे भक्ति कहा जाता था। लक्षणा रूढि-मूला और प्रयोजन-मूला तथा शुद्धा और गौणी दोनों अर्थों में विदित थी। किन्तु ये भेद किये गये थे कि नहीं यह नहीं कहा जा सकता।

३. लक्षकता के लिये सादृश्य का रूप भली-भांति निश्चित नहीं हो पाया था।

४. यास्क व्यञ्जना शक्ति के कार्य (व्यङ्ग्यार्थ) से परिचित हैं। परन्तु इस का किसी प्रकार का विवरण नहीं मिलता।

५. यास्क सादृश्य की दो स्थितियों से परिचित हैं :

(अ) रूढिकारक; पशु-पाद से भाग अर्थ रूढ हो गया है।

(आ) प्रयोजन-व्यञ्जक; सिंहो देवदत्तः आदि में सिंह से सादृश्य के कारण देवदत्त की प्रशंसा प्रकट होती है।

—०—

अध्याय २९

उप-सं-हार

अपनी समूची विशाल परम्परा में आर्य जाति ने ज्ञान को जितना महत्त्व-पूर्ण समझा है, उतना किसी भी और वस्तु को नहीं। इस जाति ने अपने सर्व-स्व को खो कर भी, मनुष्य के उत्तम, निष्पक्ष, स्वच्छ, सङ्कीर्णता-रहित, वास्तविकता और आदर्श के अद्भुत समन्वय पर आधारित तथा परिपूर्ण एवं सन्तुलित चिन्तन के आदिम अवशेष वेद को प्राण-पण से इतना सुरक्षित रक्खा है कि आज हम निश्चय-पूर्वक कह सकते हैं कि वेद जैसा इस के समाम्नान-काल में था, वैसा ही आज भी है। इस में तनिक भी परिवर्तन नहीं हुआ है। किसी भी जाति के लिये अपने साहित्य को इतना गौरव देने का उदाहरण ढूंढे भी नहीं मिल पायेगा, इसमें रञ्च-मात्र भी सन्देह नहीं है।

वेद की रक्षा के सङ्कल्प ने न केवल हमारे मनो-बल को ऊंचा रक्खा है, अपितु हमारी बुद्धि को भी निरन्तर शाण पर चढ़ाये रक्खा है। इस की रक्षा के लिये हमारे पूर्वजों ने अनेक ज्ञान-शाखाओं की उद्भावना की, जिन पर आज हमें ही नहीं, बल्कि समूची मानव जाति को गर्व है।

वेद की रक्षा तथा उसके हार्द अभिप्राय को सही ढंग से समझने की ललक ने ही निरुक्त और व्याकरण नामक ज्ञान-शाखाओं का अङ्कुरण, पल्लवन और विकास किया है। आज अज्ञात-नाम अनेक आचार्यों ने अपने जीवन का सारा लम्बा विस्तार इन शाखाओं के ही विकास को अर्पित कर दिया था। उनके प्रयत्नों की नींव पर ही हमारा आज का ज्ञान-भण्डार खड़ा है। कहते हैं व्याकरण के आठ ऐसे प्रयास थे, जो उस सुदूर अतीत में किये गये थे और जिन का परि-पूर्ण-तम विकास आज हमें आचार्य पाणिनि की अष्टाध्यायी तथा उसके अन्य सहायक ग्रन्थों में मिलता है। व्याकरण के तो आठ ही प्रयास हुए थे, निरुक्त शास्त्र के तो ऐसे चौदह प्रयास हुए थे, जिन में आज हमारे पास केवल अन्तिम प्रयास ही यास्क के निरुक्त के रूप में विद्यमान है। यों तो Survival of the fittest के सिद्धान्त के अनुसार निरुक्त-शाखा में जो सर्व-श्रेष्ठ ग्रन्थ था, वह हमारे पास बच रह गया है, यह कहा जा सकता है; तथापि इस से पूर्व के अन्य तेरह प्रयास भी यदि आज हमारे पास होते, तो मानव-जाति के ज्ञान-भण्डार के लिये यह ग्रन्थ-राशि कितने उपयोग की होती, इस का अनुमान सहज ही लगाया जा सकता है। शाकपूणि आदि

का अपने निघण्टु में सङ्कलित शब्दों के क्रम का औचित्य बतलाना आज हमें संस्कृत भाषा और साहित्य की न-जाने कितनी गुत्थियों को सुलझाने में सहायक होता। परन्तु दैव-दुर्विपाक से हमें यास्क के निघण्टु और निरुक्त ग्रन्थों में उपलब्ध सामग्री पर ही सन्तोष करना पड़ता है।

निरुक्त के अध्येताओं को एक प्रश्न अवश्य बार-बार सालता होगा कि जब निरुक्त की परम्परा व्याकरण की अपेक्षा अधिक प्राचीन तथा समृद्ध है, तो क्या कारण था कि यास्क का ग्रन्थ ही इस शाखा का अन्तिम ग्रन्थ सिद्ध हुआ? आगे चल कर निरुक्त शास्त्र का और विकास क्यों नहीं हुआ?

इस प्रश्न के बारे में हमारा यह विचार है कि निरुक्त और व्याकरण की जिस प्रकार की प्रकृति है, उस में ऐसा होना स्वाभाविक ही था। निरुक्त भाषा का सामान्य अध्ययन प्रस्तुत करता है तथा व्याकरण विशेष अध्ययन। मनीषियों का बुद्धि-वैभव विशेष अध्ययन से जितना प्रफुल्लित होता है, उतना सामान्य से नहीं। अतः भाषा का विशेष अध्ययन जैसे-जैसे प्रखर होता गया, वैसे-वैसे निरुक्त को उपेक्षा मिलती गई। यास्क के समय तक निरुक्त और व्याकरण में यह सङ्घर्ष बराबर चल रहा था। यही कारण है कि यास्क को कण्ठतः निरुक्त को विद्या-स्थान (स्वतन्त्र शास्त्र) तथा व्याकरण की अपूर्णता को पूर्ण करने वाला कहना पड़ा: तदिदं विद्या-स्थानं व्याकरणस्य कार्त्स्न्यं स्वार्थ-साधकं च (१।१५)। यास्क के अनन्तर होने वाले आचार्यों में शौनक प्रमुख हैं। वे यद्यपि देव-विद्या के आचार्य हैं, पर व्याकरण को भी उनका योग-दान कम नहीं है। उन्हों ने निर्वचन-शास्त्र की दिशा में भी कुछ नया ऊह प्रस्तुत किया था (द्र. पृ. २५३)। परन्तु वे प्राति-शाख्य पद्धति के ही वैयाकरण हैं, अतः उन तक निरुक्त का यह स्वतन्त्र महत्त्व कुछ निर्वचन-विद्या के कारण तथा कुछ देव-विद्या के कारण अक्षुण्ण रह गया। कालान्तर में पाणिनि तक आते-आते जब व्याकरण विकास के चरम शिखर पर पहुँच गया, तब निरुक्त शास्त्र उपेक्षा के निम्नतम धरातल पर पहुँच गया। वेदार्थ के लिए चूँकि यास्क के निरुक्त में मन्त्रों की व्याख्या तथा अन्य बातों के माध्यम से सीधी पहुँच दी हुई थी, इस लिये वेदाध्यायियों की परम्परा में उसका महत्त्व लगभग यथास्थान तो रहा, पर उस से बढ़ा नहीं। आज के युग में भी निर्वचन शास्त्र का महत्त्व अष्टाध्यायी की अपेक्षा इसी कारण से कम आँका जाता है।

व्याकरण के चरम विकास से निरुक्त शास्त्र को धक्का तो बहुत तगड़ा पहुँचा, परन्तु व्याकरण भी इस के प्रभाव से अछूता नहीं रह सका। उणादि की सारी प्रक्रिया निरुक्त को व्याकरण का जामा पहनाने की कला-बाजी-भर है। वह स्वरूप से व्याकरण का अभिन्न अङ्ग भले ही हो, प्रकृति से व्याकरण की अपेक्षा निरुक्त के अधिक निकट है।

निरुक्त-शास्त्र के प्रतिष्ठित आचार्य के रूप में यास्क का नाम बहुत प्राचीन काल से ही अत्यन्त श्रद्धास्पद रहता आया है। आज के भाषा-विज्ञान को भी जो निखार पाणिनि की अष्टाध्यायी तथा यास्क के निरुक्त से मिला है, उसकी चर्चा करना विद्वानों के समक्ष पिष्ट-पेषण ही होगा। इतना सब होने के बावजूद यास्क के चिन्तन की सब दिशाओं की सम्यक् उद्भावना अभी तक नहीं हो पाई थी। यास्क के बौद्धिक व्यक्तित्व का प्रखर तेज अब तक केवल धूमिल-सा, अस्पष्ट-सा ही था। यास्क भाषा-विज्ञान की निर्वचन-शाखा के आदि-युग (Primitive age) के बर्बर भाषा-विज्ञानी हैं, प्रायः ऐसे ही रूप में हम ने उन्हें अपने विदेशी, कलुषिताशय स्वामि-चरों के कथनों के माध्यम से जाना था। दुर्गाचार्य, स्कन्दस्वामी और देव-राज यज्वा के अनन्तर हमारे मनीषियों को इतना अवसर ही नहीं मिला कि वे यास्क पर कुछ सोचते, समझते। पाश्चात्यों में रुडोल्फ् रोथ् ने यास्क के महत्त्व को समझा तथा उस से पर्याप्त प्रकाश पा कर भाषा-विज्ञान में नये-नये ऊह किये और वेदों के समझने के लिये एक नई दिशा दी। भारतीय मनीषियों में पं. श्री सत्यव्रत सामश्रमी जी ने यास्क पर कुछ ध्यान दिया तथा उस पर कुछ चिन्तन-मन्थन किया। पर वे पाणिनि से इस कदर प्रभावित थे कि यास्क के साथ समुचित न्याय नहीं कर पाये। किन्तु इन अध्ययनों का भी शुभ फल होना निश्चत था : नहि कल्याण-कृत् कश्चिद् दुर्गतिं तात गच्छति (गीता ६।४०)। श्री लक्ष्मणसरूप की दृष्टि यास्क के ग्रन्थ की ओर गई और यास्क के अध्येताओं के सौभाग्य से उन्हें बहुत सही समय पर यह बात बहुत सही ढंग से समझ में आई कि अभी तक यास्क के साथ समुचित न्याय नहीं हो पाया है। विभिन्न कोषों (हस्तलेखों) के आधार पर निरुक्त का सम्पादन हो चुकने पर भी अभी तक निरुक्त का प्रामाणिक पाठ निश्चित नहीं हो पाया है। उन्हों ने इस कार्य को करने का बीड़ा उठाया और घन-घोर परिश्रम से हमें निघण्टु तथा निरुक्त का बहुत विशुद्ध एवं प्रामाणिक पाठ निश्चित कर के दिया। निरुक्त के अध्ययन के इस युग के इतिहास में पाश्चात्य विद्वान् रोथ् तथा भारतीय मनीषी डा. लक्ष्मणसरूप का योग-दान अविस्मरणीय रहेगा। डा. लक्ष्मणसरूप ने केवल पाठ देकर ही अपने कर्त्तव्य की इति-श्री नहीं समझ ली; उन्हों ने इस पर अत्यन्त विद्वत्ता, गहन स्वाध्याय तथा श्रम से साध्य टिप्पणियों का योग-दान करते हुए निरुक्त का म्लेच्छ भाषा में बहुत सुन्दर एवं प्रामाणिक अनुवाद भी प्रस्तुत किया है[1]। भारत की भारती का यह दुर्भाग्य है कि नव-युग की इस पावन वेला में इस के समर्थ पुत्रों ने इस के गर्व्य

---

१. डा. लक्ष्मणसरूप ने अपनी उपर्युक्त सेवाओं के अतिरिक्त एक और बहुत महत्त्व-पूर्ण सेवा निरुक्त पर स्कन्द-स्वामीके अलभ्य भाष्य के उत्तम संस्करण तथा प्रकाशन के माध्यम से की है।

भवन में प्रकाश न कर के अपने रोजी-रोटी देने वाले महाप्रभुओं की कुटिया में उजाला करना श्रेष्ठ समझा। जिन्हों ने इस के भवन को प्रकाशित करना उचित समझा, वे अपने सीमित साधनों तथा प्रतिकूल परिस्थितियों के कारण इस विषय में पूरी प्रामाणिकता, पूर्णता तथा यश नहीं ला सके। भारती में निरुक्त पर कार्य करने वाले मनीषियों में आदरणीय पं. राजाराम, पं. सीताराम शास्त्री, पं. चन्द्रमणि पं. भगीरथ, पं. भगवद्दत्त और विश्वेश्वर सिद्धान्त-शिरोमणि जी के नाम अविस्मरणीय हैं। इन में भी पं. भगवद्दत्त जी ने निरुक्ताध्ययन को एक नई दिशा देने का प्रयास किया है। संस्कृत में भी श्री मुकुन्द झा बख्शी, श्री मिहिरचन्द्र सौपर्ण तथा स्वामी ब्रह्म-मुनि जी ने अपने व्याख्यानों के द्वारा यास्क की सेवा करने का प्रयास किया है। किन्तु ये सब व्याख्यान प्रायेण दुर्गाचार्य की ऋज्वर्थ-वृत्ति पर आधारित हैं। अतः निरुक्त-शास्त्र के अध्ययन में इन की कोई स्वतन्त्र तथा काल-जयी देन (हमारे विचार में) नहीं है।

पाश्चात्य मनीषियों में श्रीयुत हैनेस् स्कोल्ड् का भी निरुक्त के अध्ययन में अत्यन्त महत्त्व-पूर्ण योग-दान है। हम चाहे इन के निष्कर्षों से सहमत हों, या नहीं, यह एक सर्वथा भिन्न बात है, परन्तु उन्हो ने बहुत-से उपयोगी विषयों पर मौलिक चिन्तन प्रस्तुत किया है। निघण्टु के शब्दों के स्रोत और निरुक्त के उद्धरणों के मूल पर इनका विचार बहुत श्रम-साध्य तथा विवेक-पूर्ण कार्य है।

रोजी-रोटी देने वाले स्वामियों की भाषाओं में किये प्रयासों में श्री वं. का. राजवाडे के प्रयास का उल्लेख करना भ निरुक्ताध्यायी छात्रों के लिये उपयोगी होगा। श्री राजवाडे ने उल्टे छुरे से यास्क की जो छीछालेदारी की है, वह उन के चिन्तन के स्तर को तो बताती ही है, यास्क पर चिन्तन करने वालों को भी पूर्व-पक्ष के रूप में पर्याप्त उत्तेजन दे देती है। राजवाडे जी की एक विशेषता यह है कि जहाँ उन्हें अपनी बुद्धि धोखा दे देती है, वहाँ वे उसे यास्क पर आरोपित कर देते हैं। उन के विचार में यास्क एक कूढ़-मगज तुक्के-बाज से अधिक कुछ नहीं हैं। यह तो यास्क का सौभाग्य ही कहिये कि श्री राजवाडे ने उन की खबर समूचे निघण्टु तथा निरुक्त के केवल तीन अध्यायों तक ही ली है।

यास्क के निर्वचनों पर एक स्वतन्त्र ग्रन्थ लिख कर श्रद्धेय डा. सिद्धेश्वर वर्मा ने गुलामी की भाषा समझने वाले यास्क-प्रेमी भारतीयों का बहुत उपकार किया है। क्या ही अच्छा होता, यदि यह सुन्दर ग्रन्थ हमारी अपनी भाषा में लिखा गया होता। यह ग्रन्थ आङ्ग्ल भाषा तथा विचार-पद्धति में अभिनिवेश रखने वालों के लिये इस लिये उपयोगी है कि यह उन की समझ में आने वाली भाषा में यास्क के सम्बन्ध में सूचना दे देता है। संस्कृत में अभिनिवेश तथा अङ्ग्रेजी से परिचय रखने वालों के लिये इस लिए उपादेय है कि यह उन का परिचय रोथ् के वोर्टर् बूख् (शब्द-कोष)

के दर्शन किये बिना ही संस्कृत शब्दों की तुलना धुर पछाँही प्राकृतों के शब्दों से करा देता है। दोनों को जानने वालों को यह ग्रन्थ आदेय जँचेगा, हमें इस में सन्देह है।

यास्क के निरुक्त पर हुए अध्ययनों में केवल एकाङ्गी दृष्टि से विचार किया गया है, हम यह देख चुके हैं। इस कमी को देखकर ही हमने अपना यह विनम्र प्रयास विद्वज्जनों के सम्मुख प्रस्तुत करने का साहस किया है। इसमें हमने यास्क के दोनों ग्रन्थों (निघण्टु और निरुक्त) पर किये गये ऊहापोहों का विवेचन-विश्लेषण तो किया ही है, इन पर अपने निष्कर्ष देने की चेष्टा भी की है। निघण्टु और परिशिष्ट के कर्तृत्व के जटिल विवाद पर भर-सक नई सामग्री देने का प्रयत्न किया है। यास्क के समय तथा स्थान के बारे में अन्य मतों पर विचार कर के हमने अपनी धारणा को प्रस्तुत किया है। हमारे विचार में यास्क महाभारत युद्ध से पूर्व के ऐतिहासिक व्यक्ति हैं। हमारी यह भी तर्कणा है कि निरुक्त में कोई ऐसा प्रसङ्ग खोज पाना बहुत कठिन होगा, जिस में शतपथ ब्राह्मण से यास्क का परिचय सूचित होता हो। अतः हमें यास्क शतपथ ब्राह्मण से प्राचीन लगते हैं। इस पर अपना निर्णय हम अपने अगले ग्रन्थ में देने का प्रयास करेंगे, जिस में देवराज यज्वा के ग्रन्थ और अन्यत्र उद्धरणों के आधार पर निघण्टु का पाठ तथा दुर्ग और स्कन्द की टीकाओं एवं सायण आदि के उद्धरणों के आधार पर निरुक्त का पाठ निर्धारित कर के निघण्टु के शब्दों के स्रोत एवं निरुक्त के उद्धरणों के मूल की परीक्षा करेंगे।

प्रकृत प्रयास में हमने यास्क के व्यक्तित्व तथा उन के समय के भीतर झाँक कर विभिन्न दृष्टियों से विचार करने का प्रयास भी किया है। यास्क-कालीन समाज, यास्क का दर्शन तथा व्याकरण और काव्य शास्त्रों को यास्क की देन आदि अध्याय इस में उपयोगी होंगे।

यास्क के निरुक्त की यह मीमांसा अपने लक्ष्य में कहाँ तक सफल हो पाई है, इस के बारे में निर्णय इस के विद्वान् पाठक ही देंगे। हमने अपने बूते के अनुसार विषय के साथ भर-सक ईमानदारी करते हुए अपना श्रम समर्पित किया है; और एक छात्र के सन्तोष के लिये इतना ही पर्याप्त है। विद्वज्जनों के समक्ष इस विनम्र प्रयास को प्रस्तुत करते हुए हम इतना ही निवेदन और करना चाहते हैं कि :

न सम्भवं मानुष-जन्म पूर्वं, ततो धरा-देव गृहे स्वपुण्यैः।
ततोऽपि शास्त्राध्ययने गुरूणां प्ररोचनं दुर्लभमेव लोके॥
स्वक्षा प्रवृत्तिस्त्व सुदुर्लभाऽत्र, पुण्यैर्मयाऽलम्भि सुखेन सर्वम्।
कृतार्थनीयं मयका श्रमेण, विचार एवोऽत्र कृतो हि हेतुः॥
न धी-विकासो, न च शास्त्र-योमस्, सत्त्वापसं कर्तुं मनाः प्रवृत्तः।
कृपा गुरूणामवलम्बनं मे क्षमा-धनान् याच [illegible] क्षमार्थं॥

पदानुक्रम कोष

इस कोष में निरुक्त-मीमांसा में चर्चित अथवा चर्चा के प्रसङ्ग में अन्य किसी प्रकार से समेटे गये प्रमुख शब्दों का समाम्नान किया गया है। शब्दों के बाद पृष्ठाङ्क दिया है।

१. दृष्टि-दोष से धकारादि अक्षर अपने स्थान में देने से छूट गये हैं। पाठक क्षमा करेंगे।

शुद्धि-पत्र

मेरे दृष्टि-दोष एवं यन्त्र पर मात्रा, अक्षर एवं शब्दों के टूट जाने से ग्रन्थ में बहुत-सी अशुद्धियाँ हो गयी हैं। नीचे भ्रामक तथा अक्षम्य अशुद्धियों का शुद्ध पाठ दिया है। अन्य ऐसी अशुद्धि दीखने पर कृपालु पाठक मुझे सूचित करने की कृपा करें। प्रथम अङ्क पृष्ठ का तथा दूसरा पङ्क्ति का सूचक है। फिर शुद्ध पाठ है।

३। २	मेळि	९९। ४	शब्द
६।३१	निष्कृष्य	११२।१२	व्यवहारार्थं
११। ८	ऋजुनीति	११७। ३	२।७
२६।११	है	१४४।१७	परिव्राजक
।१२	तथा	१४८।१६	७६।४
२८। ४	निरुक्त की	१५१।११	११।३
३६।३१	महाभाष्य	।२१	२।३।४
४०। ८	के लिए	।२६	४. ब्र. इति ह विज्ञायते :
४१।१६	नवीवन्ति...	१५६।२२	२।२।१८
४३।२०	...न्हं...	१६२। १	(वाक्यालङ्कार)
४६।२६	७५-७६	१७६।१२	तूर्णितमो
५१।१४	नैघण्टुक	।१३	ब्र.हः ...।५६।८)
।२७	पृ. ११८२	।२६	...रति
५३।२०	की है	१८३।१६	व्याकरिष्यति
६१।२६	हीय...	१८५।२४	साम्
६२।२३	काण्ड	१८९। ८	उ।
७०।१६	कृणुष्व	१९१।२७	वस्ति छपा
७३। ६	प्राचीन	।२८	वही
८७।१५	छह'	१९२।२८	(ब्र. टि. ४)
९३।१६	वैदिक	।२९	(टि. ५)
९७।२०	रन्तिरस्तु	।३१	(टि. ७)
९८ २८	...पंतत्तुरीयं	२०४।१३	सहांसि सहसा
।३२	मनुष्या वदन्ति	२०७।१०	निष्कर्ष
	।। ऋ. सं १।...	२०८। ५	१०।५०

२०६।१६	मघ
२१६।२२	वह्नि
२१७। ६	शास्त्रीय... गया
।२०	स्तोम
२२३।२६	आचार
२२४।१८	उर्वी
।२३	,,
२२६।२६	है—
।२८	आचार्य
२३२।२३	भर-सक
२३५।१६	उर्वी
२३६।२६	...ऽर्य-नित्यः
२४०।१३	दण्ड्यः
२४६।११	३. सम्प्र...
२४७।३२	दृष्टु
२५०।२५	निर्ऋयात्
२५६। १	प्रधान
२६४।२०	कामना से
२६८।१६	पृथिव्या...
२७०।११	...नियमः
२७३। ८	प्रक्रियन्ते...
२७६।३२	प्रकृत
२८४।१०	अग्नि
२८५।३०	पुरुष-विध
२८६।२३	त्रिवृत्
२९३। ४	प्राधान्य...
२९९। १	अग्नि की
३०८।२३	पात्रम्
३०९। १	पिबतु द्रा...
३४५। ४	गण
३५५।३३	वषट्
३६२।२०	प्रणेतारो
३६४।२४	चल कर
।३०	पुनरसा...
३६६।१४	प्रज्ञावत्त्वं
३६६।१८	नवो
३७६।२२	दुहिता,...हिता
३८४।२४	११।३९
३८५।२४	tied
३९२। ५	(परस्मै...) न
।३३	का. सं. २७।९
३९३। ४	विक्रय
३९५।२२	१. द्र. ३।५ : ज्येष्ठं पुत्रिकायाइत्येके ।
३९६।२३	श्रियं
४११।२९	अविद्यमानः
४१२।२५	तैजस...
४१३।२६	सार्थक है।
४१६।२९	...नोर्ध्वश...
४२१।१०	वाच्य (?)
४२४।२८	पृष्ठ ४२७।
४३०।१०	मिलता है।
।२१	...विष्ट्य...
४३४।२३	(प्रोक्,
।२४	मूल
४३५।३१	'लाङ्गूल' के
४४३। ८	-सन्दृगणां
४४७।२५	अर्थ
४५०।१९	परिचित हैं।
।२१	सिंह से
४५८।२२	इच्छति ४३८
।२७	इन: कुरु १७३
४६२।२०	तत्सम
४६३।१७	तैल

अथ वंशः

रामगोपालनामाऽभूद्भरद्वाजमुनेः कुले । वैक्रमेऽष्टादशप्राये शतकेऽहं ततोऽष्टमः ॥ १ ॥

गुण्यो द्विजश्श्योकरणाख्ययाऽभूद् भक्ताग्र-गण्यस्सुधियां वरेण्यः ।
बाणात्मसूर्यादिग्रहेश्च भूम्या अब्दे मिते वैक्रमसंवदाख्ये ॥ २ ॥
हलेन वृत्तिं कृतवान् बुधेन्द्रो वश्येन्द्रियो धार्मिक-पुण्य-वृत्तिः ।
सदा सदासाम्ब-नियुक्त-वृत्ति जंगज्जगद्वेदन-वृद्ध-बुद्धिः ॥ ३ ॥
अजीजनद् भक्ति-मतीव सत्क्रिया विदग्र-गण्यस्य तु धर्म-पत्नी ।
धर्मार्थ-कामादि-चतुष्टयं या पुत्रान्सु-गुण्यांश्चतुरश्च पुण्यान् ॥ ४ ॥
धर्मार्थ-युग्मं व नु युग्ममेकं ततोऽपरौ द्वाविव चापरौ तु ।
एषान्तृतीयस्तु पितामहो नो निम्ये वयो यः कृषि-कर्मणैव ॥ ५ ॥
ग्रामे प्रसिद्धे खरकेति-नाम्ना सन्मण्डले रोहतकेति-नाम्नि ।
यत्र श्रिया शूरतमाश्चिक्रीड़ुः गणाः शुभा रोहितका प्रतीते ॥ ६ ॥
सुतास्त्रयस्तस्य पवित्र-मानसाः पुनन्ति विद्येव जगत्त्रयी-गा ।
अशेष-कर्मोणतया तदग्र्यो हरीति रामो विबुधोपमः सन् ॥ ७ ॥
मध्ये-दिवं यौवन-भानु-मासो लोकान्विहायायत देव-धाम ।
सच्छ्रीनिवासो भव-भक्ति-मग्नस्तस्यानुजो मूर्ध-मणिश्च वित्सु ॥ ८ ॥
यो योग-वेदान्त-विचार-पूतस्त्रिकालविज्ज्योतिष-सिद्ध-दृष्टिः ।
सदाश्रमाचार-पवित्र-वृत्ति दिवाऽनिशं यत्न-परश्च मोक्षे ॥ ९ ॥
धर्मे, धृतौ, योग-समाधि-सिद्धौ तत्साधनेषूत्कट-बद्ध-भावः ।
कृच्छ्रेण लभ्यं नर-देहमेव त्यक्तुं परो यस्य किलाभिलाषः ॥ १० ॥

यज्ञ्यैकसप्ततितमे खलु वैक्रमेऽब्दे एकोनविंश-शतकावधि कार्तिके च ।
सत्कुक्षिरास जननी सरजेतिनाम्नी विश्वम्भरा परम-पाशुपतं च धृत्वा ॥ ११ ॥
पञ्चाधिके नवतितः प्रतिपत्तिथौ मां ज्येष्ठे किलासुवदिमं वदि भानु-बोधे ।
पादाधि-सप्त-नदने वृष-लग्न-शुद्धौ लग्नस्य-भौम-रवि-भार्गव-केतु-सञ्ज्ञाः ॥ १२ ॥
जाया-गृहे रजनिकृन्मलिनेन चाये सौरिर्गुरुर्दशमगो व्यय एव चान्द्रिः ।
सीतेति मातुरयमङ्कमलब्ध देवान्नारायणः शिवपदा गुरु-नाम-गृह्यः ॥ १३ ॥
प्राध्यैत गीर्वाण-गिरं दशाब्दोऽभाविष्ट चोदार-गिरा तथैनाम् ।
साहित्य-शास्त्रे गुरु-तुष्टि-वित्तः प्राध्यैत शाब्दम्पितुरेव कष्टात् ॥ १४ ॥

कृतिः पुरस्तात्प्रकृताऽस्ति तेन विद्वत्पदाम्भोज-मधु-व्रतेन ।
गर्वान्न, चापल्य-वशात्, सुज्ञा आदीयतां वा बत हीयतां वा ॥ १५ ॥
विनिर्णये त्वत्र विदः प्रमाणं चिरादुपेक्षामित-भारती-गृहे ।
अकिञ्चनस्यास्य जनस्य क्षुद्रा सुधा-प्रदानाय तु कूर्चिकेयम् ॥ १६ ॥

॥ इति ॥